जीवराज जैन ग्रंथमाला हिन्दी विभाग पुष्प-३६

आचार्यश्री शिवार्य विरचित

भगवती आराधना

आचार्यश्री अपराजित सूरि रचित विजयोदया टीका
तथा तदनुसारी हिन्दी टीका सहित

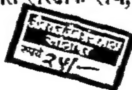
भाग २

पूर्व ग्रंथमाला सम्पादक
स्व० डॉ० हीरालाल जैन
स्व० डॉ० ए० एन० उपाध्ये

विद्यमान ग्रंथमाला सम्पादक
श्री प० कैलाशचन्द्र शास्त्री
सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी

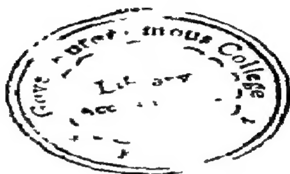
सम्पादक एवं अनुवादक
सिद्धान्ताचार्य श्री प० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशक
सेठ लालचन्द हीराचन्द,
जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ, शोलापुर



वीर सवत् २५०४]   [ई० सन् १९७८

प्रकाशक
श्रीमान् सेठ लालचंद हीराचंद
अध्यक्ष—जैन संस्कृति संरक्षक संघ
सोलापुर



प्रथमावृत्ति
प्रति ११००

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय,
जवाहर नगर कॉलोनी, दुर्गाकुण्ड, रोड,
वाराणसी–२२१००१

ACHARYA SHRI SHIVARAY'S

BHAGVATI–ARADHANA

With

The Samskrit tika Vijayo-daya of Aparajit suri



Ex General Editors
Late Dr H L Jain
Late Dr A N Upadhye

General Editor
Pt Kailaschandra Shastri

Edited along with the Hindi Translation etc.

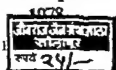
By

Pandit Kailaschandra Shastri

published by
Lalchand Hirachand

Jain Samskriti Samrakshaka Sangha
Sholapur

1978



First Edition 1100 copies

Copies of this book can be had direct from Jain Samskriti Samrakshak Sangha, Santosha Bhavana, Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price Rs [illegible]-00 per copy, exclusive of postage

श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला का परिचय

सोलापूर निवासी श्रीमान् स्व० ब्र० जीवराज गौतम चन्द दोशी कई वर्षोंसे उदासीन होकर धर्म कार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी प्रबल इच्छा हुई कि अपनी न्यायोपार्जित सम्पत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म तथा समाजकी उन्नतिके कार्यमें लगे।

तदनुसार उन्होंने अनेक जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतियाँ इस बातकी संगृहीत की, कि कौनसे कार्यमें सम्पत्तिका विनियोग किया जाय।

अन्तमें स्फुट मत संचय कर लेने के पश्चात् सन् १९४१ में ग्रीष्म कालमें सिद्ध क्षेत्र श्री गजपंथजीके शीतल वातावरणमें अनेक विद्वानोंको आमन्त्रित कर उनके सामने ऊहापोह पूर्वक निर्णय करनेके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया गया।

विद्वत् सम्मेलनके फलस्वरूप श्रीमान् ब्रह्मचारी जीने जैन संस्कृति तथा प्राचीन जैन साहित्यका संरक्षण-उद्धार-प्रचारके हेतु 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' इस नामकी संस्था स्थापना की। तथा उनके लिए उक्त रु० ३०००० का बृहत् दान घोषित किया गया।

आगे उनकी परिग्रह निवृत्ति बढ़ती गई। सन् १९४४ में उन्होंने लगभग दो लाखकी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण की।

इसी संस्थाके अन्तर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला' द्वारा प्राचीन संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी तथा मराठी ग्रन्थोंका प्रकाशन कार्य आज तक अखण्ड प्रवाहसे चल रहा है।

आज तक इस ग्रन्थमाला द्वारा हिन्दी विभागमें ३४ ग्रन्थ तथा मराठी विभागमें ४४ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाका ३६ वा पुष्प प्रकाशित हो रहा है।



स्व ब्र जीवराज गौतमचद दोषी
स्व रो ता १६–१–५७ (पौष शु १५)

प्रवचनमातृकाव्याख्यानायोत्तरप्रबन्धस्तत्र मनोगुप्ति वाग्गुप्ति व्याख्यातुमायातोत्तरगाथा—

जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि त मणोगुत्ति ।
अलियादिणियत्ती वा मोण वा होइ वचिगुत्ती ॥११८१॥

'जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि त मणोगुत्ति' या रागद्वेषाभ्या निवृत्तिर्मनसस्ता जानीहि मनोगुप्ति । अत्रेद परीक्ष्यते । मनसो गुप्तिरिति यदुच्यते कि प्रवृत्तस्य मनसो गुप्तिरुताप्रवृत्तस्य ? प्रवृत्त चेद शुभ तस्य का रक्षा । अप्रवृत्त यदि तथापि असत का रक्षा ? अतोऽप्यपायपरिहारायायुक्तसेत्युच्यते ? कि च मन शब्देन किमुच्यते द्रव्यमन उत भावमन ? मनोद्रव्यवर्गणा मनश्चेत् तस्य कोऽपायो नाम यस्य परिहारो रक्षा स्यात् ? कि च द्रव्यान्तरेण तेन रक्षितेनास्य जीवस्य फल य आत्मन परिणामोऽशुभमावहति । ततोऽयुक्ता रक्षात्मन । अथ नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशमजात ज्ञान मन इति गृह्यते तस्य अपाय क ? यदि विनाश स न परिहर्तुं शक्यते यतोऽनुभवसिद्धो विनाश । अन्यथा एकस्मिन्नेव ज्ञाने प्रवृत्तिरात्मन स्यात् । ज्ञानानीह वीचय इवानारतमुत्पद्यन्ते न चास्ति तद्विनाशोपाय । अपि च इन्द्रियमतिरपि रागादिव्यावृत्तिरिष्टैव किमुच्यते रागादिणियत्ती मणस्स इति ।

अत्र प्रतिविधीयते—नो इन्द्रियमतिरिह मन शब्देनोच्यते । सा रागादिपरिणामै सह एककाल आत्मनि प्रवर्तते । न हि विषयावग्रहादिज्ञानमन्तरेणास्ति रागद्वेषयो प्रवृत्ति, अनुभवसिद्धैवास्ति नापरा युक्ति अनुगम्यते । वस्तुतत्त्वानुयायिना मानसेन ज्ञानेन सम रागद्वेषौ न वर्तेते इत्येतदप्यात्मसाक्षिकमेव । तेन मनसस्त-

---

आगे प्रवचन माताओका व्याख्यान करते है । उनमे से प्रथम मनोगुप्ति और वचनगुप्तिका व्याख्यान करते हैं—

गा०-टी०—मनकी जो रागादिसे निवृत्ति है उसे मनोगुप्ति जानो ।

शका—यहाँ यह विचार करते हैं कि यह जो आप मनकी गुप्ति कहते हैं सो यह गुप्ति प्रवृत्त मनकी है या अप्रवृत्त मनकी है ? प्रवृत्त मन तो शुभ रूप होता है उसको रक्षा कैसी ? यदि मन अप्रवृत्त है तो वह असत हुआ, उसकी रक्षा कैसी । प्रवृत्त मनको अपायसे बचाव करनेमे उपयोगिता होती है । तथा मन शब्दसे द्रव्यमन लेते हैं या भावमन ? यदि द्रव्यवर्गणा रूप मन लेते हैं तो उसका अपाय क्या, जिससे बचनेसे उसकी रक्षा हो । तथा द्रव्यवर्गणा रूप मन तो भिन्न द्रव्य है । उसकी रक्षा करनेसे इस जीवको क्या लाभ जो आत्माके अशुभ परिणाम करता है । अत आत्माकी रक्षाकी बात युक्त नही है । यदि नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरणके क्षयोपशममे उत्पन्न हुए ज्ञानको मन शब्दसे ग्रहण करते हैं तो उसका अपाय क्या है ? यदि अपायसे मतलब विनाश है तो उसका परिहार शक्य नही है क्योकि विनाश तो अनुभवसे सिद्ध है । यदि ज्ञानका विनाश न हो तो आत्माकी प्रवृत्ति सदा एक ही ज्ञानमे रहे । किन्तु ज्ञान तो तरगोकी तरह निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं । उनके विनाश न होनेका कोई उपाय नही है । तथा इन्द्रियजन्य मतिकी भी रागादिसे व्यावृत्ति मान्य है तब 'मनकी रागादिसे निवृत्ति' क्या कहते है ?

समाधान—यहाँ मन शब्दसे नोइन्द्रिय जन्य मति कही है । वह आत्मामे रागादि परिणामोके साथ एक ही कालमे प्रवृत्तिशील है । विषयोका अवग्रहादिज्ञान हुए विना रागद्वेषमे प्रवृत्ति नही होती, यह बात अनुभव सिद्ध है । इसमे अन्य कोई युक्ति नही है । जो मानस ज्ञान वस्तुतत्त्वके अनुसार होता है उस ज्ञानके साथ रागद्वेष नही होते यह बात आत्मसाक्षिक है । अत तत्त्व-

त्वावग्राहिणो रागादिभिरसहचारिता या सा मनोगुप्तिः। मनोग्रहणं ज्ञानोपलक्षणं तेन सर्वो बोधो निरस्तराग-द्वेषकलङ्को मनोगुप्तिरन्यथा इन्द्रियमतौ श्रुते, अवधौ, मनःपर्यये वा परिणममानस्य न मनोगुप्तिः स्यात्। इष्यते च। अथवा मनःशब्देन मनुते य आत्मा स एव भण्यते तस्य रागादिभ्यो या निवृत्तिः रागद्वेषरूपेण या अपरिणतिः सा मनोगुप्तिरित्युच्यते। अथैवं ब्रूषे सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः दृष्टफलमनपेक्ष्य योगस्य वीर्यपरिणामस्य निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो मनोगुप्तिः। 'अलिआदिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती' विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्परदुःखोत्पत्तिनिमित्तत्वाच्चाधर्मार्द्या व्यावृत्तिः सा वाग्गुप्तिः। ननु च वाचः पुद्गलत्वात् विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वादिभ्यो व्यावृत्तिहेतुर्वाचो धर्मो न चासौ संवरणे हेतुरनात्मपरिणामत्वात्। शब्दादिवत्। एवं तर्हि व्यलीकात्परुषादात्मप्रशंसापरात् परनिन्दाप्रवृत्तात्परोपद्रवनिमित्ताच्च वचसो व्यावृत्तिरात्मनस्तथाभूतस्य वचसोऽप्रवर्तिका वाग्गुप्तिः। या [1]वाचं प्रवर्तयन् अशुभं कर्म स्वीकरोत्यात्मा तस्या वाच इह ग्रहणं वाग्गुप्तिरित्यत्र तेन वाग्विशेषस्यानुत्पादकता वाचः परिहारो वाग्गुप्तिः। मौनं वा सकलाया वाचो या परिहृतिः सा वाग्गुप्तिः। अयोग्यवचनेऽप्रवृत्तिः प्रेक्षापूर्वकारितया योग्यं तु वक्ति वा न वा। भाषासमितिस्तु

का ग्रहण करने वाले मनका रागादि भावके साथ साहचर्य न होना मनोगुप्ति है। 'मन' शब्द ज्ञानका उपलक्षण है। अतः रागद्वेषकी कालिमासे रहित ज्ञानमात्र मनोगुप्ति है। यदि ऐसा न माना जाये तो जब आत्मा इन्द्रिय ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मनःपर्ययज्ञान रूपसे परिणत हो उस समय मनोगुप्ति नहीं हो सकेगी। किन्तु उस समय भी मनोगुप्ति मानी जाती है। अथवा जो आत्मा 'मनुते' अर्थात् पदार्थोंको जानता है वही मन शब्दसे कहा जाता है। उसकी जो रागादिसे निवृत्ति है अथवा रागद्वेषसे परिणमन करना वह मनोगुप्ति कही जाती है। ऐसा होने पर 'सम्यक् रूपसे योगका निग्रह गुप्ति है' ऐसा कहनेमें भी कोई विरोध नहीं है। सम्यक् अर्थात् किसी लौकिक फलकी अपेक्षा न करके वीर्य परिणाम रूप योगका निग्रह अर्थात् रागादि कार्य करनेसे रोकना मनोगुप्ति है।

तथा विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमें कारण होनेसे और दूसरोंको दुःखकी उत्पत्तिमें निमित्त होनेसे जो अधर्म मूलक वचनसे निवृत्ति है वह वचन गुप्ति है।

शङ्का—वचन तो पौद्गलिक है अतः विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमें हेतु आदि होनेसे व्यावृत्ति वचनका धर्म है और वह संवरमें कारण नहीं है क्योंकि वह तो पुद्गलका परिणाम है, आत्माका परिणाम नहीं है जैसे शब्द वगैरह पुद्गलके परिणाम हैं।

समाधान—मिथ्या, कठोर, अपनी प्रशंसा और परकी निन्दा करने वाले तथा दूसरोंमें उपद्रव कराने वाले वचनसे आत्माकी निवृत्ति, जो इस प्रकारके वचनोंकी प्रवृत्तिको रोकती है वह वचन गुप्ति है। वचन गुप्तिमें वचन शब्दसे जिस वचनको सुनकर प्रवृत्ति करता हुआ आत्मा अशुभ कर्म करता है उस वचनका ग्रहण है। अतः वचन विशेषको उत्पन्न न करना वचनका परिहार है और वही वचन गुप्ति है। अथवा समस्त प्रकारके वचनोंका परिहार रूप मौन वचनगुप्ति है। अयोग्य वचनमें अप्रवृत्ति वचनगुप्ति है। प्रेक्षापूर्वकारी होनेसे वह योग्य वचन बोले या न बोले। किन्तु योग्य वचन बोलना—उनका कर्ता होना भाषासमिति है। अतः गुप्ति और

---

१. वाचा-अ० आ० ज०।

योग्यवचस कर्तृता ततो महान्भेदो गुप्तिसमित्यो । मौन वाग्गुप्तिरत्र स्फुटतरो वचोभेद । योग्यस्य वचस प्रवर्तकता । वाच कस्याश्चित्तदनुत्पादकतेति ॥११८१॥

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती ।
हिंमादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिट्ठा ॥११८२॥

'कायकिरियाणियत्ती' कायस्यौदारिकादे शरीरस्य या क्रिया तस्या निवृत्ति 'सरीरगे गुत्ती' शरीरविषया गुप्ति कायगुप्तिरिति यावत् । आसनस्थानशयनादीना क्रियात्वात् तासा चात्मना [1]प्रवर्तितत्वात् कथमात्मन कायक्रियाभ्यो व्यावृत्ति । अथ मत, कायस्य पर्याय क्रिया, कायाच्चार्थान्तरमात्मा ततो द्रव्यान्तरपर्यायात् द्रव्यान्तर तत्परिणामशून्य तथाऽपरिणत व्यावृत्त भवतीति कायक्रियानिवृत्तिरात्मनो भण्यते । सर्वेषामेवात्मनामित्य कायगुप्ति स्यात् न चेष्टेति ।

अत्रोच्यते—कायस्य सम्बन्धिनी क्रिया कायशब्देनोच्यते । तस्या कारणभूतात्मन क्रिया कायक्रिया तस्य निवृत्ति । 'काउस्सग्गो' कायोत्सर्ग शरीरस्याशुचितामसारतामापन्निमित्तता चावेत्य तद्गतममतापरिहार कायगुप्ति । अन्यथा शरीरमायु शृङ्खलावबद्ध त्यक्तु न शक्यते इत्यसम्भव कायोत्सर्गस्य । धातूनामनेकार्थत्वात् गुप्तिर्निवृत्तिवचन इहेति सूत्रकाराभिप्रायोऽन्यथा 'कायकिरियाणिवत्ती सरीरगे गुत्ती' इति कथ ब्रूयात् । कायोत्सर्गग्रहणेन निश्चलता भण्यते । यद्येव कायकिरियाणिवत्ती इति न वक्तव्य, कायोत्सर्ग काय-

---

समितिमे महान् अन्तर है । मौन वचन गुप्ति है ऐसा कहने पर गुप्ति और समितिका भेद स्पष्ट हो जाता है । समिति योग्य वचनमे प्रवृत्ति कराती है । और गुप्ति किसी वचनकी उत्पादक नही है ॥११८१॥

गा०—टी०—काय अर्थात् औदारिक आदि शरीरकी जो क्रिया है उसकी निवृत्ति कायगुप्ति है ।

शङ्का—बैठना, ठहरना, सोना आदि क्रियाएँ हैं । और वे क्रियाएँ आत्माके द्वारा प्रवर्तित हैं । तब आत्मा कायकी क्रियाओसे कैसे निवृत्त हो सकता है । यदि कहोगे कि क्रिया कायकी पर्याय है और कायसे आत्मा भिन्न है । अत द्रव्यान्तर कायकी पर्यायसे द्रव्यान्तर आत्मा उस पर्यायसे रहित होनेसे कायकी पर्यायरूप परिणत नही होता अत उससे वह निवृत्त है और इसीको आत्माकी कायकी क्रियाओंसे निवृत्ति कहा है । तो इस प्रकारसे सभी आत्माओके कायगुप्तिका प्रसग आता है ।

समाधान—कायशब्दसे कायसम्बन्धी क्रिया कही है । उसकी कारणभूत आत्माकी क्रिया कायक्रिया है और उसकी निवृत्ति कायगुप्ति है । अथवा कायोत्सर्ग अर्थात् शरीरकी अपवित्रता, असारता और आपत्तिमे निमित्तपना जानकर उसमे ममत्व न करना कायगुप्ति है । अन्यथा शरीर तो आयुकी साकलसे बँधा है । जब तक आयु है शरीरका त्याग नही किया जा सकता । यदि शरीर त्यागको कायोत्सर्ग कहोगे तो कायोत्सर्ग असम्भव हो जायगा । धातुओके अनेक अर्थ होते हैं अत यहाँ गुप्तिका अर्थ निवृत्ति है ऐसा गाथासूत्रकार आचार्यका अभिप्राय है । यदि ऐसा न होता तो 'कायक्रिया निवृत्ति शरीर गुप्ति है' ऐसा कैसे कहते ।

---

१ प्रवर्तकत्वात् कथमात्मन कार्या क्रियाभ्यो—आ० मु० ।

गुप्तिरित्येतदेव वाच्य इति चेत् न कायविषय ममेदभावरहितत्वमात्रमपेक्ष्य कायोत्सर्गस्य प्रवृत्ते धावनगमनलङ्घनादिक्रियासु प्रवृत्तस्यापि कायगुप्ति स्यात्र चेष्यते। अथ कायक्रियानिवृत्तिरित्येतावदुच्यते मूर्च्छापरिगतस्यापि अपरिस्पन्दता विद्यते इति कायगुप्ति स्यात्। तत उभयोपादान व्यभिचारनिवृत्तये। कर्मादाननिमित्तसकलकायक्रियानिवृत्ति कायगोचरममतात्यागपरा वा कायगुप्तिरिति सूत्रार्थ। 'हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिट्ठा' हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिरिति दृष्टा जिनागमे, प्राणिप्राणवियोजन, अदत्तादान, मिथुनकर्म शरीरेण, परिग्रहादानमित्यादिका या विशिष्टा क्रिया सेह कायशब्देनोच्यते। कायिकोपकृतेर्गुप्तिर्व्यावृत्ति कायगुप्तिरिति व्याख्यात सूरिणा ॥११८२।

छेत्तस्स वदी णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो।
तह पावस्स णिरोहे ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥११८३॥

छेत्तस्स वदी' क्षेत्रस्य वृति 'नगरस्य खातिका अथवा पागारो अथवा प्राकारो भवति नगरस्य। 'तथा पावस्स णिरोधो' पापस्य निरोध उपाय। 'ताओ गुत्तीओ' ता गुप्तय साधो ॥११८३॥

तम्हा तिविहेवि तुम मणवचिकायप्पओगजोगम्मि।
होहि सुसमाहिदमदी णिरंतर ज्झाणसज्झाए ॥११८४॥

'तम्हा तिविधेण मणवचिकायपओगजोगम्मि' मनोवाक्कायविषये प्रकृष्टे योगे। 'तुम' त्व। 'सुसमा-

---

शङ्का – यदि कायोत्सर्गसे निश्चलता कही जाती है तो 'कायक्रियानिवृत्ति कायगुप्ति है' ऐसा नही कहना चाहिए। किन्तु कायोत्सर्ग कायगुप्ति है ऐसा ही कहना चाहिए।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि कायमे 'यह मेरा है' इस भावके न होने मात्रकी अपेक्षासे कायोत्सर्ग शब्दकी प्रवृत्ति होती है। किन्तु यदि कायगुप्ति यही है तो दौडना, जाना, लाघना आदि क्रियाओको करते हुए भी कायगुप्ति हो सकेगी। किन्तु ऐसा नही माना जाता। और 'कायक्रियाकी निवृत्ति कायगुप्ति है' इतना ही कहा जाता है तो मूर्छित अवस्थामे भी कायक्रियाकी निवृत्ति होनेसे कायगुप्तिका प्रसग आता है। इसलिए व्यभिचार दोषकी निवृत्तिके लिए दोनोका ग्रहण गाथामे किया है।

अत कर्मके ग्रहणमे निमित्त समस्त कायकी क्रियाओसे निवृत्ति और कायविषयक ममत्वका त्याग कायगुप्ति है, यह गाथासूत्रका अर्थ है।

अथवा आगममे हिंसा आदिसे निवृत्तिको कायगुप्ति कहा है। यहाँ काय शब्दसे प्राणियोके प्राणोका घात, बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण, शरीरसे मैथुन कर्म और परिग्रहका ग्रहण इत्यादि विशिष्ट क्रिया कही गई है। कायिक क्रियाओंसे गुप्ति अर्थात् व्यावृत्ति कायगुप्ति है ऐसा आचार्यने व्याख्यान किया है ॥११८२॥

गा०—जैसे खेतकी बाड और नगरकी खाई अथवा चारदिवारी होती है वैसे ही पापको रोकनेमे साधुकी गुप्तिया होती है ॥११८३॥

गा०—इसलिए हे क्षपक! तुम निरन्तर ध्यान और स्वाध्यायमे लगे रहकर मन वचन काय विषयक तीन प्रकारके प्रकृष्ट योगमे सावधान रहो। क्योकि ध्यान और स्वाध्यायके विना गुप्तियाँ नही ठहरती ॥११८४॥

हिदमदो होहि' सुष्ठु समाहितमतिर्भव । कथं ? 'णिरंतर ज्झाणसज्झाए' निरन्तरप्रवृत्तध्यानस्वाध्याये । न हि ध्यानस्वाध्यायावन्तरेण गुप्तयोऽवतिष्ठन्त इति भाव ॥११८४॥

समितिव्याख्यानायोत्तरप्रबन्धस्तत्रेर्यासमितिनिरूपणायोत्तरा गाथा—

मग्गुज्जोवुपओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो ।
सुत्ताणुवीचि भणिदा इरियासमिदी पवयणम्मि ॥११८५॥

'मग्गुज्जोवुपओगालंबणसुद्धीहिं' मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धिरुपयोगशुद्धिरालम्बनशुद्धिरिति चतस्रः शुद्धयस्ताभि करणभूताभि । 'इरियदो' गच्छत । 'मुणिणो' मुने । 'सुत्ताणुवीचि' सूत्रानुसारेण । 'भणिदा' कथिता । 'इरियासमिदी' ईर्यासमिति । 'पवयणम्मि' प्रवचने । तत्र मार्गस्य शुद्धिर्नाम अप्रचुरपिपीलिकादित्रसता, बीजाङ्कुरतृणहरितपत्राशकर्दमादिरहितता । स्फुटतरता व्यापिता च उद्योतशुद्धि । निशाकरनक्षत्रादीनामस्फुट प्रकाश, अव्यापी प्रदीपादिप्रकाश । [1]पादोद्धारनिक्षेपदेशजीवपरिहरणावहितचेतस्ता उपयोगशुद्धि । गुरुतीर्थचैत्ययतिवन्दनादिकमपूर्वशास्त्रार्थग्रहण, संयतप्रायोग्यक्षेत्रमार्गण, वैयावृत्यकरण, अनियतावासस्वास्थ्यासम्पादने श्रमपराजय, नानादेशभाषाशिक्षण, विनेयजनप्रतिबोधन चेति प्रयोजनापेक्षया आलम्बनशुद्धि । किं तत् सूत्रानुसारिगमन, अद्रुत, नातिविलम्बित, पुरो युगमात्रदर्शनप्रवृत्ति, अविकृष्टचरणन्यास, भयविस्मयावन्तरेणासलील [2]मनत्युत्क्षेप परिहृतलङ्घनधावन प्रविलम्बितभुज, निर्विकार, अचपलमसम्भ्रान्तमनूर्ध्वनिर्यक्प्रेक्षण, हस्तमात्रपरिहृततरुणतृणपल्लव, अकृतपशुपक्षिमृगोद्वेजन, विरुद्धयोनिसक्रमणजातबाधाव्युदासाय

आगे समितिका व्याख्यान करते हैं । प्रथम ईर्यासमितिका कथन करते हैं—

गा०–टी०—मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि और आलम्बन शुद्धि, इन चार शुद्धियोके द्वारा सूत्रके अनुसार गमन करते हुए मुनिके प्रवचनमे ईर्यासमिति कही है ।

मार्गमे चीटी आदि त्रस जीवोकी अधिकताका न होना तथा बीज, अकुर, तृण, हरे पत्ते और कीचड आदिका न होना मार्गशुद्धि है । सूर्यके प्रकाशका स्पष्ट फैलाव और उसकी व्यापकता उद्योतशुद्धि है । चन्द्रमा नक्षत्र आदिका प्रकाश अस्पष्ट होता है और दीपक आदिका प्रकाश व्यापक नही होता । पैर उठाने और रखनेके देशमे जीवोकी रक्षामे चित्तकी सावधानता उपयोग शुद्धि है । गुरु, तीर्थ, चैत्य और यतिकी वन्दनाके लिए गमन करना आदि किसीके पास शास्त्रका अपूर्व अर्थ या अपूर्व शास्त्रके अर्थका ग्रहण करनेके लिए गमन करना, मुनियोके योग्य क्षेत्रकी खोजके लिए गमन करना, वैयावृत्य करनेके उद्देशसे गमन करना, अनियत आवासके उद्देशसे गमन करना, स्वास्थ्य लाभके लिए गमन करना, श्रमपर विजय पानेके लिए गमन करना, नाना देशोकी भाषा सीखनेके लिए गमन करना, शिष्य समुदायका प्रतिबोधन करनेके लिए गमन करना, इत्यादि प्रयोजनोकी अपेक्षा गमन करना आलम्बन शुद्धि है ।

सूत्रानुसार गमन इस प्रकार है—न बहुत जल्दी और न बहुत विलम्बसे सामने युगमात्र भूमि देखकर चलना, पादनिक्षेप अधिक दूर न करना, भय और आश्चर्यके बिना गमन करना, लीलापूर्वक गमन न करना, पैर अधिक ऊँचा न उठाते हुए गमन करना, लाघना दौडना आदि नही, दोनो भुजा लटकाकर गमन करना, विकार रहित, चपलता रहित, ऊपर तिर्यक् अवलोकन

---

१ पादोपरिवि–अ०आ० । २ मनत्क्षेप–अ० । मनन्यत्क्षेप आ० । मनत्युत्क्षेप–मूलारा० ।

कृताकृत्यतिरेगन, अप्रतिसारितप्रतिमार्गायायिमघट्टन दुष्टधेनुबलीवर्दसारमेयादिपरिहृतिचतुर, परिहृतबुस-तुपमपोभस्मार्द्रगोमयतृणनिचयजलोपलफलक, दूरीकृतचोरीकलह, [2]अनारुहमक्रम निरूपयता यतेरीर्या-समिति ॥११८५॥

भाषासमितिनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

सच्चं असच्चमोस अलियादीदोसवज्जमणवज्जं ।
वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवदि सुद्धा ॥११८६॥

चतुर्विधा वाक्—सत्या, मृषा, सत्यसहिता मृषा, असत्यमृषा चेति । सता हिता सत्या । न सत्या न च मृषा या सा असच्चमोसा । द्विप्रकारा वाचमित्यभता । 'अलियादिदोसवज्ज' व्यलीकता अर्थाभाव, पारुष्य, पैशुन्यमित्यादिदोषरहित । 'अणवज्ज' पापास्रवो न भवति इत्यनवद्य । 'वदमाणस्स' व्याहरत । 'अणुवीचि' सूत्रानुसारेण 'भासासमिदो सुद्धा हवदि' भाषासमिति शुद्धा भवति ॥११८६॥

सत्यवचनभेद निरूपयति—

जणवदसमदिठवणा णामे रूवे पडुच्चववहारे ।
सभावणववहारे भावेणोपम्मसच्चेण ॥११८७॥

'जणवदसमदि' नानाजनपदप्रसिद्धा गृहीतसंकेतानुविधायिनी वाणी जनपदसत्य । गच्छन्ति इति गौ, गर्ज-

रहित गमन करना, तरुण तृण पत्तोंसे एक हाथ दूर रहते हुए गमन करना, पशु पक्षी और मृगोंको भयभीत न करते हुए गमन करना, विरुद्ध योनिवाले जीवोंके मध्यसे जानेपर उनको होनेवाली बाधाको दूर करनेके लिए पीछीसे अपने शरीरकी बारबार प्रतिलेखना करते हुए गमन करना, सामनेसे आते हुए मनुष्योंसे न टकराते हुए गमन करना, दुष्ट गाय, दुष्ट बैल, कुत्ता आदिसे चतुरतापूर्वक बचते हुए गमन करना, भुस, तुप, मसी, गीला गोबर, तृणसमूह, जल, पाषाण और लकडीके तख्तसे बचकर गमन करना, चोरी और कलहसे दूर रहना और पुलपर न चढना । ये सब करते हुए गमन करना ईर्यासमिति है ॥११८५॥

आगे भाषासमितिका कथन करते हैं—

गा०—वचनके चार प्रकार हैं—सत्य, असत्य, सत्यसहित असत्य और असत्यमृषा । सज्जनोंके हितकारी वचनको सत्य कहते हैं । जो वचन न सत्य होता है और न असत्य उसे असत्यमृषा कहते हैं । इस प्रकार सत्य और असत्यमृषा वचनको बोलना तथा असत्य, कठोरता, चुगली आदि दोषोंसे रहित और अनवद्य अर्थात् जिससे पापका आस्रव न हो ऐसा वचन सूत्रानुसार बोलनेवालेके शुद्ध भाषासमिति होती है ॥११८६॥

सत्यवचनके भेद कहते हैं—

गा०—जनपद सत्य, सम्मति सत्य, स्थापना सत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, सम्भावना सत्य, व्यवहार सत्य, भाव सत्य और उपमा सत्य इस प्रकार सत्यवचनके दस भेद हैं ।

टी०—विभिन्न जनपदोंमें जो उस उस जनपदके संकेतके अनुसार प्रचलित वाणी है वह

१ यदर्को—अ० ।　　२ अनूढ—अ० ।

तीनि गज इत्येवमादिका अवयवार्थानुगमाभावेऽपि विवक्षितार्थप्रवृत्तिनिमित्तभूता। सम्मतिशब्देन सस्थानाभ्युपगम उच्यते। गजेन्द्रो नरेन्द्र इत्यादिका शब्दा शुभलक्षणयोगात् केषाञ्चित् स्वतो लक्षणत्वा नामीश्वरत्वेनाभ्युपगममाश्रित्य क्वचिद्गजे मानवे वा प्रयुज्यमाना सम्मतिसत्यशब्देनोच्यन्ते। अर्हन्निन्द्र स्कन्द इत्येवमादय सद्भावासद्भावस्थापनाविषया स्थापनासत्य। अरिहनन, रजोहनन, इन्दन इत्येवमादीना क्रियाणा तत्राभावाद्व्यलीकता नाशङ्कनीया आकारमात्रे परमार्थत्वात्सवभावाना। तस्य च स्थापनाया वस्त्वाश्रितत्वाद् बुद्धिपरिग्रहेण वा सद्भावात। इन्द्रादिसज्ञा स्वप्रवृत्तिनिमित्तजातिगुणक्रियाद्रव्यनिरपेक्षा तच्छब्दाभिधेयसम्बन्धपरिणतिमात्रेण वस्तुन प्रवृत्ता नामसत्य। रूपग्रहण उपलक्षण प्रवृत्तिनिमित्ताना नीलमुत्पल धवलो हि मृगलाञ्छन इत्येवमादिक रूपसत्य। सम्बन्ध्यन्तरापेक्षाभिव्यङ्ग्य च वस्तुस्वरूपालम्बन दीर्घो ह्रस्व इत्येवमादिक प्रतीत्यसत्य। वस्तुनि तथाऽप्रवृत्तेऽपि तथाभूतकार्ययोग्यतादर्शनात सम्भावनया वृत्त सम्भावनासत्य। अपि दोर्भ्यां समुद्र तरेत्, शिरसा पर्वत भिन्द्यात् इत्यादि। वर्तमानकाले स परिणामो यद्यपि नास्ति तथाप्यतीतानागत-

---

जनपद सत्य है। जैसे गमन करे वह गाय है गर्जन करे वह गज—हाथी है। यद्यपि गमनरूप और गर्जनरूप अर्थ नहीं होनेपर भी इन अर्थोकी प्रवृत्तिमे निमित्तभूत वाणी जनपद सत्य है। अर्थात् जैसे गाय और गजशब्द गमन और गर्जन अर्थको लेकर निष्पन्न हुए हैं और उनका सकेत गाय और गजमें किया गया है। गाय बैठी हो तब भी उसे गाय कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक देशकी भाषामें शब्द जनपद सत्य हैं।

सम्मति शब्दसे आकार विशेषकी स्वीकृति कही जाती है। जैसे गजेन्द्र नरेन्द्र इत्यादि शब्द शुभलक्षणके योगसे व्यवहृत होते हैं। किन्हीमे स्वय शुभलक्षण पाये जानेसे उन्हे इन्द्र या ईश्वरके रूपमे स्वीकार करके किसी गजको गजेन्द्र या मनुष्यको सुरेन्द्र कहना सम्मति सत्य है। किसी तदाकार या अतदाकार वस्तुमे अर्हन्त, इन्द्र या स्कन्दकी स्थापना करके उसे अर्हन्त आदि कहना स्थापना सत्य है। मूर्तिमे स्थापित अर्हन्त या इन्द्रमे अर्हन्तशब्दका अर्थ अरि—कर्मशत्रुका हनन करना या कर्मरजका हनन करना और इन्द्र शब्दका अर्थ इन्दन क्रिया नही पाई जाती, इसलिए उसमे असत्यपनेकी आशका नही करनी चाहिए। क्योकि सभी पदार्थ आकारमात्रमे परमार्थ माने जाते हैं। और वह आकार तदाकार स्थापनामे वस्तुरूपमे रहता है अथवा अतदाकार स्थापनामें उसमें उस प्रकारकी बुद्धि कर ली जाती है।

इन्द्रादि नामोकी प्रवृत्तिमे निमित्त जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यकी अपेक्षा न करके जो उस शब्दका अपने वाच्यार्थके साथ सम्बन्ध है केवल उसी दृष्टिसे रखा वस्तुका इन्द्रादि नाम नामसत्य है। रूपका ग्रहण शब्दकी प्रवृत्तिके निमित्तोका उपलक्षण है। जैसे कमलका नीला रूप देखकर नीलकमल कहना या चन्द्रमा सफेद कहना रूप सत्य है। अन्य वस्तुके सम्बन्धसे व्यक्त होनेवाला वस्तुका स्वरूप प्रतीत्य सत्य है जैसे किसीको लम्बा या ठिगना कहना।

वस्तुमे वैसा नही होने पर भी उस प्रकारके कार्यकी योग्यता देखकर जो सभावना मूलक वचन है वह सभावना सत्य है। जैसे कहना अमुक व्यक्ति हाथोंसे समुद्र पार कर सकता है या सिरसे पर्वत तोड सकता है। इत्यादि। यद्यपि वर्तमान कालम वस्तुमे वह परिणाम नही है तथापि

१ सत्वमा—आ०। सत्वादी—मु०। भावामी—मूलारा०।

परिणामा[1] इदमेव द्रव्यमिति कृत्वा प्रवृत्तानि वचांसि ओदनं पच, कटं कुर्वित्येवमादीनि व्यवहारसत्यं । अहिंसालक्षणो भावः पाल्यते येन वचसा तद्भावसत्यं निरीक्ष्य स्वप्रयताचारो भवेत्येवमादिकं । पल्योपमसागरोपमादिकमुपमा सत्यम् ॥११८७॥

मृषादिवचनत्रयलक्षणं कथयन्ति—

तव्विवरीदं मोसं तं उभयं जत्थ सच्चमोसं तं ।
तव्विवरीया भासा असच्चमोसा हवे दिट्ठा ॥११८८॥

'तव्विवरीद' सत्यविपरीतं । मोसं' मृषा । 'असदभिधानमनृतं' [त० सू० ७।] इति वचनात् । मिथ्याज्ञानमिथ्यादर्शनयोरसंयमस्य वा निमित्तं वचनमसदभिधानं अप्रशस्तं तस्मात्तद्विपरीतं । 'तं उभयं' तत्सत्यमनृतं च उभयं । जत्थ' यस्मिन् वाक्ये । 'तं' तद्वाक्यं । 'सच्चमोसं' सत्यमृषेत्युच्यते । तव्विवरीया भासा' सत्यादनृतान्मिश्राच्च पृथग्भूता । भासा' भाषा वचनं 'असच्चमोसा' असत्यमृषेति । 'हवे' भवेत् । 'दिट्ठा' दृष्टा पूर्वागमेषु । एकान्तेन न सत्या नापि मृषा नोभयमिश्रा किंतु जात्यन्तरं यथा वस्तु नैकान्तेन नित्यं नापि अनित्यं नापि सर्वथा एकान्तयोः समुच्चयः किंतु कथंचिद्रूपान्नित्यानित्यात्मकं । एवमियं भारती ॥११८८॥

सा नवप्रकारा तस्याश्च भेदा[2] इयन्त इति गाथाद्वयेनाचष्टे—

आमंतणि आणवणी जायणि संपुच्छणी य पण्णवणी ।
पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ॥११८९॥

अतीत और अनागत परिणाम रूप यही द्रव्य है ऐसा मानकर किया गया वचन व्यवहार सत्य है जैसे भात पकाओ या चटाई बुनो। ये दोनों परिणाम वर्तमानमें नहीं हैं क्योंकि चावल पकने पर भात बनेगा और बुनने पर चटाई होगी। फिर भी अनागत परिणामकी अपेक्षा इनका व्यवहार होता है। जिस वचनके द्वारा अहिंसा रूप भाव पाला जाता है वह वचन भाव सत्य है। जैसे देखकर सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करो आदि। पल्योपम, सागरोपम आदिका जो कथन आगममें कहा है वह उपमा सत्य है ॥११८७॥

असत्य आदि तीन वचनोंका लक्षण कहते हैं—

गा०-टी०—सत्यसे विपरीत वचन असत्य है। तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है 'असत् कहना झूठ है।' जो वचन मिथ्याज्ञानमें, मिथ्याश्रद्धानमें और असंयममें निमित्त होता है वह वचन असत् कथन रूप होनेसे अप्रशस्त है। अतः सत्यसे विपरीत है। जो वचन सत्य और असत्य दोनों रूप होता है वह वचन सत्यमृषा है। जो वचन सत्य, असत्य और सत्य असत्यसे विपरीत होता है उसे पूर्व आगमोंमें असत्यमृषा कहा है। वह वचन न तो एकान्तसे सत्य होता है न एकान्तसे असत्य होता है और न सत्यासत्य होता है किन्तु जात्यन्तर होता है। जैसे वस्तु न तो एकान्तसे नित्य है, न अनित्य है और न सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य है, किन्तु कथंचित् नित्यानित्य है। उसी प्रकार यह असत्यमृषा वचन भी होता है ॥११८८॥

उस असत्यमृषा वचनके नौ भेद दो गाथाओंसे कहते हैं—

१ साम्प्रति इद-मु०। भिधेयाग-आ० मु०। २ दा यत इति-अ०। दा य इति-आ०।

'आमंतणी' यया वाचा परोऽभिमुखीक्रियते सा आमन्त्रणी। हे देवदत्त इत्यादि। अगृहीतसंकेत नाभिमुखी करोति इति न सत्यैकान्तेन गृहीतमभिमुखी करोति तेन न मृषा गृहीतागृहीतसंकेतयो प्रतीतिनिमित्तमनिमित्त चेति द्वयात्मकता। स्वाध्याय कुरुत, विरमतामसयमात् इत्यादिका अनुशासनवाणी आणवणी। चोदिताया क्रियाया करणमकरण चापेक्ष्य नैकान्तेन सत्या न मृषैव वा। 'जायणी' ज्ञानोपकरण पिच्छादिक वा भवद्भिर्दातव्य इत्यादिका याचनी। दातुरपेक्षया पूर्ववदुभयरूपा। निरोध[1] वेदनास्ति भवता न वेति प्रश्नवाक् 'सपुच्छणी'। यद्यस्ति सत्या न चेदितरा इति। वेदनाभावाभावमपेक्ष्य प्रवृत्तेरुभयरूपता। 'पण्णवणी' नाम धर्मकथा। सा बहून्निर्दिश्य प्रवृत्ता केचिन्मनसि करणमितरैरकरण चापेक्ष्य द्विरूपा। 'पच्चक्खाणी' नाम केनचिद्गुरुमननुज्ञाप्य इद क्षीरादिक इयन्त काल मया प्रत्याख्यात इत्युक्त कार्यान्तरमुद्दिश्य[2] तत्कुविस्युदित गुरुणा प्रत्याख्यानावधिकालो[3] न पूर्ण इति नैकान्तत सत्यता गुरुवचनात्प्रवृत्तो न दोषायेति न मृषैकान्त। 'इच्छानुलोमा य' ज्वरितेन पृष्ट घृतशर्करामिश्र क्षीर न शोभनमिति। यदि परो ब्रूयात शोभनमिति माधुर्यादि-

गा०—आमन्त्रणी आणवणी, याचनी, सपुच्छणी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी और इच्छानुलोमा।

टी०—जिस वचनमें दूसरेको बुलाया जाता है वह आमन्त्रणी भाषा है। जैसे हे देवदत्त। यह वचन जिसने सकेत ग्रहण नही किया उसे बुलाने वालेके अभिमुख नही करता अर्थात् वह बुलाने पर नही आता। इसलिए यह वचन सत्य भी नही है और जिसने सर्वथा सकेत ग्रहण किया है उसे अभिमुख करता है इसलिए असत्य भी नही है। इस तरह यह वचन गृहीत सकेत वालेको तो प्रतीति करानेमे निमित्त होता है किन्तु जिसने सकेत ग्रहण नही किया उसको प्रतीति करानेमें निमित्त नही होनेसे दो रूप है। 'स्वाध्याय करो, असयमसे विरत होओ,' इत्यादि अनुशासन वचन आणवणी है। जो काम करनेकी प्रेरणा की गई है वह करने या करनेकी अपेक्षा यह वचन न तो एकान्तसे सत्य है और न एकान्तसे असत्य है। आप मुझे ज्ञानके उपकरण अथवा पीछी आदि प्रदान करें, इत्यादि वचन याचनी भाषा है। यह भी दाताकी अपेक्षा पहलेकी तरह न तो सर्वथा सत्य है और न सर्वथा असत्य है क्योकि मांगने पर दाता दे भी सकता है और नही भी दे सकता।

आपकी वेदना—कष्ट रुका या नही? या निरोध—जेलमे आपको कष्ट है या नही? इस प्रकार पूछना सपृच्छनी भाषा है। यदि वेदना है तो सत्य है, नही है तो मिथ्या है। इस प्रकार वेदनाके भाव और अभावकी अपेक्षासे प्रवृत्त होनेसे यह वचन उभयरूप है।

धर्मकथाको पण्णवणी या प्रज्ञापनी कहते हैं। यह बहुतसे श्रोताओंको लक्ष करके होती है अत कुछ तो अपने मनमें उसका पालन करनेका विचार करते हैं और कुछ नही करते। इस अपेक्षा यह भी उभयरूप है। प्रत्याख्यानी भाषा इस प्रकार है—किसीने गुरुसे निवेदन किये बिना यह दूध आदि मैंने इतने कालतक त्यागा' ऐसा नियम किया। किसी अन्य कार्यको लक्ष करके गुरुने कहा ऐसा करो। उसके त्याग करनेकी मर्यादाका काल पूरा नही हुआ, इसलिए उसका प्रत्याख्यान सर्वथा सत्य नही है और गुरुकी आज्ञासे उसने त्यागी हुई वस्तुमे प्रवृत्ति की इसलिए दोष भी न होनेसे सर्वथा असत्य भी नही है।

इच्छानुलोमा भाषा इस प्रकार है—किसी ज्वरके रोगीने पूछा—घी और शक्कर मिला

१ धो वेदनाया अस्ति–आ०। निरोधो वेदनास्ति–ज० २ दय तद्गुरुहित–ज० दय तत्हितगु–अ०। दा तद्गहित ग–आ०। ३ कालेन पूर्व इति–अ०। कालो न पूर्व इति–ज०।

प्रशस्यगुणसद्भावं ज्वरवृद्धिनिमित्तता चापेक्ष्य न शोभनमिति वचो मृषैकान्ततो नापि सत्यमेवेति द्वयात्मकता ॥११८९॥

सत्यवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्ठमी भासा ।
णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवदि णेया ॥११९०॥

'ससयवयणी' किमयं स्थाणुरुत पुरुष इत्यादिका द्वयोरेकस्य सद्भावमितरस्याभावं चापेक्ष्य द्विरूपता । 'अणक्खरगदा' अङ्गुलिस्फोटादिध्वनिः कृतसंकेतपुरुषापेक्षया प्रतीतिनिमित्ततामनिमित्ततां च प्रतिपद्यते इत्युभयरूपा ॥११९०॥

उग्गमउप्पायणएसणाहिं पिंडमुवधिं सेज्जं च ।
सोधितस्स य मुणिणो विसुज्झए एसणासमिदी ॥११९१॥

'उग्गमउप्पादणएसणाहिं' उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितं भक्तमुपकरणं वसतिं च गृह्णत एषणासमितिर्भवतीति सूत्रार्थः । दशवैकालिकटीकायां श्रीविजयोदयायां प्रपञ्चिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यन्ते ॥११९१॥

आदाननिक्षेपणसमितिनिरूपणा गाथा—

सहसाणाभोगिददुप्पमज्जिय अपच्चवेक्खणा दोसो ।
परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणणिक्खेवो ॥११९२॥

'सहसाणाभोगिद' आलोकनप्रमार्जने कृत्वा आदानं निक्षेपः इत्येको भङ्गः । अनालोक्य प्रमार्जनं कृत्वा

दूध उत्तम नहीं है ? यदि दूसरा कहे कि माधुर्य आदि प्रशस्त गुणोंकी अपेक्षा तो उत्तम है किन्तु ज्वरको बढ़ानेवाला होनेसे उत्तम नहीं है तो इस प्रकारके वचन न सर्वथा असत्य हैं और न सर्वथा सत्य हैं किन्तु दोनों रूप होनेसे उभयात्मक हैं। यहाँ उभयात्मकसे इन वचनोंको सत्य और असत्यरूप नहीं समझना चाहिए। किन्तु सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं अर्थात् अनुभयरूप समझना चाहिए ॥११८९॥

गा०—आठवीं असत्यमृषा भाषा संशय वचनों हैं। जैसे यह स्थाणु है या पुरुष। दोनोंमेंसे एकके सद्भाव और दूसरेके अभावकी अपेक्षा यह वचन उभयरूप है। और नौवीं असत्यमृषा भाषा अनक्षरात्मक भाषा है। जैसे अंगुलि चटकाने आदिका शब्द। जिस पुरुषने संकेत ग्रहण किया है उसे तो ध्वनिसे प्रतीति होती है दूसरेको नहीं होती। इस तरह यह वचन उभयरूप है ॥११९०॥

अब एषणा समितिका कथन करते हैं—

गा०—उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित भोजन, उपकरण और वसतिको ग्रहण करनेवाले मुनिकी एषणा समिति निर्मल होती है ॥११९१॥

आदाननिक्षेपण समितिका कथन करते हैं—

गा०-टी०—विना देखे और विना प्रमार्जन किये पुस्तक आदिका ग्रहण करना या रखना

आदान निक्षेपो वेति द्वितीयो भङ्गः । आलोक्य दु प्रमृष्ट इति तृतीय । आलोकित प्रमृष्ट च न पुनरालोकित शुद्ध न शुद्ध वेति चतुर्थो भङ्ग । एतद्दोषचतुष्टय परिहरतो भवति आदाननिक्षेपणसमिति ॥११९२॥

एदेण चेव पदिट्ठावणसमिदीवि वण्णिया होदि ।
वोसरणिज्ज दव्व थडिल्ले वोसरितस्स ॥११९३॥

'एदेण चेव' आदाननिक्षेपविषययत्नकथनेन । 'पदिट्ठावणसमिदीवि वण्णिदा होदि' प्रतिष्ठापनसमिति-र्वर्णिता भवति । 'वोसरणिज्ज' परित्यक्तव्य मूत्रपुरीषादिक मल । 'थडिल्ले वोसरितस्स' स्थडिले निर्जन्तुके, निश्छिद्रे, समे व्युत्सृजत ॥११९३॥

एदाहिं सदा जुत्तो समिदीहिं जगम्मि विहरमाणो हु ।
हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकायाउले साहू ॥११९४॥

'एदाहिं समिदीहिं' एताभि । 'सदा जुत्तो' सदा युक्त । 'जगम्मि विहरमाणो हु' जगति विचरन्नपि । कीदृशी ? जीवणिकायाउले' षड्जीवनिकायाकीर्णे । हिंसादीहिं' हिंसादिभि । 'ण लिप्पदि' न लिप्यते साधु । आदिग्रहणेन परितापन, सघट्टन, अङ्गन्यूनतावर्णादिपरिग्रह । समितिषु प्रवर्तमान प्रमादरहित । प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसेत्युच्यते । हिंसादिसहितानि कर्माणि हिंसादिशब्देनोच्यन्ते । कार्ये कारणशब्द-प्रवृत्ति [1]प्रतीततरत्वात् ॥११९४॥

यद्यपि विवर्जननिमित्तगुणान्वित तत्र प्रवर्तमानमपि तेन न लिप्यते यथा स्नेहगुणान्वित तामरसपत्र

सहसा नामक प्रथम दोष है । विना देखे प्रमार्जन करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना अनाभोगित नामक दूसरा दोष है । देखकर भी सम्य प्रतिलेखना न करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना दुष्प्रमृष्ट नामक तीसरा दोष है । देखा भी और प्रमार्जन भी किया किन्तु यह शुद्ध है या अशुद्ध, यह नही देखा यह चतुर्थ अप्रत्यवेक्षण नामक दोष है । इन चारो दोषोको जो दूर करता है उसके आदान निक्षेपण समिति होती है ॥११९२॥

प्रतिष्ठापन समिति कहते हैं—

गा०—आदान और निक्षेप विषयक सावधानताका कथन करनेसे प्रतिष्ठापन समितिका कथन हो जाना है । त्यागने योग्य मूत्र विष्टा आदिको जन्तुरहित और छिद्ररहित समभूमिमे त्यागना प्रतिष्ठापन समिति है ॥११९३॥

गा०-टी०—इन पाँच समितियोका सदा पालन करनेवाला मुनि छ प्रकारके जीवनिकायो-से भरे हुए लोकमे गमनागमन आदि करता हुआ भी हिंसा आदिमे लिप्त नही होता । 'आदि' शब्दसे छहकायके जीवोको कष्ट देना उनका परस्परमे सघट्टन करना, उनके अग उपागोको छिन्न-भिन्न करना आदि पापोसे लिप्त नही होता । समितियोमे प्रवृत्ति करते हुए मुनि प्रमादसे रहित होता है । और प्रमत्तयोगसे प्राणोके घातको हिंसा कहा है । हिंसा आदिसे सहित कर्म हिंसा आदि शब्दसे कहे जाते है । क्योकि कार्यमे कारणशब्दकी प्रवृत्ति अति प्रसिद्ध है । आदान निक्षेपमे निमित्त गुणोसे युक्त मुनि प्रवृत्ति करते हुए भी हिंसा आदि पापसे लिप्त नही होता ॥११९४॥

जैसे चिक्कणगुणसे युक्त कमल नीलमणिके समान निर्मल जलमे सदा रहते हुए भी

---

१. प्रतीतिमात्रत्वात् । यद्यपि–आ० ।

वाचनीलनीरनिरन्तरवत्यपि नाम्बुना लिप्यते। निरन्तरनिचितजीवनिकायाकुलेऽपि जगति सञ्चरन्नपि मुनिर्न लिप्यते' अप्रमततया प्रवृत्त पञ्चसु समितिष्विति कथयति—

पउमणिपत्त व जहा उदयेण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्त ।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साधू काएसु इरियंतो ॥११९५॥

पउमणिपत्त' इत्यनया गाथया-पद्मपत्र यथा नोदकेन विलिप्यते स्नेहगुणसमन्वित । तथा कायेसु शरीरेषु प्राणभृता प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते साधु समितिभिर्हेतुभूताभि ॥११९५॥

सरवासे वि पडते जह दढकवचो ण विज्झदि सरेहि ।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साधू काएसु इरियंतो ॥११९६॥

सरवासे वि पडते शरवर्षेऽपि पतति सति च रणाङ्गणे यथा दृढकवचो न शरैभिद्यत, यथा समितिभिर्हेतुभूताभिन लिप्यते कायेषु वर्तमाना मुनि ॥११९६॥

जत्थेव चरइ बालो परिहारण्हू वि चरइ तत्थेव ।
वज्झदि पुण सो बालो परिहारण्हू वि मुच्चइ सो ॥११९७॥

जत्थेव चरइ बालो यत्रैव क्षेत्र चरति जीवपरिहारक्रमानभिज्ञ । परिहारण्हू वि जीवबाधापरिहारप्रक्रमज्ञोऽपि तत्रैव चरति। तथापि वज्झदि सो पुण बालो' बध्यते पुनरसौ ज्ञानबालश्चारित्रबालश्चासौ । परिहारण्हू' परिहारज्ञ । मुच्चइ' मुच्यत कर्मलेपात् ॥११९७॥

उक्तमर्थमुपसहरत्युत्तरगाथया—

तम्हा चेट्ठिदुकामो जइया तइया भवाहि त समिदो ।
समिदो हु अण्णमण्ण णादियदि खवेदि पोराण ॥११९८॥

जलसे लिप्त नही होता। पाँचो समितियामे अप्रमादीरूपसे प्रवृत्ति करनेवाला मुनि भी निरन्तर जीव निकायोंसे भरे हुए जगत्मे गमनागमन करते हुए पापसे लिप्त नही होना। यह कहते हैं—

गा०—जैसे स्नेह गुणसे युक्त कमलपत्र जलसे लिप्त नही होता। उसी प्रकार प्राणियोंके शरीरोंके मध्यमेंसे गमनागमन करते हुए भी साधु समितिका पालन करनेसे पापसे लिप्त नही होना ॥११९५॥

गा०—जैसे दृढ कवचसे युक्त योद्धा युद्धभूमिमे बाणोकी वर्षा होते हुए भी बाणोंसे नही छिदता। उसी प्रकार षट्कायके जीवोंके मध्यमे विचरण करता हुआ भी समितियोंके कारण हिंसा आदिसे लिप्त नही होता ॥११९६॥

गा०—जीवोंकी हिंसासे बचनेके उपायोको न जाननेवाला जिस क्षेत्रमे विचरण करता है, जीवोंकी हिंसासे बचनेके उपायोको जाननेवाला भी उसी क्षेत्रमे विचरण करता है। तथापि वह ज्ञान और चारित्रमे बालकके समान अज्ञ तो पापसे बद्ध होता है किन्तु उपायोको जाननेवाला पापसे लिप्त नही होता बल्कि उससे मुक्त होता है ॥११९७॥

आगे उक्त कथनका उपसहार करते हैं—

१ एतेन अप्रमत्ततया प्रमत्त प–आ० ज० ।

यस्मात्समितिषु प्रवर्तमानो न बध्यते, पापेन मुच्यते। असमितस्तु महता बध्यते कर्मसमूहेन 'तम्हा' तस्मात्। 'चेट्ठिदुकामो' गमनभाषणाद्यभिलाषी। 'जइया तइया' यदा तदा। 'त' भवान् 'समिदो भवाहि' समितिपरो भवेति निर्यापकसूरिराह क्षपकं। 'समिदो खु' समित सम्यक्प्रवृत्त ईर्यादिषु। 'अण्णमण्ण कम्मं' अन्यत् अन्यत्। प्रत्यग्रं। 'णादियदि' नैवादत्ते। 'खवेदि पोराण' प्राक्तन च कर्म क्षपयति निर्जरति ॥११९८॥

एदाओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं।
रक्खंति सदा मुणिणो मादा पुत्तं व पयदाओ ॥११९९॥

'एदाओ अट्ठपवयणमादाओ' एता अष्टप्रवचनमातृका 'पयदाओ' प्रयता। 'णाणदंसणचरित्त रक्खंति' समीचीनज्ञानदर्शनचारित्राणि पालयन्ति सदा मुने। 'मादा पुत्त व जधा' जननी पुत्र यथा। प्रयता माता पुत्रं पालयत्यपायस्थानेभ्य ॥११९९॥

व्रतभावनानिरूपणायोत्तरप्रबन्ध। त्रयोदशविध चारित्र अखण्डमाराधयतश्चारित्राराधना। तत्र व्रताना स्थैर्यं सम्पादयितु भावना एकैकस्य पञ्च पञ्चाभिहितास्तत्रेमा अहिंसाव्रतभावना इति बोधयति।

एषणासमितिर्निरूप्यते—

एसणणिक्खेवादाणिरियासमिदी तहा मणोगुत्ती।
आलोयभोयणं वि य अहिंसाए भावणा होंति ॥१२००॥

'एसणणिक्खेवादाणिरियासमिदी' एषणसमिदी एषणासमितिरादाननिक्षेपणासमिति, ईर्यासमितिस्तथा मनोगुप्ति। 'आलोयभोअण च' आलोकभोजन च। 'अहिंसाए' अहिंसाव्रतस्य। 'भावणा' भावना। 'होंति' भवन्ति।

भिक्षाकाल, बुभुक्षाकालोऽवग्रहकालश्चेति कालत्रयं ज्ञातव्य। ग्रामनगरादिषु इयता कालेन आहार-

---

गा०—टी०—यत समितियोंका पालक पापसे लिप्त नहीं होता किन्तु उससे छूटता है और समितिका पालन न करनेवाला महान् कर्मसमूहसे बंधता है अत जब तुम गमन करना या बोलना चाहो तो समितिमें तत्पर रहो। ऐसा निर्यापकाचार्य क्षपकसे कहते हैं। क्योंकि ईर्या आदिमें सम्यक् प्रवृत्ति करनेवाला नवीन नवीन कर्मोंका बन्ध नहीं करता और पूर्वमें बाँधे कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥११९८॥

गा०—जैसे सावधान माता पुत्रकी अनिष्टोंसे रक्षा करके उसका पालन करती है। वैसे ही सम्यक्‌रूपसे पालित ये आठ प्रवचन मातायें मुनिके सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्‌चारित्रकी रक्षा करती हैं ॥११९९॥

आगे व्रतोंकी भावनाओंका कथन करते हैं। जो तेरह प्रकारके चारित्रकी निर्दोष आराधना करता है उसके चारित्राराधना होती है। उनमेंसे व्रतोंको स्थिर करनेके लिए एक-एक व्रतकी पाँच-पाँच भावना कही हैं। उनमेंसे अहिंसाव्रतकी भावना कहते हैं—

गा०—टी—एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, ईर्यासमिति, मनोगुप्ति और आलोक भोजन ये पाँच अहिंसाव्रतकी भावना हैं। उनमेंसे एषणा समिति कहते हैं—भिक्षाकाल, बुभुक्षाकाल और अवग्रहकाल ये तीन काल जानना चाहिए। अमुक मासोंमें ग्राम नगर आदिमें अमुक

निष्पत्तिर्भवति, अमीषु मासेषु, अस्य वा कुलस्य काले भोजनकाल इच्छाया प्रमाणादिना भिक्षाकालोऽवगन्तव्यः । क्षुदद्य मम तीव्रा मन्दा वेति स्वशरीरव्यवस्था च परीक्षणीया । अवग्रहः पूर्वं गृहीत एवंभूत आहारो मया न भोक्तव्य इति । अद्यायमवग्रहो ममेति मीमांसा कार्या । तदनन्तरं पुरतो युगान्तरमात्रभूभागावलोकनरतः अद्रुत, अविलम्बित, असंभ्रान्तं व्रजेत् प्रलम्बबाहुरविकृष्टचरणन्यासो निर्विकारः ईषदवनतोत्तमाङ्गः अकर्दमेनानुदकेन अत्रसहरितबहुलेन वर्त्मना । दृष्ट्वा तु खरान्, करभान्, बलीवर्दान्, गजान्तुरगान्महिषान्सारमेयान्कलहकारिणो वा मनुष्यान्दूरतः परिहरेत् । पक्षिणो मृगाश्चाहारकालोदना वा यथा न बिभ्यति यथा वा स्वमाहारं मुक्त्वा न व्रजन्ति तथा यायात् । मृदुना प्रतिलेखनेन कृतप्रमार्जनो गच्छेद्यदि निरन्तरानुपमाहितफलादिकं वाग्रतो भवेत् मार्गान्तरमस्ति भिन्नवर्णा वा भूमिं प्रविशन्स्तद्वर्णभूभाग एव अङ्गप्रमार्जनं कुर्यात् । तुषगोमयभस्मबुसपलालनिचयं दलोपलफलादिकं च परिहरेत् । निन्द्यमानो न कुप्येत्, पूज्यमानोऽपि न तुष्येत् । न गीतनृत्यबहुलं, उच्छ्रितपताकं वा गृहं प्रविशेत् । तथा मत्तानां गृहं न प्रविशेत् । सुरापण्याङ्गनालोकगर्हितकुलं वा यज्ञशाला दानशाला, विवाहगृहं वार्यमाणानि रक्ष्यमाणानि, अनुत्तानि च गृहाणि परिहरेत् । दरिद्रकुलानि उत्क्रमाढ्यकुलानि न प्रविशेत् । ज्येष्ठाल्पमध्यानि सममेवाटेत् । द्वारमर्गलं कवाटं वा नोद्घाटयेत् । बालवत्सं एलकं शुनो वा नोल्लङ्घयेत् । पुष्पैः फलैर्बीजैश्चावकीर्णां भूमिं वर्जयेत् तदानीमेव अवलिप्तां । भिक्षाचरेषु परेषु लाभार्थिषु स्थितेषु तद्गृहं न प्रविशेत् । तथा कुटुम्बिषु व्यग्राविषण्णदीनमुखेषु च

समय भोजन बनता है अथवा अमुक कुलका या अमुक मुहाल्लेका अमुक समय भोजनका है। इस प्रकार इच्छाके प्रमाण आदिसे भिक्षाका काल जानना चाहिए। तथा मेरी भूख आज मन्द है या तीव्र है इस प्रकार अपने शरीरकी स्थितिकी परीक्षा करनी चाहिये। मैंने पहले यह नियम लिया था कि इस प्रकारका आहार मैं नहीं लूंगा और आज मेरा यह नियम है इस प्रकार विचार करना चाहिए। उसके पश्चात् आगे केवल चार हाथ प्रमाण जमीन देखते हुए न अधिक शीघ्रतासे न रुक-रुककर किसी प्रकारके वेगके विना गमन करना चाहिए। गमन करते समय हाथ लटकते हुए हों चरण निक्षेप अधिक अन्तरालसे न हो, शरीर विकाररहित हो, सिर थोड़ा झुका हुआ हो, मार्गमें कीचड और जल न हो तथा त्रसजीवों और हरितकायकी बहुलता न हो। यदि मार्गमें गधे ऊँट, बैल, हाथी, घोड़े, भैंसे, कुत्ते अथवा कलह करनेवाले मनुष्य हों तो उस मार्गसे दूर हो जावे। पक्षी और खाते पीते हुए मृग भयभीत न हों और अपना आहार छोड़कर न भागें, इस प्रकारसे गमन करे। आवश्यक होनेपर पीछीसे अपने शरीरकी प्रतिलेखना करे। यदि मार्गमें आगे निरन्तर इधर उधर फलादि पड़े हों, या मार्ग बदलता हो या भिन्न वर्णवाली भूमिमें प्रवेश करना हो तो उस वर्णवाले भूमिभागमें ही पीछीसे अपने शरीरको साफ कर लेना चाहिये। तुष, गोबर, राख, भुस, और घासके ढेरसे तथा पत्ते, फल, पत्थर आदिसे बचते हुए चलना चाहिये, इनपर पैर नहीं पड़ना चाहिये। कोई निन्दा करे तो क्रोध न करे और पूजा करे तो प्रसन्न न हो। जिस घरमें गाना नाचना होता हो, झण्डिया लगी हों उस घरमें न जावे। तथा मतवालोंके घरमें न जावे। शराबी, वेश्या, लोकमें निन्दित कुल, यज्ञशाला, दानशाला, विवाहवाला घर तथा जिन घरोंमें जानेकी मनाई हो, आगे रक्षक खड़ा हो, जहाँ कोई न जा सकता हो ऐसे घरोंमें नहीं जावे। दरिद्रकुलोंमें और आचारहीन सम्पन्नकुलोंमें भी प्रवेश न करे। बड़े छोटे और मध्यम गृहोंमें एक साथ ही भ्रमण करे। द्वारपर यदि साकल लगी हो या कपाट बन्द हो तो उन्हें खोले नहीं। बालक, बछड़ा, मेढा और कुत्तेको लाँघकर न जावे। जिन भूमिमें पुष्प, फल और बीज फैले हों उसपरसे न जावे। तत्कालकी लिपी भूमिपर न जावे। जिन घरपर अन्य भिक्षार्थी

सत्सु नो तिष्ठेत् । भिक्षाचर भिक्षामार्गणभूमिमतिक्रम्य न गच्छेत् । याच्ञामव्यक्तध्वनि वा स्वागमननिवेदनार्थं न कुर्यात् । विद्युदिव स्वा तनु[1] च दर्शयेत् कोऽमलभिक्षा दास्यतीति अभिसंधि न कुर्यात् । रहस्यगृह, वनगृह, कदलीलतागुल्मगृह, नाट्यगान्धर्वशालाश्च अभिनन्द्यमानोऽपि न प्रविशेत् । बहुजनप्रचारे प्राणिरहिते अशुच्यपरोपरोधवर्जिते अनिर्गमनप्रवेशमार्गे गृहिभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत् । समे विच्छिद्रे, भूभागे चतुरङ्गुल्पादान्तरो निश्चल कुड्यस्तम्भादिकमनवलम्ब्य तिष्ठेत् । छिद्रद्वार कवाट, प्राकार वा न पश्येत चार इव । दातुरागमनमार्ग अवस्थानदेश, कडुच्छ्रक भाजनादिक च शोधयेत । स्तन प्रयच्छन्त्या, गर्भिण्या वा दीयमान न गृह्णीयात । रोगिणा, अतिवृद्धेन, बालेनोन्मत्तेन पिशाचेन, मुग्धेनान्धेन, मूकेन, दुर्बलेन, भीतेन, शङ्कितेन, अत्यासन्नेन[2], दूरेण, लज्जाव्यावृतमुख्या, आवृतमुख्या, उपानदुपरिन्यस्तपादेन वा जनेनोन्नतदेशावस्थितेन वा दीयमान न गृह्णीयात् । न खण्डेन भिन्नेन वा कडच्छुकेन दीयमान कपालोच्छिष्टभाजने पद्मकदलीपत्रादि भाजने निक्षिप्य दीयमान वा मास, मधु, नवनीत, फल [3]अदारित, मूल, पत्र, साङ्कुर, कन्द च वर्जयेत् । तत्संस्पृष्टानि सिद्धान्यपि विपन्नरूपरसगन्धानि, कुथितानि, पुष्पितानि, पुराणानि, जन्तुसंस्पृष्टानि च[4] न दद्यात खादेत, न स्पृशेच्च । उद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्ट नाभ्यवहरेत् । नवकोटिपरिशुद्धाहारग्रहणमेषणासमिति ।

भिक्षाके लिए खडे हो उस घरमे प्रवेश न करे। जिस घरके कुटुम्बी घबराये हो, उनके मुखपर विषाद और दीनता हो वहाँ न ठहरे। भिक्षार्थियोके लिए भिक्षा माँगनेकी जो भूमि हो, उस भूमिमे आगे न जावे। अपना आगमन बतलानेके लिए याचना या अव्यक्त शब्द न करे। बिजली की तरह अपना शरीरमात्र दिखला दे। कौन मुझे निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा भाव न करे। एकान्त घरमे, उद्यान घरमे, केले लता और झाडियोमे बने घरमें, नाट्यशाला और गायनशालामें आदरपूर्वक आतिथ्य पानेपर भी प्रवेश न करे। जहाँ बहुतसे मनुष्योका आना जाना हो, जीव जन्तुसे रहित, अपवित्रता रहित, दूसरेके द्वारा रोक-टोकसे रहित तथा जाने आनेके मार्गसे रहित स्थानमें गृहस्थोकी प्रार्थनामे ठहरे। सम और छिद्ररहित जमीनपर दोनो पैरोके मध्यमें चार अगुलका अन्तर रखकर निश्चल खडा हो और दीवार स्तम्भ आदिका सहारा न ले। चोरकी तरह द्वारमे लगे कपाटोके छिद्र अथवा चार दीवारीके छिद्रमेसे न देखे। दाताके आनेके मार्ग, उसके खडे होनेके स्थान और करछुल आदि भाजनोकी शुद्धताकी ओर ध्यान रखे। जो स्त्री बालकको दूध पिलाती हो या गर्भिणी हो, उसके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण न करे। रोगी, अतिवृद्ध, बालक, पागल, पिशाच, मूढ, अन्धा, गूँगा, दुर्बल, डरपोक, शकालु, अति निकटवर्ती, दूरवर्ती मनुष्यके द्वारा, जिसने लज्जासे अपना मुख फेर लिया या मुखपर घूँघट डाला है ऐसी स्त्रीके द्वारा, जिसका पैर जूतेपर रखा है या जो ऊँचे स्थानपर खडा है ऐसे व्यक्तियोके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण नही करे। टूटे हुए या फूटे हुए करछुल आदिसे दिया हुआ आहार ग्रहण न करे। तथा कपालमें, जूठे पात्रमें, कमल केले आदिके पत्ते आदिमें रखकर दिया हुआ आहार ग्रहण न करे। मास, मधु, मक्खन, विना कटा फल, मूल, पत्र, अकुरित तथा कन्द ग्रहण न करे। इनमे जो भोजन छू गया हो उसे भी ग्रहण न करे। जिस भोजनका रूप रस गन्ध बिगड गया हो, दुर्गन्ध आती हो, फफून्द आ गई हो, पुराना हो गया हो और जीव-जन्तु जिसमें पडे हो उसे न तो किसीको देना चाहिये, न स्वय खाना चाहिये और उसे छूनातक

---

१ तनु न च—अ० ज० ।   २ न्नेन अदूरे—अ० ज० मु० ।   ३ फलादि हरित—अ० ।
४ चरादि—अ० । च दीनादि—ज० ।

यन्निक्षिप्यते यत्र यदादीयते यतस्तदुभयं प्रतिलेखनायोग्यं न वेति विलोक्य पश्चात्कृतमार्जनं पुनरवलोक्य निक्षिपेद् गृह्णीयाद्वा । एषा आदाननिक्षेपणसमितिः । ईर्यासमितिर्निरूपितैव तथा मनोगुप्तिश्च । स्फुटतरप्रकाशावलोकितस्य अन्नस्य भोजनमित्यहिंसाव्रतभावना पञ्च ॥१२००॥

द्वितीयव्रतभावना उच्यन्ते—

कोधभयलोभहस्सपदिण्णा अणुवीचिभासणं चेव ।
विदियस्स भावणाओ वदस्स पचेव ता होंति ॥१२०१॥

क्रोधभयलोभहास्यानां प्रत्याख्यानानि चत्वारि । 'अणुवीचिभासणं चेव' सूत्रानुसारेण च भाषणं । सत्या, मृषा, सत्यमृषा, असत्यमृषा चेति चतस्रो वाचः । तत्र सत्या असत्यमृषा वा व्यवहरणीया नेतरद्वयं । क्रोधादीनामसत्यवचनकारणानां प्रत्याख्याने असत्यावाक्परिहृता भवति नान्यथा ॥१२०१॥

तृतीयव्रतभावना उच्यन्ते—

अणणुण्णादग्गहणं असंगबुद्धी अणुण्णवित्ता वि ।
एदावंतियउग्गहजायणमध उग्गहाणुस्स ॥१२०२॥

'अणणुण्णादग्गहणं' तस्य स्वामिभिरननुज्ञातस्य अग्रहणं ज्ञानोपकरणादेः । 'असंगबुद्धी अणुण्णवित्ता वि' परानुज्ञां सम्पाद्य गृहीतेऽपि असक्तबुद्धिता । 'एदावंतिय 'उग्गहजायणं' एतत्परिमाणमिदं भवता दातव्यमिति प्रयोजनमात्रपरिग्रहः यावत्प्रार्थितो यावद्गृह्णामि इति न बुद्धिः कार्या । 'उग्गहाणुस्स' ग्राह्यवस्तुनस्य इदं

नहीं चाहिये। जो भोजन उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषसे दुष्ट है उसे नहीं खाना चाहिये। इस तरह नौ कोटियोंमें शुद्ध आहार ग्रहण करना एषणा समिति है। जो वस्तु जिस स्थानपर रखी जाय और जो वस्तु जिस स्थानसे उठाई जाये वे दोनों प्रतिलेखनाके योग्य हैं या नहीं, यह देखनेके पश्चात् पीछीसे उनको झाडकर पुनः देखे और तब रखे या ग्रहण करे। यह आदान निक्षेपण समिति है। ईर्यासमिति पहले कही है और मनोगुप्ति भी कही है। अति स्पष्ट प्रकाशमें देखे गये अन्नका भोजन आलोकभोजन है। ये पाँच अहिंसाव्रतकी भावना हैं ॥१२००॥

दूसरे सत्यव्रतकी भावना कहते हैं—

गा०—क्रोधका त्याग, भयका त्याग, लोभका त्याग, हास्यका त्याग और सूत्रके अनुसार बोलना ये पाँच सत्यव्रतकी भावना हैं। वचनके चार भेद हैं—सत्य, असत्य, सत्य असत्य तथा न सत्य न असत्य। इनमेंसे सत्य और अनुभय वचन बोलने योग्य हैं। शेष दो नहीं बोलने चाहिये। क्रोध आदि झूठ बोलनेमें कारण होते हैं। उनको त्याग देने पर असत्य वचनका त्याग हो जाता है अन्यथा नहीं होता ॥१२०१॥

तीसरे व्रतकी भावना कहते हैं—

गा०-टी०—ज्ञानोपकरण आदिके स्वामीकी स्वीकृतिके विना ज्ञानोपकरण आदिको स्वीकार न करना, स्वामीकी स्वीकृति मिलने पर स्वीकार की गई वस्तुमें भी आसक्ति न होना, 'आपको इतना देना चाहिये' इस प्रकार जितनेसे प्रयोजन हो उतना ही ग्रहण करना, जितना मांगा है उतना ही ग्रहण करूँगा ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। जो ग्रहण करने योग्य वस्तुको

ज्ञानसंयमयोरन्यतरस्य साधनमन्तरेण ज्ञानं चारित्रं वा मम न सिध्यतीति तस्य ग्रहणं नानुपयोगि नो [1]याचतश्च ते ॥१२०२॥

वज्जणमणणुणादगिहप्पवेसस्स गोयरादीसु ।
उग्गहजायणमणुवीचिए तहा भावणा तइए ॥१२०३॥

'वज्जणमणणुण्णादगिहप्पवेसस्स' गृहस्वामिभिरननुज्ञातगृहप्रवेशवर्जनं भावना । 'गोयरादीसु' गोचरादिषु इदं वेश्म प्रविश, अत्र वा तिष्ठेति योऽननुज्ञातो देशस्तस्य अप्रवेशनं । 'उग्गहजायणअणुवीचिए' अवग्रहयाचना सूत्रानुसारेण तृतीये भावना ॥१२०३॥

महिलालोयणपुव्वरदिसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं ।
पणिदरसेहिं य विरदी भावणा पंच बंभस्स ॥१२०४॥

'महिलालोअणपुव्वरदिसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं' स्त्रीणामालोकनं, पूर्वरतस्मरणं, स्त्रीभिराकुला या वसतिः शृङ्गारकथा इत्येतद्विरतयः । 'पणिदरसेहिं य विरदी' बलदपकरेभ्यो विरतिश्चेति पञ्च व्रतभावना ॥१२०४॥

अपडिग्गहस्स मुणिणो सद्दफरिसरसरूवगंधेसु ।
रागद्दोसादीणं परिहारो भावणा हुंति ॥१२०५॥

'अपरिग्गहस्स' परिग्रहरहितस्य । 'मुणिणो' मुनेः । सद्दफरिसरसरूवगंधेसु' शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु । मनोज्ञामनोज्ञेषु । 'रागद्दोसादीणं' रागद्वेषयोः परिहारो विषयभेदात्पञ्चप्रकारभावना पञ्चमस्य ॥१०२५॥

जानता है कि यह वस्तु ज्ञान और संयममेंसे एककी साधन है इसके बिना मुझे ज्ञान अथवा चारित्रकी सिद्धि नहीं होगी और उसीको ग्रहण करता है, अनुपयोगी वस्तुको ग्रहण नहीं करता। उसीके ये भावना होती है ॥१२०२॥

गा०—गोचरी आदिमें गृहस्वामीके द्वारा अनुज्ञा नहीं दिये घरमें प्रवेश न करना अर्थात् इस घरमें प्रवेश करें, अथवा यहाँ ठहरें इस प्रकारसे जहाँ गृहस्वामीकी अनुज्ञा प्राप्त न हो उस देशमें प्रवेश न करे और शास्त्रके अनुसार ग्रहण करने योग्य वस्तुकी याचना करना, ये पाँच अदत्तादानविरमणव्रत की भावना हैं ॥१२०३॥

गा०—स्त्रियोंकी ओर देखना, पूर्वमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण, स्त्रियोंसे युक्त वसतिका, शृङ्गारकथा और इन्द्रियोंमें मद और बल पैदा करनेवाले रस, इन सबसे विरत होना ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥१२०४॥

गा०—परिग्रह रहित मुनिका मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमें राग और द्वेषका त्याग अर्थात् मनोज्ञमें राग और अमनोज्ञसे द्वेष न करना विषयोंके भेदसे पाँच प्रकारकी भावना पाँचवें अपरिग्रह व्रत की हैं ॥१२०५॥

---

१. नो याच्चन स्यन्ते–अ० । नो योग्य ल्यन्ते–ज० । ग्रहणं, इत्यस्य अग्रे पाठो नास्ति आ० ।

भाव माहात्म्य कथयति—

ण करेदि भावणाभाविदो खु पीडं वदाण सव्वेसिं।
साधू पासुत्तो समुहदो व किमिदाणि वेदंतो ॥१२०६॥

'ण करेदि खु' न करोत्येव। क ? 'भावणाभाविदो' भावनाभिर्भावित। 'पीडं' पीडा। 'वदाण' व्रताना। 'सव्वेसिं' सर्वेषा। 'साधू' साधु। 'पासुत्तो' प्रकर्षेण निद्रामुपगत। 'समुहदो व' समुद्घात गतो वा। 'किमिदाणि' किमिदानी। 'वेदंतो' चेतयमान ॥१२०६॥

एदाहिं भावणाहिं हु तम्हा भावेहि अप्पमत्तो त।
अच्छिद्दाणि अखंडाणि ते भविस्संति हु वदाणि ॥१२०७॥

'एदाहिं' एताभि। 'भावणाहिं' भावनाभि। 'तम्हा' तस्मात्। 'भावेहिं' भावय। 'अप्पमत्तो त' अप्रमत्तस्त्व। 'अच्छिद्दाणि' अच्छिद्राणि। नैरन्तर्येण प्रवृत्तानि। 'अखंडानि' सम्पूर्णानि तव भविष्यन्ति व्रतानि ॥१२०७॥

व्रतपरिणामोपघातनिमित्तानि शल्यानि ततस्तद्वर्जन कार्यमित्याचष्टे—

णिस्सल्लस्सेव पुणो महव्वदाइं हवंति सव्वाइं।
वदमुवहम्मदि तीहिं दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं ॥१२०८॥

'णिस्सल्लस्सेव' शल्यरहितस्यैव। शृणाति हिनस्तीति शल्य शरकण्टकादि शरीरादिप्रवेशि तेन तुल्य यत्प्राणिनो बाधानिमित्त, अन्तर्निविष्ट परिणामजात तच्छल्यमिह गृहीत। 'महव्वदाइं' महाव्रतानि भवन्ति। शल्य कस्यचिदेव व्रतस्योपघातक, यथा एषणासमित्यभावो अहिंसाव्रतस्येत्याशङ्का निरस्यति सर्वशब्दो। ननु च महत्त्वेन व्रतमवशेष्य। मिथ्यात्वादिशल्य अणुव्रतान्यपि हन्त्येव। सत्य प्रस्तुतत्वान्महाव्रतानामित्यमुक्त।

भावनाका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—भावनाओंसे भावित साधु गहरी नींदमें सोता हुआ भी अथवा मूर्छित हुआ भी सब व्रतोंमें दोष नहीं लगाता। तब जागते हुए की तो बात ही क्या है ॥१२०६॥

गा०—इसलिये हे क्षपक ! तुम प्रमाद त्यागकर इन भावनाओंमें अपनेको भावित करो। इससे तुम्हारे व्रत निरन्तर बने रहेंगे और सम्पूर्ण होंगे ॥१२०७॥

शल्य व्रतरूप परिणामोंके घातमें निमित्त होते हैं। अत उनको त्यागना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०-टी०—शल्यरहितके ही सब महाव्रत होते हैं। 'शृणाति' अर्थात् जो कष्ट देता है वह शल्य है। जैसे शरीर आदिमें घुसनेवाला बाण, काँटा आदि। उनके समान जो अन्तरगमें घुसा परिणाम प्राणीको कष्ट पहुँचानेमें निमित्त है उसे यहाँ शल्य शब्दसे कहा है। जैसे एषणासमिति-का अभाव अहिंसा व्रतका घातक है वैसे ही शल्य किसी एक व्रतका घातक है क्या ? इस आशका को दूर करनेके लिये सर्व शब्दका प्रयोग किया है।

शका—मिथ्यात्व आदि शल्य अणुव्रतोंका भी घात करते हैं। यहाँ उन्हें महाव्रतोंका घातक क्यों कहा ?

अत्र चोद्य—हिंसादिभ्यो विरतिपरिणाममात्राणि व्रतानि । शल्ये मिथ्यात्वादिके सति किं न भवन्ति । येनैवमुच्यते निःशल्यस्यैव महाव्रतानि भवन्ति इति ? एतत्प्रतिविधानायाह—'वदमुवहम्मदि' व्रतमुपहन्यते। 'तीहिं दु' त्रिभिः । 'णिदाणमिच्छत्तमायाहिं' निदानमिथ्यात्वमायाभिः । अल्पाच्तरत्वान्मायाशब्दस्य पूर्वनिपात इति चेन्न—मिथ्यात्वं व्रतविधातं प्रकर्षेण करोतीति प्रधानं ततो मिथ्यात्वं माया चेति द्विपदे द्वन्द्वे मिथ्यात्वशब्दस्य पूर्वनिपातः पश्चान्निदानशब्देन द्वन्द्वः तस्याल्पाच्तरत्वात्पूर्वनिपातः । सम्यक्चारित्रमिह मोक्षमार्गत्वेन प्रस्तुतं, तच्च नासतोः सम्यग्दर्शनज्ञानयोर्भवति । सति मिथ्यात्वे विरोधिनि न ते स्तः समीचीनज्ञानदर्शने[1] । रत्नत्रयस्वात्मुक्तेः अनन्तज्ञानादिकाच्चान्यत्र चित्तप्रणिधानं इदमेतस्य स्यादिति निदानं । तच्च सम्यग्दर्शना[2]दिपरम्परया व्रतोपघातकारि । मनसा स्वातिचारनिगूहनलक्षणा माया च व्रतमुपहन्तीति मन्यते ॥१२०८॥

तत्थ णिदाणं तिविहं होइ पसत्थापसत्थभोगकदं ।
तिविधं पि तं णिदाणं परिपंथो सिद्धिमग्गस्स ॥१२०९॥

तत्थ तेषु शल्येषु । 'णिदाणं' निदानाख्यं शल्यं । 'तिविधं' त्रिविधं । 'होदि' भवति । 'पसत्थमपसत्थभोगकदं' प्रशस्तनिदानमप्रशस्तनिदानं, भोगनिदानं चेति । 'तिविधं पि तं निदानं' त्रिप्रकारमपि निदानं । 'परिपंथो' विघ्नः । 'सिद्धिमग्गस्स' रत्नत्रयस्य ॥१२०९॥

समाधान—आपका कहना सत्य है किन्तु यहाँ महाव्रतका प्रकरण होनेसे महाव्रतोंका घातक कहा है।

शंका—व्रत तो हिंसा आदिसे विरतिरूप परिणाम मात्र हैं। वे मिथ्यात्व आदि शल्यके होने पर क्यों नहीं होते, जिससे यह कहा गया है कि निःशल्यके ही महाव्रत होते हैं ?

समाधान—इस शङ्काका निराकरण करनेके लिये कहते हैं—निदान, मिथ्यात्व और माया इन तीनोंके द्वारा व्रतका घात होता है।

शंका—माया शब्द अल्प अच्वाला है अतः उसे पहले रखना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व व्रतका घात प्रकर्ष रूपसे करता है अतः प्रधान है। तब 'मिथ्यात्व और माया' ऐसा द्वन्द्व समास करने पर मिथ्यात्व शब्दका पूर्व निपात होता है। फिर निदान शब्दके साथ द्वन्द्व करने पर निदान शब्दका पूर्व निपात होता है क्योंकि वह अल्प अच्वाला है। यहाँ मोक्षके मार्ग रूपसे सम्यक्चारित्रका कथन है। वह सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके अभावमें नहीं होता। क्योंकि विरोधी मिथ्यात्वके रहते हुए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन नहीं होते। रत्नत्रयरूप अथवा अनन्त ज्ञानादिरूप मुक्तिसे अन्यत्र चित्तका उपयोग लगाना कि इसका यह फल मुझे मिले, निदान है। वह सम्यग्दर्शन आदिकी परम्परासे व्रतका घातक है। तथा मनसे अपने दोषोंको छिपाने रूप माया भी व्रतका घात करती है।

विशेषार्थ—निदानसे सम्यग्दर्शनमें अतिचार लगता है और व्रतका मूल सम्यग्दर्शन है। तथा निदानसे व्रतोंका घात होता है ॥१२०८॥

गा०—उन शल्योंमें निदान नामक शल्यके तीन भेद हैं—प्रशस्त निदान, अप्रशस्त निदान और भोग निदान। तीनों ही प्रकारका निदान मोक्षके मार्ग रत्नत्रयका विरोधी है ॥१२०९॥

---

१. र्शनचारित्ररत्न—आ० मु० । २. नानि प—आ० ।

प्रशस्तनिदाननिरूपणार्थोत्तरगाथा—

सजमहेदु पुरिसत्तसबलविरियसघदणबुद्धी।
सावअबधुकुलादीणि णिदाण होदि हु पसत्थ ॥१२१०॥

'सजमहेदु' सयमनिमित्त। 'पुरिसत्तसत्तबलविरियसघडणबुद्धी' पुरुषत्वमुत्साह, बल शरीरगत दार्ढ्यं, वीर्य वीर्यान्तरायक्षयोपशमज परिणाम। अस्थिवन्धविषया वज्रऋषभनाराचसहननादि। एतानि पुरुषत्वादीनि सयमसाधनानि मम स्युरिति चित्तप्रणिधान प्रशस्तनिदान। 'सावयबधुकुलादिनिदान' श्रावकबन्धुनिदान। [1]अदरिद्रकुले, अबन्धुकुले वा उत्पत्ति प्रार्थना प्रशस्तनिदान ॥१२१०॥

अप्रशस्तनिदानमाचष्टे—

माणेण जाइकुलरूवमादि आइरियगणधरजिणत्त।
सोभग्गाणादेय पत्थतो अप्पसत्थ तु ॥१२११॥

माणेण' मानेन हेतुना। 'जातिकुलरूवमादि' जातिर्मातृवश, कुल पितृवश, जातिकुलरूपमात्रस्य सुलभत्वात्प्रशस्तजात्यादिपरिग्रह। इह 'आइरियगणधरजिणत्त' आचार्यत्व, गणधरत्व, जिनत्व। 'सोभग्गाणादेज्ज' सौभाग्य, आज्ञा, आदेयत्व च। 'पच्छेतो' प्रार्थयत। 'अप्पसत्थ तु' अप्रशस्तमेव निदान मानकषायदूषितत्वात ॥१२११॥

प्रशस्त निदानका कथन करते हैं—

गा०—सयममे निमित्त होनेसे पुरुषत्व, उत्साह, शरीरगत दृढता, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न वीर्यरूप परिणाम, अस्थियोंके बन्धन विशेष रूप वज्रऋषभनाराच सहनन आदि, ये सयम साधन मुझे प्राप्त हो, इस प्रकार चित्तमे विचार होना प्रशस्त निदान है। तथा मेरा जन्म श्रावक कुलमे हो, ऐसे कुलमे हो जो दरिद्र न हो, बन्धु बान्धव परिवार न हो, ऐसी प्रार्थना प्रशस्त निदान है ॥१२१०॥

विशेषार्थ—एक प्रतिमे दरिद्रकुल तथा एकमे बन्धुकुल पाठ भी मिलता है। दीक्षा लेनेके लिये दरिद्रकुल भी उपयोगी हो सकता है और सम्पन्न घर भी उपयोगी हो सकता है। इसी तरह बन्धु बान्धव परिवारवाला कुल भी उपयोगी हो सकता है और एकाकीपना भी। मनुष्यके मनमे विरक्ति उत्पन्न होने की बात है ॥१२१०॥

अप्रशस्त निदान कहते हैं—

गा०—मानकषायके वश जाति, कुल, रूप आदि तथा आचार्यपद, गणधरपद, जिनपद, सौभाग्य, आज्ञा और आदेय आदिकी प्राप्तिकी प्रार्थना करना अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

टी०—माताके वशको जाति और पिताके वशको कुल कहते है। जाति कुल और रूप मात्र तो सुलभ है क्योंकि मनुष्य पर्यायमे जन्म लेनेपर ये तीनो अवश्य मिलते है। इसलिये यहाँ जाति कुल और रूपसे प्रशसनीय जाति आदि लेना चाहिये। मान कषायमे दूषित होनेसे यह अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

---

१ दरिद्रकुले—अ०।

कुद्धो वि अप्पसत्थ मरणे पत्थेइ परवधादीयं ।
जह उग्गसेणघादे कद णिदाणं वसिट्ठेण ॥१२१२॥

'कुद्धो वि' क्रुद्धोऽपि । 'अप्पसत्थ' परवधादिकं । 'मरणे' मरणकाले । 'पत्थेदि' प्रार्थयते । 'जधा' यथा 'उग्गसेणघादे' उग्रसेनमरणे । 'कद णिदाण' कृत निदान 'वसिट्ठेण' वसिष्ठेन यतिना ॥१२१२॥

भोगनिदाननिरूपणा—

देविगमाणुसभोगे णारिस्सरसिट्ठिसत्थवाहत्त ।
केसवचक्कधरत्तं पत्थंते होदि भोगकद ॥१२१३॥

'देविगमाणुसभोगे' देवेषु मनुष्येषु च भवान्भोगान् । 'पत्थेंते' अभिलषति । 'भोगकद' भोगकृत निदान । 'णारिस्सरसिट्ठिसत्थवाहत्त' नारीत्व, ईश्वरत्व, श्रेष्ठित्व, सार्थवाहत्व च । 'केसवचक्कधरत्त' वासुदेवत्व सकलचक्रवर्तित्व च वाञ्छति भोगार्थं । भोगनिदान भवति ॥१२१३॥

सजम सिहरारूढो घोरतवपरक्कमो तिगुत्तो वि ।
पगरिज्ज जइ णिदाण सोवि य वड्ढेइ दीहसमार ॥१२१४॥

'सजमसिहरारूढो' सयम शिखरमिव दुरारोहत्वादचल्त्वाद्वा । एतदुक्त भवति । प्रकृष्टसयमोऽपि । 'घोरतवपरक्कमो' घोरे तपसि पराक्रम उत्साहो यस्य सोऽपि दुर्धरतपोऽनुष्ठाय्यपि । 'तिगुत्तो वि' गुप्तित्रय-समन्वितोऽपि । 'पगरिज्ज जइ णिदाण' निदान यदि कुर्यात् । ''सो वि य' व्यावर्णितगुणोऽपि 'वड्ढेइ' वर्धयति समारमात्मन । किमपरस्मिन्निदानकारिणि वाच्यम् ॥१२१४॥

जो अप्पसुक्खहेदु कुणइ णिदाणमविगणियपरमसुहं ।
सो कागणीए विक्केइ मणिं बहुकोडिसयमोल्लं ॥॥१२१५॥

गा०—क्रोध कषायके वश होकर भी कोई मरते समय दूसरेका वध करनेकी प्रार्थना करता है । जैसे वसिष्ठ ऋषिने उग्रसेनका घात करनेका निदान किया था ॥१२१२॥

विशेषार्थ—वशिष्टतापसने उग्रसेनको मारनेका निदान किया था । इस निदानके फलमे वह मरकर उग्रसेनका पुत्र कस हुआ । और उसने पिताको जेलमे डालकर राज्यपद प्राप्त किया । पीछे कृष्णके द्वारा स्वय भी मारा गया ॥१२१२॥

भोगनिदानका कथन करते हैं—

गा०—देवो और मनुष्योंमे होनेवाले भोगोंकी अभिलाषा करना तथा भोगोंके लिए नारी-पना, ईश्वरपना, श्रेष्ठिपना, सार्थवाहपना, नारायण और सकल चक्रवर्तीपना प्राप्त होनेकी वाछा करना भोगनिदान है ॥१२१३॥

गा०-टी०—सयम पर्वतके शिखरके समान है क्योंकि जैसे पर्वतका शिखर अचल और दुर्गम चढने योग्य है वैसा सयम भी है । उस सयमपर जो आरूढ है अर्थात् उत्कृष्ट सयमका धारी है, घोर तप करनेमे उत्साही है अर्थात् दुर्धर तप करता है और तीन गुप्तियोका धारी है, वह भी यदि निदान करता है तो अपना ससार बढाता है, फिर दूसरे निदान करनेवालेका तो कहना ही क्या है ॥१२१४॥

'जो अप्पसुक्खहेदु' योऽल्पसुखनिमित्तं निदानं करोति परमे मुक्तिसुखे अनादरं कृत्वा। स काकण्या विक्रीणीते मणिं बहुकोटिधनमूल्यम् ॥१२१५॥

सो भिंदइ लोहत्थं णावं भिंदइ मणिं च सुत्तत्थं ।
छारकदे गोसीरं डहदि णिदाणं खु जो कुणदि ॥१२१६॥

'सो भिंदइ' स भिनत्ति कीललोहार्थं नावं अनेकवस्तुभृतां। भिनत्ति रत्नं च सूत्रार्थं। गोशीर्षं चन्दनं दहति भस्मार्थं यो निदानं करोति स्वल्पार्थं। सारविनाशसाधर्म्यादिदमाचष्टे—'सूपकारोऽपरं यथा यो निदानकारी, तेन नौप्रभृतिकं विनाशितं। अर्थाख्यानकानि वाच्यानि ॥१२१६॥

कोढी संतो लद्धूण डहइ उच्छुं रसायणं एसो ।
सो सामण्णं णासेइ भोगहेदुं णिदाणेण ॥१२१७॥

'कोढी संतो' कुष्ठी सन् रसायनभूतमिक्षुं लब्ध्वा दहति यः समानतां नाशयति सर्वदुःखव्याधिविनाशोद्यतां भोगार्थनिदानेन ॥१२१७॥

पुरिसत्तादिणिदाणं पि मोक्खकामा मुणी ण इच्छंति ।
जं पुरिसत्ताइमओ भावो भवमओ य संसारो ॥१२१८॥

पुरिसत्तादिणिदाणंपि' पुरुषत्वादिनिदानमपि मोक्षाभिलाषिणो मुनयो न वाञ्छन्ति। यस्मात्पुरुषत्वादिरूपो भवपर्यायः। भवात्मकश्च संसारः भवपर्यायपरिवर्तस्वरूपत्वात् ॥१२१८॥

दुक्खक्खयकम्मक्खयसमाधिमरणं च बोधिलाभो य ।
एयं पत्थेयव्वं ण पत्थणीयं तओ अण्णं ॥१२१९॥

गा०—जो मुक्तिके उत्कृष्ट सुखका अनादर करके अल्पसुखके लिए निदान करता है वह करोड़ो रुपयोंके मूल्यवाली मणिको एक कौड़ीके बदले बेचता है ॥१२१५॥

गा०—जो निदान करता है वह लोहेकी कीलके लिए अनेक वस्तुओंसे भरी नाव को—जो समुद्रमें जा रही है तोड़ता है, भस्मके लिए गोशीर्षचन्दनको जलाता है और धागा प्राप्त करनेके लिए मणिनिर्मित हारको तोड़ता है। इस तरह जो निदान करता है वह थोड़ेसे लाभके लिए बहुत हानि करता है। एक सूपकारने अपनी मूर्खतासे अपनी नाव नष्ट कर डाली थी। इनकी कथाएँ (कथाकोशोंसे) जानना ॥१२१६॥

गा०—जैसे कोई कोढ़ी मनुष्य अपने रोगके लिए रसायनके समान ईखको पाकर उसे जलाकर नष्ट करता है वैसे ही भोगके लिए निदान करके मूर्ख मुनि सर्व दुःख और व्याधियोंका विनाश करनेमें तत्पर मुनि पदको नष्ट करता है ॥१२१७॥

गा०—मोक्षके अभिलाषी मुनिगण 'मैं मरकर पुरुष होऊँ' या मेरे वज्रऋषभनाराच संहनन आदि हो, इस प्रकारका भी निदान नहीं करते। क्योंकि पुरुष आदि पर्याय भवरूप है और भवपर्यायका परिवर्तन स्वरूप होनेसे संसार भवमय है। अर्थात् नाना भवधारण करने रूप ही तो संसार है ॥१२१८॥

१ सूवकारोऽपरिया—अ० ज०।

'दुक्खक्खय' दुःखानां शारीराणां, आगन्तुकानां स्वाभाविकानां च क्षयो भवतु। तथा कर्मणां तत्कारणभूतानां रत्नत्रयसम्पादनपुरःसरं मरणं, दीक्षाभिमुखो बोधिलाभश्च एतत्प्रार्थनीयं नान्यत् ॥१२१९॥

पुरिसत्तादीणि पुणो संजमलाभो य होइ परलोए।
आराधयस्स णियमा तदत्थमकदे णिदाणे वि ॥१२२०॥

'पुरिसत्तादीणि' पुरुषत्वादिकं, संयमलाभश्च भविष्यति परजन्मनि। कस्य ? कृतरत्नत्रयाराधनस्य निश्चयेन। तदर्थमकृतेऽपि निदाने ॥१२२०॥

माणस्स भंजणत्थं चिंतेदव्वो सरीरणिव्वेदो।
दोसा माणस्स तहा तहेव संसारणिव्वेदो ॥१२२१॥

'माणस्स भंजणत्थं' मानभञ्जनार्थं ध्यातव्यः शरीरनिर्वेदः। तथा दोषाश्च मानस्य। तथैव संसारनिर्वेदश्च ध्यातव्य इति क्षपकं निर्यापकसूरिः शिक्षयति। शरीरस्य अशुचित्वादिस्वभावचिन्तनं। किमनेन शरीरेणेति शरीरे अनादरः शरीरनिर्वेदः। स कथं मानस्य भङ्गे निमित्तं। स हि शरीरानुरागमेव[1] विहन्ति तत्प्रतिपक्षत्वात्। अत्रोच्यते—मानशब्दः सामान्यवचनोऽपि रूपाभिमानविषयो गृहीतः। स च शरीरनिर्वेदेन भज्यते। मानस्य दोषा नीचकुलेषूत्पत्तिर्मान्यगुणालाभः, सर्वविद्विष्यता, रत्नत्रयाद्यलाभ इत्यादिकाः। संसारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपरिवर्तनरूपस्य पराङ्मुखता संसारनिर्वेदः। तत्रोपयुक्तस्य अहङ्कारनिमित्तानां विनाशात्,

गा०—हमारे शारीरिक, आगन्तुक और स्वाभाविक दुःखोका नाश हो। तथा उनके कारणभूत कर्मोका क्षय हो। रत्नत्रयका पालन करते हुए मरण हो और जिनदीक्षाकी ओर अभिमुख करनेवाले ज्ञानका लाभ हो, इतनी ही प्रार्थना करने योग्य है। इनके सिवाय अन्य प्रार्थना करना योग्य नही है ॥१२१९॥

गा०—जो रत्नत्रयकी आराधना करता है उसे निदान न करने पर भी आगामी जन्ममे पुरुषत्व आदि का तथा संयमका लाभ निश्चय ही होता है ॥१२२०॥

गा०-टी०—निर्यापकाचार्य क्षपकको शिक्षा देता है कि तुम्हे मानकषायका विनाश करनेके लिए शरीरमे निर्वेदका, मानके दोषो का और संसारसे निर्वेदका चिन्तन करना चाहिये। शरीरके अशुचित्व आदि स्वभावका चिन्तन करनेसे 'इस शरीरसे क्या लाभ' इस प्रकार शरीरमे अनादर होता है उसे ही शरीर निर्वेद कहते हैं।

शङ्का—शरीरका चिन्तन मानकषायको दूर करनेमे निमित्त कैसे हो सकता है उससे तो शरीरमे अनुराग का ही घात होता है क्योकि शरीर निर्वेद उसका प्रतिपक्षी है ?

समाधान—यद्यपि मान शब्द मानसामान्यका वाचक है तथापि यहाँ रूपविषयक अभिमान लिया है। वह शरीरके निर्वेदसे नष्ट होता है। नीच कुलोमे जन्म, आदरणीय गुणोका प्राप्त न होना, सबका अपनेसे द्वेष करना, रत्नत्रय आदिका लाभ न होना, ये सब मानकषायमे होनेवाले दोष हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवपरिवर्तन रूप संसारसे विमुख होना संसारनिर्वेद है। संसारनिर्वेदमे उपयोग लगानेमे अहंकारके निमित्तोका विनाश होता है। क्योकि

१. मेवावहंति—आ० मु०।

निन्द्याना च गुणाना बहूना असकृत्प्रवृत्ति अनेकप्राणिलभ्यत्वात् । स्वप्राप्तेभ्यो गुणेभ्योऽतिशयितानां गुणानामन्यैरुपलम्भनात् ॥१२२१॥

कुलाभिमाननिरासोपायमाचष्टे—

णीचो वि होइ उच्चो उच्चो णीचत्तण पुण उवेइ ।
जीवाणं खु कुलाइं पधियस्स व विस्समंताणं ॥१२२२॥

'णीचो वि होदि' स्थानमानैश्वर्यादिभिस्तिरोभूतो नीच इत्युच्यते । सोपि 'होदि' भवति । 'उच्चो' तैरेवोन्नत । स उच्चो अतिशयितस्थानमानादिकोऽपि 'णीयत्तण' तन्न्यूनता । 'पुण उवेदि' पुन उपैति । जीवानं खु' जीवाना खलु । 'कुलाइं' कुलानि । कीदृग्भूताना ? 'विस्समत्ताण' विश्रमता बहूनि कुलानि कुलबहुत्वप्रकटनेन कुलानियतता दर्शिता । अनियतकुलस्य क कुलगर्व । 'पधिक्स्सव' पथिकस्य यथा विश्रामस्थान न नियतमस्ति तद्वदेवास्येति भाव ॥१२२२॥

किं च गर्वो ह्यात्मनो वृद्धि परस्य वा हानि बुद्धया सश्रेपते तस्य युक्तोऽहकार न चास्य वृद्धिहानी स्त इति कथयति—

उच्चासु व णीचासु व जोणीसु ण तस्स अत्थि जीवस्स ।
वड्ढी वा हाणी वा सव्वत्थ वि तित्तिओ चेव ॥१२२३॥

'उच्चासु व णीचासु व' यत्र स्थित आत्मा शरीर निष्पादयति तद्योनिशब्देनोच्यते । न तस्य उच्चता नीचता वा तत किमुच्यते उच्चासु व णीचासु व इति । अत्रोच्यते—योनिशब्देन कुलमेवात्रोच्यते । तेनाय-मर्थ । मान्ये कुले गर्हिते वा उत्पन्नस्य न तस्य जीवस्य वृद्धिर्हानिर्वा सर्वत्र तत्परिमाण एव ज्ञानादि-

---

अनेक निन्दनीय गुण, जो अहकारमे निमित्त होते है, अनेक प्राणियोमे पाये जाते हैं । तथा अपनेको जो गुण प्राप्त हैं उनसे भी अतिशयशाली गुण दूसरोको प्राप्त हैं । अत उनका अभिमान कैसा ? ॥१२२१॥

कुलका अभिमान दूर करनेका उपाय कहते हैं—

गा०टी०—स्थान, मान, ऐश्वर्य आदिसे हीन व्यक्तिको नीच कहते हैं । जो स्थान, मान, ऐश्वर्य आदिसे हीन होता है वही नीच हो जाता है । जीवोंके कुल पथिकके विश्राम स्थानकी तरह हैं । जैसे पथिकके विश्राम लेनेका स्थान नियत नही है वैसे ही कुल भी नियत नही है । तब अनियत कुलका गर्व कैसा ? 'कुलानि' पद बहुवचनान्त होनेसे कुलोंकी बहुतायत प्रकट करता है । और कुलोंकी बहुतायतसे कुलोकी अनित्यता दिखलाई है ॥१२२२॥

आगे कहते हैं कि अपनी वृद्धि और दूसरेकी हानिकी भावनासे गर्व होता है उसका अहकार करना युक्त है किन्तु उच्च या नीच कुलमें जन्म लेनेसे आत्माकी हानि वृद्धि नही होती—

गा०–टी०–शंका—जिसमे रहकर जीव अपने शरीरको रचता है उसे योनि कहते हैं । योनि तो उच्च या नीच होती नही । तब 'उच्चासु व णीचासु' क्यो कहा ?

समाधान—यहां योनि शब्दसे कुलको ही कहा है । अत ऐसा अर्थ होता है—मान्य कुलमे अथवा निन्दनीय कुलमे उत्पन्न हुए जीवकी वृद्धि या हानि नही होती । सर्वत्र जीवका परिमाण

---

१ गुप्राप्येभ्यो–आ० मु० ।

गुणातिशयादेव उत्कृष्टता । निन्दितगुण कुलीनोऽपि न पूज्यतेतरामन्यैं । अमान्येऽपि कुले सम्भूतो यदि गुणी स्यात् । उक्त च—

ससारवासे भ्रमतो हि जतोर्न चात्र किंचित्कुलमस्ति नित्यं ।
स एव नीचोत्तममध्यजाती स्वकर्मवश्य समुपैति तास्ता ॥

नृपश्च दास श्वपचश्च विप्रो दरिद्रवशश्च समृद्धवश ।
चोराग्निदावाहितयाचिता (?) च सजायते कर्मवशात्स एव ॥

को वाधिकार सुकुलेषु नृणा का वा विहिसान्यकुलप्रसूतौ ।
कार्योऽधिकारो ननु धर्म एव कार्या विहिसापि च दुष्कृतेषु ॥ [ ] ॥१२२३॥

कालमणत णीचागोदो होदूण लहइ सगिमुच्च ।
जोणीमिदरसलाग ताओ वि गदा अणंताओ ॥१२२४॥

'कालमणत णीचागोदो होदूण' अनन्तकाल नीचैर्गोत्रो भूत्वा । 'लभदि सगिमुच्च जोणि' लभते सकृदुच्चैर्गोत्र । कीदृशी 'इदरसलाग' इतरशलाका । इतरा नीचैर्योनय शलाका यस्या उच्चैर्योनिस्ता इतरशलाका । 'ताओ वि' ता अपि [1]अन्तराले लब्धा अपि उच्चैर्योनय । 'गदा अणताओ' अनन्ता प्राप्ता एकेन जीवेन ॥१२२४॥

उतना ही रहता है । ज्ञानादि गुणोमे अतिशय होनेसे ही उत्कृष्टता होती है । कुलीन भी यदि निन्दित गुण वाला होता है तो दूसरे उसका आदर सम्मान नही करते । और अनादरणीय कुलमे उत्पन्न होकर भी यदि गुणी होता है तो दूसरे उसका सन्मान करते हैं । कहा है—ससारमे भ्रमण करते हुए प्राणीका कोई कुल स्थायी नही है । वही जीव अपने कर्मके अधीन होकर नीच, उत्तम अथवा मध्यम कुलोमे जन्म लेता है । वही जीव अपने कर्मके वश होकर राजा और दास, चाण्डाल या ब्राह्मण, दरिद्र वश वाला या सम्पन्न वश वाला होता है तथा चोर, आग और दावानलमे पीडित तथा मांगने वाला होता है । उच्च कुलोमे मनुष्योको जन्म लेनेका गर्व कैसा ? और नीच कुलोमे जन्म लेने पर घृणा कैसी ? गर्व करना हो तो धर्ममे ही करना चाहिए और घृणा भी पापसे करनी चाहिए ॥१२२३॥

गा०–टी०—यह जीव अनन्तकाल तक नीच गोत्रमे जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमे जन्म लेता है । इस प्रकार उच्च गोत्रकी शलाका नीच गोत्र है । शलाकासे मतलब है अनन्तकाल नीच गोत्रमे जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमे जन्म । नीच गोत्रोके अन्तरालमे प्राप्त उच्च गोत्र भी एक जीवने अनन्त वार प्राप्त किये हैं ॥१२२४॥

विशेषार्थ—यद्यपि यह जीव ससारमे भ्रमण करते हुए अनन्तबार नीच गोत्रमे जन्म लेता है तब कही एक वार उच्च गोत्रमे जन्म लेता है । तथापि अनन्त वार नीच गोत्रमे जन्म लेनेके पश्चात् एक वार उच्च गोत्रमे जन्म लेनेकी परम्पराको भी इसने अनन्त वार प्राप्त किया है अर्थात् इस क्रमसे इसने उच्च गोत्रमे भी अनन्त वार जन्म लिया है ॥१२२४॥

---

१ अन्तराले अन्तराले लब्ध्वा अपि—ज० मुलारा० ।

बहुसो वि लद्धविजडे को उच्चत्तम्मि विम्भओ णाम ।
बहुसो वि लद्धविजडे णीचत्ते चावि किं दुक्ख ॥१२२५॥

'एव बहुसो वि' बहुशोऽपि, 'लद्धविजडे' लब्धपरित्यक्ते च । 'उच्चत्तम्मि' मान्यकुलप्रसूतत्वे । 'को णाम विम्भओ' को नाम विस्मय । कदाचिदलब्धपूर्वमिदानीमेव लब्धमिति भवेद्गर्व । 'बहुसो वि' बहुशोऽपि । 'लद्धविजडे' लब्धपरित्यक्ते । 'णीचत्ते चावि' नीचैर्गोत्रप्रसूतत्वे अपि । 'किं दुक्ख' किमिद दुःख ॥१२२५॥

उच्चत्तणम्मि पीदी सकप्पवसेण होइ जीवस्स ।
णीचत्तणे ण दुक्ख तह होइ कसायबहुलस्स ॥१२२६॥

'उच्चत्तणम्मि' मान्यकुलत्वे । 'पीदी' प्रीति । सकप्पवसेण' सकल्पवशेन 'होदि जीवस्स' भवति जीवस्य प्रशस्ते कुले जातोऽहमिति मनोनिधानात् प्रीतो भवत्ययं जन नैत्यभूत सकल्पमन्तरेण सामान्यकुलत्वे सत्यपि प्रीतिर्भवति । नीचकुलत्वमेव च न दुःखस्य निमित्त । अपि च 'णीचत्तणे य' नीचैर्गोत्रत्वे च दुःख 'तथा होदि' तथा भवति । प्रीतिरिव परनिमित्तक भवति । कस्य ? कषायबहुलस्स' कषायशब्द सामान्यवचनोऽपि मानकषाये वर्तते । तेनायमर्थ प्रचुरमानकषायो जनयति दुःखमस्य न नीचैर्गोत्रत्वमेव ॥१२२६॥

प्रीतिपरितापौ सकल्पायत्तावित्येतत्स्पष्टयत्युत्तरगाथया—

उच्चत्तण व जो णीचत्त पिच्छेज्ज भावदो तस्स ।
उच्चत्तणे व णीचत्तणे वि पीदी ण किं होज्ज ॥१२२७॥

'उच्चत्तण व' उच्चैर्गोत्रत्वमिव 'जो णीचत्त पेच्छदि' यो नीचैर्गोत्र प्रेक्षते इद चण्डालत्व वरमिति । भावशब्दोऽनेकार्थवाच्यपि इह चित्तवाची । यत् येन लब्ध तत्तस्य शोभन । अलब्धेन शोभनतापि किं भवेदिति मनसि करोति यदा तदा तत्रैव प्रीतिरस्य जायते इति वदति उच्चत्तणे वि' मान्यकुलत्व इव णीचत्तणेऽवि' नीचैर्गोत्रत्वेऽपि । 'पीदी किं ण होज्ज' प्रीति किं न भवेत् भवत्येवेति यावत् ॥१२२७॥

गा०—इस प्रकार अनन्त वार प्राप्त करके छोडे हुए उच्च कुलमे जन्म लेनेका गर्व कैसा ? गर्व तो तब होता जब अभी तक न पानेके बाद प्रथम बार ही इसे प्राप्त किया होता । तथा अनन्त बार प्राप्त करके छोडे हुए नीच गोत्रमे जन्म लेनेका दुःख कैसा ॥१२२५॥

गा०-टी०—'मैं उच्च कुलमे जन्मा हूं' ऐसा मनमे सकल्प होनेसे जीवका उच्चकुलमे अत्यन्त अनुराग होता है । इस प्रकारके सकल्पके विना सामान्य कुलमें जन्म होने पर भी अनुराग नही होता । तथा नीच कुलमें जन्म लेना ही दुःखका कारण नहीं है । दुःखका कारण है मानकषायकी बहुतायत । गाथामे कषाय शब्द सामान्यवाची है तथापि यहाँ उसका अर्थ मानकषाय लेना चाहिए । मानकषायकी बहुतायत जीवको दुःख देती है, केवल नीच गोत्रमे जन्म ही दुःखका कारण नही होता ॥१२२६॥

अनुराग और दुःख सकल्पके अधीन हैं, यह कहते हैं—

गा०-टी०—गाथामे आये भाव शब्दके यद्यपि अनेक अर्थ हैं तथापि यहां उसका अर्थ चित्त लिया है । जो मनसे उच्च गोत्रके समान नीच गोत्रको देखता है अर्थात् यह चाण्डाल कुलमे जन्म श्रेष्ठ है ऐसा मानता है । मनमे विचारता है कि जो जिसको प्राप्त है वही उसके लिए उत्तम है । जो प्राप्त नही है वह श्रेष्ठ भी हो तो उससे क्या ? ऐसा विचार करते ही उच्च कुलके समान नीच

णीचत्तणं व जो उच्चत्त पेच्छेज्ज भावदो तस्स ।
णीचत्तणेव उच्चत्तणे वि दुक्ख ण किं होज्ज ॥१२२८॥

एतद्विपरीतार्थोत्तरगाथा । स्पष्टतया[1] वस्तुस्थिति नापेक्षते । सङ्कल्पायत्ता प्रीतिरप्रीतिर्वेत्यनुभवसिद्धमेतदखिलस्य जगत इति वदति । यस्मादुच्चैर्गोत्रत्वेऽपि न सुखदुःखयोर्भावाभावौ च भवतः सङ्कल्पात् ॥१२२८॥

तम्हा ण उच्चणीचत्तणाइ पीदिं करेंति दुःक्खं वा ।
सकप्पो से पीदीं करेदि दुक्ख च जीवस्स ॥१२२९॥

'तम्हा' तस्मात् । 'उच्चणीचत्तणाणि' मान्यामान्यकुलत्वानि । 'न करेंति पीदि दुक्ख वा' न कुरुतः प्रीति दुःख वा । 'सकप्पो पीदि करेदि' सकल्पो 'से' अस्य जीवस्य तस्मात प्रीति करोति दुःख वा । सति सकल्पे भावादसति अभावाच्च ॥१२२९॥

मानकषायमाहात्म्योऽयं दोष इति कथयति—

कुणदि य माणो णीयागोदं पुरिसं भवेसु बहुएसु ।
पत्ता हु णीचजोणी बहुसो माणेण लच्छिमदी ॥१२३०॥

'कुणदि य' करोति । 'माणो' अहकारः । 'णीयागोदं पुरिस' नीचैर्गोत्रमस्येति नीचैर्गोत्र 'पुरिस' आत्मान । 'भवेसु' जन्मसु । 'बहुगेसु' बहुषु । 'पत्ता' प्राप्ता । 'णीचजोणी खु' नीचैर्गोत्रमेव । का ? 'लच्छिमदी' लक्ष्मीमती । केन निमित्तेन ? 'माणेण' सुरूपा यौवनानुकूला कुलीना चेति गर्वेण ॥१२३०॥

कुलमे भी अनुराग क्यो नही होता ? अवश्य ही होगा ॥१२२७॥

आगेकी गाथामे इससे विपरीत कथन करते हैं—

गा०—जो जीव भावसे उच्चपनेको नीचपनेकी तरह देखता है उसको नीचपनेकी तरह उच्चपनामे क्या दुःख नहीं होता ? होता ही है । किसीसे प्रीति या अप्रीति तो सकल्पके अधीन है यह बात समस्त जगत्के अनुभवमे सिद्ध है । क्योकि सकल्पसे उच्च गोत्र होते हुए भी सुखका भाव और दुःखका अभाव नहीं होता ॥१२२८॥

गा०—अत उच्च कुल या नीच कुल सुख या दुःख नहीं देता । किन्तु जीवका सकल्प सुख या दुःख करता है । सकल्पके होने पर सुख दुःख होता है और सकल्पके अभावमे नही होता ॥१२२९॥

आगे कहते हैं कि मानकषायके कारण यह दोष होता है—

गा०—मानकषाय अर्थात् अहकार पुरुषको अनेक जन्मोमे नीच गोत्री बनाता है । देखो, लक्ष्मीमती, मैं सुन्दर हूँ, कुलीन हूँ यौवनवती हूँ इस गर्वके कारण अनेक बार नीच गोत्रमे उत्पन्न हुई ॥१२३०॥

विशेषार्थ—बृहत्कथा कोशमे १०८ नम्बरमे इसकी कथा दी है ॥१२३०॥

---

१ स्पष्टाया–अ० ।

पूयावमाणरूवविरूवं सुभगत्तदुब्भगत्तं च।
आणाणाणा य तहा विधिणा तेणेव पडिसेज्ज ॥१२३१॥

'पूयावमाणरूवविरूव' पूजा, अवमान परिभव । रूपशब्द सामान्यवचनोऽपि शोभनाशोभनरूपविषयतया इह विरूपशब्दसन्निधाने प्रयुज्यमानोऽतिशयिते रूपे प्रवर्तते। तेन सौरूप्य वैरूप्य । 'सुभगत्तदुब्भगत्त च' सौभाग्य दौर्भाग्य च सर्वेषा प्रियत्व द्वेष्यत्व चेति यावत्। 'आणाणाणा य तहा' आज्ञा आदेशाप्रतिघात अनाज्ञा च तथा। विधिना' माननिषेधप्रकारेणैव। 'पडिसेज्ज' प्रतिषेध्या । अभिधेयवशाल्लिङ्गवचनप्रवृत्तिरिति लिङ्गान्तरेण पूजादिशब्दोपनीतेन प्रतिषेध्यशब्दस्याभिसम्बन्ध । परिभव प्राप्तोऽपि बहुश कदाचित्पूज्यते। एवमपि प्राप्ता ह्यनन्तेषु पूजास्तत्र कोऽनुरोगोऽस्य । दु ख वा परिभवप्राप्तौ । पूज्यमानोऽपि बहुषु पुन परिभवानवाप्स्यति। न चात्मन पूजाया काचिद् वृद्धि परिभवे वा हानि । सङ्कल्पवशादेवात्मनो जायेते प्रीतिपरितापौ न केवल पूजापरिभवाभ्यामेवेति। उक्त च—

य स्तूयते शुचिगुणैर्मधुरैर्वचोभि स निन्द्यते च परुषैर्वचनै[2]र्विचित्रै ।
हा चित्रता कष्टमय भवसङ्कटस्य प्राप्नोत्यनेकविधिकर्मफलोपभोग ॥
भूत्वा मनुष्यपतय पुनरेव दासा हीना भवन्ति शुचयोऽशुचयश्च भूय ।
कान्त्या[3] च ये युवतिभिर्विषमानुरूपा द्वेष्या भवन्त्यसुभगत्वमुपेत्य भूय ॥
दृष्ट: क्वचित्प्रवररत्नविभूषणो य सदृश्यते विकलपुण्यतया दरिद्र ।
भूयश्च मित्रबहुबन्धुजनोपगूढ सलक्ष्यते व्यसनभारभृदेक[4] एव ॥ [ ] ॥१२३१॥

गा०—टी०—मानकषायका जैसे निषेध किया है वैसे ही पूजा, अपमान, सौरूप्य, वैरूप्य, सौभाग्य, दुर्भाग्य, आज्ञा अनाज्ञाका भी निषेध जानना। गाथामें आगत रूपशब्द यद्यपि सामान्यवाची होनेसे सुन्दर और असुन्दर दोनो ही प्रकारके रूपका वाचक है तथापि विरूप शब्दके साथमें प्रयुक्त होनेसे अतिशयरूपको कहता है। अत उसका अर्थ सौरूप्य और वैरूप्य लिया गया है। सौभाग्यका अर्थ है सबको प्रिय होना और दुर्भाग्यका अर्थ है सबके द्वारा तिरस्कृत होना। जिसने अनेक जन्मोमे तिरस्कार पाया है वह भी कभी पूजा जाता है। इसी प्रकार अनन्त जन्मोमे पूजा प्राप्त करनेवाला भी तिरस्कृत होता है। अत उनमे अनुराग कैसा और तिरस्कार पानेपर दु ख कैसा ? जो बहुत जन्मोमे पूजा जाता है वह पुन निरस्कारको प्राप्त करेगा। पूजा होनेपर आत्मामे वृद्धि नही होती और तिरस्कार होनेपर आत्मामे कोई हानि नही होती। सकल्पके कारण ही प्रीति और सन्ताप होते हैं केवल पूजा और तिरस्कारसे नही होते। कहा भी है—

जो मधुर वचनोंके द्वारा अपने निर्मल गुणोंके लिये सस्तुत होता है वही नाना प्रकारके कठोर वचनोंसे निन्दाका पात्र होता है। कैसा आश्चर्य है कि ससाररूपी सकटमे पडा हुआ यह प्राणी अनेक प्रकारके कर्मोके फलको भोगता है। मनुष्योंका स्वामी होकर उनका नीच दास हो जाता है। पवित्र होकर पुन अपवित्र हो जाता है। जो युवतियोंके प्रिय होते हैं वे ही दुर्भाग्य आनेपर द्वेषके पात्र बनते हैं। जो मनुष्य कभी उत्कृष्ट रत्नभूषणोंसे भूषित देखा गया है वही मनुष्य पुण्यहीन होनेपर दरिद्र देखा जाता है। जो बहुतसे मित्रो और बन्धु-बान्धवोंसे घिरा हुआ

१ पूजातोऽपि–अ०। २ नैर्वधिता–अ० ज०। ३ कान्ता च येषु युवति –ज० विषमाणरूपा द्वेष्या भवन्त्यशुभवन्यमुपेत्य भूय –आ० ज०। ४ बद्धये च–अ०।

इच्चेवमादि अविचिंतयदो माणो हवेज्ज पुरिसस्स ।
एदे सम्मं अत्थे पसदो णो होइ माणो हु ॥१२३२॥

जइदा उच्चत्तादिणिदाणं संसारवड्ढण होदि ।
कह दीहं ण करिस्सदि ससार परवघणिदाण ॥१२३३॥

'जइदा' यदि तावत् । 'उच्चत्तादिणिदाणं' उच्चैर्गोत्रता, पुरुषत्व, स्थिरशरीरता, अदरिद्रकुलप्रसूति-बंन्धुनैन्थैवमादिकं मुक्तेः परम्परया कारणमपि चित्ते क्रियमाणमपि । 'ससारवड्ढण होदि' ससारवृद्धि करोति । 'किध ण करिस्सदि' कथ न करिष्यति । 'दीहससार' दीर्घससार । 'परवधणिदाण' परवधे चित्तप्रणिधान ॥१२३३॥

आचार्यगणधरत्वादिप्रार्थना कथमशोभना रत्नत्रयातिशयलाभप्रार्थिना हि[1] सेत्याशङ्कायामुच्यते—

आयरियत्तादिणिदाणे वि कदे णत्थि तस्स तम्मि भवे ।
धणिद पि संजमंतस्स सिज्झण माणदोसेण ॥१२३४॥

'आयरियत्तादिणिदाणे वि कदे' आचार्यत्वादिनिदानेऽपि कृते । 'णत्थि तस्स' नास्ति तस्य । 'तम्मि भवे' तस्मिन्भवे निदानकरणभवे । 'धणिद पि सजमतस्स' नितरामपि सयम कुर्वत । किं नास्ति 'सिज्झण' सेधन मुक्तिः । केन ? 'माणदोसेण' मानकषायदोषेण । स ह्याचार्यत्वादिप्रार्थना करोति । पूज्यो भविष्यामीति सकल्पेन, ततोऽस्याहयुता ॥१२३४॥

भोगदोषचिन्तायां सत्या निदान तथा न भवति इति कथयति—

होता है, विपत्तिमे पडनेपर वही एकाकी देखा जाता है ॥१२३१॥

गा०—इत्यादि बातोका विचार न करनेवाले पुरुषको मान होता है। और जो इन बातोको सम्यक्रूपसे देखता है उसको मान नही होता ॥१२३२॥

गा०—उच्चगोत्र, पुरुषत्व, शरीरकी स्थिरता, अदरिद्रकुलमे जन्म, बन्धु-बान्धव आदि परम्परासे मुक्तिके कारण हैं ऐसा चित्तमे विचारकर इनका निदान करना कि ये मुझे प्राप्त हो, यदि ससारको बढानेवाला है तो दूसरेके वधका चित्तमे निदान करना दीर्घ ससारका कारण क्यो नही है ? अवश्य है ॥१२३३॥

यहाँ कोई शका करता है कि रत्नत्रयमे अतिशय लाभकी भावनासे मैं आचार्य गणधर आदि बनूँ ऐसी प्रार्थना क्यो बुरी है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—आचार्य पद आदिका निदान करनेपर भी जिस भवमे निदान किया है उस भवमे अत्यन्त सयमका पालन करनेपर भी मानकषायके दोषके कारण उसकी मुक्ति नही होती, क्योकि वह 'मैं पूज्य होऊँ' इस सकल्पसे आचार्य आदि होनेकी प्रार्थना करता है। इससे उसका अहकार प्रकट होता है ॥१२३४॥

आगे कहते हैं कि भोगोके दोषोका चिन्तवन करनेसे भोगोका निदान नही होता—

---

१ एता टीकाकारो नेच्छति । २ हि सेतीत्या—आ० ।

भोगा चिंतेदव्वा किंपागफलोवमा कडुविवागा।
महुरा व भुंजमाणा पच्छा बहुदुक्खभयपउरा ॥१२३५॥

'भोगा चिंतेदव्वा' भोगाश्चिन्त्या। किंपागफलोवमा' किम्पाकफलसदृशा। 'कडुविवागा' कटु अनिष्ट विपाक फलं एषामिति कटुविपाका। 'मधुरा व' मधुरा इव। 'भुंजमाणा' भुज्यमाना। 'मज्झे' मध्ये। 'बहुदुक्खभयपउरा' विचित्रदुःखभया ॥१२३५॥

भोगनिदानदोषं कथयति—

भोगणिदाणेण य सामण्णं भोगत्थमेव होइ कदं।
[1]साहालंगा जह अत्थिदो वणे को वि भोगत्थं ॥१२३६॥

'भोगणिदाणेण य' भोगनिदानेन वा। 'सामण्णं' श्रामण्यं। भोगत्थमेव होइ कदं' भोगार्थमेव कृतं न कर्मक्षयार्थं भवति। भोगनिदाने सति रागव्याकुलितचित्तस्य प्रत्यग्रकर्मप्रवाहस्वीकृतौ उद्यतस्य का सदता ॥१२३६॥

आवडणत्थं जह ओसरणं मेसस्स होइ मेसादो।
सणिदाणबंभचेरं अब्बंभत्थं तहा होइ ॥१२३७॥

'आवडणत्थं' अभिघातार्थं। 'जह' यथा। 'ओसरणं' उपगमः। 'मेसस्स होदि' मेषस्य भवति। 'मेसादो' मेषात्। सणिदाणबंभचेरं' सनिदानस्य यतेर्ब्रह्मचर्यं। 'अब्बंभत्थं' मैथुनार्थं। 'तहा होदि' तथा भवति ॥१२३७॥

जह वाणिया य पणियं लाभत्थं विक्किणंति लोभेण।
भोगाण पणिदभूदो सणिदाणो होइ तह धम्मो ॥१२३८॥

गा०—ये भोग किंपाकफलके समान हैं। जैसे किंपाकफल खाते समय मीठा लगता है किन्तु उसका परिणाम अतिकटुक होता है। उसको खानेवाला मर जाता है। उसी प्रकार इन्द्रियोंके भोग भोगनेमें मधुर लगते हैं किन्तु उनका फल अतिकटु होता है पीछेसे जीवको बहुत दुःख और भय भोगना पड़ता है ॥१२३५॥

भोगनिदानके दोष कहते हैं—

गा०-टी०—मुनिपद धारण करके भोगका निदान करनेसे तो मुनिपद भोगोंके लिए ही धारण किया कहलायेगा। कर्मक्षयके लिये नहीं कहलायेगा। क्योंकि भोगका निदान करनेपर चित्त रागसे व्याकुल रहता है और ऐसा होनेसे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है तब उसके मुनिपद कैसा? जैसे कोई वनमें वृक्षकी शाखामें लगे फलोंको खानेमें लग जाये तो उसके अपने इच्छित स्थानपर पहुँचनेमें विघ्न आ जाता है वैसे ही भोगका निदान करनेवाले श्रमणकी भी दशा होती है ॥१२३६॥

गा०—जैसे एक मेढ़ा दूसरे मेढ़ेपर अभिघात करनेके लिये पीछे हटता है वैसे ही भोगोंका निदान करनेवाले यतिका ब्रह्मचर्य भी अब्रह्म अर्थात् मैथुनके लिए ही होता है ॥१२३७॥

---

१ साहोलंबो–मु०, मूलारा०। साहालग्गा–आ०।

'जह वाणिया' यथा वणिज । 'पणिय' पण्य। 'लाभत्थ' लाभार्थं । 'विविक्कणंति' विक्रीणन्ति । 'लोभेण' लोभेन । 'भोगाण' भोगाना । 'पणिदो भूदो' पण्यभूत । 'सणिदाणो' सनिदान । 'तहा धम्मो होदि' तथा धर्मो भवति ॥१२३८॥

भोगनिदानस्त[1] श्रामण्य प्रणिन्दति—

सपरिग्गहस्स अब्बभचारिणो अविरदस्स से मणसा ।
काएण सीलवहण होदि हु णडसमणरूव व ॥१२३९॥

'सपरिग्गहस्स' सपरिग्रहस्य भोगनिदानवतो वेदजनितो रागोऽभ्यन्तर परिग्रह इति सपरिग्रह । तस्य । 'अब्बभचारिणो मनसा मैथुनकर्मणि प्रवृत्तस्य । 'अविरदस्स' अव्यावृत्तस्य मैथुनात् । 'मनसा' चित्तेन । 'से' तस्य कायेन तु शरीरेणैव । 'सीलवहण' ब्रह्मव्रतवहन । 'होदि' भवति । 'णडसमणरूव व' नटाना श्रमणरूपमिव । कायेन भावश्रामण्यरहित यथा अफलमेवमिदमपि इति भाव ॥१२३९॥

रोग इच्छेज्ज जहा पडियारसुहस्स कारणे कोई ।
तह अण्णेसदि दुक्ख सणिदाणो भोगतण्हाए ॥१२४०॥

'रोग इच्छेज्ज' व्याधिमभिलषति । 'जहा कोई' यथा कश्चित्। किमर्थ ? 'पडियारसुहस्स कारणे' औषधमेवामुत्वाधिगमनाय । 'तह' तथा 'अविरदस्स' अव्यावृत्तस्य । 'अण्णेसदि' अन्वेषते । 'दुक्ख' दु ख । क ? 'सणिदाणो' सनिदान । 'भोगतण्हाए' भोगतृष्णया ॥१२४०॥

खधेण आसणत्थ वहेज्ज गरुग सिलं जहा कोइ ।
तह भोगत्थ होदि हु संजमवहणं णिदाणेण ॥१२४१॥

'खधेण' स्कन्धेन । 'जहा कोइ' यथा कश्चित् । 'गरुग सिल' गुर्वी शिला । 'वहेज्ज' वहति । किमर्थं ?

गा०—जैसे व्यापारी लोभवश लाभके लिये अपना माल बेचता है। वैसे ही निदान करनेवाला मुनि भोगोंके लिए धर्मको बेचता है ॥१२३८॥

भोगोका निदान करनेवालेके मुनिपदकी निन्दा करते हैं—

गा०-टी०—भोगोका निदान करनेवालेके अभ्यन्तरमे वेदजनित राग रहता है अत वह परिग्रही है। तथा वह मनसे मैथुन कर्ममे प्रवृत्त होनेसे अब्रह्मचारी है और मनसे मैथुनसे निवृत्त न होनेसे अविरत है। वह केवल शरीरसे ब्रह्मचर्यव्रत धारण करता है अत वह नटश्रमण है। जैसे नट श्रमणका वेश धारण करता है वैसे ही उसने भी श्रमणका वेश धारण किया है। भावश्रामण्यके विना केवल शरीरसे मुनि बनना जैसे व्यर्थ है उसी तरह उस मुनिका मुनिपद भी व्यर्थ है ॥१२३९॥

गा०—जैसे कोई औषधि सेवनके सुखकी अभिलाषासे रोगी होना चाहता है वैसे ही निदान करनेवाला भोगोकी तृष्णासे दु ख चाहता है ॥१२४०॥

गा०—मै इसके ऊपर सुखपूर्वक बैठूँगा, ऐसा मानकर जैसे कोई भारी शिलाको कन्धेपर उठाता है और उसके उठानेके कष्टकी परवाह नहीं करता। वैसे ही इस दुर्धर सयमको धारण

1 -नत श्रमान्य प्रणिमदति-आ० ।

'आसणत्थ' आसनार्थं । अस्या उपरि सुखेनासे इति मत्वा स यथा गुरुशिलोद्वहनखेदं नापेक्षते, स्वल्प तस्या उपर्यासनसुखमपेक्षते स्वबुद्धया । 'तह भोगत्थं खु' तथा भोगार्थमेव । 'होदि' भवति । 'संजमवहणं' दुर्वहं सयमधारण । 'णिदाणेण' निदानेन सह ॥१२४१॥

बाह्यवस्तुजनितादिन्द्रियसुखात्तन्निमित्तवस्तुविनाशे यज्जायते दु ख तदधिक तम अत स्वल्पसुखनिमित्त को नाम सचेतनो दु खभीरुर्दु खाब्धौ पतेदिति दर्शयति—

भोगोवभोगसोक्खं ज ज दुक्खं च भोगणासम्मि ।
एदेसु भोगणासे जातं दुक्खं पडिविसिट्ठं ॥१२४२॥

'भोगोवभोगसोक्ख' मृष्टाशनताम्बूलादिकैं स्त्रीवस्त्रालङ्कारादिभिश्च जनित सुख । 'भोगणासम्मि' सुखसाधनस्य वस्तुनो विनाशे च । 'ज ज दुक्ख च' यद्यद् दु ख जायते । 'एदेसु' एतयो सुखदु खयो 'भोगणासे' सुखसाधनाना विनाशे च । 'जात दुक्ख पडिविसिट्ठं' अधिकतममिति यावत् ॥१२४२॥

देहे छुहादिमहिदे चले य सत्तस्स होज्ज कह सोक्खं ।
दुक्खस्स य पडियारो रहस्सणं चेव सोक्खं खु ॥१२४३॥

'देहे' शरीरे मनुजानां । 'छुहादिमहिदे' क्षुधा, पिपासया, शीतोष्णेन, व्याधिभिश्च मथिते । 'चले' अनित्ये च । 'सत्तस्स' आसक्तस्य । 'कि च सुखं होज्ज' किमत्र सुख भवेत् । 'दुक्खस्स य पडियारो' दु खस्य प्रतीकार । 'रहस्सणं चेव' ह्रस्वकरण एव 'सोक्खं' सौख्य । खु शब्द पादपूरणे दु खप्रतीकारो[1] ऽल्पता वा दु खस्य सुखमित्यमेनाख्यातम् ॥१२४३॥

सुखमन्तरेणापि अस्ति दु ख, सुखं पुनरैन्द्रियक न जायते दु ख विना तत सुखार्थी दु खमेव प्रागात्म-

---

करनेसे मुझे भोगोकी प्राप्ति हो इस निदानके साथ जो सयम धारण करता है उसका सयम धारण भोगोके लिये है अर्थात् स्वल्पसुखके लिए बहुत दु ख उठाता है ॥१२४१॥

आगे कहते हैं कि बाह्य वस्तुसे उत्पन्न होनेवाले इन्द्रिय सुखसे उस सुखमे निमित्त वस्तुका विनाश होनेपर जो दु ख होता है वह अधिक है, अत थोडेसे सुखके लिये कौन दु:खभीरु ज्ञानी दु खके समुद्रमे गिरना पसन्द करेगा—

गा०—भोग अर्थात् सुस्वादु भोजन पान आदि और उपभोग अर्थात् स्त्री वस्त्र अलकार आदिसे होनेवाला सुख तथा सुखके साधनमे निमित्त वस्तुका विनाश होनेपर होनेवाला दु:ख, इन दोनो सुख और दु खमेंसे भोगके साधनोका विनाश होनेपर होनेवाला दु ख बहुत अधिक होता है ॥१२४२॥

गा०—यह शरीर भूख, प्यास, शीत, उष्ण तथा रोगोंसे पीडित और विनाशशील है। इसमे जो आसक्त है उसे क्या सुख होता है ? वास्तवमे दु खका प्रतीकार अथवा दु खको कम करना ही सुख है । अर्थात् दु खके प्रतीकारको या दु खकी कमीको ही सुख मान लिया गया है। वास्तवमे सुख नही है ॥१२४३॥

सुखके विना भी दु ख होता है किन्तु इन्द्रियजन्य सुख दु खके विना नही होता। अत

---

१ कारोल्पत्वं वा-आ० मु० ।

नोऽभिलषति न च दुःखाभिलाषः प्राज्ञस्य युक्त इति कथयति—

सोक्खं अणवेक्खित्ता बाधदि दुक्खमणुगपि जह पुरिसं ।
तह अणवेक्खिय दुक्खं णत्थि सुहं णाम लोगम्मि ॥१२४४॥

'सोक्खं' सौख्य । 'अणवक्खित्ता' अनपेक्ष्य । बाधति दुक्खमणुग पि बाधते दुःखमण्वपि । जह पुरिसं' यथा पुरुष । 'तह' तथा । अणवेक्खिय' अनपेक्ष्य । 'दुक्खं' दुःख । 'लोगम्मि णत्थि सुहं' लोके नास्ति सुख नामेन्द्रियक । क्षुत्पिपासाभ्या पीडित एवाशन पान वान्वेषते । कठोरातपतप्त एव शीत, शीतमकुचिततनुरेव प्रावरणादिक, वातातपाम्बुभिरेवोपद्रुतो भवनमभिरूपति । स्थानासनोपजातश्रम एव शय्या कामयते । पादगमनजातखेदव्यपोहनार्थेव शिबिकादिक, वैरूप्यनिराकृतये एव वस्त्राणि भूषणानि च दौर्गन्ध्यनाशनार्थेव तुरुष्ककालागुर्वादिक, खेदगमनार्थेव रमण्य इति सव दुःखप्रतीकारमेव । त्रिविधवेदोदयजनित प्राणिना लिङ्गत्रयवर्तिना परस्पराभिलाष । स तेषा परस्परशरीरसंसर्गे सत्यपि न विनश्यति । अभिलाषनिमित्ताना कर्मणा सद्भावात् । न हि कार्यमविकलकारणसन्निधौ न भवति । कामो हि सेव्यमानो वेदत्रय प्रत्यग्रमाकर्षति । सतोऽप्यनुभवमुपबृहयते । कारणसम्पर्कात्कार्यसम्पादो नित्यमिति निरन्तराभिलाषदहनदह्यमानचेतसो न कदाचिन्निवृतिरस्ति । अपनीते तु वेदत्रये कारणाभावात् कार्याभाव इति निरवशेषवेदापगमे स्वास्थ्य यदस्य तदेव सुखमिति मन्यमानो दृष्टान्त दर्शयति ॥१२४४॥

जो इन्द्रिय सुखका अभिलाषी है वह पहले दुःख चाहता है किन्तु विद्वान्‌के लिए दुःखकी चाह युक्त नही है यह कहते हैं—

गा०—जैसे सुखकी अपेक्षाके बिना थोडा-सा भी दुःख पुरुषको कष्टदायक होता है वैसे ही लोकमे इन्द्रियजन्य सुख दुःखकी अपेक्षाके बिना नही है ॥१२४४॥

टी०—भूख और प्याससे पीडित पुरुष ही भोजन और पेयको खोजता है। कठोर घामसे पीडित शीतल प्रदेश खोजता है। शीतसे जिसका शरीर ठिठुर गया है वही ओढना आदि खोजता है। वायु घाम वर्षा आदिसे पीडित ही मकान खोजता है। उठने बैठनेसे थका हुआ ही शय्या चाहता है। पैदल चलनेसे हुए कष्टको दूर करनेके लिए ही सवारी आदि चाहता है। विरूपता दूर करनेके लिए ही वस्त्र आभूषण चाहता है। दुर्गन्ध दूर करनेके लिए ही सुगन्धित द्रव्य लोबान आदि होते हैं। खेद दूर करनेके लिए ही सुन्दर स्त्रियाँ होती हैं। इस तरह सब दुःखके प्रतीकारके लिए हैं। स्त्री लिङ्गी, पुरुष लिङ्गी और नपुसक लिङ्गी प्राणियोको स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुसकवेदके उदयसे परस्परमे रमण करनेकी अभिलाषा होती है। किन्तु वह अभिलाषा परस्परमे शारीरिक ससर्ग होनेपर भी नष्ट नही होती, क्योंकि उस अभिलाषामे निमित्त वेदकर्मका सद्भाव है। कारणोंके अविकल होते हुए कार्य अवश्य होता है। कामका सेवन करनेसे नवीन स्त्रीवेद पुरुषवेद या नपुसकवेदका बन्ध होता है। तथा सत्तामे स्थित इन कर्मोंके अनुभागमे वृद्धि होती है क्योंकि कारणके होनेपर कार्य नित्य ही हुआ करता है। जिनके चित्त निरन्तर अभिलाषारूप आगसे जलते हैं उन्हे कभी भी शान्ति नहीं मिलती। तीनों वेदोंके चले जानेपर कारणका अभाव होनेसे कार्यका भी अभाव होता है। अत वेदोका पूर्णरूपसे अभाव होनेपर जो स्वास्थ्य होता है वही सुख है ॥१२४४॥

जह कोडिल्लो अग्गिं तप्पंतो णेव उवसमं लभदि ।
तह भोगे भुंजंतो खणं पि णो उवसमं लभदि ॥१२४५॥

'जह कोडिल्लो' यथा कुष्ठेनोपद्रुत । 'अग्गिं तप्पंतो' अग्निना दह्यमानमूर्तिरपि । 'णेव उवसमं लभदि' नैव व्याधेरुपशमं लभते । न ह्यग्निरुपशामक कुष्टस्यापि तु वर्द्धक । यचस्य वृद्धिनिमित्त न तत्तदुपशमयति । यथा कुष्ठ नोपशमयति वह्नि । वर्धयति चाभिलाष अबलादिसगम 'तह' तथा । 'भोगे भुंजंतो' भोगानुभवनोद्यत । 'खणंपि णो उवसमं लभदि' क्षणमात्रमपि नोपशम लभते भोगाभिलाषरोगस्य ॥१२४५॥

कच्छुं कंडुयमाणो सुहाभिमाणं करेदि जह दुक्खे ।
दुक्खे सुहाभिमाणं मेहुण आदीहिं कुणदि तहा ॥१२४६॥

'कच्छु' कच्छु । 'कंडुयमाणो' नखैर्मर्दयन् । 'सुहाभिमाण करेइ' सुखाभिमान करोति । 'जह दुक्ख' यथा दु खे । 'तह मेहुण आदीहिं' तथा मैथुनादिदु खे रभसालिङ्गने, अधरदशने, उरस्ताडने नखैर्निशितैरङ्गच्छेदने कचाकर्षणे । उक्त च—

नग्न प्रेत इवाविष्ट स्वनन्निव शवन्निव ।
श्वासायासपरिश्रान्त स कामी रमते किल ॥१॥ इति ॥ [ ] ॥१२४६॥

घोसादकीं य जह किमि खंतो मधुरित्ति मण्णदि वराओ ।
तह दुक्खं वेदंतो मण्णइ सुक्खं जणो कामी ॥१२४७॥

'घोसादकीं' घोषातकी । 'किमि' कृमि । 'खंतो' भक्षयन् । 'जह मधुरित्ति' यथा मधुरमिति मन्यते वराक । 'तह' तथैव । 'दुक्ख वेदंतो' दु खमनुभवन् । 'मण्णदि सोक्ख जणो कामी' मन्यते कामिजन सुख ॥१२४७॥

इसे दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

गा०—जैसे कुष्ठ रोगसे पीडित व्यक्तिका शरीर आगमे जलने पर भी कुष्ठ रोग शान्त नही होता, क्योकि आग कुष्ठ रोगको शान्त नही करती, बल्कि बढाती है । और जो जिसको बढाता है वह उसको शान्त नही कर सकता । जैसे आग कुष्ठ रोगको शान्त नही करती । उसी प्रकार स्त्रीका सगम स्त्री विषयक अभिलाषाको बढाता है । अत जो भोगोंके भोगनेमे तत्पर है उनकी भोगकी अभिलाषा रूप रोग एक क्षणके लिए भी शान्त नही होता ॥१२४५॥

गा०-टी०—जैसे खाजको नखोंसे खुजाने वाला दु खको सुख मानता है । उसी प्रकार मैथुनके समय वेगपूर्वक आलिंगन, ओष्ठ काटना, छाती मसलना, तीक्ष्ण नखोंसे शरीर नोचना, केश खींचना आदिसे होने वाले दु खको कामी सुख मानता है । कहा भी है—कामी पुरुष पिशाचसे ग्रहीत पुरुषकी तरह नग्न होकर स्त्रीके साथ रमण करता है और श्वास तथा थकानसे पीडित होकर शब्द करते हुए श्वास लेता है ॥१२४६॥

गा०—जैसे बेचारा कीट घोषा नामक लताको खाते हुए उसे मीठी मानता है उसी प्रकार कामी जन दु खका अनुभव करते हुए उसे सुख मानता है ॥१२४७॥

सुट्ठु वि मग्गिज्जंतो कत्थ वि कयलीए णत्थि जह सारो।
तह णत्थि सुहं मग्गिज्जंते भोगेसु अप्पं पि ॥१२४८॥

'सुट्ठु वि' सुष्टु अपि। 'मग्गिज्जंतो' मृग्यमाणोऽपि। सारं कदल्या क्वचिदपि मूले मध्येऽन्ते वा यथा नास्ति तथा भोगेष्वन्विष्यमाणं सुखं न विद्यते ॥१२४८॥

ण लहदि जह लेहंतो सुक्खल्लयमट्ठियं रसं सुणहो।
से सगतालुगरुहिरं लेहंतो मण्णए सुखं ॥१२४९॥

'जध सुणगो सुक्खल्लगमट्ठियं लेहंतो रसं जहा ण लभदि' श्वा शुष्कमस्थि लिहन् सन् यथा रसं न लभते। 'सगतालुगरुहिरं लेहंतो सो सोक्खं मण्णदे' तीक्ष्णास्थिछिन्नस्वतालुगलितरुधिरमास्वादयन्सुखाभिमानं करोति। 'जह तह' यथा तथा। 'पुरिसो ण किंचि सुखं लभइ' पुरुषो न किंचित्सुखं लभते ॥१२४९॥

महिलादिभोगसेवी ण लहदि किंचिवि सुहं तधा पुरिसो।
सो मण्णदे वराओ सगकायपरिस्समं सुक्खं ॥१२५०॥

'महिलाविभोगसेवी' स्त्र्यादिभोगसेवनोद्यतः। तथा 'पुरिसो ण किंचि वि सुहं लहदि' तथा पुरुषो न किंचिदपि सुखं लभते एव। 'सो वराओ सगकायपरिस्समं सोक्खं मण्णदे' स वराकः स्वकायश्रमं सौख्यं मन्यते ॥१२५०॥

अनुभवसिद्धं सुखं कथं नास्तीति शक्यते वक्तुं इत्याशङ्क्य असत्यपि सुखे सुखज्ञानं जगतो भवति विपर्यस्तं सुखकारणम्येति दृष्टान्तोपन्यासेन वदति—

दीसइ जलं व मयतण्हिया हु जह वणमयस्स तिसिदस्स।
भोगा सुहं व दीसंति तह य रागेण तिसियस्स ॥१२५१॥

'दीसइ वणमयस्स तिसिदस्स जहा जलं मयतण्हिया' वने मृगेण हरिणादिना तृषाभिभूतेन जलकाङ्क्षा-

---

गा०—जैसे अच्छी तरह खोजने पर भी केलेके वृक्षमे मूल मध्य या अन्तमें कहीं भी कुछ सार नही है वैसे ही खोजने पर भी भोगोमे कुछ भी सार नहीं है ॥१२४८॥

गा०—जैसे कुत्ता सूखी हड्डीको चबाते हुए रस प्राप्त नहीं करता। किन्तु तीक्ष्ण हड्डीके द्वारा कटे अपने तालुसे झरते हुए रक्तका स्वाद लेते हुए सुख मानता है ॥१२४९॥

गा०—उसी तरह पुरुष स्त्री आदि विषयभोगमें किञ्चित् भी सुख प्राप्त नहीं करता वह बेचारा अपने शरीरके श्रमको ही सुख मानता है ॥१२५०॥

विषयभोगमे सुख अनुभवसे सिद्ध है आप कैसे कहते हैं कि उसमे सुख नही है ऐसी आशंका करने पर दृष्टान्त द्वारा कहते हैं कि सुखके नहीं होने पर भी सुखके कारणमें विपरीत बुद्धि होनेसे जगत्को सुखका बोध होता है—

गा०—जैसे वनमें हरिण आदि जब प्याससे व्याकुल होकर जलकी इच्छा करते हैं तो उन्हे मरीचिका जलके समान प्रतीत होती है किन्तु हरिणके उसे जल मानने पर भी वह जल रूप नहीं होती। उसी प्रकार रागके प्यासेको भोग सुखकी तरह प्रतीत होते हैं ॥१२५१॥

वता जलमिव दृश्यते मृगतृष्णिका। न सा मृगेण जलतयोपरुध्यमानेऽपि जलं भवति। तथा 'रागेण तिसिदस्स भोगा सुहं व दीसंति' रागतृषितेन भोगाः सुखमिव दृश्यन्ते ॥१२५१॥

वग्घो सुखेज्ज मदय अवगासेऊण जह मसाणम्मि।
तह कुणिमदेहसंफस्सणेण अबुहा सुहायंति ॥१२५२॥

वग्घो सुखेज्ज' श्मशाने व्याघ्रो मृतकमवग्रास्य तृप्यति यथा तथा कुथितदेहसंस्पर्शनेनाबुधा सुखाधिगमहृष्टनिर्भरा भवन्ति ॥१२५२॥

भवतु नाम सुखं भोगस्तथापि तदत्यल्पमिति निवेदयति—

तह अप्पं भोगसुहं जह धावंतस्स अहितवेगस्स।
गिम्हे उण्हातत्तस्स होज्ज छायासुहं अप्पं ॥१२५३॥

तथा अप्पं भोगसुहं धावंतस्स अहितवेगस्स गिम्हे उण्हातत्तस्स जहा छायासुहं अप्पं तह अप्पं भोगसुहं' धावतोऽत्यन्तवेगस्य ग्रीष्मे उष्माभितप्तस्य यथा मार्गस्थैकतरुच्छायासुखमल्पं भोगसुखं तथा ॥१२५३॥

अहवा अप्पं आसासुहं सरिदाए उप्पियंतस्स।
भूमिच्छिक्ककुट्ठस्स उब्भमाणस्स होदि सोत्तेण ॥१२५४॥

अहवा' अथवा। 'अप्पं' अल्पं। 'आसासुहं' आश्वास एव सुखं। 'सरिदाए' नद्यां। 'उप्पियंतस्स' निमज्जतः। भूमिच्छिक्ककुट्ठस्स' भूमिस्पृष्टाङ्गुष्ठस्य। 'सोत्तेण उब्भमाणस्स' स्रोतसा प्रवाहेनोह्यमानस्य। अल्पं आश्वाससुखं तद्वदिन्द्रियसुखमत्यल्पमित्यतिक्रान्तेन संबन्धः ॥१२५४॥

इन्द्रियसुखानि यद्यलब्धपूर्वाणि युक्तो विस्मयस्तत्र तानि सर्वाणि अनन्तवारपरिभुक्तानि, तेषु भुक्तेषु परित्यक्तेषु न युक्तो विस्मय इति अनादरं जनयति तेषु सूरि—

जावंति केइ भोगा पत्ता सव्वे अणंतखुत्ता ते।
को णाम तत्थ भोगेसु विंभओ लद्धविजढेसु ॥१२५५॥

गा०—जैसे श्मशानमें व्याघ्र मुर्देको खाकर सुखी होता है वैसे ही दुर्गन्धित शरीरके आलिंगनमें अज्ञानी सुख मानकर हर्षसे भर जाते हैं ॥१२५२॥

आगे कहते हैं कि भोगमें भले ही सुख हो किन्तु वह सुख अति अल्प है—

गा०—जैसे ग्रीष्म ऋतुमें अत्यन्त वेगसे दौड़ते हुए और मध्यकालके सूर्यकी किरणोंसे संतप्त पुरुषको मार्गमें स्थित एक वृक्षकी छायामें जानेसे थोड़ा-सा सुख होता है वैसे ही भोगमें अति अल्प सुख है ॥१२५३॥

गा०—अथवा नदीमें डूबते हुए और प्रवाहके द्वारा बहाकर ले जाते हुए मनुष्यको भूमिसे अंगूठेके छू जाने पर जैसा अल्प आश्वास सुख होता है कि मैं तट पर लग जाऊँगा, उसी प्रकार इन्द्रियजन्य सुख अति अल्प होता है ॥१२५४॥

गा०—यदि इन्द्रिय सुख पूर्वमें कभी प्राप्त न हुए होते तो उनकी प्राप्तिमें हर्ष होना

१ श्मशाने मृतं शवं भुक्त्वा व्याघ्रस्तृप्यति—आ०।

'जावंति केइ भोगा' यावन्त: केचन भोगा । 'ते सव्वे पत्ता अणतखुत्ता ते' सर्वे प्राप्ता अनन्तवार तव । 'को णाम तत्थ भोगेसु' को नाम तेषु भोगेषु विस्मय- लब्धोज्झितेषु ॥१२५५॥

भोगतृष्णा निरन्तर दहति भवन्त, सेव्यमाना पुनर्भोगास्तामेव तृष्णा वर्द्धयन्ति ततो भोगेच्छा शिथिलता नेयेति वदति—

जह जह भुजइ भोगे तह तह भोगेसु वड्ढदे तण्हा ।
अग्गीव इघणाइ तण्ह दीविंति से भोगा ॥१२५६॥

'जह जह भु जदि भोगे' यथा यथा भोगान्भुङ्क्ते । 'तह तह' तथा तथा । 'भोगेसु वड्ढदे तण्हा' भोगेषु वर्धते तृष्णा । 'अग्गि व' अग्नि वा । यथा 'इघणाइ' इन्धनानि । 'दीविंति' दीपयन्ति । 'तहा' तथा । 'तण्ह' तृष्णा दीपयन्ति । 'से' तस्य भोक्तुर्भोगा । तथा चोक्त—

तृष्णार्चिष परिदहन्ति न शान्तिरासा । इष्टेन्द्रियार्थविभवै परिवृद्धिरेव ॥ [बृहत्स्वयभू०] ॥१२५६॥

जीवस्स णत्थि तित्ती चिरं पि भोएहिं भुजमाणेहिं ।
तित्तीए विणा चित्तं उव्वूर उव्वुद होइ ॥१२५७॥

'जीवस्स' जीवस्य । नास्ति तृप्तिश्चिरकालमपि भोगाननुभवन पल्योपमत्रय काल भोगभूमीषु त्रयस्त्रिशत्सागरोपमकाल अमरेषु । तृप्त्या च विना चित्त । 'उव्वूर उव्वुद' उत्पूर उन्द्रुत भवतीति सूत्रार्थ ॥१२५७॥

जह इधणेहि अग्गी जह व समुद्दो णदीसहस्सेहि ।
तह जीवा ण हु सक्का तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥१२५८॥

'जह इधणेहिं' यथेन्धनैरग्निर्न तृप्यति । यथा वा समुद्रो नदीसहस्रै । तथा जीवो न शक्यो भोगैस्तर्पयितु ॥१२५८॥

उचित था, किन्तु उन सबको तुमने अनन्त बार भोगा है। उन भोगकर छोडे गये विषयोमे हर्ष मानना उचित नही है। इस प्रकार आचार्य विषयोंके प्रति अनादर भाव उत्पन्न करते हैं—जितने ससारके भोग हैं वे सब तुमने अनन्त बार प्राप्त किये हैं उन प्राप्त करके छोडे गये विषयोंमे आश्चर्य कैसा ? ॥१२५५॥

आगे कहते हैं कि तुम्हे भोगोकी तृष्णा निरन्तर जलाती है। भोगोका सेवन उसी तृष्णाको बढाता है अत भोगोकी इच्छाको कम करो—

गा०—जैसे जैसे भोगोको भोगते हो वैसे वैसे भोगोकी तृष्णा बढती है। जैसे इधनसे आग प्रज्वलित होती है वैसे ही भोगोमे तृष्णा बढती है। कहा भी है—यह तृष्णारूपी ज्वाला सदा जलाती है, इष्ट इन्द्रियोंके विषयोंमे इनकी तृप्ति नही होती, बल्कि बढती है ॥१२५६॥

गा०—तीन पल्य तक भोगभूमिमे, तेतीस सागर तक देवोमे इस तरह चिरकाल तक भोगो को भोगते हुए भी तृप्ति नही होती और तृप्तिके विना चित्त अत्यन्त उत्कण्ठित रहता है ॥१२५७॥

गा०—जैसे ईधनसे आगकी तृप्ति नही होती। अथवा जैसे हजारो नदियोसे समुद्रकी

देविंदचक्कवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमीया।
भोगेहिं ण तिप्पंति हु तिप्पदि भोगेसु किह अण्णो ॥१२५९॥

'देविंद' देवानामधिपतय, चक्रलाञ्छना वासुदेवा अर्धचक्रवर्तिन, भोगभूमिजाश्च भोगैर्न तृप्यन्ति। कथमन्यो जनस्तृप्तिमुपेयाद्भोगे। सुलभामितभोगसाधनाश्चिरजीविन स्वतन्त्राश्चामी। अन्ये तु भवादृशा जठरभरणमात्रमपि कर्तुं अशक्ता स्वल्पायुष, पराधीनवृत्तयश्च तृप्यन्तीति का कथा ॥१२५९॥

संपत्तिविवत्तीसु य अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु।
भोगत्थं होदि णरो उद्धुयचित्तो य घण्णो य ॥१२६०॥

संपत्तिविवत्तीसु य' सम्पत्सु विपत्सु च। 'अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु' द्रव्यस्यालब्धस्यार्जने[1], पुञ्जीकरणे, राशीकृतस्य रक्षणे। पर हस्ते विप्रकीर्णस्य ग्रहणे। आदिशब्देन तद्व्ययकरणे वा। भोगत्थं अनुभवार्थं। अजनादिषु प्रवृत्त। 'उद्धुदचित्तो य णरो होदि' चलचित्त उत्कण्ठावाश्च भवति नर। द्रव्यसम्पदि जाताया रागाच्चलचित्त भवति। द्रविणादिविनाशे कथ जीवामि पुनर्द्रव्यार्जनं करोमीति ॥१२६०॥

उद्धुयमणस्स ण सुहं सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी।
पीदीए विणा ण रदी उद्धुयचित्तस्य घण्णस्स ॥१२६१॥

'उद्धुयमणस्स' व्याकुलचित्तस्य 'ण सुहं' न सुख भवति। 'सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी' सुखेन विना कुतो भवति प्रीतिस्तृप्ति। 'पीदीए विणा' प्रीत्या विना। 'ण रदी' न रति। 'उद्धुदचित्तस्स' व्याकुलचेतस। 'घण्णस्स' उत्कण्ठाडाकिन्या गृहीतस्य ॥१२६१॥

तृप्ति नही होती, वैसे ही भोगोसे जीवकी तृप्ति नही होती ॥१२५८॥

गा०—टी०—देवोके अधिपति इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव अर्थात् अर्धचक्री और भोगभूमियाँ जीव भी भोगोमे तृप्त नही होते। तब साधारण मनुष्य कैसे भोगोमे तृप्त हो सकता है? अर्थात् इनके लिए भोगोके अपरिमित साधन सुलभ है, तथा इनकी आयु भी बहुत होनेसे चिरकालतक ये जीवित रहते हैं और किसीके अधीन न होनेसे स्वतन्त्र होते हैं। आप सरीखे साधारण मनुष्य तो पेट भरनेमे भी असमर्थ और थोडी आयुवाले तथा पराधीन होते है। अत उनकी भोगोसे तृप्ति होनेकी तो बात ही क्या है? ॥१२५९॥

गा०—सम्पत्ति होनेपर मनुष्य अप्राप्त द्रव्यके कमानेमे, एकत्र हुए द्रव्यके रक्षणमे, दूसरेके हाथमे गई सम्पत्तिको उससे लेनेमें और आदि शब्दसे उसे खर्च करनेमें, तथा भोगनेमें व्याकुल रहता है और विपत्तिमे अर्थात् धन आदिका विनाश होनेपर कैसे मैं जीवित रहूँगा? कैसे पुन द्रव्य कमाऊँगा इस उत्कण्ठासे व्याकुल रहता है ॥१२६०॥

गा०—जिसका चित्त व्याकुल रहता है उसे सुख नही होता। सुखके विना प्रीति नही होती। प्रीतिके विना रति नही होती। इस तरह जिसका चित्त व्याकुल रहता है और जो उत्कण्ठारूपी डाकिनीसे ग्रस्त है उसे सुख कैसे हो सकता है और सुखके विना प्रीति और प्रीतिके विना रति सम्भव नही है ॥१२६१॥

---

१ स्यावर्जन मु०—आ०।

जो पुण इच्छदि रमिदुं अज्झप्पसुहम्मि णिव्वुदिकरम्मि ।
कुणदि रदिं उवसंतो अज्झप्पसमा हु णत्थि रदी ॥१२६२॥

'**जो पुण इच्छदि रमिदु**' य पुना रमितु इच्छति । '**सो कुणदि रदि**' स करोतु रति । क्व ? '**अज्झप्पसुखम्मि**' अध्यात्मसुखे । '**णिव्वुदिकरम्मि**' निर्वृतिकरे । '**उवसतो**' उपशान्तरागकोप । एतदुक्त भवति—मनोज्ञामनोज्ञविषयसन्निधाने स्वसकल्पहेतुकौ यौ रागद्वेषौ तौ परित्यज्य निर्वृत्तितृप्तिकरे अध्यात्मसुखे रति करोतु । '**अज्झप्पसमा**' आत्मस्वरूपविषया रतिरध्यात्मशब्देनोच्यते । तया सदृशी रति । '**णत्थि खु**' न विद्यते एव । यस्मात् भोगरतिरध्यात्मनो रत्या न सदृशी ॥१२६२॥

कथम् ?

अप्पायत्ता अज्झपरदी भोगरमण परायत्तं ।
भोगरदीए चइदो होदि ण अज्झप्परमणेण ॥१२६३॥

'*अप्पायत्ता*' स्वायत्ता । '*अज्झप्परदी*' आत्मस्वरूपविषया रति परद्रव्यानपेक्षणात् । '**भोगरमण**' भोगरति '**परायत्त**' परायत्ता परद्रव्यालम्बनत्वात् । तेषा च कथंचिदेव सानिध्य क्वचिदेव कस्यचिदेवेति । एतेन स्वायत्ततया परायत्ततया चासाम्यमाख्यात । प्रकारान्तरेणापि वैषम्य दर्शयति । '**भोगरदीए चइदो होदि**' भोगरत्या च्युतो भवति । न प्रच्युतो भवति '**अज्झप्परमणेण**' अध्यात्मरत्या ॥१२६३॥

अनेकविघ्नसहिता विनाशिनी च भोगरति, अध्यात्मरतेस्तु भाविताया न नाशो नापि विघ्न इति कथयत्युत्तरगाथा—

भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिबहुगा ।
अज्झप्परदीए सुभाविदाए णासो ण विग्घो वा ॥१२६४॥

गा०—टी०—हे क्षपक ! जो तू रमण करना चाहता है तो रागद्वेषका शमन करके परम तृप्तिकारक अध्यात्म सुखमें रति कर । कहनेका अभिप्राय यह है कि इष्ट और अनिष्ट विषयोंके प्राप्त होनेपर 'यह अच्छा है और यह बुरा है' इस प्रकारके सकल्पके कारण जो रागद्वेष होते हैं उन्हे त्यागकर तृप्तिकारक अध्यात्म सुखमें रमण कर । यहाँ अध्यात्म शब्दसे आत्मस्वरूप विषयक रति कही है । उसके समान कोई रति नही है । क्योकि भोगसम्बन्धी रति अध्यात्म विषयक रतिके समान नही है ॥१२६२॥

गा०–टी०—क्योकि आत्मस्वरूप विषयक रति अपने अधीन है उसमे परद्रव्यकी अपेक्षा नही है । किन्तु भोग रति पराधीन है क्योकि उसमे परद्रव्यका अवलम्बन लेना होता है । और परद्रव्य कभी-कभी ही किसी किसीको ही थोडे बहुत प्राप्त होते हैं । इससे स्वाधीन और पराधीन होनेसे दोनोमे असमानता कही । अन्य प्रकारसे भी दोनोमे विषमता बतलाते हैं—

भोग रतिसे तो मनुष्य वंचित हो जाता है किन्तु अध्यात्म रतिसे नही होता क्योकि आत्म द्रव्य सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा उसके पास रहता है ॥१२६३॥

भोग रतिमे अनेक विघ्न रहते हैं और वह नष्ट होने वाली है किन्तु भावित अध्यात्म रतिका कभी नाश नही होता और न उसमे विघ्न आता है, यह आगे कहते हैं—

'भोगरदीए' भोगरत्या । 'णियदो णासो' नियतो विनाश । 'विग्घा य हुंति' विघ्नाश्च भवन्ति । 'अदिबहुगा' अतीव बहव । 'अज्झप्परदीए' अध्यात्मरते । 'सुभाविदाए' सुष्ठु भावितायाः । 'णासो' नाशो, न विद्यते । 'विग्घा वा' विघ्ना वा न सन्ति । नियत नश्वरतयाऽनश्वरतया वा बहुविघ्नतया, निर्विघ्नतया च तयो रत्योर्वैषम्यमिति भाव ॥१२६४॥

इन्द्रियसुख शत्रुतया सङ्कल्पनीय तथा च तत्रादरो अन्तोनिवृते अतो अतीन्द्रियसुखत्वमेव वीतरागत्व-हेतुत्वे मवरे इति मत्वा सूरिचूडामणिराह—

दुक्खं उप्पादिंता पुरिसा पुरिसस्स होंति जदि सत्तू ।
अदिदुक्खं कदमाणा भोगा सत्तू किहु ण हुंती ॥१२६५॥

'दुक्ख उप्पादिंता' दु खमुत्पाद्य । 'जदि सत्तू होंति' यदि शत्रवो भवन्ति । 'पुरिसा पुरिसस्स' पुरुषा पुरुषस्य । 'अदिदुक्ख कुणमाणा भोगा' अतीव दु ख कुर्वन्तो भोगा इन्द्रियसुखानि । 'किध सत्तू ण हुंति' कथ शत्रवो न भवन्ति भवन्त्येवेति । कथ भोगाना दु खहेतुता एव मन्यते ? इन्द्रियसुख नाम स्त्रीवस्त्रगन्धमालादि-परद्रव्यसन्निधानजन्य । तच्च स्त्र्यादिक दुर्लभतम निर्द्रविणस्य, तेन तदर्थं कृष्यादिकर्मणि प्रवर्तितव्य । ततो महानायास । इहैव भवानुगामी दु खनिमित्त च कर्म हिंसादिषु प्रवर्तमानोऽर्जयति । तदिम दुरन्ते ससाराम्भोधौ निमज्जयति । तत्र च निमग्नेन कतम दु खमनेन नावाप्यते ॥१२६५॥

शत्रुतमा भोगा इति कथयति—

इहइ परलोगे वा सत्तू मित्तत्तण पुणमुवेंति ।
इहइ परलोगे वा सदावि दुःखावहा भोगा ॥१२६६॥

'इहइ' अस्मिन्नेव जन्मनि । 'परलोगे वा' परजन्मनि वा । 'सत्तू' शत्रव । 'मित्तत्तण' मित्रता ।

गा०—भोग रतिका नियमसे विनाश होता है तथा उसमें विघ्न भी बहुत हैं। किन्तु अच्छी रीतिसे भावित अध्यात्म रतिका न विनाश होता है और न उसमें कोई विघ्न आते हैं। इस तरह भोगरति नियमसे नश्वर और बहुत विघ्न वाली है तथा अध्यात्मरति निर्विघ्न और अविनाशी है इसलिए दोनोंमें कोई समानता नहीं है ॥१२६४॥

आचार्य कहते हैं कि इन्द्रिय सुखको शत्रुके समान मानो। ऐसा करनेसे उनमें जो आदर-भाव है वह दूर होगा। तथा अतीन्द्रिय सुख ही वीतरागताका कारण होनेसे सबर रूप है—

गा०-टी०—यदि दु ख देने वाले पुरुष पुरुषके शत्रु होते हैं तो अति दु ख देने वाले भोग अर्थात् इन्द्रिय सुख शत्रु क्यों नहीं हैं ? अवश्य हैं। भोग दु खके कारण क्यों हैं यह विचार करें। स्त्री, वस्त्र, गन्धमाला आदि परद्रव्यके मिलनेसे जो होता है उसे इन्द्रिय सुख कहते हैं। वह स्त्री आदि धनहीनके लिए अत्यन्त दुर्लभ हैं। अत धनकी प्राप्तिके लिए कृषि आदि कर्म करना चाहिए। उससे महान् आरम्भ होता है। हिंसा आदिमें प्रवृत्ति करनेसे इसी भव तथा परभवमें दु ख देने वाले कर्मका उपार्जन करता है। और वह कर्म उसे ऐसे ससार समुद्रमें डुबाता है जिसका पार पाना अत्यन्त कठिन है। उस ससार समुद्रमें डूबकर यह जीव कौन दु ख नहीं भोगता ॥१२६५॥

आगे कहते हैं कि भोग सबसे बड़े शत्रु हैं—

गा०—इस जन्ममें अथवा परजन्ममें शत्रु शत्रुताको छोड़कर मित्र बन जाते हैं। अर्थात्

'पुणमुवेंति' पुनर्ढौकन्ते । शत्रव शत्रुतामपि जह्यु । कार्यवशात्, उपकारातिशयसम्पादनाभिमन्त्रता वा यान्ति च । वाचा न स्फुटतरा । इहैव तथा परलोके वा 'सव्वदा दुक्खावहा भोगा' सर्वदा दु खावहा भोगा । तत शत्रुतमा इति भावनीय ॥१२६६॥

एगम्मि चेव देहे करेज्ज दुक्ख ण वा करेज्ज अरी ।
भोगा से पुण दुक्ख करंति भवकोडिकोडीसु ॥१२६७॥

'एगम्मि चेव देहे' एकस्मिन्नेव देहे । 'करेज्ज दुक्ख ण वा करेज्ज अरी' कुर्याद्दु ख न वा शत्रु । 'भोगा पुण' भोगा पुन । 'से' तस्य । 'दु क्ख करंति' दु ख कुर्वन्ति । 'भवकोडिकोडीसु' अनन्तेपु भवेपु । एव भोगदोषानवेत्यात्र निदान त्वया न कार्य इत्युपदिष्ट सूरिणा ॥१२६७।

मधुमेव पिच्छदि जहा तडिओलंधो ण पिच्छदि पपादं ।
तह सणिदाणो भोगे पिच्छदि ण हु दीहसंसार ॥१२६८॥

'मधुमेव पिच्छदि' मध्वेव पश्यति यथा तटेऽवलम्बमान । 'ण पिच्छदि' न प्रेक्षते । 'पपादं' प्रपातमात्मन । 'तह' तथा 'सणिदाणो' निदानसहित । 'भोगे पिच्छदि' भोगान्प्रेक्षते । 'ण हु पेच्छदि' नैव प्रेक्षते । 'दीहसंसार' दीर्घसंसार ॥१२६८॥

जालस्स जहा अंते रमंति मच्छा भयं अयाणंता ।
तह संगादिसु जीवा रमंति संसारमगणंता ॥१२६९॥

'जालस्स' जालस्य । 'अंते' मध्ये । 'जहा मच्छा रमंति' यथा मत्स्या रमन्ते । 'भयमयाणंता' भयमनवबुध्यमाना । 'तह संगादिसु' तथा परिग्रहादिपु । 'जीवा रमंति' जीवा रमन्ते । 'संसारमगणंता' संसारमगणयन्त ॥१२६९॥

दुक्खेण देवमाणुसभोगे लद्धूण चावि परिवडिदो ।
णियदमदीदि कुजोणीं जीवो सघर पउत्थो वा ॥१२७०॥

उपकार आदि करनेसे प्रभावित होकर शत्रु मित्र बन जाते हैं वह भी केवल कहनेके लिए नहीं किन्तु खुले दिलसे मित्र बन जाते हैं। किन्तु भोग इस जन्ममें और परजन्ममें सदा ही दु खदायी होते हैं। इसलिए वे शत्रुसे भी बडे शत्रु हैं ॥१२६६॥

गा०—शत्रु एक ही भवमें दु ख दे या न भी दे। किन्तु भोग तो अनन्त भवोंमें दु ख देते हैं ॥१२६७॥

इस प्रकार भोगोंके दोष जानकर हे क्षपक तुम्हें निदान नहीं करना चाहिए, ऐसा आचार्य उपदेश देते हैं—

गा०—इस प्रकार जैसे कुएँकी दीवारके एक ओर लटका हुआ मनुष्य टपकने वाले मधुकी बूँदोंको ही देखता है किन्तु अपने गिरनेको नहीं देखता। वैसे ही निदान करने वाला भोगोंको तो देखता है किन्तु अपने दोष संसारको नहीं देखता ॥१२६८॥

गा०—जैसे मत्स्य भयको न जानते हुए जालके मध्यमें उछलते-कूदते हैं, वैसे ही जीव संसारकी चिन्ता न करके परिग्रह आदिमें आनन्द मानते हैं ॥१२६९॥

'दुक्खेण लद्धूण' क्लेशेन लब्ध्वा। 'देवमाणुसभोगे' दैवान्मानुषाश्च भोगान्। 'परिवडिदो' परिपतित प्रच्युतस्ततो भोगाज्जीव। 'कुजोणीं णियदमवीदि' कुत्सितां योनिं नियतमुपैति। किमिव ? 'सघर' स्वगृह, 'पउत्थो वा' प्रवासीव ॥११७०॥

जीवस्स कुजोणिगदस्स तस्स दुक्खाणि वेदयंतस्स।
किं ते करंति भोगा मदोव वेज्जो मरंतस्स ॥१२७१॥

'जीवस्स कुजोणिगदस्स' कुयोनिगतस्य जीवस्य। 'दुक्खाणि वेदयंतस्स' दुःखानि वेदयमानस्य। 'किं ते करेंति भोगा' किं ते कुर्वन्ति भोगा स्त्रीवस्त्रादय। नैव किञ्चिदपि दुःखमपनेतुं क्षमा। 'मदोव वेज्जो' वैद्यो मृतो यथा। 'मरंतस्स' म्रियमाणस्य न किञ्चित्कर्तुं क्षम ॥१२७१॥

जह सुत्तबद्धसउणो दूरंपि गदो पुणो व एदि तहिं।
तह संसारमदीहि हु दूरंपि गदो णिदाणगदो ॥१२७२॥

'जह सुत्तबद्धसउणो' यथा सूत्रेण दीर्घेण बद्ध पक्षी। 'दूरंपि गदो' दूरमपि गत। 'पुणो एदि तहिं' पुनरप्येति तमेव देश। 'तह संसारमदीदि खु' संसारमात्मपर खु शब्दो द्रष्टव्य, ततोऽयमर्थ—संसारमेवाधिगच्छतीति। 'दूर पि गदो' महर्द्धिक स्वर्गादिस्थानमुपगत। 'णिदाणगदो' निदान परभवसुखातिशये मन प्रणिधान गत ॥१२७२॥

कश्चिद्बद्ध कारागृहे इयता कालेन तव द्रविण दास्यामि त्वदीयमेव तावत्प्रयच्छेति गृहीत्वा द्रव्य रोधकेभ्य प्रदाय स्वगृहे सुख वसन्नपि पुनर्यथा तैरुत्तमर्णपर्यन्ते तथैव निदानकारी स्वकृतेन पुण्येन परिप्राप्तस्वर्गोऽपि पुनरध पततीति निगदति—

इन्द्रिय सुख नियमसे कुयोनियोमे भ्रमण करनेका मूल कारण है क्योंकि अत्यधिक राग-द्वेषकी उत्पत्तिमे निमित्त है। उन कुयोनियोमे उत्पन्न होकर नाना प्रकारके दुःखोंका अनुभव करने वाले जीवके दुःखोको, देवगति आदिके भोग वस्त्र अलकार भोजन आदि दूर करनेमे समर्थ नही है, ऐसा आगे कहते हैं—

गा०—जैसे देशान्तरमे गया व्यक्ति सर्वत्र घूमकर अपने घरको ही जाता है वैसे ही बडे कष्टसे प्राप्त देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोको भोगकर उन भोगोंके नष्ट हो जाने पर नियमसे कुयोनिमे जाता है ॥१२७०॥

गा०—जैसे मरा हुआ वैद्य मरते हुएकी रक्षा नही कर सकता। वैसे ही कुयोनिमे जाकर उस दुःख भोगते हुए जीवका स्त्री वस्त्र आदि भोग क्या कर सकते है ? वे उसका किञ्चित् भी दुःख दूर नही कर सकते ॥१२७१॥

गा०—जैसे लम्बे धागेमे बधा पक्षी सुदूर जाकर भी पुन वही लौट आता है। वैसे ही परभव सम्बन्धी विषय सुखमे मन लगाने वाला निदानी महान् ऋद्धिसे सम्पन्न स्वर्गादि स्थानोमे जाकर भी ससारमे ही लौट आता है ॥१२७२॥

जैसे कोई जेलखानेमे पडा व्यक्ति, मैं इतना समय बीतने पर तुम्हारा धन तुम्हे लौटा दूगा तुम मुझे धन दो, ऐसा वादा करके धन लेता है और वह धन जेलके रक्षकोको देकर अपने घरमे सुखपूर्वक निवास करता है किन्तु उसे पुन कर्ज देने वाले पकड लेते हैं उसी प्रकार निदान करने

दाऊण जहा अत्थ रोघणमुक्को सुह घरे वसइ ।
पत्ते समए य पुणो रुभइ तह चेव धारणिओ ॥१२७३॥

'दाऊण' दत्वा । 'अत्थ अर्थं । 'जह' यथा । रोघणमुक्को' रोधेन मुक्त । 'सुह घरे वसदि सु' सुखेन गृहे वसति । 'पत्ते समये य' प्राप्ते चावधिकाले । 'पुणो रु भइ' पश्चाच्च रुध्यते । 'तथा चेव' पूर्ववदेव । 'धारणीओ' अधमर्ण ॥१२७३॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—

तह सामण्णं किच्चा किलेसमुक्क सुहं वसइ सग्गे ।
ससारमेव गच्छइ तत्तो य चुदो णिदाणकदो ॥१२७४॥

सभूदो वि णिदाणेण देवसुक्ख च चक्कहरसुक्ख ।
पत्तो तत्तो य चुदो उववण्णो [1]तिरियवासम्मि ॥१२७५॥

'सभूदो वि णिदाणेण' निदानेन सभूत कश्चित् । 'देवसुक्ख' देवसुख । 'चक्कधरसोक्ख' चक्रधरसौख्य । 'पत्तो' प्राप्त । 'तत्तो य चुदो' तस्मात्सुखात्प्रच्युत उत्पन्न । 'उववण्णो' उपपन्न । '[2]तिरियवासम्मि' [3]तिर्यगावासे ॥१२७४॥

णच्चा दुरतमद्धुयमत्ताणमतप्पय अविस्साय ।
भोगसुह तो तम्हा विरदो मोक्खे मदि कुज्जा ॥१२७६॥

'णच्चा ज्ञात्वा । 'दुरत दुरवसानदु खफलमिति यावत् । 'अद्धुव' अनित्य । 'अत्ताण' अत्राण । 'अतप्पग' अतर्पक । 'अविस्साय' असकृद्वृत्त । 'भोगसुह भोज्यन्ते, सेव्यन्ते इति भोगा स्त्र्यादय , तैर्जनित सुख । 'तो' पश्चात् । 'तम्हा' तस्मात् । भोगसुखात्, दुरन्तादिदुष्टदोषात । 'विरदो' व्यावृत्त । 'मोक्खे' मोक्षे

वाला अपने द्वारा किये गये पुण्यसे स्वर्ग प्राप्त करके भी पुन गिरता है, यह कहते हैं—

गा०—जैसे धन देकर कारागारसे मुक्त हुआ कर्जदार सुखपूर्वक घरमे रहता है। किन्तु कर्ज चुकानेका समय आने पर पुन पकडकर बन्द कर दिया जाता है ॥१२७३॥

गा०—वैसे ही मुनिपद धारण करके निदान करने वाला स्वर्गमे क्लेश रहित सुखपूर्वक रहता है और वहाँसे च्युत होकर ससारमे ही भ्रमण करता है ॥१२७४॥

गा०—सभूत नामक व्यक्ति निदानके द्वारा देवगतिके सुख और चक्रवर्तीके सुखको प्राप्त हुआ अर्थात् मरकर सौधर्म स्वर्गमे उत्पन्न हुआ और वहाँसे मरकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हुआ। उसके पश्चात् मरकर तिर्यग्गति (नरक गति) मे उत्पन्न हुआ ॥१२७५॥

गा०—जो भोगे जाते हैं उन स्त्री आदिको भोग कहते हैं। उनमे होने वाला सुख ऐसा दु ख देता है जिसका अन्त होना दुष्कर है, तथा वह भोग जन्य सुख अनित्य है, अरक्षक है उसमे तृप्ति नहीं होती, अनादि ससारमे उसे जीवने अनेक बार भोगा है। अत उससे मनको हटाकर समस्त कर्मोंके अपायरूप मोक्षमे मन लगाना चाहिए। अर्थात् चारित्र और तपका पालन करनेमे

१-२-३ णिरय-मु० ।

निरवशेषकर्मापाये । 'मदि कुज्जा' मतिं कुर्यात्, अनुष्ठीयमानेन चारित्रेण तपसा वा कर्मक्षयोऽस्तीति मतिं कुर्यात्, न निदानं कुर्यादित्यर्थः ॥१२७६॥

निदानदोषं विस्तरतः उपदर्श्य अनिदानत्वे गुणं व्याचष्टे—

अणिदाणो य मुणिवरो दंसणणाणचरणं विसोधेदि ।
तो सुद्धणाणचरणो तवसा कम्मक्खयं कुणइ ॥१२७७॥

'अणिदाणो य मुणिवरो' अनिदानो यतिवृषभः, 'दंसणणाणचरणं' रत्नत्रयं, 'विसोधेदि' विशोधयति, निदानाभावादनतिचारं सम्यग्दर्शनं शुद्धं भवति, तस्मिन्निर्मले निर्मलं ज्ञानं, निर्मलं विशुद्धज्ञानपुरःसरं चारित्रं विशुद्धं भवति, 'तवसा कम्मक्खयं कुणदि' तपसा कर्माणि निरवशेषाणि वियोजयत्यात्मनः ॥१२७७॥

इच्चेवमेदमविचिंतयदो होज्ज हु णिदाणकरणमदी ।
इच्चेव पस्सदो ण हु होदि णिदाणकरणमदी ॥१२७८॥

'इच्चेवमेदमविचिंतयदो' इत्येवमेनद्वस्तुजातं अविचिन्तयतः । 'होज्ज हु' भवेदेव, 'णिदाणकरणमदी' निदानकरणे बुद्धिः, 'इच्चेव पस्सदो' इत्येवमेनत्पश्यतः, 'ण हु होदि' नैव भवति 'णिदाणकरणमदी' निदानकरणमतिः । णिदाणं ॥१२७८॥

मायासल्लस्सालोयणाधियारम्मि वण्णिदा दोसा ।
मिच्छत्तसल्लदोसा य पुव्वमुववण्णिया सव्वे ॥१२७९॥

'मायासल्लस्स' मायाशल्यस्य, 'आलोयणाधियारम्मि' आलोचनाधिकारे 'वण्णिदा दोसा' वर्णिता दोषाः, 'मिच्छत्तसल्लदोसा' मिथ्यात्वशल्यदोषाश्च । 'सव्वे' सर्वे, 'पुव्वमुववण्णिदा' पूर्वमेव व्यावर्णिताः, शल्यत्रयगतदोषा भवतो व्यावर्णिता इत्यनेन सूरिरेतत्कथयति आबुद्धदोषेण शल्यत्रयं त्वया त्याज्यमिति ॥१२७९॥

मायाशल्यापरित्यागात्प्राप्तदोषमयाख्यानेन दर्शयति—

कर्मक्षय होता है ऐसी मति करना चाहिए । निदान नहीं करना चाहिए ॥१२७६॥

विस्तारसे निदानके दोष बतलाकर निदान न करनेमें गुण कहते हैं—

गा०—निदान न करने वाले मुनिवर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रयको विशुद्ध करते हैं । अर्थात् निदान न करनेसे निरतिचार सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है । सम्यग्दर्शनके निर्मल होने पर ज्ञान निर्मल होता है । और निर्मल विशुद्ध ज्ञान पूर्वक चारित्र विशुद्ध होता है । तब विशुद्ध ज्ञान चारित्रसे सम्पन्न मुनि तपके द्वारा सब कर्मोंका क्षय करता है ॥१२७७॥

गा०—उक्त प्रकारसे जो वस्तुस्वरूपका विचार नहीं करता उसकी मति निदान करनेमें लगती है । और जो उसका विचार करता है उसकी मति निदान करनेमें नहीं लगती ॥१२७८॥

गा०—आलोचना अधिकारमें मायाशल्यके दोष कह आये हैं । और मिथ्यात्व शल्यके दोष पूर्वमें ही कहे हैं । इस प्रकार हे क्षपक ! तीनों शल्योंके दोष आपसे हमने कहे हैं । अब इन दोषोंको जानकर तुम्हें तीनों शल्योंका त्याग करना चाहिए । इससे आचार्य क्षपकके प्रति ऐसा कहते हैं ॥१२७९॥

मायाशल्यका त्याग न करनेसे प्राप्त हुए दोषको दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

पब्भट्ठबोधिलाभा मायासल्लेण आसि पूदिमुही ।
दासी सागरदत्तस्स पुप्फदंता हु विरदा वि ॥१२८०॥

'पब्भट्ठबोधिलाभा' प्रभ्रष्टो विनष्टो दीक्षाभिमुखबुद्धिलाभो यस्या सा प्रभ्रष्टबोधिलाभा । 'आसी' आसीत् । का ? 'पूदीमुही' पूतिमुखीसंज्ञिता । 'सागरदत्तस्स दासी' सागरदत्तवैश्यस्य दासी । केन ? 'मायासल्लेण' मायाशल्येन । 'पुप्फदंता हु विरदा वि मायासल्लेण पब्भट्ठबोधिलाभा आसी' इति पदसम्बन्धः पुष्पदन्ताख्या संयता च मायया प्रभ्रष्टबोधिलाभा आसीत् । मायाशल्य ॥१२८०॥

मिच्छत्तसल्लदोसा पियधम्मो साधुवच्छलो संतो ।
बहुदुक्खे संसारे सुचिरं पडिहिंडिओ मरीची ॥१२८१॥

'मिच्छत्तसल्लदोसा' मिथ्यात्वशल्यदोषात् । 'पियधम्मो' प्रियधर्मः । 'साधुवच्छलो संतो' साधूनां वत्सलोऽपि सन् मरीचिः । 'संसारे सुचिरं पडिहिंडिओ' संसारे सुचिरं भ्रान्तः, कीदृशे ? 'बहुदुक्खे' बहुदुःखे । मिथ्याशल्य ॥१२८१॥

एवं निर्यापकेण सूरिणा संस्तूयमानं साधुवर्गो निर्वाणपुरं प्रविशतीति दर्शयति उत्तरप्रबन्धेन—

इय पव्वज्जाभंडिं समिदिबइल्लं तिगुत्तिदिढचक्कं ।
रादियभोयणउद्धं सम्मत्तक्खं सणाणधुरं ॥१२८२॥

[1]'इय सारमिज्जतो साधुवग्गसत्थो साधुवणियगो संसारमहाडवि तरदित्ति' पदघटना । व्यावर्णितक्रमेण संस्क्रियमाणं साधुवृन्दमार्य संसारमहाटवीं तरति । 'पव्वज्जाभंडिमारुहिय पत्थिदो' प्रव्रज्याभण्डिमारुह्य प्रस्थितः, 'समिदिबइल्लं' समितिबलीवर्दां, 'तिगुत्तिदिढचक्कं' त्रिगुप्तिदृढचक्रां, 'सम्मत्तक्खं' सम्यक्त्वाक्षां, 'सणाणधुरं' समीचीनज्ञानधुर्वतीं ॥१२८२॥

गा०—पुष्पदन्ता नामकी आर्यिका आर्यिका होनेपर भी मायाशल्यके कारण दीक्षाके अभिमुख होनेकी बुद्धिके लाभसे भ्रष्ट होकर सागरदत्त वैश्यके घरमें पूतिमुखी नामकी दासी हुई ॥१२८०॥

विशेषार्थ—इसकी कथा बृहत्कथाकोशमें ११० नम्बरपर कही है ॥१२८०॥

मायाशल्यका वर्णन हुआ ।

गा०—धर्मप्रेमी और साधुओंके प्रति वात्सल्यभाव रखनेवाला मरीचिकुमार मिथ्यात्व-शल्य दोषके कारण बहु दुःखपूर्ण संसारमें भ्रमता हुआ ॥१२८१॥

विशेषार्थ—यह मरीचिकुमार भरतका पुत्र था जो महावीर तीर्थंकर हुआ । भगवान् आदिनाथके मुखसे अपना तीर्थंकर होना सुनकर यह भ्रष्ट हो गया था ॥१२८१॥

आगे कहते हैं कि इस प्रकार निर्यापकाचार्यके द्वारा संस्तुत साधुवर्गके साथ क्षपक मोक्ष-नगरमें प्रवेश करते हैं—

गा०—इस प्रकार क्षपकसाधुरूपी व्यापारी दीक्षारूपी गाडीपर साधुओंके संघके साथ चढ़कर निर्वाणरूपी भांडके लिए सिद्धिपुरीकी ओर प्रस्थान करता है । उस दीक्षारूपी गाडीमें

---

१ 'इयसारमिज्जतो साधुवृन्दमार्य संसारमहाटवीं तरति'—आ० ।

वदभडभरिदमारुहिदसाधुसत्थेण पत्थिदो समय ।
णिव्वाणभडहेदु सिद्धपुरीं साधुवाणियओ ॥१२८३॥

'वदभडभरिद' व्रतभाण्डपूर्ण । 'साधुसत्येण पत्थिदो समग' साधुसार्थेन सह प्रस्थित । किं प्रति ? सिद्धिपुर । 'णिव्वाणभडहेदु' निर्वाणद्रव्यनिमित्त । 'साधुवाणियगो' क्षपकसाधुवणिक् ॥१२८३॥

आयरियसत्थवाहेण णिच्चजुत्तेण सारविज्जतो ।
सो साहुवग्गसत्थो संसारमहाडविं तरइ ॥१२८४॥

'आयरियसत्थवाहेण' आचार्यसार्थवाहेन । 'णिच्चजुत्तेण' सर्वदानपायिना । 'सारविज्जतो' सस्य-माण ॥१२८४॥

तो भावणादियत्तं रक्खदि त साधुसत्थमाउत्त ।
इदियचोरेहिंतो कसायबहुसावदेहिं च ॥१२८५॥

'तो' तत । 'भावणादियत रक्खदि' भावनादिभि प्रयत्न रक्षति । 'त साधुसत्थ' त साधुसार्थं । 'आउत्त' आयुक्त आत्मना । कुतो रक्षति इत्याशङ्काया उत्तर—'इदियचोरेहिंतो' इन्द्रियचौरेभ्य । 'कसाय-बहुसावदेहिं वा' कषायबहुश्वापदेभ्यश्च ॥१२८५॥

विसयाडवीए मज्झे ओहीणो जो पमाददोसेण ।
इ दियचोरा तो से चरित्तभड विलुंपति ॥१२८६॥

'विसयाडवीए मज्झे' स्पर्शरसरूपगन्धशब्दादिविषया अटवीव ते दुरतिक्रमणीया । तस्या विषया-टव्या मध्ये । 'जो ओहीणो' य साधुरपसृत । 'पमाददोसेण' प्रमादाख्येन दोषेण । 'इदियचोरा' इन्द्रियाख्या-श्चोरा । 'से' तस्यापसृतस्य साधुवणिज । 'चरित्तभड' चारित्रभाण्ड । 'विलुपति' अपहरन्ति । सन्निहित-मनोज्ञामनोज्ञविषयजा इन्द्रियमत्यनुयायिनो रागद्वेषाश्चारित्र विनाशयन्ति प्रमादिन । आचार्यस्तु ध्याने स्वाध्याये प्रवर्तयन् प्रमादमपसारयतीति नेन्द्रियचौरैर्बध्यते इति भाव ॥१२८६॥

समितिरूपी बैल जुडे है, तीन गुप्तिरूपी उसके मजबूत चक्के हैं। रात्रि भोजनसे निवृत्तिरूप दो दीर्घ दण्डे हैं। सम्यक्त्वरूपी अक्ष है समीचीनज्ञानरूपी धुरा है ॥१२८२–८३॥

गा०—आचार्य उस सघके नायक है जो निरन्तर सावधान हैं। उनके द्वारा बार-बार सन्मार्गमें लगाया गया वह आराधक साधु समुदाय ससाररूपी महावनको पार करता है ॥१२८४॥

गा०—वह सघपति आचार्य अपने द्वारा भावना आदिमें नियुक्त उस साधु समुदायकी इन्द्रियरूपी चोरोंसे और कषायरूपी अनेक जगली हिंसक जानवरोंसे रक्षा करता है ॥१२८५॥

गा०–टी०—स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द आदि विषय अटवीके समान बडे कष्टसे लाघे जाते हैं इसलिए उन्हे अटवी (घोर वन) की उपमा दी हैं। उस विषयरूपी अटवीके मध्यमें जो साधु प्रमाद दोपसे जाता है उसके चारित्ररूपी धनको इन्द्रियरूपी चोर चुरा लेते हैं। अर्थात् प्राप्त इष्ट अनिष्ट विषयोंको लेकर इन्द्रिय बुद्धिके अनुसार उत्पन्न हुए रागद्वेष उस प्रमादी मुनिके चारित्रको नष्ट कर देते हैं। किन्तु आचार्य ध्यान और स्वाध्यायमें लगाकर प्रमादोको दूर करता

१ सस्क्रियमाण–मु०, मूलारा०।

अहवा तल्लिच्छाइ कूराइ कसायसावदाइं तं ।
खज्जति असजमदाढाहिं संकिलेसादिदसेहिं ॥१२८७॥

'अहवा' अथवा । 'तल्लिच्छाइ' अपसृतजनलिप्सावन्त । 'कूराइ' क्रूरा । 'कसायसावदाइ' कषाय-व्यालमृगा । त अपसृत । 'खज्जति' भक्षयेयु । 'असजमदाढाहिं' असयमदंष्ट्राभि । 'सकिलेसादिदसेहिं' सक्लेशादिदशैश्च । इन्द्रियाणा कषायाणा वा वशे निपतन्त्यसति निर्यापके सूराविति भाव ॥१२८७॥

तयोरिन्द्रियकषाययो प्रवृत्तिरनेकदोषमूलेति कथयति—

ओमण्णमेवणाओ पडिसेवंतो असजदो होइ ।
सिद्धिपहपच्छिदाओ ओहीणो साधुसत्थादो ॥१२८८॥

इ दियकसायगुरुगत्तणेण सुहसीलभाविदो समणो ।
करणालसो भवित्ता सेवदि ओसण्णसेवाओ ॥१२८९॥

'इ दियकसायगुरुगत्तणेण' तीव्रेन्द्रियकषायपरिणामतया । 'सुहसीलभाविदो समणो' सुखसमाधिभावित श्रमण । 'करणालसो' त्रयोदशविधासु क्रियासु अलस । 'भवित्ता' भूत्वा । 'सेवदि' सेवते । 'ओसण्णसेवाओ' अवसन्नसेवा भ्रष्टचारित्राणा क्रियासु प्रवर्तते इति यावत् । ओसण्णो ॥१२८९॥

केई गहिदा इदियचोरेहिं कसायसावदेहिं वा ।
पथ छडिय णिज्जति साधुसत्थस्स पासम्मि ॥१२९०॥

'केई गहिदा इ दियचोरेहिं' केचिद्गृहीता इन्द्रियचौरै । 'कसायसावदेहि तहा' तथा कषायश्वापदैश्च गृहीता । 'साधुसत्थस्स पथ छडिय' साधुसार्थस्य पन्थान त्यक्त्वा । 'पासम्मि णिज्जति' पार्श्वे यान्ति ॥१२९०॥

है इसलिए इन्द्रिय चोर नहीं सताते, यह उक्त कथनका भाव है ॥१२८६॥

गा०—अथवा उस विषयरूपी अटवीमें फँसे हुए लोगोंको खानेके इच्छुक क्रूर कषायरूपी सिंहादि उस आगत साधुको असयमरूपी दाढ़ोंसे और रागद्वेष मोहरूपी दाँतोंसे खा जाते हैं। कहनेका भाव यह है कि निर्यापकाचार्यके अभावमें क्षपक इन्द्रियों और कषायोंके फन्देमें फँस जाता है ॥१२८७॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय और कषायकी प्रवृत्ति अनेक दोषोंका मूल है—

गा०—जो साधु चारित्र भ्रष्ट साधुओंकी क्रिया करता है वह असयमी होकर साधुओंके सघमें बाहर हो जाता है और मोक्षमार्गसे दूर हो जाता है ॥१२८८॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप तीव्र परिणाम होनेसे सुखपूर्वक समाधिमें लगा साधु तेरह प्रकारकी क्रियाओंमें आलसी होकर चारित्र भ्रष्ट साधुओंकी क्रिया करने लगता है ऐसा साधु अवसन्न कहलाता है ॥१२८९॥

गा०—कोई साधु इन्द्रियरूपी चोरों और कषायरूपी हिंसक जीवोंके द्वारा पकड़े जाकर साधु सघके मार्गको छोड़कर साधुओंके पार्श्ववर्ती हो जाते हैं। साधु सघके पार्श्ववर्ती होनेसे इन्हें पासत्थ या पार्श्वस्थ कहते हैं ॥१२९०॥

तो साधुसत्थपंथं छंडिय पासम्मि णिज्जमाणा ते।
गारवगहिणकुडिल्ले पडिदा पावेंति दुक्खाणि ॥१२९१॥

'तो साधुसत्थपथ' साधुसार्थस्य पन्थानं। 'छंडिय' त्यक्त्वा। 'पासम्मि' पार्श्वे। 'णिज्जमाणा ते' नीयमानास्ते। 'गारव गहिण कुडिल्ले' चिरऋद्धिरससातगौरवसच्छन्ने गहने। 'पडिदा' पतिता। 'पावेंति' प्राप्नुवन्ति। 'दुक्खाणि' दुःखानि ॥१२९१॥

सल्लविसकंटएहिं विद्धा पडिदा पडंति दुक्खेसु।
विसकंटयविद्धा वा पडिदा अडवीए एगागी ॥१२९२॥

'सल्लविसकंटएहिं विद्धा' मिथ्यात्वमायानिदानशल्यकण्टकैर्वा विद्धा 'पडिदा' पतिता। 'दुक्खेसु पडंति' दुःखेषु पतन्ति। 'विसकंटयविद्धा अडवीए एगागी पडिदा इव' विषकण्टकेन विद्धा अटव्यामेकाकिनः पतिता यथा दुःखेषु पतन्ति तथैवेति दार्ष्टान्तिके योजना ॥१२९२॥

पथं छंडिय सो जादि साधुसत्थस्स चेव [1]पासाओ।
जो पडिसेवदि पासत्थसेवणाओ हु णिद्धम्मो ॥१२९३॥

साधुसार्थस्य पन्थानं त्यक्त्वा कस्य पार्श्वे याति यस्यामी दोषा व्यावर्णिता—गौरवगहने पातः शल्यविषकण्टकवेधादयश्चेत्याशङ्कायां वदति। 'पथ छंडिय साधुसत्थस्स सो जादि' परित्यज्य साधुसार्थस्य पन्थानमसौ याति। 'पासम्मि' पार्श्वे। 'जो पडिसेवदि' यः प्रतिसेवते, 'पासत्थसेवणाओ दु' पार्श्वस्थसेवना, 'णिद्धम्मो' धर्मश्चारित्रं तस्मादपगतः, धर्मादपगतः सन्पार्श्वस्थाचरणीयासु क्रियासु प्रवर्तते ॥१२९३॥

सैव कथं निर्धर्मता तस्येत्याशङ्क्य वदन्ति—

इंदियकसायगरुयत्तणेण चरणं तणं व पस्संतो।
णिद्धम्मो हु सवित्ता सेवदि पासत्थसेवाओ ॥१२९४॥

'इंदियकसायगुरुगत्तणेण' इन्द्रियकषायविषयैर्गौरवाच्च रागद्वेषपरिणामयोः क्रोधादिपरिणामानां च

गा०—साधु समूहके मार्गको छोड़कर पार्श्वस्थ मुनिपनेको प्राप्त हुए वे ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातगौरवसे भरे गहन वनमें पड़कर तीव्र दुःख पाते हैं ॥१२९१॥

गा०—अथवा जैसे विषैले कांटोंसे विंधे हुए मनुष्य अटवीमें अकेले पड़े हुए दुःख पाते हैं, वैसे ही मिथ्यात्व माया और निदानशल्यरूपी कांटोंसे बींधे हुए वे पार्श्वस्थ मुनि दुःख पाते हैं ॥१२९२॥

गा०—वह पार्श्वस्थ मुनि साधु संघका मार्ग त्यागकर ऐसे मुनिके पास जाता है जो चारित्रसे भ्रष्ट होकर पार्श्वस्थ मुनियोंका आचरण करता है ॥१२९३॥

वह मुनि चारित्र भ्रष्ट क्यों है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०-टी०—इन्द्रिय, कषाय और विषयोंके कारण रागद्वेषरूप परिणामों और क्रोधादि

---

१. पासम्मि-अ०।

तीव्रत्वात् । 'चरण' चारित्रं, 'तण व' तृणमिव, 'पस्सतो' पश्यन् रागादयोऽप्यशुभपरिणामास्तत्त्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकास्तेन सकलुषं ज्ञानचारित्रं निस्सारमिव पश्यति, तत एव तत्राकृतादरः चारित्रादपैतीति निर्द्धर्मतास्य । ततः पार्श्वस्थसेवायां प्रयतते । 'पासत्थो' ॥१२९४॥

इंदियचोरपरद्धा कसायसावदभएण वा केई ।
उम्मग्गेण पलायंति साधुसत्थस्स दूरेण ॥१२९५॥

'इंदियचोरपरद्धा' इन्द्रियचोरकृतोपद्रवा । 'कसायसावदभएण वा केई' कषायव्यालमृगभयेन वा केचित् । 'उम्मग्गेण' उन्मार्गेण 'पलायंति' पलायनं कुर्वन्ति । 'साधुसत्थस्स दूरेण' साधुसार्थस्य दूरात् ॥१२९५॥

तो ते कुसीलपडिसेवणावणे उप्पधेण धावंता ।
सण्णाणदीसु पडिदा किलेससोदेण वुड्ढंति ॥१२९६॥

'तो' ततः साधुसार्थाद्दूरादपसृताः, 'कुसीलपडिसेवणावणे' कुशीलप्रतिसेवनावने, 'उप्पधेण' उन्मार्गेण । 'धावंता' धावन्तः । 'सण्णाणदीसु' संज्ञानदीषु । 'पडिदा' पतिताः । 'किलेससोदेण' क्लेशस्रोतसा । 'वुड्ढंति' ते ब्रुडन्ति ॥१२९६॥

सण्णाणदीसु ऊढा वुड्ढा थाहं कहंपि अलहंता ।
तो ते संसारोदधिमदंति बहुदुक्खभीसम्मि ॥१२९७॥

'सण्णाणदीसु ऊढा' संज्ञानदीभिराकृष्टाः सन्तो निर्मग्ना 'थाहं' अवस्थानं 'कहंपि' क्वचिदपि 'अलहंता' अलभमानाः । 'तो' पश्चात् । 'संसारोदधिमदंति' संसारसागरं प्रविशन्ति । 'बहुदुक्खभीसम्मि' बहुदुःखभीष्मे ॥१२९७॥

आमागिरिदुग्गाणि य अदिगम्म तिदंडकक्खडसिलासु ।
ऊलोडिदपब्भट्ठा लुप्पंति अणंतयं कालं ॥१२९८॥

परिणामोंके तीव्र होनेसे वह चारित्रको तृणके समान मानता है। क्योंकि रागादिरूप अशुभ परिणाम तत्त्वज्ञानके प्रतिबन्धक होते हैं। अतः उसका ज्ञान दूषित होनेसे वह चारित्रको सारहीन मानता है। इसीसे वह उसमें आदरभाव न रखनेके कारण चारित्रसे च्युत होता है। इसीसे उसे चारित्र भ्रष्ट कहा है। चारित्र भ्रष्ट होकर वह पार्श्वस्थ मुनियोंकी सेवामें लग जाता है। यह पार्श्वस्थ मुनिका कथन है ॥१२९४॥

गा०—अथवा कोई मुनि इन्द्रियरूपी चोरोंसे पीड़ित होकर कषायरूप हिंसक प्राणियोंके भयसे साधु संघसे दूर होकर उन्मार्गमें चले जाते हैं ॥१२९५॥

गा०—साधु संघसे दूर होकर वे मुनि कुशील प्रतिसेवनारूप वनमें उन्मार्गसे दौड़ते हुए आहार भय मैथुन परिग्रहरूप संज्ञानदीमें गिरकर कष्टरूपी प्रवाहमें पड़कर डूब जाते हैं ॥१२९६॥

गा०—संज्ञारूप नदीमें डूबनेपर उन्हें कहीं भी ठहरनेका स्थान नहीं मिलता तब वे बहुत दुःखोंसे भयानक संसार समुद्रमें प्रवेश करते हैं ॥१२९७॥

गा०—संसार समुद्रमें प्रवेश करनेपर आशारूपी पहाड़ोंको लाँघते हुए मन-वचन-कायकी

'आसागिरिदुग्गाणि य' आसागिरिदुर्गा इव । 'अदिगम्म' अतिक्रम्य । 'तिदडक्कडसिलासु' तिरण्डनकंदाशिलासु । 'ऊलोडिद' 'पब्भट्ठा' अवलुण्ठिता मन्त प्रभ्रष्टा 'सवेंति' गमयन्ति । 'अणतय काल' अनत काल ॥१२९८॥

बहुपावकम्मकरणाडवीसु महदीसु विप्पणट्ठा वा ।
अदिट्ठणिव्वुदिपधा भमंति सुचिरंपि तत्थेव ॥१२९९॥

'बहुपावकम्मकरणाडवीसु' बहुविधान्यशुभकर्माण्येवाटव्य तासु 'महदीसु' दीर्घासु । 'विप्पणट्ठा' विनष्टा । 'अदिट्ठणिव्वुदिपधा' अदृष्टनिर्वृतिमार्गा । 'भमंति' भ्रमन्ति । 'सुचिरंपि' सुचिरमपि । 'तत्थेव' तत्रैव ॥१२९९॥

दूरेण साधुसत्थ छंडिय सो उप्पघेण खु पलादि ।
सेवदि कुसीलपडिसेवणाओ जो सुत्तदिट्ठाओ ॥१३००॥

'दूरेण साधुसत्थ' दूरात्साधुमार्थं । 'छडिय' त्यक्त्वा । 'सो' स । 'उप्पघेण खु' उन्मार्गेण । 'पलादि' पलायते । 'सेवदि कुसीलपडिसेवणाओ' सेवते कुशीलप्रतिसेवना । 'जो' य । 'सुत्तणिदिट्ठाओ' सूत्रनिर्दिष्टा ॥१३००॥

इंदियकसायगुरुगत्तणेण चरण तण व पस्सतो ।
णिद्धसो भवित्ता सेवदि हु कुसीलसेवाओ ॥१३०१॥

'इंदियकसायगुरुगत्तणेण' इन्द्रियकषायपरिणामाना गुरुत्वेन । 'चरण तण व पस्संतो' चरण तृणमिव पश्यन् । 'णिद्धसो भवित्ता' अह्रीको भूत्वा । 'सेवदि' सेवते कुशीलसेवा ॥ कुसीला ॥१३०१॥

सिद्धिपुरमुवल्लीणा वि केइ इदियकसायचोरेहिं ।
पविलुत्तचरणभडा उवहदमाणा णिवट्टंति ॥१३०२॥

दुष्प्रवृत्तिरूप शिलाओपर लुढकते हुए गिरकर अनन्तकाल विताते हैं ॥१२९८॥

विशेषार्थ—पहले वे उत्तरगुण छोडते हैं फिर मूलगुण और सम्यक्त्वसे भी भ्रष्ट होकर ससारमे भ्रमण करते हैं ॥१२९८॥

गा०—अनेक प्रकारके अशुभकर्मरूप सुदीर्घ अटवीमे भटकते हुए वे निर्वाणका मार्ग कभी देखा न होनेसे चिरकालतक वही भ्रमण करते रहते हैं ॥१२९९॥

गा०—वे दूरसे ही साधुसगको त्यागकर कुमार्गमे दौडते हैं। और आगममे कहे कुशील मुनिके दोषोको करते हैं ॥१३००॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोकी तीव्रताके कारण चारित्रको तृणके समान मानते हैं और निर्लज्ज होकर कुशीलका सेवन करते हैं ॥१३०१॥

इस प्रकार कुशील मुनिका कथन हुआ ।

गा०—कोई-कोई मुक्तिपुरीके निकट तक आकर भी इन्द्रिय और कषायरूपी चोरोंके द्वारा चारित्ररूपी धन चुराये जानेपर सयमका अभिमान त्यागकर उसमे लौट आते हैं ॥१३०२॥

'सिद्धिपुरमुवल्लीणा वि' सिद्धिपुरमुपलीना अपि । 'केई' केचित् । 'इंदियकसायचोरेहिं' इन्द्रियकषायचोरैः । 'पविलुत्तचरणभंडा' अपहृतचारित्रभाण्डा । 'उवहदमाणा' उपहताभिमाना । 'णिवट्टंति' निवर्तन्ते ॥१३०२॥

तो ते सीलदरिद्दा दुक्खमणंतं सदा वि पावंति ।
बहुपरियणो दरिद्दो पावदि तिव्वं जधा दुक्खं ॥१३०३॥

'तो' पश्चात् । 'ते सीलदरिद्दा' ते शीलदरिद्रा । 'दुक्खं' दुःखं । 'अणंतं' अन्तातीतं । 'सदा वि पावंति' सदा प्राप्नुवन्ति । 'बहुपरियणो' बहुपरिजनो । 'दरिद्दो' दरिद्रः । 'पावदि दुक्खं तिव्वं' प्राप्नोति दुःखं तीव्रं यथा ॥१३०३॥

सो होदि साधुसत्थादु णिग्गदो जो भवे जधाछंदो ।
उस्सुत्तमणुवदिट्ठं च जधिच्छाए विकप्पंतो ॥१३०४॥

'सो होदि' स भवति । 'साधुसत्थादु णिग्गदो' साधुसार्थान्निर्गतः । 'जो हवे जधाछंदो' यो भवति स्वेच्छावृत्तिः । 'उस्सुत्तं' उत्सूत्रं । 'अणुवदिट्ठं' अनुपदिष्टं च स्थविरैः । 'जधिच्छाए विकप्पंतो' यथेच्छया विकल्पयन् ॥१३०४॥

जो होदि जधाछंदो तस्स धणिदंपि संजमंतस्स ।
णत्थि दु चरणं चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी ॥१३०५॥

'जो होदि जधाछंदो' यो भवति स्वेच्छावृत्तिः । 'तस्स धणिदंपि संजमंतस्स' तस्य नितरामपि संयमे प्रवर्तमानस्य । 'णत्थि दु' नास्त्येव । 'चरणं' चारित्रं । 'चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी' सम्यक्त्वसहचार्येव यतेश्चारित्रं । स्वच्छन्दवृत्तेस्तु यत्किंचित्परिकल्पयतः सूत्रमननुसरतः नैव सम्यग्दर्शनमस्ति । तदन्तरेण सम्यक्चारित्रं नैव भवति ॥१३०५॥

इंदियकसायगुरुगत्तणेण सुत्तं पमाणमकरंतो ।
परिमाणेदि जिणुत्ते अत्थे सच्छंददो चेव ॥१३०६॥

गा०—पश्चात् वे शीलसे दरिद्र मुनि सदा अनन्त दुःख पाते हैं। जैसे बहुत परिवारवाला दरिद्र मनुष्य तीव्र दुःख पाता है ॥१३०३॥

अब यथाच्छन्द मुनिका स्वरूप कहते हैं—

गा०—साधुसंघसे निकलकर जो पूर्वाचार्योंके द्वारा नहीं कहे आगम विरुद्ध मार्गकी अपनी इच्छानुसार कल्पना करता है वह यथाच्छन्द मुनि होता है ॥१३०४॥

गा०-टी०—जो स्वच्छन्दचारी मुनि होता है वह संयममें अत्यन्त प्रवृत्ति भी करे तो भी उसका चारित्र चारित्र नहीं है क्योंकि सम्यक्त्वके साथ जो चारित्र होता है वही चारित्र होता है। जो स्वच्छन्दचारी होता है वह तो जो उसकी इच्छा होती है तदनुसार आचरण करता है। आगमका अनुसरण नहीं करता, अतः उसके सम्यग्दर्शन नहीं है। और सम्यग्दर्शनके बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता ॥१३०५॥

'इंदियकसायगुरुगत्तणेण' कषायाक्षगुरुकृतत्वेन सूत्रमप्रमाणयन्। 'परिमाणेदि' अन्यथा गृह्णाति। 'जिणुत्ते अत्थे' जिनोक्तानर्थान्। 'सच्छंददो चेव' स्वेच्छाभिप्रायेणैव ॥ अथाछंद ॥१३०६॥

इंदियकसायदोसेहिं अधवा सामण्णजोगपरितंतो।
जो उव्वायदि सो होदि णियत्तो साधुसत्थादो ॥१३०७॥

'इंदियकसायदोसेहिं' इंद्रियकषायदोषैं। 'अधवा सामण्णजोगपरितंतो' अथवा सामान्ययोगेन दान्तः। 'जो उव्वायदि' यश्चारित्राच्च्यवते। 'सो होदि' स भवति। 'णियत्तो साधुसत्थादो' निवृत्तः साधुसार्थात् ॥१३०७॥

इंदियकसायवसिया केई ठाणाणि ताणि सव्वाणि।
पाविज्जंते दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं संसत्ता ॥१३०८॥

'इंदियकसायवसिया' इन्द्रियकषायवशगाः। 'केई' केचित्। 'ठाणाणि ताणि सव्वाणि' तान्यशुभस्थानपरिणामानि। 'पाविज्जंति' प्राप्यन्ते। 'दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं संसत्ता' दोषैस्तैः सर्वैः संसक्ताः। संसत्ता ॥१३०८॥

इय एदे पंचविधा जिणेहिं सवणा दुगुंछिदा सुत्ते।
इंदियकसायगुरुयत्तणेण णिच्चंपि पडिकुद्धा ॥१३०९॥

पासत्थतिगद ॥१३०९॥

दुट्ठा चवला अदिदुज्जया य णिच्चं पि समणुबद्धा य।
दुक्खावहा य भीमा जीवाणं इंदियकसाया ॥१३१०॥

'दुट्ठा' दुष्टा आत्मोपद्रवकारित्वात्। 'चवला' अनवस्थितत्वात्। 'अदिदुज्जया य' अतीव दुर्जयाः अनुपलब्धचारित्रमोहक्षयोपशमप्रकर्षेण जीवेन दुःखेन अभिभूयन्ते इति। 'णिच्चंपि' नित्यमपि। 'समणुबद्धा य'

गा०—इन्द्रिय और कषायोंकी प्रबलताके कारण वह आगमको प्रमाण नहीं मानता। और अपनी इच्छाके अनुसार जिनभगवान्‌के द्वारा कहे गये अर्थको विपरीतरूपमें ग्रहण करता है ॥१३०६॥

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके दोषसे अथवा सामान्य योगसे विरक्त होकर जो चारित्रसे गिर जाता है वह साधु संघसे अलग हो जाता है ॥१३०७॥

अब संसक्त मुनिका स्वरूप कहते हैं—

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके वशमें हुए कोई मुनि उन सब दोषोंमें संसक्त होकर उन सब अशुभ स्थान रूप परिणामोंको प्राप्त होते हैं ॥१३०८॥

गा०—इस प्रकार ये पांच प्रकारके मुनि जिन भगवान्‌के द्वारा आगममें निन्दनीय कहे हैं। ये इन्द्रिय और कषायोंकी प्रबलता होनेसे नित्य ही जिनागमसे विमुख रहते हैं ॥१३०९॥

गा०-टी०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणाम बड़े दुष्ट हैं क्योंकि ये आत्मामें उपद्रव पैदा करते हैं। अनवस्थित होनेसे चपल हैं। इनको जीतना अति कठिन है क्योंकि जिस जीवके चारित्र-

सम्यगनुबद्धाश्चारित्रमोहोदयस्य स्वकारणस्य सदा सद्भावात् । नित्याश्चेत्कथं चपला । नित्यशब्दो ध्रौव्ये न प्रयुक्तः किन्त्वभीक्ष्णे मुहुर्मुहुरनुबद्धा इत्यर्थः । चपलता तु परिणामाना अनवस्थितत्वं अतो न विरोधः । 'दुःखावहा य' दुःखावहाश्च । 'जीवाणं' जीवाना । अभिमतभोगालाभे प्राप्तस्य वाऽपाये महत् दुःखमित्यनुभवसिद्धमेव सर्वप्राणभृता । कषायास्तु क्रोधादयः कषायन्ति[1] हृदयं । अथवा दुःखकारणासद्वेद्यार्जन[2]निमित्तत्वात् दुःखावहाः । इन्द्रियकषायवशगो जीवान् हिनस्ति । दुःखकरणेन चासद्वेद्यमुपादत्ते इति । यत एव दुःखावहा अतएव भीमा । 'इंदियकसाया' इन्द्रियकषायपरिणामा ॥१३१०॥

मरुतेल्लंपि पियंतो वत्थो जह वादि पूदियं गंघं ।
तघ दिक्खिदो वि इंदियकसायगंघं वहदि कोई ॥१३११॥

'सुगन्धतैलमपि' 'पियंतो' पिबन्, 'वत्थो' वस्तः अजपोतः । 'जह वादि पूदियं गंधं' पूतिगन्धं यथा वाति । प्राकृतगन्धं यथा न जहाति सधियमाणोऽपि सुरभिणा द्रव्येण, 'तघ दिक्खिदो वि' तथा दीक्षितोऽपि परित्यक्तासयमोऽपि । इंदियकसायगंधं वहदि' इन्द्रियकषायदुर्गन्धमुद्वहति इति यावत् ॥१३११॥

भुंजंतो वि सुभोयणमिच्छदि जध सूयरो समलमेव ।
तघ दिक्खिदो वि इंदियकसायमलिणो हवदि कोई ॥१३१२॥

'भुंजंतो वि सुभोयणं' भुञ्जानोऽपि शोभनमाहारं । 'सूयरो जध समलमेव इच्छदि' सूकरो यथा समलमेवाभिलषति चिरन्तनाभ्यासात् । 'तह' तथा । 'दिक्खिदो वि' दीक्षितोऽपि कृतव्रतपरिग्रहसंस्कारोऽपि । 'कोई' कश्चित् । 'इंदियकसायमलिणो हवदि' इन्द्रियकषायाख्याशुभपरिणामोपहतो भवति । भव्योऽपि सन्

मोहके क्षयोपशमका प्रकर्ष नहीं है वह जीव बड़े कष्टमें इन्हें वशमें कर पाता है। तथा इनका कारण चारित्रमोहका उदय सदा रहता है अतः ये नित्य बने रहते हैं।

शङ्का—यदि ये नित्य हैं तो चपल कैसे है?

समाधान—नित्य शब्दका प्रयोग ध्रौव्यके अर्थमें नहीं है किन्तु वार-वारके अर्थमें है। और परिणामोंके स्थिर न होनेको चपलता कहते हैं अतः कोई विरोध नहीं है।

तथा ये जीवोंको दुःखदायी हैं। इष्ट भोगकी प्राप्ति न होने पर अथवा प्राप्त भोगका विनाश होने पर महान् दुःख होता है यह सभी प्राणियोंको अनुभवसिद्ध है। क्रोधादि कषाय हृदयको संताप पहुँचाती है। अथवा दुःखका कारण जो असातावेदनीय कर्म है उसके बन्धमें निमित्त हैं इसलिए दुःखदायी हैं। जो इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है वह जीवोंका घात करता है। जीवोंके दुःख देनेमें असातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है। और यतः ये इन्द्रिय तथा कषाय दुःखदायी है, अतएव भयंकर है ॥१३१०॥

गा०—जैसे बकरीका बच्चा सुगन्धित तेल भी पिये फिर भी अपनी पूर्व दुर्गन्धको नहीं छोड़ता। उसी प्रकार दीक्षा लेकर भी अर्थात् असयमको त्यागने पर भी कोई कोई इन्द्रिय और कषाय रूप दुर्गन्धको नहीं छोड़ पाते ॥१३११॥

जैसे सुअर सुन्दर स्वादिष्ट आहार खाते हुए भी चिरतन अभ्यास वश विष्टा ही खाना पसन्द करता है। उसी प्रकार व्रतोंको ग्रहण करके भी कोई कोई इन्द्रिय और कषायरूप अशुभ

---

१ तपन्ति अ० । २ धाना नि—आ० मु० ।

सुरूपदेशादधिगतदुःखनिवृत्त्युपायतया परित्यक्तेन्द्रियकषायोऽपि गार्हस्थ्यपरित्यागकाले पुनरपि तत्रापततीति ॥१३१२॥

एतद अनेकदृष्टान्तोपन्यासेन दर्शयति सूरिर्विस्तरप्रबन्धेन—

वाहभएण पलादो जूहं दट्ठूण वागुरापडिदं ।
सयमेव मओ वागुरमदीदि जह जूहतण्हाए ॥१३१३॥

'वाहभएण' व्याधभयेन । 'पलादो मगो' कृतपलायनो मृगः । 'वागुरापडिदं जूहं दट्ठूण' वागुरापतितं स्वयूथं दृष्ट्वा । 'सयमेव वागुरमदीदि मगो' स्वयमेव वागुरां प्रविशति मृगः । 'जह' यथा, मृतः । 'जूहतण्हाए' यूथतृष्णया । 'एथ के वि गिहवासं मुच्चा' इत्यनया गाथया सबन्धः कार्यः ॥१३१३॥

पंजरमुक्को सउणो सुइरं आरामएसु विहरंतो ।
सयमेव पुणो पजरमदीदि जध णीडतण्हाए ॥१३१४॥

'पजरमुक्को सउणो' पञ्जरान्मुक्तः पक्षी । 'सुइरं आरामएसु विहरंतो' आरामेषु स्वेच्छया विहरन् । 'सयमेव' स्वयमेव । 'पुणो' पुनः । 'पजरमदीदि' पञ्जरमुपैति । 'जह णीडतण्हाए' यथा नीडतृष्णया ॥१३१४॥

कलभो गएण पंकादुद्धरिदो दुत्तरादु बलिएण ।
सयमेव पुणो पंके जलतण्हाए जह अदीदि ॥१३१५॥

'कलभो' गजपोतः महति कर्दमे पतितः । 'गएण पंकादुद्धरिदो' गजेन परेण पङ्कादुद्धृतो । 'दुत्तरादु' दुस्तरात् पङ्कात् बलिष्ठातिशयवता गजेन । 'सयमेव पुणो पंक जह अदीदि' स्वयमेव कलभो यथा पङ्कमुपैति । 'जलतण्हाए' जलतृष्णया ॥१३१५॥

अग्गिपरिक्खित्तादो सउणो रुक्खादु उप्पडित्ताण ।
सयमेव तं दुमं सो णीडणिमित्तं जध अदीदि ॥१३१६॥

परिणाम वाले होते हैं । भव्य जीव भी गुरुके उपदेशसे गृहस्थाश्रमका परित्याग करते समय दुःखकी निवृत्तिका उपाय जानकर इन्द्रिय और कषाय रूप परिणामोंका त्याग करता है किन्तु फिर भी वह उन्हींके चक्रमें पड जाता है ॥१३१२॥

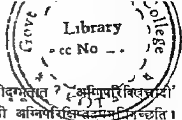
आगे आचार्य अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा इसीको दर्शाते हैं—

गा०—जैसे व्याधके भयसे भागा हुआ हिरन अपने झुण्डको जालमें फँसा देखकर झुण्डके मोहसे स्वयं भी जालमें फँस जाता है वैसे ही कोई मुनि गृह त्यागनेके बाद स्वयं ही उसमें फँस जाता है ॥१३१३॥

गा०—जैसे पींजरेसे मुक्त हुआ पक्षी उद्यानोंमें स्वेच्छापूर्वक विहार करते हुए स्वयं ही अपने आवासके प्रेमवश पींजरेमें चला जाता है ॥१३१४॥

गा०—जैसे महती कीचडमें फँसा हाथीका बच्चा बलवान् हाथीके द्वारा निकाला गया । किन्तु पानीकी प्यासवश वह स्वयं ही कीचडमें फँस जाता है ॥१३१५॥

गा०—जैसे पक्षी आगसे घिरे वृक्षसे उडकर स्वयं ही अपने घोंसलेके कारण उस वृक्षपर जा पहुँचता है ॥१३१६॥



'रुक्खादो सउणो उप्पडित्ताण' वृक्षादुत्पत्य शकुन । कीदृग्भूतात ? 'अग्गिपरिवित्तादो' अग्निना समन्ताद्वेष्टितात् । 'सयमेव त दुम जह अदीदि' स्वयमेवासौ पक्षी अग्निपरिक्षिप्तद्रुममभिगच्छति । 'णीडणिमित्त स्वावासनिमित्त ॥१३१६॥

लंघिज्जतो अहिणा पासुत्तो कोइ जग्गमाणेण ।
उट्ठविदो त घेत्तुं इच्छदि जध कोदुगहल्लेण ॥१३१७॥

'लंघिज्जतो अहिणा' लङ्घ्यमानोऽहिना, 'कोइ पासुत्तो' कश्चित्प्रसुप्त , 'जग्गमाणेण उट्ठविदो' जाग्रता उत्थापित । 'जह त घेत्तुमिच्छदि' यथा सर्पं ग्रहीतुमिच्छति, 'कोदुगहल्लेण' कौतूहलेन ॥१३१७॥

सयमेव वतमसण णिल्लज्जो णिग्घिणो सय चेव ।
लोलो किविणो भुंजदि सुणहो जध असणतण्हाए ॥१३१८॥

'सयमेव वतमसण' स्वयमेव वान्तमशन । 'सुणहो णिल्लज्जो णिग्घणो' श्वा निर्लज्ज निर्घृण । 'जहा' यथा । 'सयमेव भुजदि' स्वयमेव भुङ्क्ते । 'लोलो' आसक्त । 'किविणो' कृपण । 'असणतण्हाए' अशनतृष्णया ॥१३१८॥

एव केई गिहवासदोसमुक्का वि दिक्खिदा सता ।
इंदियकसायदोसेहिं पुणो ते चेव गिण्हति ॥१३१९॥

'एव केइ' एव केचित् । 'गिहिवासदोसमुक्का वि' गृहवासेभ्यो ये दोषास्तेभ्यो मुक्ता । 'दिक्खिदा वि सता' दीक्षिता अपि सन्त । 'इ दियकसायदोसे' इन्द्रियकषायदोषान् । 'ते चेव' तानेव गृहवासगतान् । 'गिण्हति' गृह्णन्ति । कीदृग्गृहवासो येन दुष्ट इति भण्यते । ममेद भावाधिष्ठान अनुपरतमायालोभोत्पादनप्रवीणजीवनोपायप्रवृत्त कषायाणामाकर परेषा पीडानुग्रहयोरानद्धपरिकर पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिष्वनारत[1]वृत्तव्यापारो, मनोवाक्कायै सचित्ताचित्तानेकाणुस्थूलद्रविणग्रहणवर्द्धनोपजातायास , यत्र स्थितो जनोऽसारे सारता, अनित्ये नित्यता, अशरणे शरणता, अशुचौ शुचिता, दु खे सुखिता, अहिते हितता, असश्रये सश्रयणीयता,

गा०—जैसे किसी सोते हुए मनुष्यपरसे सर्प जा रहा है। उसे कोई जागता हुआ मनुष्य उठाता है और वह उठकर कौतूहलवश उस सर्पको पकडना चाहता है ॥१३१७॥

गा०—जैसे कोई निर्लज्ज घिनावना कुत्ता अपने ही वमन किये भोजनको भोजनकी तृष्णावश लोलुपतासे खाता है ॥१३१८॥

गा०-टी०—वैसे ही गृहवासके दोषोसे मुक्त कोई दीक्षा स्वीकार करके भी गृहवासके उन्ही इन्द्रिय और कषायरूप दोषोको स्वीकार करता है। गृहवासको बुरा क्यो कहा यह बतलाते हैं—

गृहस्थाश्रम 'यह मेरा है' इस भावका अधिष्ठान है, निरन्तर माया और लोभको उत्पन्न करनेमे दक्ष जीवनके उपायोमे लगानेवाला है, कषायोकी खान है, दूसरोको पीडा देने और अनुग्रह करनेमे तत्पर रहता है, पृथिवी जल आग वायु और वनस्पतिमे उसका व्यापार सदा चला करता है, मन वचन कायसे सचित्त अचित्त अनेक सूक्ष्म और स्थूल द्रव्योंके ग्रहण और बढानेके लिए उसमे प्रयास करना होता है। उसमे रहकर मनुष्य असारमे सारता, अनित्यमे नित्यता, अशरणमे शरणता, अशुचिमे शुचिता, दु खमे सुखपना, अहितमे हितपना,

१ रतवृत्तव्यावृत्तव्या—आ० मु० ।

शत्रुभूते मित्रता च मन्यमानः परितः परिधावति। सभयसशङ्कोऽपि पदमधिगच्छति। दुस्तरकाललोहपञ्जरोदरगतो हरिरिव, वागुरापतितमृगकुलमिव, अन्यायकर्दमोन्मग्नो जरत्कुञ्जर इव हताशः, पाशबद्धो विहग इव, चारकावरुद्धस्तस्कर इव, व्याघ्रमध्यमध्यासीनोऽल्पबलो मृग इव, तदन्तिकोपयानजातसङ्कट कूटपाशावकृष्टो जलचर इव, गृहावस्थितो जनः कालमहत्तमपटलेनाव्रियते। रागमहानागैरुपद्रुत चिन्ताडाकिनीभिः कवलीक्रियते शोकवृकैरनुगम्यते, कोपपावकेन भस्मसात् क्रियते, दुराशालतिकाभिर्निश्चलं बध्यते, प्रियविप्रयोगाशनिभिरनिशं शकलीक्रियते, प्रार्थनालाभशरशतैस्तूणीरतां नीयते, मायास्थविरिकया गाढमालिङ्ग्यते, परिभवकठिनकुठारैर्विदार्यते, अयशोमलेन लिप्यते, मोहमहावनवारणेन हन्यते, पापघातकैरवबोधः पात्यते, भयायःशलाकाभिस्तुद्यते, आयासवायसैः प्रतिवासरं [1]भक्ष्यते, ईर्ष्यामष्या विरूपतां परिप्राप्यते, परिग्रहग्राहैर्गृह्यते। यत्रावस्थितोऽसंयमाभिमुखो भवति। असूयाजायायाः प्रियतां याति, मानदानवाधिपतितां अनुभवति, विशालधवलचारित्रातपत्रत्रयच्छायासुखं न लभते, समारचारकाद्‌आत्मानं नापनयति, कर्मनिर्मूलनाय न प्रभवति, मरणविषपादपं न दहति, मोहघनशृङ्खलां न त्रोटयति, विचित्रयोनिमुखगमनं न निषेधति। तत इत्थंभूताद्गृहवास[2]दोषान्त्यक्त्वा गन्तोऽपि दीक्षिता 'इ दियकसायदोसे हि' इन्द्रियकषायदोषान्। हि शब्दः समुच्चयार्थः। तेनैवमभिसंबध्यते 'पुणो हि' पुनरपि 'ते चेव' तानेव। 'गिण्हंति' गृह्णन्ति ॥१३१९॥

अनाश्रयमे आश्रयपना, शत्रुमे मित्रता मानता हुआ सब ओर दौडता है। भय और शकासे युक्त होते हुए भी आश्रय प्राप्त करता है। जिसमे निकलना कठिन है ऐसे कालरूपी लोहेके पीजरेके पेटमे गये सिंहकी तरह, जालमे फसे हिरणोकी तरह, अन्यायरूपी कीचडमे फँसे बूढे हाथीकी तरह, पाशसे बद्ध पक्षीकी तरह, जेलमे बन्द चोरकी तरह, व्याघ्रोंके मध्यमें बैठे हुए दुर्बल हिरणकी तरह, जिसके पासमे जानेमें सकट आया है ऐसे जालमें फँसे मगरमच्छकी तरह, जिस गृहस्थाश्रममे रहनेवाला मनुष्य कालरूपी अत्यन्त गाढे अन्धकारके पटलसे आच्छादित हो जाता है। रागरूपी महानाग उसे सताते हैं। चिन्तारूपी डाकिनी उसे खा जाती है। शोकरूपी भेडिये उसके पीछे लगे रहते हैं। कोपरूप आग उसे जलाकर राख कर देती है। दुराशारूपी लताओंमें वह ऐसा बँध जाता है कि हाथ पैर भी नही हिला पाता। प्रियका वियोगरूपी वज्रपात उसके टुकडे कर डालता है। प्रार्थना करनेपर न मिलनेरूपी सैकड़ो बाणोका वह तरकस बन जाता है अर्थात् जैसे तरकसमें बाण रहते हैं वैसे ही गृहस्थाश्रममें वाछित वस्तुका लाभ न होनेरूपी बाण भरे हैं। मायारूपी बुढिया उसे जोरसे चिपकाये रहती है। तिरस्काररूपी कठोर कुठार उसे काटते रहते हैं। अपयशरूपी मलसे वह लिप्त होता है। महामोहरूपी जगली हाथीके द्वारा वह मारा जाता है। पापरूपी घातकोंके द्वारा वह ज्ञानशून्य कर दिया जाता है। भयरूपी लोहेकी सुइयोसे कोचा जाता है। प्रतिदिन श्रमरूपी कौओंके द्वारा खाया जाता है। ईर्षारूपी काजलसे विरूप किया जाता है। परिग्रहरूपी मगरमच्छोंके द्वारा पकडा जाता है। जिस गृहस्थाश्रममें रहकर असयमकी ओर जाता है। असूयारूपी पत्नीका प्यारा होता है। अर्थात् दूसरोंके गुणोंमें भी दोष देखता है अपनेको मानरूपी दानवका स्वामी मानने लगता है। विशाल धवल चारित्ररूपी तीन छत्रोंकी छायाका सुख उसे नहीं मिलता। वह अपनेको ससाररूपी जेलसे नहीं छुडा पाता। कर्मोंका जडमूलसे विनाश नही कर पाता। मृत्युरूपी विषवृक्षको नही जला पाता। मोहरूपी मजबूत साकलको नही तोडता। विचित्र योनियोंमें जानेको नही रोक पाता। दीक्षा

---

१ भोग्यते आ० मु०। २ दोषान्मुक्ता आ०।

बंधणमुक्को पुनरेव बंधण सो अचेयणोदीदि ।
इंदियकसायबंधणमुवेदि जो दिक्खिदो मतो ॥१३२०॥

'बंधणमुक्को' बन्धनमुक्त । 'पुणरेव बंधण' पुनर्बन्धन । 'अदीदि' प्रतिपद्यते । 'सो अचेदणो' मोऽज्ञ । क ? 'जो दिक्खिदो सतो इंदियकसायबंधणमुवेदि' यो दीक्षित सन्निन्द्रियकषायबन्धमुपैति । इन्द्रियकषायपरिणामा कर्मबन्धनक्रियाया साधकतमतया इह बन्धनशब्देनाच्यन्ते ॥१३२०॥

मुक्को वि णरो कलिणा पुणो वि तं चेव मग्गदि कलिं मो ।
जो दिक्खिदो वि इंदियकसायमइय कलिमुवेदि ॥१३२१॥

प्रसिद्धार्था ॥१३२१॥

उत्तरगाथा—

मो णिच्छदि मोत्तुं जे हत्थगय उम्मुय सुपज्जलिय ।
मो अक्कमदि कण्हसप्प छाद वग्घ च परिमसदि ॥१३२२॥

'सो णिच्छदि' स नेच्छति । 'मोत्तु' मोक्तु । कि ? 'हत्थगय' हस्तस्थित हस्तगत वा । 'उम्मुक्क सपज्जलिय' उल्मुक सुष्ठु प्रज्वलित । 'सो कण्हसप्पमक्कमदि' स कृष्णसर्पमाक्रामति । 'छाद वग्घ च परिमसदि' क्षुधोपद्रुत व्याघ्र च स्पृशति ॥१३२२॥

मो कठोल्लगिदसिलो दहमत्थाहं अदीदि अण्णाणी ।
जो दिक्खिदो वि इंदियकसायवसिगो हवे साधू ॥१३२३॥

'सो कठोल्लगिदसिलो' स कण्ठावलम्बितशिल । 'दहमत्थाह' ह्रदमगाध । 'अदीदि' प्रविशति । 'अण्णाणी' अज्ञ । 'जो दिक्खिदो वि य' यो दीक्षितोऽपि 'इंदियकसायवसिगो' इन्द्रियकषायवशवर्ती मात्स्याद-भेदव्यवहार ॥१३२३॥

धारण करके इस प्रकारके गृहवास सम्बन्धी दोषोसे मुक्त होकर भी पुन उन्ही दोषोको स्वीकार करता है ॥१३१९॥

गा०—जो दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायोंके बन्धनमे पडता है वह अज्ञानी बन्धनसे मुक्त होकर पुन बन्धनको प्राप्त होता है ॥१३२०॥

गा०—जो दीक्षित होकर भी इन्द्रिय कषायमयी कलिको स्वीकार करता है वह मनुष्य कलिकालसे मुक्त होकर भी पुन उसी कलिको खोजता है ॥१३२१॥

गा०—जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कषायोके बन्धनमे पडता है वह हाथमे स्थित जलते हुए अलातको छोडना नही चाहता, वह काले सॉपको लॉघता है और भूखे व्याघ्र-का स्पर्श करता है ॥१३२२॥

गा०—जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कषायके अधीन होता है वह अज्ञानी अपने गलेमे पत्थर बांधकर अगाध तालाबमे प्रवेश करता है ॥१३२३॥

इंदियगहोवसिट्ठो उवसिट्ठो ण दु गहेण उवसिट्ठो ।
कुणदि गहो एयभवे दोस इदरो भवसदेसु ॥१३२४॥

'इंदियगहोवसिट्ठो' इन्द्रियग्रहगृहीत । 'उवसिट्ठो' गृहीत । 'ण दु गहेण उवसिट्ठो' नैव ग्रहेणोपसृष्ट । कुत ? यस्मात् । 'कुणदि गहो एयभवे दोस' एकस्मिन्नेव भवे ग्रहो बुद्धिव्यामोहलक्षण दोष करोति । 'इदरो भवसदेसु' इन्द्रियकषायग्रहो भवान्तेषु दोष करोति ॥१३२४॥

होदि कसाउम्मत्तो उम्मत्तो तध ण पित्तउम्मत्तो ।
ण कुणदि पित्तुम्मत्तो पाव इदरो जधुम्मत्तो ॥१३२५॥

'होदि कसाउम्मत्तो' अत्रैव पदघटना । 'उम्मत्तो होदि' उन्मत्तो भवति यथा । क ? 'कसायउम्मत्तो' कषायोन्मत्त । यथा 'उम्मत्तो ण होदित्ति' पदघटना तथा उन्मत्तो न भवति । क ? 'पित्तउम्मत्तो' पित्तोन्मत्त । एतेन पित्तकृतादुन्मादात् कषायकृतस्योन्मादस्य जघन्यता ख्याता । कथ ? 'न कुणदि पित्तुम्मत्तो' पाप न करोति पित्तोन्मत्त । 'पाव इदरो जधुम्मत्तो' कषायोन्मत्तो यथा पाप करोति, तथाभूत न करोति । यत एकैकोऽपि क्रोधादि हिंसादिषु प्रवर्तयति । कर्मणा स्थितिबन्ध दीर्घीकरोति । विवेकज्ञानमेव तिरस्करोति पित्तोन्माद । ततोऽनयोर्महदन्तर इति भाव ॥१३२५॥

इंदियकसायमइओ णर पिसाय करंति हु पिसाया ।
पावकरणवेलंब पेच्छणयकरं सुयणमज्झे ॥१३२६॥

'इंदियकसायमइओ' इन्द्रियकषायमय पिशाच । 'णर पिसाय करेदि' नर पिशाच करोति । कीदृग्भूत पिशाच करोति ? 'सुजणमज्झे पेच्छणयकर' सुजनमध्ये प्रेक्षणिककारण । 'पावकरणवेलंब' हिंसादिपापक्रियाविलम्बना प्रेक्षणीयत्वेन सपादयन्त पिशाच करोतीति यावत् ॥१३२६॥

कुलजस्स जसमिच्छत्तगस्स णिधणं वरं खु पुरिसस्स ।
ण य दिक्खिदेण इंदियकसायवसिएण जेदुंजे ॥१३२७॥

गा०—जो इन्द्रियरूपी ग्रहसे पकडा हुआ है वही ग्रह पीडित है। जो ग्रहने पकडा हुआ है वह ग्रहपीडित नहीं है। क्योंकि ग्रह तो एक ही भवमें कष्ट देता है किन्तु इन्द्रियरूपी ग्रह सैकडों भवोंमें कष्ट देता है ॥१३२४॥

गा०-टी०—जो कषायसे उन्मत्त (पागल) है वही उन्मत्त है। जो पित्तसे उन्मत्त है वह उन्मत्त नहीं है। इससे पित्तके द्वारा हुए उन्मादमें कषायके द्वारा हुए उन्मादको निकृष्ट बतलाया है। क्योंकि कषायसे उन्मत्त पुरुष जैसा पाप करता है पित्तसे उन्मत्त वैसा पाप नहीं करता। एक-एक भी क्रोधादि कषाय हिंसा आदिमें प्रवृत्त करता है। कर्मकि स्थितिबन्धको बढ़ाता है। किन्तु पित्तसे हुआ उन्माद केवल विवेकमूलक ज्ञानका ही तिरस्कार करता है। इसलिए इन दोनोंमें बहुत अन्तर है ॥१३२५॥

गा०—इन्द्रिय और कषायमय पिशाच मनुष्यको सुजनोंके मध्यमें देखने योग्य पापक्रियाकी विडम्बनाओंको करनेवाला पिशाच बना देता है ॥१३२६॥

'कुलजस्स पुरिसस्स जसमिच्छंतगस्स' कुलप्रसूतस्य पुंसः यशोऽभिलाषिणः। 'णिधणं वरं' मृतिः शोभना। 'ण दु जीविदुं जे' नैव वरं जीवनं। 'दिक्खिदेण इंदियकसायवसिएण' दीक्षितस्येन्द्रियकषायवशवर्तिनः जीवनं न शोभनमित्यर्थः ॥१३२७॥

जध सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो रधी पलायंतो।
णिंदिज्जदि तध इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो ॥१३२८॥

'यथा रथी पलायंतो णिंदिज्जदि' यथा रथी पलायमानो निन्द्यते। कीदृक्? 'सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो' सन्नद्धः उपगृहीतचापकाण्डः। तथा 'इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो' तथा इन्द्रियकषायवशवर्त्यपि प्रव्रजितो निन्द्यते ॥१३२८॥

जध भिक्खं हिंडंतो मउडादिअलंकिदो गहिदसत्थो।
णिंदिज्जइ तध इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो ॥१३२९॥

'जध भिक्खं हिंडंतो' मुकुटादिभिरलंकृतो गृहीतशस्त्रो भिक्षां भ्रमन् निन्द्यते। तथा निन्द्यते इन्द्रियकषायवशवर्ती प्रव्रजितः ॥१३२९॥

इंदियकसायवसिगो मुंडो णग्गो य जो मलिणगत्तो।
सो चित्तकम्मसमणोव्व समणरूवो असमणो हु ॥१३३०॥

'इंदियकसायवसिगो' इन्द्रियकषायवशीकृतः, मुण्डो नग्नश्च यो मलिनगात्रः सन्। 'सो समणरूवो ण समणो' स श्रमणरूपो न श्रमणः 'स चित्तकम्मसमणो व्व' स चित्रकर्मश्रमण इव। परमार्थश्रमणसदृशरूपोऽपि यथा चित्रश्रमणो न श्रमणस्तद्वदशुभपरिणामप्रवणः ॥१३३०॥

ज्ञानं नरस्य दोषानपहरति इन्द्रियकषायजयमुखेन यथा सत्त्ववतः प्रहरणमावरणं च शत्रुं नाशयती-

---

गा०—कुलीन और यशके अभिलाषी पुरुषका मरना श्रेष्ठ है किन्तु दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायके वशमें रहकर जीना श्रेष्ठ नहीं है ॥१३२७॥

गा०—जैसे धनुष बाण लेकर युद्धके लिए तैयार रथारोही यदि युद्धमें भागता है तो निन्दाका पात्र होता है। उसी प्रकार दीक्षित साधु यदि इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है तो निन्दाका पात्र होता है ॥१३२८॥

गा०—जैसे मुकुट आदिसे सुशोभित और हाथमें शस्त्र लिये हुए कोई भिक्षाके लिए घूमता है तो निन्दाका पात्र होता है। वैसे ही दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायके वशमें होनेवाला भी निन्दाका पात्र होता है ॥१३२९॥

गा०-टी०—जो मुण्डित नग्न और मलिन शरीरवाला होकर भी इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है वह चित्रमें अंकित श्रमणके समान श्रमणरूपका धारी होनेपर भी श्रमण नहीं है। अर्थात् जैसे चित्रमें अंकित श्रमण वास्तविक श्रमणके समान रूपवाला होनेपर भी श्रमण नहीं है उसी प्रकार श्रमणका वेष धारण करके भी जिसके परिणाम अशुभ हैं वह श्रमण नहीं है ॥१३३०॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय और कषायको जीतनेके द्वारा ज्ञान मनुष्यके दोषोंको दूर करता

त्युत्तरगाथार्थं इन्द्रियकषायाजये ज्ञानं दोषापहारित्वाख्यं अतिशयं न लभते यथा सत्त्वहीनस्यावरणसन्नाहाख्यं प्रहरणं च खड्गचक्रादिकं शत्रुजयत्वमतिशयं नासादयति—

णाणं दोसे णासिदि णरस्स इंदियकसायविजयेण ।
आउहरणं पहरणं जह णासेदि अरिं ससत्तस्स ॥१३३१॥

'णाणं' ज्ञानं 'दोसे' दोषान् । 'णासिदि' नाशयति । 'णरस्स' नरस्य । 'इंदियकसायविजयेन' 'जह' यथा । 'आउहरणं पहरणं' आयुषो हरणं प्रहरणं शस्त्रं । सह सत्त्वेन वर्तते इति ससत्त्वस्तस्य । 'अरिं' रिपुं । 'णासेदि' नाशयति ॥१३३१॥

णाणंपि कुणदि दोसे णरस्स इंदियकसायदोसेण ।
आहारो वि हु पाणो णरस्स विसमजुदो हरदि ॥१३३२॥

'णाणंपि कुणदि दोसे णरस्स' ज्ञानं दोषानपि करोति नरस्य । 'इंदियकसायदोसेण' इन्द्रियकषायपरिणामदोषेण । उपकार्यपि अनुपकारितामुद्वहति परसंसर्गेण । यथा प्राणधारणनिमित्तोऽप्याहारो विषमिश्रः प्राणान्विनाशयति ॥१३३२॥

णाणं करेदि पुरिसस्स गुणे इंदियकसायविजयेण ।
बलरूववण्णमाऊ करेहि जुत्तो जधाहारो ॥१३३३॥

'णाणं करेदि' ज्ञानं करोति । 'पुरिसस्स गुणे' पुरुषस्य गुणान् । कथं ? 'इंदियकसायविजएण' इन्द्रियकषायविजयेन । 'बलवण्णरूवमाऊ करेदि' बलं, रूपं, तेज, आयुश्च करोति । 'जुत्तो जधाहारो' युक्तः शोभनो यथाहारः विषेणामिश्रितः ॥१३३३॥

णाणं पि गुणे णासेदि णरस्स इंदियकसायदोसेण ।
अप्पवधाए सत्थं होदि हु कापुरिसहत्थगयं ॥१३३४॥

है । जैसे सत्त्वसम्पन्न मनुष्यका शस्त्र और कवच शत्रुका नाश करता है । तथा इन्द्रिय और कषायको न जीतनेपर ज्ञान दोषोंको दूर करनेरूप अतिशयको प्राप्त नहीं करता । जैसे सत्त्वहीन पुरुषका कवच और तलवार चक्र आदि शस्त्र शत्रुको जीतनेरूप अतिशयको नहीं प्राप्त करता ॥१३३०॥

गा०—इन्द्रिय और कषायको जीतनेसे ज्ञान मनुष्यके दोषोंको नष्ट करता है । जैसे सत्त्वशालीका आयुको हरनेवाला शस्त्र शत्रुको नष्ट करता है ॥१३३१॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान भी मनुष्योंमें दोष उत्पन्न करता है । दूसरेके संसर्गसे उपकारी भी अनुपकारी हो जाता है । जैसे आहार प्राण धारणमें निमित्त है किन्तु विषसे मिला आहार प्राणोंका घातक होता है ॥१३३२॥

गा०—और इन्द्रिय तथा कषायोंको जीतनेसे ज्ञान पुरुषमें गुण उत्पन्न करता है । जैसे विषसे रहित उत्तम आहार बल, रूप, तेज और आयुको बढ़ाता है ॥१३३३॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान भी पुरुषके गुणोंको नष्ट करता है । जैसे कायर पुरुषके हाथमें गया शस्त्र उसके ही वधमें निमित्त होता है ॥१३३४॥

ज्ञानमपि गुणानाशयति नरस्य इन्द्रियकषायपरिणामदोषेण । आत्मवधाय भवति शस्त्रं कापुरुषहस्तगत इति ॥१३३४॥

उत्तरगाथार्थं —

सुबहुस्सुदो वि अवमाणिज्जदि इंदियकसायदोसेण ।
णरमाउधहत्थंपि हु मदय गिद्धा परिभवंति ॥१३३५॥

'सुबहुस्सुदोवि' सुष्ठुबहुश्रुतोऽप्यवमन्यते इन्द्रियकषायदोषेण । गृहीतास्त्रमपि नरं मृतं गृद्धा परिभवन्ति यथा ॥१३३५॥

इंदियकसायवसगो बहुस्सुदो वि चरणे ण उज्जमदि ।
पक्खीव छिण्णपक्खो ण उप्पडदि इच्छमाणो वि ॥१३३६॥

'इंदियकसायवसगो' इन्द्रियकषायवशगः बहुश्रुतोऽपि चारित्रे नोद्यमं करोति । यथा छिन्नपक्षः पक्षी नोत्पतति इच्छन्नपि ॥१३३६

णस्सदि सग बहुगं पि णाणमिंदियकसायसम्मिस्सं ।
विसमस्सिमिदद्धुं णस्सदि जध सक्कराकढिदं ॥१३३७॥

'णस्सदि सग बहुगमपि णाणं' नश्यति स्वयं बह्वपि ज्ञानं इन्द्रियकषायसम्मिश्रं । शर्कराक्वथितं दुग्धं विषमिश्रमिव । माधुर्यस्यातिशयता दुग्धस्य शर्कराक्वथितशब्देन कथ्यते ॥१३३७॥

इंदियकसायदोसमलिणं णाणं ण वट्टदि हिदे से ।
वट्टदि अण्णस्स हिदे खरेण जह चदणं ऊढं ॥१३३८॥

ज्ञानं यदीयं तस्मै उपकारितया प्रसिद्धमपि स्वस्योपकारि भवति इन्द्रियकषायमलिनं, परोपकारि तु भवति खरेणोढं चन्दनादिकमिवेति सूत्रार्थः ॥१३३८॥

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके दोषसे अच्छे प्रकारसे बहुतसे शास्त्रोंका ज्ञाता भी विद्वान् अपमानका पात्र होता है। जैसे हाथमें अस्त्रके होते हुए भी मरे मनुष्यको गृद्ध खा जाते हैं ॥१३३५॥

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके वशमें हुआ बहुश्रुत भी विद्वान् चारित्रमें उद्योग नहीं करता। जैसे जिसका पर कट गया है ऐसा पक्षी इच्छा करते हुए भी नहीं उड सकता ॥१३३६॥

गा०—इन्द्रिय और कषायके योगसे बहुत भी ज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है। जैसे शक्करके साथ कढ़ा हुआ दूध विषके मिलनेसे नष्ट हो जाता है अर्थात् अपने स्वभावको छोड़ देता है। यहाँ शक्करके साथ कढ़ाया हुआ कहनेसे मिठासके कारण दूधकी सातिशयता बतलाई है। ऐसा दूध भी विषके मेलसे हानिकर होता है ॥१३३७॥

गा०—जिसका ज्ञान होता है उसीका उपकारी होता है यह बात प्रसिद्ध है किन्तु इन्द्रिय और कषायसे मलिन ज्ञान जिसका होता है उसका उपकार नहीं करता, दूसरोंका उपकार

---

१ स्वस्योप—अ०।

ज्ञान प्रकाशकत्वमपि न जहाति इन्द्रियकषायपरिणामवशादिति निगदति—

इंदियकसायणिग्गहणिमीलिदस्स हु पयासदि ण णाणं ।
रत्तिं चक्खुणिमीलस्स जधा दीवो सुपज्जलिदो ॥१३३९॥

इंदियकसायणिग्गहणिमीलिदस्स' इन्द्रियकषायनिग्रहे निमीलितस्यात्मनो ज्ञानं न प्रकाशते । 'रत्तिं' रात्राविव । 'चक्खुणिमिलिदस्स' निमीलितचक्षुषः पुंसः । 'जह दीवो सुपज्जलिदो' यथा सुप्रज्वलितः प्रदीपः ॥१३३९॥

इंदियकसायमइलो बाहिरकरणणिहुदेण वेसेण ।
आवहदि को वि विसए सउणो [1]वादसगेणेव ॥१३४०॥

इंदियकसायमइलो' इन्द्रियकषायपरिणाममलिनः । 'बाहिरकरणणिहुदेण वेसेण' बाह्यायाः गमनागमनादिकायाः क्रियाया निभृतेन वेषेण । 'कोई विसए आवहदि' कश्चिद्विषयानावहति आत्मनो भोगाय ॥१३४०॥

घोडगलिंडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स ।
बाहिरकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स ॥१३४१॥

घोडगलिंडसमाणस्स' घोटकलिण्डसमानस्य यथा बहिर्मसृणता न तद्वदन्तर्मसृणता । तद्वत्कस्यचिद्बाह्याचरणं समीचीनं नाभ्यन्तराः परिणामाः शुद्धाः । स एवमुच्यते । 'बाहिरकरणं किं काहिदि' बाह्यक्रिया अनशनादिका किं करिष्यति । 'अब्भंतरम्मि कुधिदस्स' अन्तः कुथितस्य । इन्द्रियकषायसंज्ञाऽशुभपरिणामेन नष्टाभ्यन्तरतपोवृत्तेरिति यावत् । 'बगणिहुदकरणस्स' बकवन्निभृतक्रियस्य ॥१३४१॥

करता है । जैसे गधेपर लदा चन्दन दूसरोंका उपकार करता है ॥१३३८॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय कषायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान अपने प्रकाशकत्व धर्मको भी छोड़ देता है—

गा०-टी०—इन्द्रिय और कषायोंका निग्रह करनेमें जो अपना उपयोग नहीं लगाता अर्थात् जो इन्द्रिय और कषायोंसे प्रभावित है, उसका ज्ञान वस्तुस्वरूपका प्रकाशक नहीं होता । जैसे, जिसने आँखें मूँदी हैं उसके लिए तीव्रतासे जलता हुआ दीपक पदार्थोंका प्रकाश नहीं करता ॥१३३९॥

गा०—जिसका परिणाम इन्द्रिय और कषायसे मलिन होता है ऐसा कोई साधु बाह्य गमन आगमन आदि क्रियाओंके द्वारा अपने वेशको छिपाकर अपने भोगके लिये विषयोंको ग्रहण करता है जैसे निश्चल बैठा पक्षी अपनी चोंचमें अपने शिकारको ग्रहण करता है ॥१३४०॥

गा०-टी०—जैसे घोड़ेकी लीद ऊपरसे चिकनी और भीतरसे खुरदरी होती है वैसे ही किसीका बाह्य आचरण तो समीचीन होता है किन्तु अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नहीं होते । उसे घोड़ेकी लीदके समान कहा है । जिसके अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नहीं हैं उसकी बाह्यक्रिया अनशन आदि क्या करेगी ? अर्थात् इन्द्रिय और कषायरूप अशुभ परिणामके द्वारा अभ्यन्तर तपोवृत्ति जिसकी नष्ट हो चुकी है वह बाह्य अनशन आदि तप करे भी तो क्या लाभ है । वह तो नदीके तटपर निश्चल बैठे हुए बगुलेकी तरह है ॥१३४१॥

---

१ धायानि—आ० । २ वोदसगे—ज०, मु०, मूलारा० ।

बाह्य तप करणीयतयोपदिष्टं तत्स्वफलं सम्पादयत्येव किमुच्यते बाह्यक्रिया किं करोतीत्याशङ्क्य सूरिराचष्टे—

बाहिरकरणविसुद्धी अब्भतरकरणसोधणत्थाए ।
ण हु कुडयस्स सोधी सक्का सतुसस्स कादु जे ॥१३४२॥

'बाहिरकरणविसुद्धी' बाह्यक्रियाविशुद्धिः । 'अब्भतरकरणसोधणत्थाए' अभ्यन्तरक्रियाणां विनयादीनां शुद्धये, अभ्यन्तरतपसा लघ्वेव बहुतरकर्मनिर्जराक्षमाणां परिवृद्धये श्रूयन्ते बाह्यान्यनशनादितपांसि । ततोऽन्वर्थतया बाह्यान्युपदिष्टानि। यद्धि यदर्थं तत्प्रधानं इति प्रधानमाभ्यन्तरतपः तच्च शुभशुद्धपरिणामात्मकं । तेन विना न निर्जरायै बाह्यमलं । उक्तं च—बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थं । इति । 'ण हु कुडयस्स सोधी सक्का कादु जे' नैवान्तर्मलस्य शुद्धिः शक्या कर्तुं । कस्य ? 'सतुसस्स' सतुषस्य धान्यस्य ॥१३४२॥

अब्भतरसोधीए सुद्धं णियमेण बाहिरं करणं ।
अब्भंतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरं दोसं ॥१३४३॥

'अब्भतरसोधीए' अभ्यन्तरशुद्धया । 'सुद्धं णियमेण बाहिरं करणं' शुद्धं निश्चयेन बाह्यं करणं । 'अब्भतरदोसेण हु' अन्तःपरिणामदोषेणैव इन्द्रियकषायपरिणामादिना । 'कुणदि णरो बाहिरं दोसं' करोति नरो बाह्यान्दोषान्वाक्कायाश्रयान् ॥१३४३॥

लिंगं च होदि अब्भतरस्स सोधीए बाहिरा सोधी ।
भिउडीकरणं लिंगं जह अंतोजादकोधस्स ॥१३४४॥

'लिंगं च होदि' चिह्नं च भवति । 'अब्भतरस्स परिणामसोधीए' अभ्यन्तरस्य परिणामस्य शुद्धेः । 'बाहिरा सोधी' बाह्या शुद्धिरशनादितपोविषया । 'भिउडीकरणं लिंगं' भृकुटीकरणं लिङ्गं । 'जह' यथा ।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि ऊपर बाह्यतप करनेका उपदेश किया है वह अपना फल अवश्य देता है । तब आप कैसे कहते हैं कि बाह्यक्रिया क्या करेगी ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

गा०-टी०—अभ्यन्तर क्रिया विनय आदिकी शुद्धिके लिये बाह्यक्रियाकी विशुद्धि कही है । शीघ्र ही बहुतसे कर्मोंकी निर्जरामें समर्थ अभ्यन्तर तपोंकी वृद्धिके लिए बाह्य अनशन आदि तप सुने जाते हैं । इसीलिए उनका बाह्य नाम सार्थक है । जो जिसके लिये होता है वह प्रधान होता है । इसलिए अभ्यन्तर तपकी प्रधानता है । वह अभ्यन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणामरूप होता है । उसके बिना बाह्यतप निर्जरामें समर्थ नहीं होता । कहा भी है—'भगवन् ! आपने आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिए अत्यन्त कठोर बाह्यतप किया ।' ठीक ही है, क्योंकि छिलकेके रहते हुए धान्यकी अन्तः शुद्धि सम्भव नहीं है ॥१३४२॥

गा०—नियमसे अभ्यन्तर शुद्धिके होनेसे ही बाह्यशुद्धि होती है । इन्द्रियकषाय परिणाम आदि अन्तरंग परिणाम दोषसे ही मनुष्य वचन और कायसम्बन्धी बाह्य दोषोंको करता है ॥१३४३॥

गा०-टी०—अनशन आदि तपविषयक बाह्यशुद्धि अभ्यन्तर परिणामोंकी विशुद्धिका

'अतोजादकोधस्स' अन्तर्जातस्य कोपस्य लिङ्ग लिङ्गिभाव । बाह्यानामभ्यन्तराणा चैव भवति यदि परस्परा-विनाभाविता स्यादग्निधूमयोरिव। प्रसिद्धश्च लिङ्गलिङ्गिभाव कार्येण बाह्येन कारणस्याभ्यन्तरस्येति भावार्थ ॥१३४४॥

ते चेव इ दियाणं दोमा सव्वे हवंति णादव्वा ।
कामस्स य भोगाण य जे दोसा पुव्वणिदिट्ठा ॥१३४५॥

'ते चेव इदियाण दोसा' त एवेन्द्रियाणा सर्वेषा दोषा भवन्ति इति ज्ञातव्या । के ? 'ये दोसा पुव्व णिद्दिट्ठा' ये दोषा पूर्वनिर्दिष्टा । 'कामस्स य भोगाण य' कामस्य भोगाना च नवन्धितया निर्दिष्टा दोषा ॥१३४५॥

महुलित्त असिधार तिक्ख लेहिज्ज जध णरो कोई ।
तध विसयसुह सेवदि दुहावह इहहि परलोगे ॥१३४६॥

'मधुलित्त' मधुना लिप्ता । 'असिधार' असेर्धारा । 'तिक्ख' तीक्ष्णा । 'जह णरो कोई लेहिज्ज' यथा नर कश्चिदास्वादयति जिह्वया । 'तह विसयसुह सेवदि' तथा विषयसुख सेवते । 'दुहावह इह य परलोए' दु खावहमत्र जन्मनि परत्र च, स्वल्पसुखतया बहुदु खतया च साम्य दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो ॥१३४६॥

एकैकेन्द्रियविषयवशादनिभिर्मृ गादिभिरपद्रवो प्राप्य, किं पुनरशेषेन्द्रियविषयलम्पटैर्जनै प्राप्योऽनर्थे वाच्यमिति मत्वाचष्टे—

सद्देण मओ रूवेण पदगो वणगओ वि फरिसेण ।
मच्छो रसेण भमरो गधेण य पाविदो दोस ॥१३४७॥

चिह्न है। जैसे क्रोध उत्पन्न होनेका चिह्न भृकुटी चढाना होता है। इस प्रकार बाह्य और अभ्यन्तरको अग्नि और धूमकी तरह परस्परमें अविनाभाविता है। अर्थात् जैसे आगके होनेपर ही धूम होता है अत जहाँ धूम होता है वहाँ आग अवश्य होती है। इसीको अविनाभाविता कहते हैं। धूम लिंग है आग लिंगी है। इसी प्रकार बाह्य कार्यके साथ अभ्यन्तर कारणका लिंग-लिंगी भाव सम्बन्ध जानना ॥१३४४॥

गा०—जो दोष पहले काम और भोगके सम्बन्धमें कहे हैं वे ही सब दोष इन्द्रियोंके सम्बन्धमें जानना ॥१३४५॥

गा०-टी०—जैसे कोई मनुष्य जिह्वाके द्वारा मधुसे लिप्त तलवारकी तीक्ष्ण धारको चाटता है वैसे ही मनुष्य विषय सुखका सेवन करता है जो इस जन्ममें और परजन्ममें दु खदाया है। जैसे मधुलिप्त तलवारकी धारको जिह्वासे चाटनेमें प्रारम्भमें मधुके कारण थोडा सुख होता है किन्तु जीभ कट जानेपर बहुत दु ख होता है उसी प्रकार विषय भोगमें भी सुख अल्प है दु ख बहुत है ॥१३४६॥

आगे कहते हैं कि एक एक इन्द्रियके विषयमें आसक्त हिरन आदि कष्ट भोगते हैं तब समस्त इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त जनोंके द्वारा प्राप्य अनर्थका क्या कहना है—

'सद्देण मओ' शब्देन मृग वाष्पच्छेद्यसरससुरभितृणाग्रग्रासेन, मृदुपवनानीतशैत्यस्फटिकमकाशपानीयपानेन च पुष्टमूर्तिरन्तःकरणमिव लघुतरप्रयाणो हरिणो व्याधकलगीतश्रवणेन सुखाकूणितलोचनः दुष्टयमदंष्ट्रासमाननिशितविशिखावलीभिन्नतनुर्जहाति प्रियतमान्प्राणान्। 'रूवेण पदगो य' एककलिकाकारप्रदीपरूपेण जनितानुराग पतगो दीपार्चिषि भस्मसाद्भावमुपयाति। 'वणगजो वि फरिसेण' वनगजश्च विलासिनीहृदयमिव दुष्प्रवेशासु ससृतिरिव महतीषु अरण्यानीषु विपद इव दुरतिक्रमणीयासु मल्लकीतरुणतरुशाखाहारः, रम्यगिरिनदीविपुलह्रदेषु, स्वेच्छापानस्नपनिमज्जनोन्मज्जनैरुपगतप्रीतिः, अनुकूलानेककरिणीकदम्बकेनानुगम्यमानो वासिताविशालजघनस्पर्शनोपनीतप्रीतिर्मदकलो विचेतनो रागबहलतिमिरपटलावगुण्ठितलोचनो महति गर्ते निपतित परं व्यसनमवगाहते। 'मच्छो' मत्स्यः युवजनमनःसरोनपायिविलासिनीविलोचनविभ्रमविलम्बनोद्यत स्वल्पाहाररसलोलुपो विपदमारववश प्रयाति। विचित्रसुरभिप्रसूनप्रकररजोऽङ्गरागो भ्रमरः विषपादपकुसुमगन्धेनापहृतप्रियतमप्राणो भवति। एवमेते दोषान्प्राप्तिताः ॥१३४७॥

तिरश्चा दुःख प्रनिपाद्य विषयरागजनित मनुजगतौ दर्शयति—

इदि पचहि पच हदा सद्दरसफरिसगधरूवेहिं ।
इक्को कह ण हम्मदि जो सेवदि पच पचेहिं ॥१३४८॥

गा०-टी०—वनमे हिरण मुखके वाष्पसे टूटनेवाले सरस सुगन्धित तृणोके अग्रभागोको खाकर और कोमल वायुके द्वारा शीतल किये गये स्फटिकके समान स्वच्छ जलको पीकर पुष्ट होता है। उसकी गति मनमे भी तीव्र होती है। वह व्याधके मनोहर गीतको सुनकर मुखमे अपनी आँखें मूँद लेता है। और दुष्ट यमराजकी दाढके समान तीक्ष्ण विशाल बाणोंके द्वारा छेदा जाकर अत्यन्त प्रिय प्राणोको त्याग देता है। एक कलिकाके आकार दीपकके रूपसे अनुराग करनेवाला पतगा दीपककी लौमे जलकर भस्म हो जाता है। वनका हाथी स्त्रीके हृदयकी तरह जिसमे प्रवेश करना कठिन है, जो ससारकी तरह महान् है और विपत्तिकी तरह जिसे लाघना अशक्य है ऐसे महान् वनमे सल्लकीके तरुण वृक्षोकी शाखा खाता है, रमणीक पहाडी नदी और बडे-बडे तालाबोंमे स्वेच्छापूर्वक जल पीता है, अवगाहन करता है, डुबकी लगाता है, अनेक अनुकूल हथिनियोका समूह उसके पीछे चलता है, हथिनीके विशाल जघन भागके स्पर्शनमे अनुरक्त होकर मदमत्त हो, रागकी अधिकतारूपी अन्धकारके पटलमें आँखे बन्द कर लेता है और महान् गर्तमे गिरकर कष्ट भोगता है। युवा पुरुषोके मनरूपी सरोवरमे विलास करनेवाली स्त्रियोंके लोचनके हावभावका अनुकरण करनेवाला मच्छ थोडेमे भोजनकी लोलुपतावश शीघ्र ही विपत्तिमे पड जाता है। अनेक प्रकारके सुगन्धित फूलोके समूहको रजमे आवेष्ठित भौरा विषवृक्षके फूलकी गन्धमे प्राण खो देता है। इस प्रकार एक एक इन्द्रियके वश होकर ये कष्ट उठाते हैं ॥१३४७॥

तिर्यञ्चोंका विषयरागमे उत्पन्न दुःख कहकर मनुष्य गतिमे कहते हैं—

गा०—इस प्रकार शब्द, रस, स्पर्श, गन्ध, रूप इन पाँच विषयोके द्वारा पाँच जीव अपने प्राण गँवाते हैं। तब जो एक ही पुरुष पाँचो इन्द्रियोंके द्वारा पाँचो विषयोका सेवन करता है वह प्राण क्यो न गँवायेगा ॥१३४८॥

---

१ सम्पार्श–आ०। २ एता टीकाकारो नेच्छति।

सरजूए गधमित्तो घाणिंदियवसगदो विणीदाए ।
विसपुप्फगंधमग्घाय मदो णिरयं च संपत्तो ॥१३४९॥

'सरजूए' सरय्वा नद्यां । 'गधमित्तो' गंधमित्रो नाम भूपाल । 'मदो' मृत । 'विणीदाए' विनीतापुरीपति । 'घाणिंदियवसगदो' घ्राणेन्द्रियवशगत । 'विसगधपुप्फमग्घाय' विषचूर्णवासितपुष्पमाघ्राय । 'मदो' मृत । णिरय च सपत्तो नरक च सप्राप्त तीव्रविषयरागाज्जातेन कर्मभारेण ॥१३४९॥

पाडलिपुत्ते पंचालगीदसद्देण मुच्छिदा सती ।
पासादादो पडिदा णट्ठा गधव्वदत्ता वि ॥१३५०॥

पाटलिपुत्रे पाचालस्य गीतशब्देन मूर्छिता सती प्रासादात्पतिता नष्टा गन्धर्वदत्ता नामधेया गणिका ॥१३५०॥

माणुसमसपसत्तो कपिल्लवदी तधेव भीमो वि ।
रज्जब्भट्ठो णट्ठो मदो य पच्छा गदो णिरय ॥१३५१॥

'मानुसमसपसत्तो' मानुषमांसप्रसक्त काम्पिल्यपुराधिपो भीमो राज्यभ्रष्टो नष्टो मृत पश्चान्नरकमुपयात ॥१३५१॥

चोरो वि तह सुवेगो महिलारूवम्मि रत्तदिट्ठीओ ।
विद्धो सरेण अच्छीसु मदो णिरय च संपत्तो ॥१३५२॥

'चोरो वि तह सुवेगो' सुवेगनामधेयश्चौरोऽपि युवतिरूपारूढदृष्टि शरविद्धेक्षणे मृतो नरकमुपगत ॥१३५२॥

फासिंदिएण गोवे सत्ता गिहवदिपिया वि णासक्के ।
मारेदूण सपुत्त धूयाए मारिदा पच्छा ॥१३५३॥

'फासिंदिएण' स्पर्शनेन्द्रियेण हेतुना । 'गोवे सत्ता' आत्मीये गोपाले आसक्ता । '[1]गिहवदिपिया'

गा०—अयोध्यापुरीका राजा गन्धमित्र घ्राणेन्द्रियके वशमें होकर सरयू नदीमें विषसे फूलकी गन्धको सूंघकर मरा और नरकमें गया ॥१३४९॥

विशेषार्थ—उसके बड़े भाईने भयकर विषसे फूलको सुवासित करके दिया था। इसकी कथा वृहत्कथाकोशमें ११३ नम्बर पर है।

गा०—पाटलीपुत्र नगरमें गधर्वदत्ता नामक गणिका पचालके गीतके शब्द सुनकर मूर्छित हो महलसे नीचे गिरकर मर गई ॥१३५०॥

विशेषार्थ—इसकी कथा वृहत्कथाकोशमें ११४ नम्बर पर है।

गा०—कपिला नगरीका राजा भीम मनुष्यके मासका प्रेमी था। वह राज्यसे निकाला जाकर मरकर नरकमें गया ॥१३५१॥

विशेषार्थ—वृहत्कथाकोशमें ११५ नम्बर पर इसकी कथा है।

---

१ वदि गिहिणी–अ० आ०।

राष्ट्रकूटभार्या । 'णासक्के' नासिक्ये नगरे । 'मारेदूण सपुत्त' स्वपुत्रं हत्वा । 'धूदाए' दुहित्रा । 'पच्छा' पश्चात् । 'मरिदा' मृति नीता ॥१३५३॥ इंदिया ।

एवमिन्द्रियदोषानुपदर्श्य कोपदोषप्रकटनार्थं प्रक्रम्यते—

रोसाइट्ठो णीलो हदप्पभो अरदिअग्गिससत्तो ।
सीदे वि णिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिट्ठो व ॥१३५४॥

'रोसाविट्ठो' रोषाविष्ट । नीलवर्णो भवति 'हदप्पभो' विनष्टदीप्ति । 'अरदिअग्गिसतत्तो' अरत्यग्निसतप्त । 'सीदे वि णिवाइज्जइ' शीतेऽपि तृषितो भवति । 'वेवदि' वेपते च । 'गहोवसिट्ठोव' ग्रहेणोपसृष्ट इव ॥१३५४॥

भिउडीतिवलियवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो ।
कोवेण रक्खसो वा णराण भीमो णरो भवदि ॥१३५५॥

'भिउडीतिवलियवयणो' भृकुटीत्रिवलितवदनो । 'उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो' उद्गतनिश्चलसुरक्तरूक्षेक्षण । 'रोसेण' रोषेण हेतुना । 'रक्खसो' राक्षस इव । णराण भीमो णरो होदि' नराणा भीमो भयावहो भवति नर ॥१३५५॥

जह कोइ तत्तलोह गहाय रुट्ठो परं हणामित्ति ।
पुव्वदरं सो डज्झदि डहिज्ज व ण वा परो पुरिसो ॥१३५६॥

'जह कोइ' यथा कश्चित् 'तत्तलोह गहाय' तप्तलोह गृहीत्वा । किमर्थं ? 'रुट्ठो पर हणामित्ति'

गा०—सुवेग नामक चोर युवती स्त्रियोंके रूपको देखनेका अनुरागी था। उसकी आँखमें वाण लगा और वह मरकर नरक गया ॥१३५२॥

विशेषार्थ—वृ० क० को० मे इसकी कथा ११६ वी है। उसमे सुवेगको म्लेच्छराज कहा है ॥१३५२॥

गा०—नासिक नगरमे गृहपति सागरदत्तकी भार्या नागदत्ता स्पर्शन इन्द्रियके कारण अपने ग्वाले पर आसक्त थी। उसने अपने पुत्रको मारा तो उसकी लडकीने अपनी माको मार दिया ॥१५९३॥

विशेषार्थ—इसकी कथा उसी कथाकोशमे ११७ नम्बर पर है ॥१३५३॥

इस प्रकार इन्द्रियके दोष बतलाकर क्रोधके दोष बतलाते हैं—

गा०-टी०—जो क्रोधसे ग्रस्त होता है उसका रंग नीला पड जाता है, कान्ति नष्ट हो जाती है, अरतिरूपी आगमें सतप्त होता है। ठडमें भी उसे प्यास सताती है और पिशाचसे गृहीत की तरह क्रोधसे काँपता है ॥१३५४॥ भृकुटी चढनेसे मस्तक पर तीन रेखाएँ पड जाती है, लाल लाल निश्चल आँखें बाहर निकल आती हैं। इस तरह क्रोधसे मनुष्य दूसरे मनुष्योंके लिए राक्षसकी तरह भयानक हो जाता है ॥१३५५॥

गा०—जैसे कोई पुरुष रुष्ट होकर दूसरेका घात करनेके लिए तपा लोहा उठाता है। ऐसा करनेसे दूसरा उससे जले या न जले, पहले वह स्वय जलता है ॥१३५६॥

रुष्ट पर हन्मीति । 'पुव्वदर सो डज्झदि' पूर्वतर स एव दह्यते तेन तप्तेन लोहेन गृहीतेन । 'डज्झिज्ज परो ण वा पुरिसो' दह्यते पर पुरुषो न वा दह्यते ॥१३५६॥

तध रोसेण सय पुव्वमेव डज्झदि हु कलकलेणेव ।
अण्णस्स पुणो दुक्खं करिज्ज रुट्ठो ण य करिज्ज ॥१३५७॥

'तध रोसेण' तथा रोषेण स्वय पूर्वं दह्यते द्रवीकृतलोहसस्थानीयेन । अन्यस्य पुनर्दुःख कुर्यान्न वा रुष्ट ॥१३५७॥

णासेदूण कसाय अग्गी णस्सदि सय जधा पच्छा ।
णासेदूण तध णर णिरासवो णस्सदे कोधो ॥१३५८॥

कोधो सत्तुगुणकरो णीयाण अप्पणो य मण्णुकरो ।
परिभवकरो सवासे रोसो णासेदि णरमवस ॥१३५९॥

'रोसो सत्तुगुणकरो' रोष शत्रोर्यो गुणो धर्मोऽपकारित्व नाम त करोति । अथवा शत्रूणा गुणमुपकार करोति रोष । यतोऽस्य हि रोषदहनेन दह्यमान त दृष्ट्वा ते तुष्यन्ति । कथमस्य रोषमुत्पादयाम इत्येव-मादृतास्ते सदापीति । 'णीयाण अप्पणो वा' बान्धवाना आत्मनश्च शोक करोति । 'परिभवकरो सवासे' स्वनिवासस्थाने परिभवमानयति । 'रोसो णासेदि णरमवस' रोषो नरमवश नाशयति ॥१३५९॥

ण गुणे पेच्छदि अववददि गुणे जंपदि अजंपिदव्वं च ।
रोसेण रुद्दहिदओ णारगसीलो णरो होदि ॥१३६०॥

'ण गुणे पेच्छदि' गुण न पश्यति, यस्मै कुप्यति । 'अववदति' निन्दति । 'गुणे' गुणानपि तदीयान् । 'जंपदि अजंपिदव्व च' वदत्यवाच्यमपि । 'रोसेण रुद्दहिदओ' रोषेण रौद्रचित्तः । 'णारगसीलो णरो हवदि' नारकशीलो भवति नर ॥१३६०॥

गा०—उसी प्रकार पिघले हुए लोहेकी तरह क्रोधसे पहले वह स्वय जलता है। दूसरेको वह दुखी करे या न करे ॥१३५७॥

गा०—जैसे आग ईंधनको नष्ट करके पीछे स्वय बुझ जाती है उसी प्रकार क्रोध पहले क्रोधी मनुष्यको नष्ट करके पीछे निराधार होनेसे स्वय नष्ट हो जाता है ॥१३५८॥

गा०-टी०—क्रोध शत्रुका जो धर्म है अपकार करना, उसे करता है अथवा क्रोध शत्रुका उपकार करता है क्योंकि उसे क्रोधकी आगमें जलते हुए देखकर शत्रु प्रसन्न होते हैं। वे सदा इस प्रयत्नमें रहते हैं कि कैसे इसे क्रोध उत्पन्न करे। क्रोध अपने और बन्धु बान्धवोंको शोकमें डालता है। अपने ही घरमें अपना तिरस्कार कराता है। परवश मनुष्यका नाश करता है ॥१३५९॥

गा०—क्रोधी जिसपर क्रोध करता है उसके गुणोंको नहीं देखता। उसके गुणोंकी भी निन्दा करता है। जो कहने योग्य नहीं है वह भी कहता है इस प्रकार क्रोधसे रौद्र हृदय मनुष्य-का स्वभाव नारकी जैसा होता है ॥१३६०॥

जध करिसयस्स धण्ण वरिसेण समज्जिद खल पत्त ।
डहदि फुलिंगो दित्तो तध कोहग्गी समणसारं ॥१३६१॥

'जह करिसगस्स' यथा कर्षकस्य धान्य वर्षेण समार्जित खलप्राप्तं दहति विस्फुलिङ्गो दीप्तस्तथा क्रोधाग्निर्दहति श्रमणस्य सार पुण्यपण्य ॥१३६१॥

जध उग्गविसो उरगो दब्भतणंकुरहदो पकुप्पतो ।
अचिरेण होदि अविसो तध होदि जदी वि णिस्सारो ॥१३६२॥

'जह उग्गविसो उरगो' यथोग्रविष उरगो । दर्भतृणाङ्कुरहते तत्प्रकृष्टरोषवशमुपनयन् स्पष्ट तृणादिक भक्षयित्वा झटिति निर्विषो भवति । तथा यतिरपि निस्सारो भवत्यचिरेण रत्नत्रयविनाशात् ॥१३६२॥

पुरिसो मक्कडसरिसो होदि सरूवो वि रोसहदरूवो ।
होदि य रोसणिमित्त जम्मसहस्सेसु य दुरूवो ॥१३६३॥

'पुरिसो मक्कडसरिसो' पुरुषो मर्कटसदृशो भवति सुरूपोऽपि सन् रोषापहृतरूप । इह जन्मनि दोषानुपदर्श्य पारभविकमाचष्टे—'होदि' भवति । जन्मसहस्रेषु दुरूप एकभवकृतात्कोपात् ॥१३६३॥

सुट्ठु वि पिओ मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण[1] ।
पधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण ॥१३६४॥

'सुट्ठुवि' नितरामपि । जनस्य प्रियो मुहूर्तमात्रेणैव द्वेष्यो भवति रोषेण प्रथितमपि यशो नश्यति । कस्य ? 'कुद्धस्य अकज्जकरणेन' क्रुद्धस्य अकार्यकरणेन ॥१३६४॥

णीयल्लगो वि रुट्ठो कुणदि अणीयल्ल एव सत्तू वा ।
मारेदि तेहिं मारिज्जदि वा मारेदि अप्पाण ॥१३६५॥

गा०—जैसे चिनगारी एक वर्षके श्रमसे प्राप्त खलिहानमें आये किसानके धान्यको जला देती है उसी प्रकार क्रोधरूपी आग श्रमणके जीवन भरमें उपार्जित पुण्य धनको जला देती है ॥१३६१॥

गा०—जैसे उग्र विषवाले सर्पको घासके एक तिनकेसे मारने पर वह अत्यन्त रोषमें आकर उस तिनके पर अपना विष वमन करके तत्काल विष रहित हो जाता है उसी प्रकार यति भी क्रोध करके अपने रत्नत्रयका विनाश करता है और शीघ्र ही निस्सार हो जाता है ॥१३६२॥

गा०—सुन्दर सुरूप पुरुष भी क्रोधसे रूपके नष्ट हो जाने पर बन्दरके समान लाल मुखवाला विरूप हो जाता है। इस जन्ममें क्रोधके दोष दिखलाकर परलोकमें दिखलाते हैं एक भवमें क्रोध करनेसे हजारों जन्मोंमें कुरूप होना है ॥१३६३॥

गा०—क्रोध करनेसे अत्यन्त प्रिय व्यक्ति भी मुहूर्त-मात्रमें ही द्वेषका पात्र होता है। तथा क्रोधी मनुष्यके अनुचित काम करनेसे उसका फैला हुआ यश भी नष्ट हो जाता है ॥१३६४॥

---

१ वि कुद्धो आ० मु०।

'गोमल्लो वि 'रुट्ठो' बन्धुरपि बन्धूकरोति शत्रुवत् । हन्ति बान्धवान् । मार्यते वा स्वयं तैरात्मान वा हन्यात् ॥१३६५॥

पुज्जो वि णरो अवमाणिज्जदि कोवेण तक्खणे चेव ।
जगविस्सुद वि णस्सदि माहप्पं कोहवसियस्स ॥१३६६॥

'पुज्जो वि' पूज्योऽपि नरो अवमन्यते रोषेण । तत्क्षण एव नश्यति विश्रुतमपि माहात्म्य नश्यति रोषिण ॥१३६६॥

हिंस अलिय चोज्ज आचरादि जणस्स रोसदोसेण ।
तो ते सव्वे हिंसालिया[2]दि दोसा भवे तस्स ॥१३६७॥

'हिंस अलिय चोज्ज' हिंसामसत्यं चौर्यं चाचरति जनस्य रोषदोषेण । तस्मात्तस्य हिंसादिप्रभवा दोषा भवे भविष्यन्ति ॥१३६७॥

बारवदीय असेसा दड्ढा दीवायणेण रोसेण ।
बद्धं च तेण पाव दुग्गदिभयवधणं घोरं ॥१३६८॥

'बारवती' द्वारवती । निरवशेषा दग्धा रुष्टेन द्वीपायनेन । घोर च पाप बद्ध दुर्गतिभयप्रवृत्तिनिमित्त । 'कोपुत्ति गद' ॥१३६८॥

मानदोषप्रकटनार्थं प्रबन्ध उत्तर —

कुलरूवाणाबलसुदलाभस्सरयत्थमदितवादीहि ।
अप्पाणमुण्णमतो नीचागोदं कुणदि कम्मं ॥१३६९॥

'कुलरूवाणा' कुलेन रूपेण आज्ञया, बलेन, श्रुतेन, लाभेन, ऐश्वर्येण मत्या तपसाऽन्यैश्च आत्मानमुत्कर्षयन्नीचैर्गोत्र कर्म बध्नाति ॥१३६९॥

गा०—क्रोधी मनुष्य अपने निकट सम्बन्धियोको भी असम्बन्धी अथवा शत्रु बना लेता है। उनको मारता है या उनके द्वारा मारा जाता है अथवा स्वयं मर जाता है ॥१३६५॥

गा०—पूजनीय मनुष्य भी क्रोध करनेसे तत्काल अपमानित होता है। क्रोधीका जगत्‌मे प्रसिद्ध भी माहात्म्य नष्ट हो जाता है ॥१३६६॥

गा०—क्रोधके कारण मनुष्य लोगोकी हिंसा करता है, उनके सम्बन्धमे झूठ बोलता है, चोरी करता है। अत उसमे हिंसा झूठ आदि सब दोष होते हैं ॥१३६७॥

गा०—दीपायन मुनिने क्रोधसे समस्त द्वारका नगरी भस्म कर दी। और दुर्गतिमे ले जाने वाले घोर पापका बन्ध किया ॥१३६८॥

क्रोध का कथन समाप्त हुआ।

आगे मानके दोष कहते है—

गा०—कुल, रूप, आज्ञा, बल, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य, तप तथा अन्य बातोमे अपनेको बडा

---

१. विरुद्धो आ० । २ लियचोज्ज समुब्भवा दोसा–मु० ।

दट्ठूण अप्पणादो हीणे मुक्खाउ विंति माणकलिं ।
दट्ठूण अप्पणादो अधिए माणं णयंति बुधा ॥१३७०॥

'दट्ठूण अप्पणादो' आत्मनो हीनान् दृष्ट्वा मूर्खा मानकलिं उद्वहन्ति । बुधा पुनरात्मनोऽधिकान्बुद्धयावलोक्य मानं निरस्यन्ति ॥१३७०॥

माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलहभयवेरदुक्खाणि ।
पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अवमाणं ॥१३७१॥

'माणी विस्सो सव्वस्स' मानी सर्वस्य द्वेष्यो भवति । कलहं, भयं, वैरं, जन्मान्तरानुगं दुःखं च प्राप्नोति । नियोगतः इह परत्र चावमानं ॥१३७१॥

सव्वे वि कोहदोसा माणकसायस्स होदि णादव्वा ।
माणेण चेव मेघुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥१३७२॥

'सव्वे वि कोधदोसा' क्रोधस्य वर्णिता दोषा । 'न गुणे पिच्छदि' इत्येवमादिसूत्रेण ते सर्वे मानकषायस्यापि ज्ञातव्या । मानेन मैथुने चौर्ये हिंसायामसत्याभिधाने च प्रयतते ॥१३७२॥

सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए ।
णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि ॥१३७३॥

'सयणस्स' मानरहितः स्वजनस्य परजनस्य च सदा प्रियो जनो भवति । 'लोए' लोके । 'णाणं' ज्ञानं । 'जसं' यशः, 'अत्थं' द्रविणं लभते स्वं कार्यमन्यदपि साधयति ॥१३७३॥

ण य परिहायदि कोई अत्थे मउगत्तणे पउत्तम्मि ।
इह य परत्त य लब्भदि विणएण हु सव्वकल्लाणं ॥१३७४॥

'ण य परिहायदि' मार्दवे प्रयुक्ते नैव कश्चिदर्थो हीयते येनार्थहानिभयात् मानं कुर्यात् । मार्दवे तु प्रयुक्ते इह जन्मान्तरे च लभ्यते विनयेनैव सर्वकल्याणं ॥१३७४॥

माननेवाला, उनका अहंकार करनेवाला नीच गोत्र नामक कर्मका बन्ध करता है ॥१३६९॥

गा०—अपनेमें हीन व्यक्तियोंको देखकर मूर्ख लोग मान करते हैं। किन्तु विद्वान् अपनेमें बड़ोंको देखकर मान दूर करते हैं ॥१३७०॥

गा०—मानीसे सब द्वेष करते हैं। वह कलह, भय, वैर और दुःखका पात्र होता है तथा इस लोक और परलोकमें नियमसे अपमानका पात्र होता है ॥१३७१॥

गा०—पहले जो क्रोधके दोष कहे हैं वे सब दोष मानकषायके भी जानना। मानसे मनुष्य हिंसा, असत्य बोलना, चोरी और मैथुनमें प्रवृत्ति करता है ॥१३७२॥

गा०—मान रहित व्यक्ति जगत्में स्वजन और परजन सदा सबका प्रिय होता है। वह ज्ञान, यश और धन प्राप्त करता है तथा अन्य भी अपने कार्यको सिद्ध करता है ॥१३७३॥

गा०—मार्दव युक्त व्यवहार करने पर कोई धनहानि नहीं होती जिससे धनहानिके भयसे मनुष्य मान करे। विनयसे इस जन्ममें और जन्मान्तरमें सर्व कल्याण प्राप्त होते हैं ॥१३७४॥

सट्ठिं साहस्सीओ पुत्ता सगरस्स रायसीहस्स ।
अदिबलवेगा संता णट्ठा माणस्स दोसेण ॥१३७५॥

'सट्ठि साहस्सीओ' सगरस्य राजसिंहस्य चक्रिणः षष्टिसहस्रसंख्याः पुत्रा महाबला विनष्टा मानदोषेण ॥१३७५॥ मानं निगद ।

मायादोषनिरूपणायोत्तरगाथा—

जघ कोडिसमिद्धो वि ससल्लो ण लभदि सरीरणिव्वाणं ।
मायासल्लेण तहा ण णिव्वुदिं तवसमिद्धो वि ॥१३७६॥

'जघ कोडिसमिद्धो वि' यथा कोटिसमृद्धोऽपि शरीरानुप्रविष्टशल्यो न शरीरसुखं लभते । तथा मायाशल्येन न निर्वृतिं लभते तपःसमृद्धोऽपि ॥१३७६॥

होदि य वेस्सो अप्पच्चइदो तध अवमदो य सुजणस्स ।
होदि अचिरेण सत्तू णीयाणवि णियडिदोसेण ॥१३७७॥

'होदि य वेस्सो' द्वेष्यो भवत्यप्रत्ययितः तथा सुजनस्यावमतः । बान्धवानामपि शत्रुरचिरेण भवति मायादोषेण ॥१३७७॥

पावइ दोसं मायाए महल्लं लहु सगावराधेवि ।
सच्चाण सहस्साणि वि माया एक्का वि णासेदि ॥१३७८॥

'पावदि दोसं' प्राप्नोति दोषं महान्तं स्वल्पापराधोऽपि मायया । एकापि माया सत्यसहस्राणि नाशयति । महादोषप्रापणं सत्यसहस्रविनाशनं च मायादोषो ॥१३७८॥

मायाए मित्तभेदे कदम्मि इधलोगिगच्छपरिहाणी ।
णासदि मायादोसा विसजुदुद्दुद्ध व सामण्णं ॥१३७९॥

गा०—सगर चक्रवर्तीके साठ हजार पुत्र महाबलशाली होते हुए भी मान दोषके कारण मृत्युको प्राप्त हुए ॥१३७५॥

मानके दोषोंका वर्णन पूर्ण हुआ ।

आगे मायाके दोष कहते हैं—

गा०—जैसे एक कोटी धनका स्वामी होने पर भी यदि शरीरमें कीलकाँटा घुसा हो तो शारीरिक सुख नहीं मिलता । उसी प्रकार तपसे समृद्ध होने पर भी यदि अन्तरमें मायारूपी शल्य घुसा है तो मोक्ष लाभ नहीं हो सकता ॥१३७६॥

गा०—माया दोषसे मनुष्य सबके द्वेषका पात्र होता है उसका कोई विश्वास नहीं करता। सुजन भी उसका अपमान करते हैं । वह शीघ्र ही अपने बन्धु-बान्धवोंका भी शत्रु बन जाता है ॥१३७७॥

गा०—अपने द्वारा थोड़ा सा अपराध होने पर भी मायाचारी महान् दोषका भागी बनता है । एक बारका भी मायाचार हजारों सत्योंको नष्ट कर देता है इस प्रकार महादोषका भागी होना और हजार सत्योंका विनाश ये मायाके दोष हैं ॥१३७८॥

'मायाए' मायया । 'मित्तभेदे' मैत्र्या विनाशे कृते । 'इह लोगिगच्छपरिहाणी' ऐहलौकिककार्यविनाश । 'णासदि सामण्ण' नश्यति श्रामण्य । 'मायादोसा' मायाख्य दोषाद्धेतो । 'विसजुददुद्ध व' विषयुतदुग्धमिव । मित्रकार्यविनाश श्रामण्यहानिश्च मायाजनितदोषौ ॥१३७९॥

माया करेदि णीचागोद इत्थी णवुंसय तिरियं ।
मायादोसेण य भवसएसु डंभिज्जदे बहुसो ॥१३८०॥

'माया करेदि णीचागोद' माया करोति नीचैर्गोत्र कर्म । नीचैर्वा गोत्रमस्य जन्मान्तरे । 'इत्थी णवुसय-तिरिय' स्त्रीवेद, नपुसकवेद तिर्यग्गति च नामकर्म करोति । अथवा स्त्रीत्व, नपुसकत्व, तिर्यक्त्व वा । 'मायादोसेण' मायासज्जनितेन दोषेण । 'भवसदेसु' जन्मशतेषु । 'डंभिज्जदि' वच्यते । 'बहुसो' बहुश ॥१३८०॥

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा ।
कोहमदलोहदोसा सव्वे मायाए ते होंति ॥१३८१॥

'कोधो माणो' क्रोधमानलोभास्तत्र जीवे सन्निहिता यत्र स्थिता माया । क्रोधमानलोभजन्या दोषा सर्वेऽपि मायावतो भवन्ति ॥१३८१॥

सस्सो य भरघगामस्स सत्तसवच्छराणि णिस्सेसो ।
दड्ढो डंभणदोसेण कुंभकारेण रुट्ठेण ॥१३८२॥

'सस्सो' सस्य । 'भरधगामस्स' भरतनामधेयग्रामस्य । 'सत्तसवच्छराणि' वर्षसप्तक । 'णिस्सेसो दड्ढो' निरवशेष दग्ध । 'डंभणदोसेण' मायादोषेण हेतुना । 'रुट्ठेण [illegible]भकारेण' रुष्टेन कुम्भकारेण ॥१३८२॥
मायागिता ।

लोभदोषानाचष्टे—

लोभेणासाघत्तो पावइ दोसे बहुं कुणदि पावं ।
णीए अप्पाणं वा लोभेण णरो ण विगणेदि ॥१३८३॥

गा०—मायाचारसे मित्रता नष्ट हो जाती है और उससे इस लोक सम्बन्धी कार्योंका विनाश होता है। तथा मायादोषसे विष मिश्रित दूधकी तरह मुनि धर्म नष्ट हो जाता है। इस प्रकार मित्रता और कार्यका नाश तथा मुनि धर्मकी हानि ये मायाके दोष हैं ॥१३७९॥

गा०–टी०—मायासे नीच गोत्र नामक कर्मका बन्ध होता है, जिससे दूसरे जन्ममें नीच कुलमें जन्म होता है। तथा स्त्रीवेद, नपुसकवेद और तिर्यञ्चगति नाम कर्मका बन्ध करती है। अथवा मायासे स्त्रीपना, नपुसकपना और तिर्यञ्चपना प्राप्त होता है। मायासे उत्पन्न हुए दोषसे सैकडों जन्मोंमें बहुत बार ठगाया जाता है अर्थात् किसीको एक बार ठगनेसे बार-बार ठगा जाता है ॥१३८०॥

गा०—जहाँ मायाचार है वहाँ क्रोध, मान लोभ भी रहते हैं। क्रोध मान और लोभसे उत्पन्न होने वाले सब दोष मायाचारीमें होते हैं ॥१३८१॥

गा०—मायाचारके दोषसे रुष्ट हुए कुम्भकारने भरत नामक गाँवका धान्य सात वर्ष तक पूर्ण रूपसे जलाया था ॥१३८२॥

---

१ मायासजनितेन–मु० ।

'लोभेण' लोभेन हेतुना । **'आसाधत्तो'** ममेदमविष्यमीत्याशया ग्रस्त । **'पावदि दोसे'** प्राप्नोति दोपान् । **बहु कुणदि पाव'** पाप च बहु करोत्याशावान् । **'णोए'** बान्धवान् । **'अप्पाण वा'** आत्मान वा । **'लोभेण'** लोभेन । **णरो ण विगणेदि'** न विगणयति । बान्धवानपि बाधते स्वशरीरश्रम च नापेक्षते इति यावत् ॥१३८३॥

वस्तुन सारासारतया न कश्चित् कर्मबन्धातिशय येन केनचिद्द्रव्येण जनिता मूर्च्छा कर्मबन्धे निमित्त आत्मा शुभपरिणामनिमित्तत्वादिति मत्वा सूरिराचष्टे—

लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदरत्थ किं वच्च ।
लगिदमउडादिसंगस्स वि हु ण पाव अलोहस्स ॥१३८४॥

'लोभो तणो वि जादो' लोभस्तृणेऽपि जातो । **'जणेदि पाव'** जनयति पाप । **'इदरत्थ'** इतरत्र सारवति वस्तुनि । **'किं वच्च'** किं वाच्य । **'लगिदमगुडादिसंगस्स वि'** स्वशरीरविलग्नमुकुटादिपरिग्रहस्यापि न पाप भवति । **'अलोहस्स'** लोभकपायवर्जितस्य मुकुटादे सारद्रव्यस्यापि प्रत्यासत्तिर्न बन्धायेति मन्यते ॥१३८४॥

साकेदपुरे सीमधरस्स पुत्तो मियद्धओ नाम ।
भद्दयमहिसनिमित्तं जुवराय्या केवली जादो ॥१३८५॥

तृप्तिमापादयति द्रव्यमिति योऽत्रास्यानुराग स नास्ति द्रव्यत इत्याचष्टे—

विशेषार्थ—इसकी कथा वृ० क० को० मे १२० नम्बर पर है उसमे गाँवका नाम भरण दिया है ॥१३८२॥

लोभके दोप कहते है—

गा०—लोभसे मनुष्य 'यह वस्तु मेरी होगी' इस आशासे ग्रस्त होकर बहुत दोप करता है, बहुत पाप करता है । लोभसे अपने कुटुम्बियोकी और अपनी भी चिन्ता नही करता । उन्हे भी कष्ट देता है और अपने शरीरको भी कष्ट देता है ॥१३८३॥

वस्तुके सारवान या असार होनेसे कर्मबन्धमे कोई विशेपता नही होती । जिसमे किसी द्रव्यमे उत्पन्न हुआ ममत्व भाव कर्मबधमे निमित्त होता है क्योकि वह ममत्व भाव आत्माके अशुभ परिणाममे निमित्त होता है, ऐसा मानकर आचार्य कहते हैं—

गा०—तृणमे भी हुआ लोभ पापको उत्पन्न करता है तब सारवान् वस्तुमे हुए लोभका तो कहना ही क्या है ? जो लोभकपायसे रहित है उसके शरीरपर मुकुट आदि परिग्रह होनेपर भी पाप नही होता । अर्थात् सारवान् द्रव्यका सम्बन्ध भी लोभके अभावमे बन्धका कारण नही है ॥१३८४॥

गा०—साकेत नगरीमे सीमन्धरका पुत्र मृगध्वज नामक था । वह भद्रक नामक भैंसेके निमित्तसे केवली हुआ ॥१३८५॥

विशेषार्थ—वृ क को मे मृगध्वजकी कथा १२१ नम्बर पर है ।

'द्रव्य तृप्ति देता है' इस भावनासे मनुष्यका द्रव्यमे जो अनुराग है वह नही होनेसे बन्ध नही होता, यह कहते हैं—

---

१ रइदम-अ० आ० ।

तेलोक्केण वि चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि लोभघत्थस्स ।
संतुट्ठो हु अलोभो लभदि दरिद्दो वि णिव्वाणं ॥१३८६॥

'तेलोक्केण वि' त्रैलोक्येनापि । 'चित्तस्स णिव्वुदो णत्थि' चित्तस्य निवृत्तिर्नास्ति । 'लोभघत्थस्स' लोभग्रस्तस्य । 'संतुट्ठो' सन्तुष्टः लब्धेन केनचिद्वस्तुना शरीरस्थितिहेतुभूतेन । 'अलोभो' द्रव्यगतमूर्च्छारहितः । 'लभदि' लभते । 'दरिद्दो वि' दरिद्रोऽपि । 'णिव्वाणं' निर्वाणं । सन्तोषायत्ता चित्तनिवृतिर्न द्रव्यायत्ता, सत्यपि द्रव्ये महति असन्तुष्टस्य हृदये महति दुःखासिका ॥१३८६॥

सव्वे वि गथदोसा लोभकसायस्स हुंति णादव्वा ।
लोभेण चेव मेहुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥१३८७॥

'सव्वे वि गथदोसा' सर्वेऽपि परिग्रहस्य ये दोषाः पूर्वमाख्यातास्ते सर्वेऽपि । 'लोभकसायस्स' लोभकषायवतः लोभः कषायोऽस्येति लोभकषाय इति गृहीतत्वात् । अथवा लोभसंज्ञितस्य कषायस्य दोषा इति सम्बन्धनीयं । 'लोभेण चेव' लोभेन चव । मैथुन, हिंसा, अलीक, चौर्य चाचरति । तत सावद्यक्रियाया सर्वस्या आदिमान् लोभ ॥१३८७॥

रामस्स जामदग्गिस्स वज्जं घित्तूण कत्तविरिओ वि ।
णिधणं पत्तो सकुलो ससाहणो लोभदोसेण ॥१३८८॥

'रामस्स' रामस्य । 'जामदग्गिस्स' जामदग्न्यस्य । 'वज्र' वज्र । 'घित्तूण' गृहीत्वा । 'कत्तविरिओ वि' कार्तवीर्योऽपि । 'णिधण पत्तो' निधन प्राप्त 'सकुलो' सबन्धुवर्ग । 'ससाहणो' सबल । 'लोभदोसेण' लोभदोषेण ॥१३८८॥ लोभ ।

ण हि त कुणिज्ज सत्तू अग्गी वग्घो व कण्हसप्पो वा ।
जं कुणइ महादोसं णिव्वुदिविग्घं कसायरिवू ॥१३८९॥

स्पष्टा ॥१३८९॥

गा०—टी०—जो लोभमें ग्रस्त हैं उसके चित्तको तीनो लोक प्राप्त करके भी सन्तोष नहीं होता। और जो शरीरकी स्थितिमें कारण किसी भी वस्तुको पाकर सन्तुष्ट रहता है जिसे वस्तुमें ममत्वभाव नहीं है वह दरिद्र होते हुए भी सुख प्राप्त करता है। अत चित्तकी शान्ति सन्तोषके अधीन है, द्रव्यके अधीन नहीं है। महान् द्रव्य होते हुए भी जो असन्तुष्ट है उसके हृदयमें महान् दुःख रहता है ॥१३८६॥

गा०—पूर्वमें परिग्रहके जो दोष कहे हैं वे सब दोष लोभकषायवालेके अथवा लोभ नामक कषायके जानना। लोभसे ही मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी और मैथुन करता है। अत समस्त पाप-क्रियाओंका प्रथम कारण लोभ है ॥१३८७॥

गा०——जमदग्निके पुत्र परशुरामकी गायोंको ग्रहणकर लेनेके कारण राजा कार्तवीर्य लोभदोषसे समस्त परिवार और सेनाके साथ मृत्युको प्राप्त हुआ। परशुरामने सबको मार डाला ॥१३८८॥

विशेषार्थ—बृ क को मे कार्तवीर्यकी कथा १०२ नम्बर पर है।

उत्तरगाथा—

इंदियकसायदुद्दंतस्सा पाडेंति दोसविसमेसु ।
दुःखावहेसु पुरिसे पसढिलणिव्वेदखलिया हु ॥१३९०॥

'इंदियक्सायदुद्दंतस्सा' इन्द्रियकषायदुर्दान्तास्वा । 'पाडेंति' पातयन्ति । 'दोसविसमेसु' पापविषमस्थानेषु । दुक्खावहेसु' दुःखावहेषु । 'पुरिसे' पुरुषान् । 'पसढिलणिव्वेदखलिआ' प्रशिथिलनिर्वेदखलिना ॥१३९०॥

इंदियकसायदुद्दंतस्सा णिव्वेदखणिलिद्धा संता ।
ज्झाणकसाए भीदा ण दोसविसमेसु पाडेंति ॥१३९१॥

'इंदियक्सायदुद्दंतस्सा' इन्द्रियकषायदुर्दान्ततुरङ्गा वैराग्यखलीननियमिता सन्त ध्यानकशाभीता न दोषविषमेषु पातयन्ति ॥१३९१॥

इंदियकसायपण्णगदट्ठा वहुवेदणुद्दिदा पुरिसा ।
पब्भट्टज्झाणसुक्खा संजमजीयं पविजहंति ॥१३९२॥

इन्द्रियकषायपन्नगदष्टा, बहुवेदनाबष्टब्धा पुमांस प्रभ्रष्टध्यानसुखा संयमजीवं परित्यजन्ति ॥१३९२॥

ज्झाणागदेहिं इंदियकसायभुजगा विरागमंतेहिं ।
णियमिज्जंता संजमजीयं साहुस्स ण हरंति ॥१३९३॥

ध्यानागदैरिन्द्रियकषायभुजगा वैराग्यमन्त्रैर्नियम्यमाणा साधो संयमजीवितं न हरन्ति ॥१३९३॥

सुमरणपुंखा चिंतावेगा विसयविसलित्तरइधारा ।
मणधणुमुक्का इंदियकंडा विंधंति पुरिसमयं ॥१३९४॥

गा०—शत्रु, आग, व्याघ्र और कृष्ण सर्प भी वह बुराई नहीं करता जो बुराई कषायरूपी शत्रु करता है। वह कषायरूप शत्रु मोक्षमें बाधारूप महादोषका कारण है ॥१३८९॥

गा०—इन्द्रिय कषायरूपी घोडे दुर्दमनीय हैं इनको वशमें करना बहुत कठिन है। वैराग्यरूपी लगामसे ही ये वशमें होते हैं। किन्तु उस लगामके ढीले होनेपर वे पुरुषको दुःखदायी पापरूपी विषम स्थानोंमें गिरा देते हैं ॥१३९०॥

गा०—किन्तु इन्द्रिय कषायरूपी दुर्दमनीय घोडे जब वैराग्यरूपी लगामसे नियमित होते हैं और ध्यानरूपी कोडेसे भयभीत रहते हैं तो विषम पापस्थानमें नहीं गिराते ॥१३९१॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपी सर्पोंने डसे हुए मनुष्य बहुत कष्टसे पीडित होकर, उत्तमध्यानरूपी सुखसे भ्रष्ट हो, संयमरूपी जीवनको त्याग देते हैं ॥१३९२॥

गा०—किन्तु इन्द्रिय और कषायरूपी सर्प सम्यग्ध्यानरूपी सिद्ध औषधि और वैराग्यरूपी मन्त्रोंसे वशमें होनेपर साधुके संयमरूपी जीवनको नहीं हरते ॥१३९३॥

'सुमरणपुंखा' स्मरणपुंखा 'चिंतावेगा' विषयविषेणालिप्ता रतिधारा येषां ते मनोधनुर्मुक्ता इन्द्रिय-बाणा पुरुषमृगं घातयन्ति ॥१३९४॥

तान्वाणान्पुरुषमृगहननोद्यतान्यतय एव वारयन्तीति कथयति—

धिदिखेडएहिं इंदियकंडे ज्झाणवरसत्तिसंजुत्ता ।
'वारंति समणजोहा सुणाणदिट्ठीहिं दट्ठूण ॥१३९५॥

'धिदिखेडएहिं' धृतिखेटैः इन्द्रियशरान्वारयन्ति ध्यानसत्त्वसमन्विताः । 'समणजोहा' श्रमणयोधाः सम्यग्ज्ञानदृष्ट्या दृष्ट्वा ॥१३९५॥

गयाडवीचरंत कसायविसकंटया पमायमुहा ।
विद्धंति विसयतिक्खा अधिदिदढोवाणहं पुरिसं ॥१३९६॥

'गयाडवीचरत' परिग्रहवने चरन्त कषायविषकंटकाः प्रमादमुखा विध्यन्ति विषयैस्तीक्ष्णा धृतिदृढोपान-द्रहितं पुरुषं ॥१३९६॥

सयतस्य पुनरेवंपरिकरस्य कषायविषकंटकाः किञ्चिदपि न कुर्वन्ति इत्याचष्टे सूरिः—

आइद्धधिदिदढोवाणहस्स उवओगदिट्ठिजुत्तस्स । 94696.
ण करिंति किंचि दुक्खं कसायविसकंटया मुणिणो ॥१३९७॥

'आवद्धधिदिदढोवाणहस्स' आबद्धधृतिदृढोपानत्कस्य ज्ञानोपयोगसहितदृष्टेर्मुनेः स्वल्पमपि दुःखं न कुर्वन्ति कषायविषकंटकाः ॥१३९७॥

गा०—इन्द्रियाँ बाणके समान पुरुषरूपी हिरनको बींधती है। बाणमें पुंख होते हैं। भोगे हुए भोगोंका स्मरण इनका पुंख है। भोगोंकी चिन्ता इनका वेग है। रति इनकी धारा-गति है जो विषयरूपी विषसे लिप्त है। ये इन्द्रियरूप बाण मनरूपी धनुषके द्वारा छोड़े जाते हैं ॥१३९४॥

आगे कहते हैं कि पुरुषरूप मृगोंका घात करनेमें तत्पर उन बाणोंको सयमीजन ही निवारण करते हैं—

गा०—ध्यानरूपी श्रेष्ठ शक्तिसे युक्त श्रमण योद्धा सम्यग्ज्ञानरूप दृष्टिसे देखकर धैर्यरूप फलकके द्वारा इन्द्रियरूप बाणोंका वारण करते हैं ॥१३९५॥

गा०—परिग्रहरूपी घोर वनमें कषायरूपी विषैले कॉटे फैले हैं। प्रमाद उनका मुख है और विषयोंकी चाहसे वे तीक्ष्ण हैं। धैर्यरूपी दृढ जूतेको धारण किये विना जो उस वनमें विचरण करता है, उसे वे कॉटे बींध देते हैं ॥१३९६॥

आगे कहते हैं इस प्रकारके धैर्यरूपी जूता धारण करनेवाले सयमीका वे कषायरूप विषैले कांटे कुछ भी नहीं करते—

गा०—जिस मुनिने धैर्यरूपी दृढ जूता धारण किया है और जो सम्यग्ज्ञानोपयोग दृष्टिसे सम्पन्न है उसको वे कषायरूपी विषैले कॉटे कुछ भी दुःख नहीं देते ॥१३९७॥

१ फेंडन्ति—मु० मूलारा०।

उड्डहणा अदिचवला अणिग्गहिदकसायमक्कडा पावा ।
गंथफललोलहिदया णासंति हु संजमाराम ॥१३९८॥

'उड्डहणा' असंयता अतिचपला अनिगृहीता कषायमर्कटा, परिग्रहफलासक्तहृदया नाशयन्ति संयमाराम ॥१३९८॥

णिच्च पि अमज्झत्थे तिकालदोसाणुसरणपरिहत्थे ।
संजमरज्जूहिं जदी बंधति कसायमक्कडए ॥१३९९॥

णिच्च पि' नित्यमपि अमाध्यस्थान् त्रिकालविषयदोषानुसरणपटून्, कषायमर्कटान्यतय संयमरज्जूभिर्बध्नन्ति ॥१३९९॥

धिदिवम्मिएहिं उवसमसरेहिं साधूहिं णाणसत्थेहिं ।
इंदियकसायसत्तू सक्का जुत्तेहि जेदु जे ॥१४००॥

धिदिवम्मिएहिं' धृतिसन्नद्धैं, उपशमशरैः साधुभिर्ज्ञानशस्त्रैरुपयुक्तैरिन्द्रियकषायशत्रवो जेतु शक्या ॥१४००॥

इंदियकसायचोरा सुभावणासंकलाहि वज्झंति ।
ता ते ण विकुव्वंति चोरा जह संकलाबद्धा ॥१४०१॥

'इंदियकसायचोरा' इन्द्रियकषायचोरा शुभध्यानभावश्रृंखलाभिर्बध्यन्ते । बन्धस्तास्ते न विकार कुर्वन्ति शृङ्खलाबद्धचोरा इव ॥१४०१॥

इंदियकसायवग्घा संजमणरघादणे अदिपसत्ता ।
वेरग्गलोहदढपंजरेहि सक्का हु णियमेदु ॥१४०२॥

'इंदियकसायवग्घा' इन्द्रियकषायव्याघ्रा संयमनरभक्षणे अत्यासक्ता वैराग्यलोहदृढपञ्जरैः नियन्तु शक्या ॥१४०२॥

गा०—ये कषायरूपी वन्दर असंयत हैं अतिचपल हैं, पापी हैं, इनका हृदय परिग्रहरूपी फलमें आसक्त है। इनका यदि निग्रह नहीं किया तो ये संयमरूपी उद्यानका विनाश कर देते हैं ॥१३९८॥

गा०—ये कषायरूपी वन्दर, निरन्तर चपल हैं, त्रिकालवर्ती दोषोंका अनुसरण करनेमें चतुर हैं। इन्हें संयमी संयमरूपी रस्सीसे बाँधता है ॥१३९९॥

गा०—सन्तोषरूपी कवच, उपशमरूपी बाण और ज्ञानरूपी शस्त्रोंसे सहित साधुओंके द्वारा वे इन्द्रिय और कषायरूप शत्रु जीते जा सकते हैं ॥१४००॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपी चोर शुभध्यानरूप भावोंकी साकलसे बाँधे जाते हैं। बाँधे जानेपर वे साकलसे बँधे चोरोंकी तरह विकार नहीं करते ॥१४०१॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपी व्याघ्र संयमरूपी मनुष्यको खानेके बड़े प्रेमी होते हैं। इन्हें वैराग्यरूपी लोहेके मजबूत पींजरेमें रोका जा सकता है ॥१४०२॥

इंदियकसायहत्थी वयवारिमेहीणिदा उवायेण।
विणयवरत्तावद्धा सक्का अवसा वसे कादु ॥१४०३॥

'इ दियकसायहत्थी' इन्द्रियकषायहस्तिन उपायेन व्रतवारीमुपनीता विनयवरत्रावद्धा अवशा अपि शक्या वशे नेतु ॥१४०३॥

इ दियकसायहत्थी वोलेदु सीलफलियमिच्छंता।
धीरेहि रुंभिदव्वा धिदिजमलारुप्पहारेहिं ॥१४०४॥

इन्द्रियकषायहस्तिन शीलपरिघालङ्घनैषिणा रोद्धव्या धीरैर्धृतिकर्णतोदप्रहरैः ॥१४०४॥

इ दियकसायहत्थी दुस्सीलवणं जदा अहिलसेज्ज।
णाणंकुसेण तइया सक्का अवसा वसं कादुं ॥१४०५॥

'इदियकसायहत्थी' इन्द्रियकषायहस्तिन दु शीलवन प्रवेष्टु यदाभिलषन्ति तदा अवशा अपि वशे कर्तुं शक्यन्ते ज्ञानाकुशेन ॥१४०५॥

जदि विसयगंधहत्थी अदिणिज्जदि रागदोसमयमत्ता।
विण्णाणज्झाणजोहस्स वसे णाणकुसेण विणा ॥१४०६॥

'जदि विसयगंधहत्थी' यद्यपि विषयगन्धहस्तिन स्वयं गन्धाटवी प्रविशन्ति रागद्वेषमत्ता न तिष्ठेयुर्विज्ञानध्यानयोधस्य वशे ज्ञानाङ्कुशेन विना ॥१४०६॥

विसयवणरमणलोला वाला इ दियकसायहत्थी ते।
पसमे रमेदव्वा तो ते दोसं ण काहिंति ॥१४०७॥

'विसयवणरमणलोला' विषयवनरमणलोला बाला इन्द्रियकषायहस्तिन ते रतिमुपनेया प्रशमेन ततस्ते दोष न कुर्वन्ति ॥१४०७॥

गा०—इन्द्रिय कषायरूपी हाथी यद्यपि स्वच्छन्द है तथापि व्रतरूपी वाडेमे ले जाकर विनयरूपी रस्सीसे उपायपूर्वक बाँधे जानेपर वशमे लाये जा सकते हैं ॥१४०३॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप हाथी शीलरूपी अर्गलाको लाघना पसन्द करते हैं। अत धीर पुरुषोको उनके दोनो कानोके पास धैर्यरूपी प्रहार करके रोकना चाहिए ॥१४०४॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप हाथी जब दु शीलरूपी वनमे प्रवेश करना चाहे तो उसे ज्ञानरूपी अकुशसे वशमे करना शक्य है ॥१४०५॥

गा०—यदि रागद्वेषरूपी मदसे मस्त विषयरूपी गन्धहस्ती ज्ञानाकुशके बिना विज्ञान ध्यानरूपी योधाके वशमे नही रहता और परिग्रहरूपी वनमे प्रवेश करता है ॥१४०६॥

गा०—वो इन्द्रिय और कषायरूप बालरूपी विषयरूपी वनमे क्रीडा करनेके प्रेमी होते हैं। उन्हे प्रशमरूपी वनमे अर्थात् आत्मा और शरीरके भेदज्ञानसे प्रकट हुए स्वाभाविक वैराग्यमे रमण कराना चाहिए तब वे दोष नही करेंगे ॥१४०७॥

---

१ मरीणि—अ० मु०, मूलारा०। २ वेटटेज्ज माग—मूलारा०।

सद्दे रूवे गंधे रसे य फासे सुभे य असुभे य ।
तम्हा रागद्दोसं परिहर त इंदियजएण ॥१४०८॥

'सद्दे रूवे गंधे रसे य' शुभाशुभेषु शब्दादिषु रागद्वेषं च निराकुरु त्वं इन्द्रियजयेनेत्युत्तरसूत्रस्यार्थ ॥१४०८॥

जह णीरसं पि कडुयं ओसहं जीविदत्थिओ पियदि ।
कडुयं पि इंदियजयं णिव्वुडहेदुं तहं [1]पिविज्ज ॥१४०९॥

'जह णीरसं पि' यथा स्वादुरहितं कटुकमप्यौषधं जीवितार्थं पिबति । तथा इन्द्रियजयं भजते कटुकमपि निर्वृतिहेतुम् ॥१४०९॥

इन्द्रियजये क उपाय इत्याशङ्कायां इन्द्रियकषायविषयाणां शुभाशुभत्वं अनवस्थितं । ये शुभास्त एवेदानीं अशुभा, अशुभा ये ते एव शुभा । ये तु अशुभतया दोषा इदानीं हरि ? ते शुभा इति गृहीता न त्वशुभा जातास्त एवामी इति कथं नानुरागस्तत्र ये वाऽशुभास्तेषु कथं द्वेषः शुभता प्रतिपत्स्यमानेषु इति निवेदयति—

जे आसि सुभा एण्हिं असुभा ते चेव पुग्गला जादा ।
जे आसि तदा असुभा ते चेव सुभा इमा इण्हिं ॥१४१०॥

'जे आसि सुभा एण्हिं' ये पुद्गलाः शुभा आसन्निदानीं त एवाशुभा जाताः । ये चासंस्तदा अशुभा ते चैव शुभा इदानीं इति तौ न युक्तौ रागद्वेषौ इति शिक्षयति ॥१४१०॥

सव्वे वि य ते भुत्ता चत्ता वि य तह अणंतखुत्तो मे ।
सव्वेसु एत्थ को मज्झ विंभओ भुत्तविजडेसु ॥१४११॥

गा०—इसलिए हे क्षपक ! इन्द्रियको जीतकर तू शुभ और अशुभ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शमें रागद्वेष मत कर ॥१४०८॥

गा०—जैसे जीवनका इच्छुक रोगी स्वादरहित कड़ुवी औषधी पीता है वैसे ही तू मोक्षके लिए कटुक भी इन्द्रियजयका सेवन कर ॥१४०९॥

इन्द्रिय जयका क्या उपाय है ऐसी शंका करनेपर कहते हैं—

गा०-टी०—इन्द्रिय और कषायके विषयोंमें अच्छा और बुरापना स्थिर नहीं है। जो विषय आज अच्छे लगते हैं कल वे ही बुरे लगते हैं। जो आज बुरे लगते हैं कल वे ही अच्छे लगते हैं। जिन्हें अच्छा मानकर स्वीकार किया वे ही बुरा लगनेपर द्वेषके पात्र होते हैं तो उनमें अनुराग कैसा ? और जो बुरे लगते हैं कल वे ही अच्छे लगनेवाले हैं अतः उनमें द्वेष कैसा ? जो पुद्गल इस समय अच्छे प्रतीत होते हैं वे ही बुरे लगने लगते हैं। जो पहले बुरे प्रतीत होते थे वे ही अब अच्छे प्रतीत होते हैं इसलिए उनमें रागद्वेष करना उचित नहीं है ॥१४१०॥

गा०—वे अच्छे बुरे सभी पुद्गल मैंने अनन्तवार भोगे हैं और अनन्तवार त्यागे हैं। उन भोगे और त्यागे हुए सब पुद्गलोंमें मुझे अचरज कैसा ? इस प्रकार हे क्षपक ! तुम्हें विचारना चाहिए ॥१४११॥

---

१. भजेज्ज मु०, मूलारा० ।

'सव्वे वि ते मुत्ता' सर्वेऽपि च ते पुद्गला शुभाशुभरूपा अनुभूतास्त्यक्ता अनन्तवार मया। तेषु द्रव्येषु मुक्तत्यक्तार्थेषु को विस्मयो ममेति त्वया चिन्ता कार्या ॥१४११॥

सुखसाधनतया यदि तवानुरागो, दुःखसाधनतया च रोष सैव सुखदुःखसाधनता शुभाशुभादीना रूपाणा नैवास्ति सङ्कल्पमन्तरेणात्मन इति वदति—

रूव सुभ च असुभं किंचि वि दुक्ख सुह च ण य कुणदि ।
मकप्पविसेसेण हु सुह च दुःख च होइ जए ॥१४१२॥

'रूव सुभ च असुभ' रूप शुभमशुभ वा किञ्चिद्दुःख सुख च नैव करोति। सङ्कल्पवशेनैव सुख वा दुःख भवति जगति ॥१४१२॥

इह य परत्त य लोए दोमे बहुगे य आवहइ चक्खु ।
इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि चक्खु ॥१४१३॥

'इह य परत्त य' जन्मद्वयेऽपि बहून्दोषानावहति चक्षुरित्यात्मनावगणय्य निर्जेतव्य चक्षु ॥१४१३॥

एव सम्म सद्दरसगंधफासे विचारयित्ताण ।
सेसाणि इंदियाणि वि णिज्जेदव्वाणि बुद्धिमदा ॥१४१४॥

'एव सम्म' उभयजन्मगोचरानेकदोषावहत्व विचार्य स्वबुद्धया शेषाण्यपीन्द्रियाणि शब्दरसगन्धस्पर्शविषयाणि निर्जेतव्यानि बुद्धिमता। 'सद्दरसगधफासे' इति वैषयिकी सप्तमी ॥१४१४॥

क्रोधजयोपायमाचष्टे—

जदिदा भवदि असतेण परो त णत्थि मेत्ति खमिदव्व ।
अणुकंपा वा कुज्जा पावइ पाव बरावोत्ति ॥१४१५॥

'जदिदा सवदि असतेण' यदि तावदसता दोषेण शपति पर स दोषो न ममास्तीति क्षमा कार्या। असद्दोषख्यापनेनाप्य मम किं नष्ट इति। अथवानुकम्पा आक्रोशके कुर्याद्दराकोऽसदभिधानेन समार्जयति पाप-

---

आगे कहते हैं यदि मुखका साधन होनेसे इनमे तेरा अनुराग है और दुःखका साधन होनेसे द्वेष है तो अच्छे बुरे पुद्गलोमें वही सुख-दुःख साधनता तेरे सकल्पके सिवाय यथार्थमे नही है—

गा०—कोई अच्छा या बुरा रूप सुख या दुःख नही करता। जगत्मे सकल्पवश ही सुख-दुःख होता है ॥१४१२॥

गा०—इस लोक और परलोकमे ये आँखें बहुत बुराई उत्पन्न करती हैं ऐसा जानकर चक्षु इन्द्रियको जीतना चाहिए ॥१४१३॥

गा०—इस प्रकार दोनो लोकोमे अनेक दोष उत्पन्न करने वाली जान अपनी बुद्धिसे विचारकर शब्द रस, गन्ध और स्पर्शको विषय करने वाली शेष इन्द्रियोको भी बुद्धिमान् पुरुषको जीतना चाहिए ॥१४१४॥

क्रोधको जीतनेका उपाय कहते हैं—

गा०-टी०—यदि दूसरा व्यक्ति मेरेमे अविद्यमान दोषको कहता है तो वह दोष मुझमे नही है अत उसे क्षमा करना चाहिए, क्योंकि असत् दोषको कहनेसे मेरी क्या हानि हुई ? अथवा

भार अनेक दु खावह । मद्दीयैर्दोषैरस्य किञ्चिन्नायाति दोषजात । गुणैर्वा किमस्मै किञ्चिद्भवति ? प्राणिना प्रतिनियता गुणदोषास्तत्तमेव प्रति सुखदु खयोजना[1]स्ततो पुरसुतो (?) मृषानेन कर्मबन्ध सम्पाद्यते इति ॥१४१५॥

निन्दा करणात्मिका रोष परपम्पसारयति—

जदि वा सवेज्ज संतेण परो तह वि पुरिसेण खमिदव्व ।
सो अत्थि मज्झ दोसो ण अलीयं तेण भणिदत्ति ॥१४१६॥

'जदि वा सवेज्ज' यदि वा शपेच्च सता दोषेण तथापि क्षमा कार्या । सोऽन्येन कथ्यमानो दोषो ममास्ति न व्यलीक तेनोक्तमिति [2]सङ्कल्पतया न हि [3]सन्तो दोषा परे चेद् न ब्रुवन्ति इति विनश्यन्ति ॥१४१६॥

यो यस्य समुपकार महान्त चेतसि करोति स तस्यापराध अल्प सहते इति प्रसिद्धमेव लोके इति कथयति—

सत्तो वि ण चेव हदो हदो वि ण य मारिदो त्ति य खमेज्ज ।
मारिज्जतो [4]वि सहेज्ज चेव धम्मो ण णट्ठोत्ति ॥१४१७॥

'सत्तो वि चेव' शप्त एवास्मि न हत इत्यहनन गुण पुषु चेतसि सस्थाप्य किमनेन शपनेन मे नष्टमिति क्षन्तव्य । एवमितरत्रापि योज्य । हत एव न मृत्यु पापित । मार्यमाणोऽपि सहेत विपन्निमूलन-क्षमोऽभिलषितसुखसम्पादनोद्यतो धर्मो न विनाशित इति ॥१४१७॥

उपायान्तरमपि रोषविजये निरूपयति—

निन्दा करने वाले पर दया करना चाहिए—बेचारा झूठ बोलकर अनेक दु ख देने वाला पाप भार एकत्र करता है। मेरे दोषोंसे उसमे दोष उत्पन्न नही होते और न मेरे गुणोसे ही उसका कोई लाभ होता है। प्राणियोके अपने-अपने गुण दोष नियत हैं। उनसे होने वाला सुख-दु ख भी उन्हे ही होता है। अत यह व्यर्थ ही कर्मबन्ध करता है ॥१४१५॥

आगे कहते हैं दया रूप चिन्तनसे कठोर क्रोध दूर होता है—

गा०——यदि दूसरा मेरेमे विद्यमान दोषको कहता है तब भी क्षमा करना चाहिए क्योकि वह जिस दोषको कहता है वह मेरेमे है। वह झूठ नही कहता। विद्यमान दोषोको दूसरे यदि न कहे तो वे नष्ट हो जाते हैं, ऐसी बात भी नही है ऐसा विचार करना चाहिए ॥१४१६॥

आगे कहते हैं कि जो जिसका महान् उपकार करता है वह उसके छोटेसे अपराधको सहता है यह बात लोकमे प्रसिद्ध ही है—

गा०—इसने मुझे अपशब्द ही कहे हैं मारा तो नही है, इस प्रकार उसके न मारनेके गुण-को चित्तमे स्थापित करके 'अपशब्द कहनेसे मेरा क्या नष्ट हुआ' अत क्षमा करना चाहिए। मारे तो भी सहन करना चाहिए कि इसने विपत्तिको जडसे दूर करनेमे समर्थ और इष्ट सुखको देने वाले मेरे धर्मका नाश नही किया ॥१४१७॥

क्रोधको जीतनेका अन्य उपाय कहते हैं—

---

१ ना पर नुतो–अ० । ना पुर सुता–आ० । ना परो सुतो–ज० । २ सकल्पतयता–मु० ।
३ सतो दोषान्–आ० । ४ वि समेज्ज–अ० आ० ।

रोसेण महाधम्मो णासिज्ज तणं च अग्गिणा सव्वो ।
पाव च करिज्ज महं बहुगंपि णरेण खमिदव्व ॥१४१८॥

'रोसेण महाधम्मो' दुरर्जनो दुर्लभो दुश्चरा धर्मोऽनुयायी रोषेण [1]मदीयो नश्यति । अग्निना तृणमिव । तथा चाभ्यधायि—

अज्ञानकाष्ठजनितस्त्ववमानवातै- सधुक्षित परुषवाग्गुरुविस्फुलिंग ।
हिंसाशिखोऽपि भृशमुत्थितवैरधूम क्रोधाग्निरुद्दहति धर्मवन नराणाम् ॥ इति। [ ] ॥१४१८॥

उपायान्तरमपि वदति—

पुव्वकदमज्झपाव पत्त परदुःखकरणजाद मे ।
रिणमोक्खो मे जादो अज्जत्ति य होदि खमिदव्व ॥१४१९॥

'पुव्वकदमज्झपाव' पापागमद्वारमजानता [2]अनेनापि प्रमादिना पूव कृत यत्कर्म पाप परेषा दु खकारण तदद्य निर्वर्तितं । ऋणमोक्षोऽत्र मम जात इति चिन्तयताऽपसारयितव्यो रोष ॥१४१९॥

पुव्व सयमुवभुत्त काले णाएण तेत्तिय दव्व ।
को धारणीओ धणियस्स दिंतओ दुक्खिओ होज्ज ॥१४२०॥

'पुव्व सयमुवभुत्त' पूर्वं स्वयमेव भुक्त, अवधिकाले प्राप्ते । 'णायेण' नीत्या । द्रव्य अधमर्ण उत्तमर्णाय प्रयच्छन् को दु ख करोति ॥१४२०॥

गा०-टी०—आगसे तृणकी तरह क्रोधमें दु खसे उपार्जन किया गया दुर्लभ और दुश्चर मेरा धर्म नष्ट होता है। कहा भी है—यह क्रोधरूपी आग मनुष्योंके धर्मवनको जलाती है। यह क्रोधरूपी आग अज्ञानरूपी काष्ठमें उत्पन्न होती है, अपमानरूपी वायु उसे भडकाती है। कठोर वचनरूपी उसके बडे स्फुलिंग है। हिंसा उसकी शिखा है और अत्यन्त उठा वैर उसका धूम है।

तथा यह क्रोध मुझे पापका बन्ध कराता है जो अनेक भवोंमें दु खका बीज है। इसलिये चित्तमें क्षमा धारण करना चाहिए ॥१४१८॥

अन्य उपाय कहते हैं—

गा०—पापके आस्रवके द्वारको न जानते हुए मैंने प्रमादवश जो पूर्वमें पापकर्म किया था, जो दूसरोंके दु खका कारण था, वह आज चला गया। आज मैं उस ऋणसे मुक्त हो गया। ऐसा विचारकर क्रोधको दूर करना चाहिए ॥१३१९॥

गा०-टी०—पूर्व जन्ममें मैंने जिसका अपराध किया था उसके द्वारा इस जन्ममें उस अपराधमें उपार्जित पापकर्मकी उदीरणा किये जाने पर उसको भोगते हुए मुझे दु ख कैसा ? साहूकार से पहले कर्ज लेकर जिस धनको मैंने स्वय भोगा है, उतना ही धन उस ऋणका अवधिकाल आने पर देते हुए कौन कर्जदार दु खी होता है ॥१४२०॥

---

१ महानपि न-आ० । २ अनेना-ज० ।

इह य परत्त य लोए दोसे बहुए य आवहदि कोधो ।
इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदव्वो हवइ कोधो ॥१४२१॥

स्पष्टा उत्तरगाथा ॥१४२१॥

क्रोधजयोपायभूतान्परिणामानुपदर्श्य मानप्रतिपक्षपरिणाम निरूपयति—

को इत्थ मज्झ माणो बहुसो णीचत्तणं पि पत्तस्स ।
उच्चत्ते य अणिच्चे उवट्ठिदे चावि णीचत्ते ॥१४२२॥

'को इत्थ मज्झ माणो' कोऽत्रास्मत्प्राप्ते [1]ज्ञानादिकैरुन्नतत्वे गर्वो मम बहुशो ज्ञानकुलरूपतपोद्रविणप्रभुत्वैरुन्नतता प्राप्तस्य प्राप्तेऽप्युन्नतत्वे अनवस्थायिनि सति उपस्थिते चोत्तरकाले नीचत्वे ॥१४२२॥

अधिगेसु बहुसु सतेसु ममादो एत्थ को मह माणो ।
को विम्भओ वि बहुसो पत्ते पुव्वम्मि उच्चत्ते ॥१४२३॥

स्पष्टा ॥१४२३॥

उत्तरगाथा—

जो अवमाणणकरण दोस परिहरइ णिच्चमाउत्तो ।
सो णाम होदि माणी ण दु गुणचत्तेण माणेण ॥१४२४॥

'जो अवमाणणकरण' योऽवमानकरण दोष परिहरति नित्यमुपयुक्तः स मानी भवति । न तु भवति मानी गुणरिक्तेन मानेन ॥१४२४॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुगे य आवहदि माणो ।
इदि अप्पणो गणित्ता माणस्स विणिग्गह कुज्जा ॥१४२५॥

गा०—क्रोध इस लोक और परलोकमें बहुत दोषकारक है ऐसा जानकर क्रोधका त्याग करना चाहिए ॥१४२१॥

क्रोधको जीतनेके उपायभूत परिणामोंको बतलाकर मानके प्रतिपक्षी परिणामोंको कहते हैं—

गा०-टी०—ज्ञान, कुल, रूप, तप, धन, प्रभुत्व आदिमें मैं ऊँचा भी होऊँ, तो उसका गर्व कैसा, क्योंकि अनेक बार मैं इनमें नीचा भी हो चुका हूँ । उच्चता और नीचता ये दोनों अनित्य हैं ॥१४२२॥

गा०—इस लोकमें बहुतसे मुझसे भी ज्ञानादिमें अधिक हैं इनका मुझे अभिमान कैसा ? तथा पूर्व जन्मोंमें मैं यह उच्चता अनेक बार प्राप्त कर चुका हूँ तब इनके प्राप्त होने पर आश्चर्य कैसा ? ॥१४२३॥

जो सदा मन लगाकर अपमान करने रूप दोषका त्याग करता है अर्थात् किसीका अपमान नहीं करता वह मानी होता है । गुण रहित मानसे मानी नहीं होता ॥१४२४॥

---

१ ज्ञानादेकरत्नत्रयतत्वं—आ० मु० ।

इह च परत्र च जन्मद्वये दोषान् बहूनावहति मानमिति विगणय्य माननिग्रहं कुर्यात्साधुजनः ॥१४२५॥

मायाप्रतिपक्षपरिणामस्वरूपं निगदति—

अदिगूहिदा वि दोसा जणेण कालंतरेण णज्जंति ।
मायाए पउत्ताए को इत्थ गुणो हवदि लद्धो ॥१४२६॥

'अदिगूहिदा वि दोसा' अतीव संवृता अपि दोषा जनेन ज्ञायन्ते कालान्तरे मायया प्रयुक्तया को गुणो लब्ध इति चिन्तया निहन्ति ॥१४२६॥

[1]परिभागम्मि असंते णियडिसहस्सेहिं गूहमाणस्स ।
चंदग्गहोव्व दोसो खणेण सो पायडो होइ ॥१४२७॥

जणपायडो वि दोसो दोसोत्ति ण घेप्पए सभागस्स ।
जह समलंत्ति ण घिप्पदि समलं पि जए तलायजलं ॥१४२८॥

'जडपायडो वि दोसो' लोकप्रकटोऽपि दोषो दोष इति न गृह्यते भाग्यवतः । यथा समलमिति न गृह्यते लोके तटाकजलं समलमिति सदपि । एतदुक्तं भवति पुण्यवतोऽपि मायया न किञ्चित्साध्यं । प्रकटेऽपि दोषे यतोऽसौ जगति मान्यः । दोषनिगूहनं हि मान्यताविनाशभयादिति भावः ॥१४२८॥

अथ माया करोत्यर्थाय तथापि सानर्थिकेति वदति—

डंभसएहिं बहुगेहिं सुपउत्तेहिं अपडिभोगस्स ।
हत्थं ण एदि अत्थो अण्णादो सपडिभोगादो ॥१४२९॥

गा०—इस लोक और परलोकमें मान बहुत दोषकारी है। ऐसा जानकर अपने मानका निग्रह करना चाहिए ॥१४२५॥

अब मायाके विरोधी परिणामोंका स्वरूप कहते हैं—

गा०—अत्यन्त छिपाकर भी की गई बुराई कालान्तरमें मनुष्योंको ज्ञात हो जाती है। तब मायाचार करनेमें क्या लाभ है। इस प्रकारके चिन्तनसे मायाको दूर करना चाहिए ॥१४२६॥

गा०—भाग्य प्रतिकूल हो तो हजार छलसे छिपाया हुआ भी काम चन्द्रमाके ग्रहणकी तरह क्षणमात्रमें प्रकट हो जाता है ॥१४२७॥

गा०-टी०—और भाग्यशालीका लोकमें प्रकट भी दोष दोष नहीं माना जाता। जैसे तालाबका जल मैला हो तब भी लोग उसे मैला नहीं मानते। आशय यह है कि पुण्यशालीको मायासे कोई लाभ नहीं है क्योंकि दोष प्रकट होनेपर भी वह जगत्में मान्य रहता है। मान्यताके विनाशके भयसे ही मनुष्य दोषको छिपाता है ॥१४२८॥

आगे कहते हैं कि मनुष्य धनके लिए मायाचार करता है किन्तु वह व्यर्थ है—

गा०—अच्छी तरह सैकड़ों छलकपट करनेपर भी पुण्यहीनके हाथमें पुण्यशालीका धन नहीं आता ॥१४२९॥

1. परिभोगम्मि–अ० । एतां टीकाकारो नेच्छति ।

'डभसदेहि बहुगेहि' दम्भशतैर्बहुभि सुप्रयुक्तैरपि अपुण्यस्य इत्त नायात्यर्थ । अन्यस्मात्स-पुण्यात् ॥१४२९॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ माया ।
इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदव्वा हवइ माया ॥१४३०॥

इह य परत्त य' इहपरलोकयोर्बहून्दोषानावहति माया। इति आत्मनि निरूप्य परिहर्तव्या भवति माया ॥१४३०॥

लोभे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स ।
अकएवि हवदि लोभे अत्थो पडिभोगवतस्स ॥१४३१॥

'लोभे कदे' लोभे कृतेऽप्यर्थो न भवति पुरुषस्य अपुण्यस्य। अकृतेऽपि लोभेऽर्थो भवति पुण्यवत । तत अर्थासक्तिरर्थलाभे मम न निमित्तमपि तु पुण्यमित्यनया चिन्तया लोभो निराकार्य ॥१४३१॥

अपि च [1]अर्थप्राप्तये जन प्रयतते अर्था पुनरसकृत्प्राप्तास्त्यक्ताश्च तेषु को विस्मय इति मन प्रणि-धान कुरु लोभविजयायेति वदति—

सव्वे वि जए अत्था परिगहिदा ते अणंतखुत्तो मे ।
अत्थेसु इत्थ को मज्झ विंभओ गहिदविजढेसु ॥१४३२॥

'सव्वे वि जये अत्था' सर्वेऽपि जगत्यर्था परिगृहीता मयानन्तवार ममार्थेष्वमीषु को विस्मयो गृहीत-त्यक्तेषु ॥१४३२॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो ।
इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि लोभो ॥१४३३॥

इंदियकसायत्तिगद ॥१४३३॥

गा०—माया इस लोक और परलोकमे बहुतसे दोष लाती है ऐसा जानकर मायाका त्याग करना चाहिए ॥१४३०॥

गा०—लोभ करनेपर भी पुण्यहीन पुरुषके पास धन नही होता, और लोभ नही करनेपर भी पुण्यशालीके पास धन होता है। अत धनका लोभ धनलाभमे निमित्त नही है किन्तु पुण्य निमित्त है ऐसा विचारकर लोभका त्यागना चाहिए ॥१४३१॥

अर्थकी प्राप्तिके लिए मनुष्य प्रयत्न करता है। किन्तु अर्थ अनेक बार प्राप्त हुआ और छोडा है। उसमे आश्चर्य कैसा ? इस तरह लोभको जीतनेके लिए मनमे चिन्तन करो, यह कहते हैं—

गा०—जगत्मे जितने पदार्थ हैं वे सब मैंने अनन्तबार प्राप्त किये। उन ग्रहण किये और त्यागे हुए पदार्थोमे आश्चर्य कैसा ? ॥१४३२॥

गा०—लोभ इस भव और परभवमे बहुतसे दोष पैदा करता है ऐसा जानकर लोभको त्यागना चाहिए ॥१४३३॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायोका कथन किया।

---

१ अप्राप्ताय-अ०।

एवमिन्द्रियकषायपरिणामनिरोधोपायभूतान्परिणामानुपदिश्य निद्राजयक्रमं निरूपयति सूरि —

णिद्दं जिणाहि णिच्चं णिद्दा हु णरं अचेयणं कुणइ ।
वट्टिज्ज हु पासुत्तो खवओ सव्वेसु दोसेसु ॥१४३४॥

'णिद्दं जिणाहि' निद्रां जय नित्यं । अजिता सा किमपकारं करोति इत्याशङ्कय आह 'णिद्दा हु णरं अचेयणं कुणइ' निद्रा नरं अचेतनं करोति । चैतन्यरहितावस्थाभावात्किमुच्यते करोतीति । अत्रोच्यते–विवेकज्ञानरहितत्वमेवात्राचेतनशब्देनोच्यते । यत एव योग्यायोग्यविवेकज्ञानरहितः अत एव । 'वट्टिज्ज हु' वर्तते एव । 'पासुत्तो' प्रकर्षेण सुप्तः 'खवगो' क्षपकः । 'सव्वेसु दोसेसु' हिंसामैथुनपरिग्रहादिकेषु ॥१४३४॥

निद्रा कर्मोदयवशाद्भवति कथं मयापाकर्तव्या इत्यत्राह—

जदि अधिबाधिज्ज तुमं णिद्दा तो तं करेहि सज्झायं ।
सुहुमत्थे वा चिंतेहि सुणसु संवेगणिव्वेगं ॥१४३५॥

'जदि अधिबाधिज्ज तुमं' यद्यधिबाधेत भवन्तं निद्रा । ततस्त्वं कुरु स्वाध्यायं । 'सुहुमत्थे वा चिंतेहि' सूक्ष्मान्वार्थान् चिन्तय । 'सुणसु संवेगणिव्वेगं' शृणुष्व संवेजनीं निर्वेजनीं वा कथां ॥१४३५॥

प्रकारान्तरं निद्राविजयहेतुं निगदति—

पीदी भए य सोगे य तहा णिद्दा ण होइ मणुयाणं ।
एदाणि तुमं तिण्णिवि जागरणत्थं णिसेवेहिं ॥१४३६॥

'पीदी भए य सोगे' प्रीत्या भये शोके च सति निद्रा मनुष्याणां न भवति । तेन प्रीत्यादिमेवां कुरु त्वं निद्राविजिनये ॥१४३६॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंको रोकनेके उपायरूप परिणामोंको कहकर निद्राको जीतनेका क्रम कहते हैं—

गा०-टी०—सदा निद्रापर विजय प्राप्त करो। नहीं जीतनेपर वह क्या बुराई करती है यह कहते हैं—निद्रा मनुष्यको अचेतन करती है।

शंका—चेतन मनुष्यकी चैतन्यरहित अवस्था नहीं होती। तब कैसे कहते हैं कि निद्रा अचेतन करती है?

समाधान—यहाँ अचेतन शब्दसे विवेकज्ञानसे रहित होना ही कहा है।

इसलिए जो गहरी नींदमें सोया है वह क्षपक योग्य अयोग्यके विवेकज्ञानसे रहित होनेसे हिंसा मैथुन परिग्रह आदि सब दोषोंमें प्रवृत्ति करता है ॥१४३४॥

निद्रा कर्मके उदयसे होती है। उसे मैं कैसे दूर करूँ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

गा०—यदि तुम्हें निद्रा सताती है तो स्वाध्याय करो। या सूक्ष्म अर्थोंका विचार करो। अथवा संवेग और निर्वेदको करनेवाली कथा सुनो ॥१४३५॥

निद्राको जीतनेका अन्य उपाय कहते हैं—

गा०—प्रीति, भय अथवा शोक होनेपर मनुष्योंको निद्रा नहीं आती। अतः तुम निद्राको जीतनेके लिए प्रीति आदिका सेवन करो ॥१४३६॥

प्रीतिभयशोकाना अशुभपरिणामत्वात्कर्मास्रवनिमित्तता । निद्राया वा अविशिष्टत्वात् कथ सवरार्थिनो निष्पद्यते प्रीत्यादिक इत्याशङ्काया सवरहेतुभूततया तदुपदेश प्रति नियतविषयमुपदर्शयति—

भयमागच्छसु ससारादो पीदिं च उत्तमट्ठम्मि ।
सोग च पुरादुच्चरिदादो णिद्दाविजयहेदुं ॥१४३७॥

'भयमागच्छसु' भय प्रतिपद्यस्व । 'ससारादो' ससारात् पञ्चविधपरावर्तनरूपात् । प्रीति रत्नत्रयाराधनाया । शोक उपेहि पूर्वकृतादुश्चरितात् निद्रा विजेतु । नरकादिगतिष्वसकृत्परिवर्तमानेन शारीरमागन्तुक, मानस, स्वाभाविक च दु ख विचित्रमनुभूत तत्पुनरप्यायास्यति इति मन प्रणिधेहि । सकलामापत्सहतिमुन्मूलयितु, अभ्युदयनिश्रेयससुखानि च प्रापयितु, असारशरीरभारमपनेतु, अनन्तावबोधदर्शनसाम्राज्यश्रियमाक्रष्टु, कर्मविषविटपानुत्पाटयितु क्षमामिमा, अनन्तेषु भवेषु अनवाप्तपूर्वा रत्नत्रयाराधना कर्तुं उद्यतोऽस्मीति प्रीतिर्भावनीया । हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेषु मिथ्यात्वकषायेष्वशुभमनोवाक्काययोगेषु विचित्रकर्मार्जनमूलेषु चतुर्विधबन्धपर्यायनिमित्तेषु अनारत मन्दभाग्य प्रवृत्तोऽस्मि हिताहितविचारणाविमुग्धबुद्धितया सन्मार्गस्योपदेष्टृणामनुपलम्भात्प्रबलज्ञाना[1]वरणोदयात्तदुदीरितार्थतत्त्वानवबोधात् । अवगमे सत्यप्यश्रद्धाया, चारित्रमोहोदयात्सन्मार्गेऽप्रवृत्तेश्च दु खाम्भोधौ निमग्नोऽस्मीत्युद्विग्नचित्ततया च निद्रा प्रयाति ॥१४३७॥

यहाँ शका होती है कि प्रीति भय और शोक तो अशुभ परिणामरूप होनेसे कर्मोंके आस्रवमे निमित्त होते हैं । अत उनमें और निद्रामे कोई अन्तर नही है । तब जो सवरका इच्छुक है उसके लिए प्रीति आदि करनेको क्यो कहते हैं ? इसके उत्तरमे सवरके हेतु जो प्रीति आदि हैं उनके प्रतिनियत विषयको बतलाते हैं—

गा०—टी०—निद्राको जीतनेके लिये पाँच प्रकारके परावर्तन रूप ससारसे भय करो । रत्नत्रयकी आराधनामे प्रीति करो और पूर्वमे किये दुराचरणके लिये शोक करो । नरकादि गतियोमे बार-बार आने जानेसे मैंने शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक प्रकारका दु ख भोगा । वही दु ख आगे भी भोगनेमे आवेंगे, ऐसा मनमें विचार करो । समस्त आपत्तियोंके समूहका विनाश करनेके लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोको प्राप्त करनेके लिये, असार शरीरका भार उतारनेके लिये, अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन रूप साम्राज्य लक्ष्मीको आकर्षित करनेके लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोको प्राप्त करनेके लिये और कर्मरूपी विष वृक्षको उखाडनेमे समर्थ इस रत्नत्रय आराधनाको, जिसे पहले अनन्तभवोमे कभी प्राप्त नही किया, करनेके लिये मैं तत्पर हूँ । इस प्रकार प्रीतिकी भावना करो । हिंसा झूठ चोरी अब्रह्म परिग्रह, मिथ्यात्व कषाय और अशुभ मनोयोग अशुभ वचन योग अशुभ काययोगमे, जो नाना प्रकारके कर्मोंके सचयके मूल हैं और चार प्रकारके बन्धमे निमित्त हैं, मैं अभागा निरन्तर लगा रहा, क्योकि हित अहितके विचारमे मूढ बुद्धि होनेसे तथा सन्मार्गका उपदेश देने वालोकी प्राप्ति न होनेसे अथवा प्रबल ज्ञानावरणका उदय होनेसे उनके द्वारा कहे गये अर्थ तत्त्वको न जान सकनेसे, या जान लेने पर भी श्रद्धा न करनेसे और चारित्र मोहके उदयसे सन्मार्गमे प्रवृत्ति न करनेसे मैं दु खके समुद्रमे डूबा हूँ । इस प्रकार चित्तके उद्विग्न होनेसे निद्रा चली जाती है ॥१४३७॥

---

१ ज्ञानावरणोदयात्तदुदीरितार्थान—अ० मु० ।

जागरणत्थं इच्चेवमादिकं कुण कम्मं सदा उत्तो ।
झाणेण विणा वज्झो कालो हु तुमे ण कायव्वो ॥१४३८॥

जागरणार्थं निद्रानिरासार्थं एवमादिकं कुरु कर्म सदोपयुक्तः । ध्यानेन विना वन्ध्यः कालो न कर्तव्यस्त्वया ॥१४३८॥

संसाराडविणित्थरणमिच्छदो अणपणीय दोसाहि ।
सोदु ण खमो अहिमणपणीय सोदुं व सघरम्मि ॥१४३९॥

संसाराडविणित्थरणमिच्छदो' संसाराटविनिस्तरणमिच्छतः अनपाकृत्य दोषान् न हि स्वप्तुं क्षमः । अहिं अनपनीय स्वप्तुमिव गृहे ॥१४३९॥

को णाम [1]णिरुव्वेगो लोगे मरणादिअग्गिपज्जलिदे ।
पज्जलिदम्मि व णाणी घरम्मि सोदुं अभिलसिज्ज ॥१४४०॥

'को णाम णिरुव्वेगो लोगे मरणादि अग्गिपज्जलिदे' जातिजरामरणव्याधय, शोका भयानि, प्रार्थिता[2]लाभो, अभिमतवियोग इत्यादिनाग्निना प्रज्वलिते । 'णाणी सोदुमभिलसेज्ज' ज्ञानी स्वप्तुमभिलषेत । 'पज्जलिदम्मि घरम्मि व' प्रज्वलिते गृह इव ॥१४४०॥

को णाम णिरुव्वेगो सुविज्ज दोसेसु अणुवसंतेसु ।
गहिदाउहाण बहुयाण मज्झयारेव सत्तूणं ॥१४४१॥

'को णाम णिरुव्वेगो'-को नाम निरुद्वेगः स्वपेद्रागादिषु संसारप्रवर्द्धनेषु दोषेषु अनुपशान्तेषु गृहीतायुधानां शत्रूणां बहूनां मध्ये इव ॥१४४१॥

णिद्दा तमस्स सरिसो अण्णो णत्थि हु तमो मणुस्साण ।
इदि णच्चा जिणसु तुमं णिद्दा ज्झाणस्स विग्घयरी ॥१४४२॥

गा०—निद्राको दूर करनेके लिये इस प्रकारके चिन्तनमें सदा लगे रहो। ध्यानके बिना तुम्हें एक क्षण भी नहीं गँवाना चाहिए ॥१४३८॥

गा०—जैसे घरमें यदि सर्प घुसा हो तो उसे निकाले बिना सोना शक्य नहीं है। उसी प्रकार जो संसार रूपी महावनसे निकलना चाहता है वह दोषोंको दूर किये बिना सोनेमें समर्थ नहीं होता ॥१४३९॥

गा०—जलते हुए घरकी तरह लोकके जन्म, जरा, मरण, व्याधि, शोक, भय, प्रार्थितकी अप्राप्ति और इष्ट वियोग इत्यादि आगमें जलते रहने पर कौन ज्ञानी निर्भय होकर सोना चाहेगा ॥१४४०॥

गा०—जैसे शस्त्रधारी बहुतसे शत्रुओंके मध्यमें कोई निर्भय होकर नहीं सो सकता, उसी प्रकार संसारको बढ़ानेवाले रागादि दोषोंके उपशान्त हुए बिना कौन निर्भय होकर सो सकता है ॥१४४१॥

---

१. अणुव्विग्गो मूलारा० । २. प्रार्थितलोभा आ० ।

'णिद्दा तमस्स सरिसो' तमस्सदृशमन्यत्तमो नास्ति मनुजाना इति ज्ञात्वा निद्रा ध्यानस्य विघ्नकारिणीं जयेति ॥१४४२॥

कुण वा णिद्दामोक्खं णिद्दामोक्खस्स भणिदवेलाए ।
जह वा होइ समाही खवणाकिलिंतस्स तह कुणह ॥१४४३॥

'कुण वा णिद्दामोक्खं' कुरु वा निद्रामोक्षं। निद्रामोक्षस्य कथितायां वेलायां रात्रेस्तृतीये यामे इति यावत्। यथा वा समाधिर्भवति भवत उपवासपरिश्रान्तस्य तथा वा निद्रामोक्षं कुरु ॥१४४३॥ णिद्दत्तिगदं।

उक्तार्थोपसंहारं वक्ष्यमाणं चाधिकारं दर्शयत्युत्तरगाथा—

एस उवावो कम्मासवदारणिरोहणो हवे सव्वो ।
पोराणयस्स कम्मस्स पुणो तवसा खओ होइ ॥१४४४॥

'एस उवाओ' कर्मणामास्रवद्वारनिरोधे उपायोऽयं सर्वोऽभिहितः। पौराणस्य कर्मणस्तपसा क्षयो भवति। संवरपूर्विका निर्जरा मुक्त्यै भवति न संवरहीनेति पूर्वं संवरोपन्यासः ॥१४४४॥

अब्भंतरबाहिरगे तवम्मि सत्तिं सगं अगूहंतो ।
उज्जमसु सुहे देहे अप्पडिबद्धो अणलसो य ॥१४४५॥

'अब्भंतरबाहिरगे' अभ्यन्तरे बाह्ये च तपस्युद्योगं कुरु स्वां शक्तिमगूहमानः। सुखे शरीरे चानासक्तिः अनालस्य। न हि शरीरे सुखे वा आदरवांस्तत्प्रतिपक्षभूते तपसि प्रयतते। न[१] चालस्य प्रवर्तते तपसि। तपसः प्रत्यूहभावेन स्थितं सुखं शरीरं च प्रतिबद्धत्वमलसत्वमावेदितमनेन ॥१४४५॥

गा०—निद्रा रूपी अन्धकारके समान मनुष्योंका कोई दूसरा अन्धकार नहीं है। ऐसा जानकर हे क्षपक ! तुम ध्यानमें विघ्न करने वाली निद्राको जीतो ॥१४४२॥

गा०—अथवा यदि निद्राको नहीं जीत सकते हो तो आगममें निद्रा त्यागनेका जो समय रात्रिका तीसरा पहर कहा है उस समय निद्रा त्यागो। अथवा उपवाससे थके हुए आपकी समाधि जिस प्रकार हो उस प्रकार करो ॥१४४३॥

आगे उक्त कथनका उपसंहार और आगेका अधिकार कहते हैं—

गा०—नवीन कर्मके आनेके द्वारको रोकनेका यह सब उपाय कहा है। पूर्व संचित कर्मोंका क्षय तपसे होता है। संवर पूर्वक निर्जरा मोक्षका कारण होती है, संवरके बिना निर्जरा मोक्षका कारण नहीं है। इसलिये पहले संवरका कथन किया है ॥१४४४॥

गा०-टी०—हे क्षपक ! अपनी शक्तिको न छिपाकर अभ्यन्तर और बाह्य तपमें उद्योग करो। सुखमें और शरीरमें आसक्त मत होओ और न आलस्य करो। जो शरीर और सुखमें आदरभाव रखता है वह उनके विरोधी तपमें प्रयत्न नहीं करता। तथा आलसी भी तपमें प्रवृत्ति नहीं करता। इससे सुख और शरीरमें आसक्ति तथा आलस्यको तपके लिये विघ्नकारी कहा है ॥१४४५॥

---

१. न चालस्य –आ०। न चास्य –मु०, मूलारा०।

सुहसीलदाए अलसत्तणेण देहपडिबद्धदाए य ।
जो सत्ती गतीए ण करिज्ज तव स सत्तिसम ॥१४४६॥

'सुहसील्दाए' सुखासक्ततया, अलसतया, देहप्रतिबद्धतया वा य शक्तौ सत्यामपि तपो न करोति शक्तिसमम् ॥१४४६॥

तस्स ण भावो सुद्धो तेण पउत्ता वदो हवदि माया ।
ण य होइ धम्मसद्धा तिव्वा सुहदेहपिक्खाए ॥१४४७॥

'तस्स [redacted] भावो' तस्य परिणामो न शुद्धस्तस्मात्तेन शक्तिसमे तपस्यवर्तमानेन माया प्रयुक्ता भवति । यतस्ततो न भाव शुद्ध , धर्मे तीव्रा च श्रद्धा न भवति । केन ? 'सुहदेहपिक्खाए' सुखे देहे च प्रेक्षया तत्र आसक्तया बुद्धया हेतुभूतया ॥१४४७॥

अप्पा य वंचिओ तेण होइ विरिय च गूहिय भवदि ।
सुहसीलदाए जीवो बधदि हु असादवेदणिय ॥१४४८॥

'अप्पा [redacted] वंचिओ' आत्मा वंचितस्तेन । शक्त्यनुरूपे तपस्यनभ्युद्यतेन शक्तिश्च प्रच्छादिता भवति । सुखासक्ततया जीवो बध्नात्यसातवेदनीय चानेकभवेषु दु खावह ॥१४४८॥

आलस्यदोषमाचष्टे—

विरियतरायमलसत्तणेण बधदि चरित्तमोह च ।
देहपडिबद्धदाए साधू सपरिग्गहो होइ ॥१४४९॥

विरियतराय वीर्यान्तरायमलसतया बध्नाति चारित्रमोहनीय च । शरीरासक्त्या साधु सपरिग्रहो भवति ॥१४४९॥

मायादोसा मायाए हुति सव्वे वि पुव्वणिद्दिट्ठा ।
धम्मम्मि [1]णिप्पिवासस्स होइ सो दुल्लहो धम्मो ॥१४५०॥

गा०—सुखमें आसक्त होनेसे, आलस्यसे और शरीरमे प्रतिबद्ध होनेसे जो शक्ति होते हुए भी शक्तिके अनुसार तप नही करता ॥१४४६॥ उसका परिणाम शुद्ध नहीं है। अत शक्तिके अनुसार तपमें प्रवृत्ति न करने वाला मायाचारी है। तथा सुख और शरीरमे आसक्ति होनेसे उसको धर्ममें तीव्र श्रद्धा नहीं है ॥१४४७॥

गा०—जो शक्तिके अनुसार तपमें तत्पर नहीं है वह आत्माको ठगता है और अपनी शक्तिको छिपाता है। तथा सुखमें आसक्त होनेसे असातवेदनीयको बांधता है जो अनेक भवोमे दु ख-दायी है ॥१४४८॥

आलस्यके दोष कहते हैं—

गा०—आलसी होनेसे वह वीर्यान्तराय और चारित्र मोहनीय कर्मका बन्ध करता है। तथा शरीरमें आसक्ति रखनेसे वह साधु परिग्रही होता है ॥१४४९॥

---

१ णिप्पिहासस्स–आ० ।

'मायादोसा' मायादोषा सर्वेऽपि पूर्वनिर्दिष्टा । मायाया तपसि स्वशक्तिनिगूहनलक्षणाया भवन्ति किं च धम्मम्मि धर्मे तपोलक्षणे । णिप्पिवासस्स अनादरस्य जन्मान्तरे दुर्लभो भवति धर्म ॥१४५०॥

दोषान्तरमपि निगदति—

पुव्वुत्ततवगुणाण चुक्को ज तेण वंचिओ होइ ।
विरियणिगूही बंधदि माय विरियंतराय च ॥१४५१॥

'पुव्वुत्ततवगुणाण' पूर्वोक्तसंवरनिर्जरा चेत्येवमादिभिस्तप साध्यैरुपकारैः । 'चुक्को' च्युत । 'ज' यस्मात् । 'तेण' तेन तप साध्योपकारप्रच्युतत्वेन । 'वंचिदो होदि' वञ्चितो भवति । 'विरियणिगूही बंधदि माय' वीर्यसंवरणपरो बध्नाति मायाकर्म 'विरियंतराय च' वीर्यान्तराय च ॥१४५१॥

तवमकरिंतस्सेदे दोसा अण्णे य होंति सतस्स ।
होंति य गुणा अणेया सत्तीए तव कुणतस्स ॥१४५२॥

'तवमकरेंतस्स' तपस्यनुद्यतस्येमे दोषा अन्ये च भवन्तीति ज्ञातव्या । भवन्ति चानेकगुणा शक्त्या तपसि वर्तमानस्य ॥१४५२॥

तपोगुणप्रख्यापनायोत्तरप्रबन्ध —

इह य परत्त य लोए अदिसयपूयाओ लहइ सुतवेण ।
आवज्जिज्जंति तहा देवा वि सइंदिया तवसा ॥१४५३॥

इह जन्मनि परत्र च तपसा सम्यक् कृतेन अतिशयपूजा लभ्यते । आवर्ज्यन्ते च तपसा देवा सन्द्रका ॥१४५३॥

अप्पो वि तवो बहुग कल्लाण फलइ सुप्पओगकदो ।
जह अप्प वडबीअं फलइ वडमणेयपारोह ॥१४५४॥

गा०—तपमें अपनी शक्तिको छिपाने रूप मायाचारमें वे सब दोष होते हैं जो पूर्वमें माया-के दोष कहे हैं। जो धर्ममें अनादर भाव रखता है उसको दूसरे जन्ममें धर्मकी प्राप्ति दुर्लभ होती है ॥१४५०॥

अन्य दोष भी कहते हैं—

गा०—पूर्वमें जो तपके द्वारा साध्य सवर निर्जरा इत्यादि उपकार कहे हैं उनसे च्युत होने से वह उनसे वंचित होता है। और अपनी शक्तिको छिपानेसे मायाकर्म और वीर्यान्तराय कर्मका बन्ध करता है ॥१४५१॥

गा०—जो तपमें तत्पर नहीं होता उसको ये दोष तथा अन्य दोष होते हैं और जो शक्तिके अनुसार तप करता है उसमें अनेक गुण होते हैं ॥१४५२॥

आगे तपके गुण कहते हैं—

गा०—सम्यक् रूपसे तप करनेसे इस जन्ममें और परजन्ममें सातिशय पूजा प्राप्त होती है। तथा तपसे इन्द्रसहित सब देव भी विनय करते हैं ॥१४५३॥

'अप्पोवि तओ' अल्पमपि तपः महाकल्याणं फलति सुसंयमनिष्पन्नं । सुष्ठु प्रयुज्यते प्रवर्त्यतेऽनेनेति च विग्रहे संयमः सुप्रयोगशब्देनोच्यते । यथा अल्पमपि वटबीजं फलति वटमनेकप्ररोहं अल्पमपि पृथुल फलदायितपः इत्येतदाख्यातमनया ॥१४५४॥

सुट्ठु कदाण वि सस्सादीण विग्घा हवंति अदिबहुगा ।
सुट्ठु कदस्स तवस्स पुण णत्थि कोइ वि जए विग्घो ॥१४५५॥

'सुट्ठु कदाण वि' सम्यक् कृतानामपि शस्यादीनां अतीव विघ्ना भवन्ति । तपसः पुनः सम्यक् कृतस्य जगति न कश्चिद् विघ्नः फलदाने । निर्विघ्नफलदायित्वं तपसो माहात्म्यं कथितम् अनया ॥१४५५॥

जणणमरणादिरोगादुरस्स सुतवो वरोसध होदि ।
रोगादुरस्स अदिविरियमोसधं सुप्पउत्तं वा ॥१४५६॥

'जणणमरणादिरोगादुरस्स' जन्ममरणाद्यापीडितस्य सुतपो वरौषधं भवति । रोगपीडितस्य सुप्रयुक्तमतिवीर्यमौषधमिव । जननमरणादीनां विनाशकत्वं तत्कारणकर्मविनाशादनेनाख्यायते ॥१४५६॥

संसारमहाडाहेण डज्झमाणस्स होइ सीयघरं ।
सुतवोदाहेण जहा सीयघरं डज्झमाणस्स ॥१४५७॥

'संसारमहाडाहेण' संसारमहादाहेन दह्यमानस्य तपो भवति जलगृहं । यथा दह्यमानस्य सूर्यांशुभिर्धारागृहम् । सांसारिकदुःखनिर्मूलनकारिता तपसोऽनेन सूच्यते ॥१४५७॥

णीयल्लओ व सुतवेण होइ लोगस्स सुप्पिओ पुरिसो ।
मायाव होइ विस्ससणिज्जो सुतवेण लोगस्स ॥१४५८॥

गा०-टी०—सम्यक् संयमपूर्वक किया गया थोडा भी तप बहुत कल्याणकारी होता है। गाथामें सुप्रयोग शब्दसे 'जिसके द्वारा सुष्ठुरूप प्रवर्तित होता है' इस विग्रहके अनुसार संयम लिया गया है। जैसे छोटा-सा भी वटबीज अनेक शाखा प्रशाखासे पूर्ण वटवृक्षरूपसे फलता है उसी प्रकार थोडा भी तप बहुत फल देता है। यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५४॥

गा०—धान्य आदिकी खेती बहुत सावधानतासे परिश्रमपूर्वक करनेपर भी उसमें बहुत विघ्न आते हैं। किन्तु सम्यक्‌रूपसे किये गये तपके फल देनेमें कोई विघ्न नहीं आता। निर्विघ्न फल देना तपका माहात्म्य है यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५५॥

गा०-टी०—जैसे रोगसे पीडित पुरुषके लिए यत्नपूर्वक दी गई अति शक्तिशाली औषध होती है। उसी प्रकार जन्ममरण आदि रोगसे पीडितकी श्रेष्ठ औषध तप है। तप करनेसे जन्ममरणके कारण कर्मोंका विनाश होता है। इससे तपको जन्ममरण आदिका विनाशक कहा है ॥१४५६॥

गा०—संसाररूपी महादाहसे जलते हुए प्राणीके लिए तप जलघर है, जैसे सूर्यकी किरणोंसे जलते हुए मनुष्यके लिए धारागृह होता है। तप सांसारिक दुःखोंको निर्मूल करता है, यह इससे सूचित किया है ॥१४५७॥

'णोयल्लओ व' बन्धुरिव लोकस्य नितरां प्रियो भवति पुरुष । शोभनेन तपसा सर्वजगत्प्रियता करोति तप इत्यनेन आख्यातम् । 'मादाव होइ विस्सणिज्जो' मातेव विश्वसनीयो भवति लोकस्य । सर्वजगद्विश्वास्यत्वं तप सम्पादयतीत्यनेन कथ्यते ॥१४५८॥

कल्लाणिड्ढिसुहाइं जावदियाइं हवे सुरणराणं ।
ज परमणिव्वुदिसुह व ताणि सुतवेण लब्भंति ॥१४५९॥

'कल्लाणिड्ढिसुहाइ' कल्याणानि स्वर्गावतरणादीनि ऋद्धयो विभूतयश्चक्रलाञ्छनानां अर्द्धचक्रवर्तिनां सुखानि च यानि देवानां मनुष्याणां च, यच्च परमनिर्वृतिसुखं तानि शोभनेन तपसा लभ्यन्ते ॥१४५९॥

कामदुहा वरधेणू णरस्स चिंतामणिव्व होइ तओ ।
तिलओव्व णरस्स तओ माणस्स विहूसणं सुतओ ॥१४६०॥

'कामदुहा' कामदुघा वरधेनु, चिन्तामणिश्च तप यदभिलषितं तस्य दानात् । तिलकाख्यालङ्कारो नरस्य शोभन तप, मानस्य विभूषण च । तपसा हि सर्वेण जगता मान्यस्य मान शोभते इति ॥१४६०॥

होइ सुतवो य दीओ अण्णाणतमंधयारचारिस्स ।
सव्वावत्थासु तओ वट्टदि य पिदा व पुरिसस्स ॥१४६१॥

'होइ सुतओ य दीओ' सम्यक्तप प्रदीपो भवति अज्ञानतमसि महति सचरत । एतेन जगतोऽज्ञानाख्य तमो विनाशयति तप इति सूचितं । सर्वावस्थासु हिते तपो वर्तते पितेव पुंस ॥१४६१॥

विसयमहापंकाउलगड्डाए सकमो तवो होइ ।
होइ य णावा तरिदु तवो कसायातिचवलणदिं ॥१४६२॥

गा०—सम्यक् तप करनेसे पुरुष बन्धुकी तरह लोगोंको प्रिय होता है। इससे यह कहा है कि सम्यक् तपसे मनुष्य सब जगत्का प्रिय होता है। तथा सम्यक् तपसे मनुष्य माताकी तरह लोकका विश्वासभाजन होता है। इससे तपसे सर्वजगत्का विश्वासपात्र होना कहा है ॥१४५८॥

गा०—स्वर्गसे अवतरित होना आदि पाच कल्याणक, चक्रवर्ती और अर्धचक्रियोंकी विभूतियाँ तथा देवों और मनुष्योंके जितने सुख हैं, तथा जो मोक्षका परम सुख है वह सब सम्यक् तपसे प्राप्त होते हैं ॥१४५९॥

गा०-टी०—जो चाहो वह तपसे मिलता है इसलिए सम्यक् तप मनुष्यके लिए कामधेनु और चिन्तामणि रत्नके समान है। तथा मनुष्यके मस्तकपर शोभित होनेवाले तिलक नामक अलकारके समान है और मानका विशिष्ट भूषण है अर्थात् तपसे सर्वजगत्के द्वारा मान्य पुरुषका मान शोभित होता है ॥१४६०॥

गा०—अज्ञानरूपी घोर अन्धकारमें विचरण करनेवालेके लिए सम्यक् तप दीपकके समान है। इससे सूचित किया है कि तप जगत्के अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करता है। तथा सम्यक् तप सब अवस्थाओंमें पिताकी तरह पुरुषको हितमें लगाता है ॥१४ १॥

गा०—यह विषय महान् कीचड़से भरे गर्तके समान हैं क्योंकि उनसे निकलना बहुत कठिन

'विसयमहापंकाउलगड्डाए' विषयो महापंकाकुलगर्त इव दुस्तरत्वात्। तस्मिन् मग्नो भवति। तदुत्तरणहेतुर्भवति तपः। तपो नौरुल्लंघयितुं कषायातिचपलनदीं ॥१४६२॥

फलिहो व दुग्गदीणं अणेयदुक्खावहाण होइ तवो।
आमिसतण्हाछेदणसमत्थमुदकं व होइ तवो ॥१४६३॥

'फलिहो व दुग्गदीण' दुर्गतीनां परिघ इव। कीदृशां दुर्गतीनां ? अनेकदुःखावहानां। किं च विषयतृष्णाच्छेदनसमर्थं च तपः उदकमिव तृष्णाच्छेदने ॥१४६३॥

मणदेहदुक्खवित्तासिदाण सरणं गदी य होइ तवो।
होइ य तवो सुतित्थं सव्वासुहदोसमलहरणं ॥१४६४॥

'मणदेहदुक्खवित्तासिदाण' मानसानां शरीराणां दुःखानां ये वित्रस्तास्तेषां शरणं गतिश्च तपः। भवति च तपस्तीर्थं सर्वाशुभदोषमलनिरासकारि ॥१४६४॥

संसारविसमदुग्गे तवो पणट्ठस्स देसओ होदि।
होइ तवो पच्छयणं भवकंतारम्मि दिग्घम्मि ॥१४६५॥

'संसारविसमदुग्गे' संसारो विषमदुर्गं इव दुस्तरणीयत्वात्। तस्मिन्प्रणष्टस्य दिङ्मूढस्य। 'तवो देसगो होदि' तपः उपदेष्टा भवति। संसारविषमदुर्गमुत्तारयतीति। 'होदि तवो पच्छयणं' भवति तपः पथ्यदनं 'भवकंतारम्मि' भवाटव्यां। 'दिग्घम्मि' दीर्घे ॥१४६५॥

रक्खा भएसु सुतवो अब्भुदयाणं च आगरो सुतवो।
णिस्सेणी होइ तवो अक्खयसोक्खस्स मोक्खस्स ॥१४६६॥

'रक्खा भएसु सुतवो' भयेषु रक्षा सुतपः। अभ्युदयानां चाकरः सुतपः मोक्षस्य अक्षयसुखस्य निश्रयणी भवति तपः ॥१४६६॥

है। तप उसमें निकलनेमें कारण है। तथा तप कषायरूप अति चपल नदीको पार करनेके लिए नौका है ॥१४६२॥

गा०—अनेक दुःखदायी दुर्गतियोंके लिए तप अर्गलाके समान है। तथा विषयोंकी तृष्णाको नष्ट करनेके लिए जलके समान है। जैसे जलसे प्यास बुझ जाती है वैसे ही तपसे विषयोंकी प्यास बुझ जाती है ॥१४६३॥

गा०—जो मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे पीड़ित हैं उनके लिए तप शरण और गति है। तप सर्व अशुभ दोषरूप मलको दूर करनेवाला तीर्थ है ॥१४६४॥

गा०—यह संसार विषम दुर्गके समान है क्योंकि उससे निकलना कठिन है। उस संसाररूपी दुर्गमें जो दिशा भूल गये हैं उनके लिए तप उपदेशक है अर्थात् संसाररूपी विषम दुर्गसे निकलनेका मार्ग बतलाकर उससे निकालता है। तथा सुदीर्घ भवरूपी भयानक वनमें कलेवाके समान सहायक है ॥१४६५॥

गा०—सम्यक् तप भयसे रक्षा करता है, अभ्युदयोंकी खान है और अविनाशी सुखस्वरूप मोक्षमें जानेके लिए नसैनी है ॥१४६६॥

त णत्थि ज ण लब्भइ तवसा सम्म कएण पुरिसस्स ।
अग्गीव तणं जलिओ कम्मतणं डहदि य तवग्गी ॥१४६७॥

'तण्णत्थि' तन्नास्ति यन्न लभ्यते तपसा सम्यक्कृतेन । तपोऽग्नि कर्मतृणं दहति तृणमिवाग्नि प्रज्वलित ॥१४६७॥

सम्म कदस्स अपरिस्सवस्स ण फलं तवस्स वण्णेदु ।
कोई अत्थि समत्थो जस्स वि जिब्भासयसहस्स ॥१४६८॥

'सम्म कदस्स सम्यक् कृतस्य निरास्रवस्य तपस फल वर्णयितु न कश्चित्समर्थोऽस्ति जिह्वाशतसहस्र यद्यप्यस्ति ॥१४६८॥

एव णादूण तव महागुणं सजमम्मि ठिच्चाणं ।
तवसा भावेदव्वा अप्पा णिच्च पि जुत्तेण ॥१४६९॥

'एव णादूण एव ज्ञात्वा तपो महोपकारि सयमे स्थित्वा तपसा भावयितव्य आत्मा नित्यमपि उपयुक्तेन ॥१४६९॥

जह गहिदवेयणो वि य अदयाकज्जे णिउज्जदे भिच्चो ।
तह चेव दमेयव्वो देहो मुणिणा तवगुणेसु ॥१४७०॥

'जह गहिदवेयणो वि य' यथा गृहीतवेतनोऽपि न दयाकार्ये नियुज्यते भृतक । तथैव दमितव्यो देहो मुनिना तपोगुणेषु । उत्तरगुण ॥१४७०॥

इच्चेव समणधम्मो कहिदो मे दसविहो सगुणदोसो ।
एत्थ तुममप्पमत्तो होहि समण्णागदमदीओ ॥१४७१॥

गा०—ससारमे ऐसा कोई पदार्थ नही है जो सम्यक्रूपसे किये गये तपके द्वारा न प्राप्त होता हो। जैसे प्रज्वलित आग तृणको जलाती है वैसे ही तपरूपी आग कर्मरूपी तृणोंको जलाती है ॥१४६७॥

गा०—सम्यक्रूपमे किये गये और कर्मास्रवसे रहित तपके फलका वर्णन करनेमे जिसके एक हजार जिह्वा हों वह भी समर्थ नही है ॥१४६८॥

गा०—इस प्रकार तपको महान् उपकारी जानकर सयममे स्थित सयमीजनोंको नित्य ही उपयोग लगाकर आत्मामे तपकी भावना करनी चाहिए ॥१४६९॥

गा०—जैसे वेतन लेनेवाले सेवकको कार्यमे नियुक्त करते समय उसपर दया नही की जाती। उसी प्रकार मुनिको अपने शरीरको तपरूप गुणमें लगाना चाहिए। अर्थात् जब शरीर को भोजनरूपी वेतन दिया जाता है उसपर दया न करके उसको तपकी साधनामें लगाना चाहिए ॥१४७०॥

---

१ दमदी-मु० मूलारा०।

'**इच्चेव समणधम्मो**' इत्येव श्रमणधर्म दशविध सगुणदोष कथितो मया। 'एत्थ तुममप्पमत्तो होहिं' अत्र दशविधे धर्मे त्वमप्रमत्तो भव, समागतस्मृतिक इति गणिना स्वशिक्षापरिसमाप्तिरादर्शिता ॥१४७१॥

तो खवगवयणकमलं गणिरविणो तेहिं वयणरस्सीहिं।
चित्तप्पमायविमलं पफुल्लिदं पीदिमयरदं ॥१४७२॥

'**तो खवगवदणकमलं**' तत शिक्षानन्तर तस्य क्षपकस्य वदनकमल प्रफुल्लित सूरिधर्मरश्मेस्तैर्वचनरश्मिभि चित्तप्रमादविमल प्रीतिमकरद ॥१४७२॥

वयणकमलेहिं गणिअभिमुहेहिं सा[1] विंभियच्छिपत्तेहिं।
सोभइ इह[2] सूरोदयम्मि फुल्लं व णलिणिवणं ॥१४७३॥

'**वयणकमलेहिं**' वदनकमलै यतीना गणिनोऽभिमुखै [3]विस्मिताक्षिपत्रै सा सभा शोभा वहति स्म। सूर्योदये पुष्पितनलिनवनमिव ॥१४७३॥

गणिउवएसामयपाणएण पल्हादिदम्मि चित्तम्मि।
जाओ य णिव्वुदो सो पादूणय पाणय तिसिओ ॥१४७४॥

'**गणिउवएसामयपाणएण**' गणिन उपदेशामृतपानकेन प्रह्लादिते चित्ते जातोऽसौ क्षपक सुष्ठु निर्वृत तृषित पानक पीत्वेव ॥१४७४॥

तो सो खवओ त अणुसट्ठिं सोऊण जादसंवेगो ॥
उट्ठित्ता आयरिय वदइ विणएण पणदंगो ॥१४७५॥

गा०—इस प्रकार हे क्षपक! मैंने गुणदोषोंके विवेचनपूर्वक दस प्रकारके श्रमण धर्मका कथन किया। उसको स्मरण करके तुम दस प्रकारके धर्ममें अप्रमादी होओ। इस प्रकार निर्यापकाचार्यने अपनी शिक्षाकी समाप्ति सूचित की है ॥१४७१॥

गा०—इस शिक्षाके अनन्तर उस क्षपकका मुखरूपी कमल आचार्यरूपी सूर्यके वचनरूपी किरणोंसे प्रफुल्लित हो जाता है, चित्तके प्रसन्न होनेसे उस मुख कमलकी विरूपता चली जाती है और उसमेंसे प्रीतिरूपी पुष्परस झरने लगता है ॥१४७२॥

गा०—जैसे सूर्यके उदय होनेपर खिला हुआ कमलोंका वन शोभित होता है उसी प्रकार आचार्यके अभिमुख हुए यतियोंके मुख कमलोंसे, जो आश्चर्ययुक्त नेत्ररूपी पत्रोंसे सयुक्त होते हैं, वह मुनिसभा शोभित होती है ॥१४७३॥

गा०—आचार्यके उपदेशरूपी अमृतका पान करके चित्तके आह्लादयुक्त होनेपर क्षपक वैसा ही सुखी होता है जैसा प्यासा अमृतमय पानक पीकर होता है ॥१४७४॥

गा०—उसके पश्चात् वह क्षपक आचार्यका उपदेश सुनकर वैराग्यसे भर जाता है और उठकर अंगोंको नम्र करके विनयपूर्वक आचार्यको वन्दना करता है ॥१४७५॥

---

१ हि विभि-आ०। सावम्हियदत्थिपत्तेहिं-मु०। २ सोभदि समसा स-मु०। ३ विस्मृताक्षि-मु०।

'तो सो खवगो' ततोऽसौ क्षपकः तदनुशासनं श्रुत्वा जातसंवेग उत्थाय आचार्यं वदते विनयेन प्रणताङ्गः ॥१४७५॥

भंते सम्मं णाणं सिरसा य पडिच्छिदं मए एदं ।
जं जह उत्तं तं तह[1] करेमि विणओ तदो भणइ ॥१४७६॥

'भंते सम्मं णाणं' भगवन् सम्यग्ज्ञानं एतच्छिरसा मया परिगृहीतं । यद्यथोक्तं भवद्भिस्तथा करिष्यामि इति वदति ॥१४७६॥

अप्पा णिच्छरदि जहा परमा तुट्ठी य हवदि जह तुज्झ ।
जह तुज्झ य संघस्स य सफलो य परिस्समो होइ ॥१४७७॥

'अप्पा णिच्छरदि जहा' अहं यथा निस्तीर्णो भवामि संसारात् । यथा युष्माकं परमा तुष्टिर्भवति । भवतां संघस्य चास्मदनुग्रहे प्रवृत्तानां श्रमस्य फलं भवति ॥१४७७॥

जह अप्पणो गणस्स य संघस्स य विस्सुदा हवदि कित्ती ।
संघस्स पसायेण य तहह आराहइस्सामि ॥१४७८॥

'जह अप्पणो गणस्स य' यथा मम गणस्य संघस्य च कीर्तिविश्रुता भवति तथाहमाराधयिष्यामि संघस्य प्रसादेन ॥१४७८॥

[2]धीरपुरिसेहिं जं आयरियं जं च ण तरंति कापुरिसा ।
मणसा वि विचिंतेदुं तमहं आराहणं काहं ॥१४७९॥

[3]धीरपुरिसेहिं [4]धीरैः पुरुषैर्या आचरिता, यां च न शक्नुवन्ति कापुरुषा मनसापि चिन्तयितुं तादृशीमाराधनामहं करिष्यामि ॥१४७९॥

गा०—और कहता है—भगवन् ! मैंने आपके द्वारा दिया सम्यग्ज्ञान सिर नवाकर स्वीकार किया । आपने जो-जो जिस प्रकार कहा है मैं वैसा ही करूँगा ॥१४७६॥

गा०—जिस प्रकारसे मैं संसारसे पार उतरूँ, जिस प्रकारसे आपको परम सन्तोष हो, मेरे कल्याणमें संलग्न आपका और संघका परिश्रम जिस प्रकारसे सफल हो ॥१४७७॥

गा०—जिस प्रकार मेरी और संघकी कीर्ति फैले, मैं संघकी कृपासे उस प्रकार रत्नत्रयकी आराधना करूँगा ॥१४७८॥

गा०—वीर पुरुषोंने जिसका आचरण किया है, कायर पुरुष जिसकी मनसे कल्पना भी नहीं कर सकते, मैं ऐसी आराधना करूँगा ॥१४७९॥

---

१ तह माहत्तिय गा तदा –मु० । २, ३, ४ धीर –मु० ।

एव तुज्झ उवएसामिदमासाइदत्तु को णाम ।
वीहेज्ज छुहादीणं मरणस्स वि कायरो वि णरो ॥१४८०॥

'एव तुज्झ' एवं भवतामुपदेशामृतमास्वाद्य को नाम बिभेति कातरोऽपि नरः क्षुधादीनां मृत्योर्वा ॥१४८०॥

किं जंपिएण बहुणा देवा वि सइंदिया मह विग्घं ।
तुम्हं पादोवग्गहगुणेण काउं ण असहंति ॥१४८१॥

'किं जंपिएण बहुणा' किं बहुना जल्पितेन देवा अपि शतमखप्रमुखा मम विघ्नं कर्तुं असमर्था भवत्पादोपग्रहणगुणेन ॥१४८१॥

किं पुण छुहा व तण्हा परिस्समो वादियादि रोगो वा ।
काहिंति ज्झाणविग्घं इंदियविसया कसाया वा ॥१४८२॥

'किं पुण' किं पुन: कुर्वन्ति ध्यानस्य विघ्नं क्षुधा, तृषा वा, परिश्रमो वा, वातिकादिरोगा वा इन्द्रियाणां विषया, कषाया वा ॥१४८२॥

ठाणा चलेज्ज मेरू भूमी ओमत्थिआ भविस्सिहिदि ।
ण य हं गच्छमि विगदिं तुज्झ पायप्पमाएण ॥१४८३॥

'ठाणा चलिज्ज' स्वस्मात्स्थानाच्चलिष्यति मेरु । भूमिः परावृतमस्तका भविष्यति । नाहं विकृतिं गमिष्यामि भवता पादप्रसादेन ॥१४८३॥

[1]एवं खवओ संथारगओ खवइ विरियं अगूहंतो ।
देदि गणी वि सदा से तह अणुसट्ठिं अपरिदंतो ॥१४८४॥

समासमनुशासनम् ॥१४८४॥

गा०—आपके इस प्रकारके उपदेशामृतको पीकर कौन कायर भी मनुष्य भूख प्यास और मृत्युसे डरेगा ॥१४८०॥

गा०—अधिक मैं क्या कहूँ, आपके चरणोंके अनुग्रहसे इन्द्रादि प्रमुख देव भी मेरी आराधनामें विघ्न नहीं कर सकते ॥१४८१॥

गा०—तब भूख, प्यास परिश्रम, वातादि जन्य रोग, अथवा इन्द्रियोंके विषय और कषाय ध्यानमें विघ्न कैसे कर सकते हैं ॥१४८२॥

गा०—सुमेरु अपने स्थानसे विचलित हो जाये और पृथ्वी उलट जाये किन्तु आपके अनुग्रहसे मैं विकारसे विचलित नहीं होऊँगा ॥१४८३॥

गा०—इस प्रकार क्षपक संस्तर पर आरूढ होकर अपनी शक्तिको न छिपाकर पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मकी निर्जरा करता है और आचार्य भी बिना विरक्त हुए उसे सदा सत् शिक्षा देता है ॥१४८४॥

---

१. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

सारणेत्येतत्सूत्रपदव्याख्यानमुत्तरम्—

अकडुगमतित्तयमणंबिलच अकसायमलवणममधुरं ।
अविरसमदुरभिगंध अच्छमणुण्हं अणदिसीदं ॥१४८५॥

'अकडुग' अकटुक, अतिक्त, अनाम्ल, अकषाय, अलवण, अमधुर, अविरस, अदुरभिगंध, स्वच्छमनुष्णमशीत ॥१४८५॥

पाणगमसिंभलं परिपूयं खीणस्स तस्स दादव्वं ।
जह वा पच्छं खवयस्स तस्स तह होइ दायव्वं ॥१४८६॥

'पाणगमसिंभलं' पानकमश्लेष्मकारि परिपूतं क्षीणाय क्षपकाय दातव्यं । यथाभूतं वा क्षपकस्य तस्य पथ्यं तथाभूतं दातव्यम् ॥१४८६॥

संथारत्थो खवओ जइया खीणो हवेज्ज तो तइया ।
वोसरिदव्वो पुव्वविधिणेव सो पाणगाहारो ॥१४८७॥

'संथारत्थो' संस्तरस्थः क्षपको यदा क्षीणो भवेत्तदा व्युत्सृष्टव्योऽसौ पानकविकल्पः पूर्वविधिनैव ॥१४८७॥

एवं संथारगदस्स तस्स कम्मोदएण खवयस्स ।
अंगे कत्थइ उट्ठिज्ज वेयणा ज्झाणविग्घयरी ॥१४८८॥

'एवं संथारगदस्स' एवं संस्तरगतस्य क्षपकस्य कर्मोदयेन क्वचिदुद्वेदनोपजायते ध्यानविघ्नकारिणी ॥१४८८॥

अब पूर्व गाथामें आगत 'सारण' पदका व्याख्यान करते हैं—

गा०-टी०—क्षपकको दिया जानेवाला पानक कटुक, चरपरा, खट्टा, कसैला, नमकवाला, मीठा, स्वादयुक्त और दुर्गन्ध युक्त नहीं होना चाहिये अर्थात् वह न कटुक हो, न चरपरा हो, न खट्टा हो, न कसैला हो, न नमकसे युक्त हो, न मीठा हो, तथा स्वादहीन और दुर्गन्धयुक्त भी न हो। स्वच्छ हो, न गर्म हो और न ठंडा हो ॥१४८५॥

गा०— कफ पैदा करने वाला न हो। कपडे से छान लिया गया हो। इस प्रकार कमजोर क्षपकको ऐसा पेय देना चाहिये जो उसके लिये पथ्य हो, अर्थात् समाधिमें विघ्न डालने वाला न हो ॥१४८६॥

गा०—जब संस्तरारूढ क्षपक अतिक्षीण हो जाये तब पूर्वविधिसे पानकका त्याग करा देना चाहिये ॥१४८७॥

गा०—इस प्रकार संस्तरारूढ क्षपकके कर्मके उदयसे किसी अंगमें ध्यानमें विघ्न डालने वाली वेदना यदि उत्पन्न हो जाये ॥१४८८॥

---

१ मदुब्भिगन्ध –मु०, मूलारा०।

बहुगुणसहस्सभरिया जदि णावा जम्मसायरे भीमे ।
भिज्जदि हु रयणभरियाणावा व समुद्दमज्झम्मि ॥१४८९॥

'बहुगुणसहस्सभरिदा' बहुभिर्गुणसहस्रैः, सम्पूर्णा यतिनौर्जन्मसागरे भीमे यदि भेदमुपेयात रत्नपूर्णा नौरिव समुद्रमध्ये ॥१४८९॥

गुणभरिद जदिणाव दट्ठूण भवोदधिम्मि भिज्जत ।
कुणमाणो हु उवेक्ख को अण्णो हुज्ज णिद्धम्मो ॥१४९०॥

'गुणभरिव जदि णाव' गुणैः पूर्णां यतिनाव भवसमुद्रमध्ये भिद्यमाना दृष्ट्वा य करोत्युपेक्षा तस्मात्कोऽन्यो भवेद्धर्मनि क्रान्त ॥१४९०॥

विज्जावच्चस्स गुणा जे पुव्व वित्थरेण अक्खादा ।
तेसिं फिडिओ सो होइ जो उविक्खिज्ज त खवय ॥१४९१॥

वेज्जावच्चस्स गुणा' वैयावृत्यस्य गुणा ये पूर्व विस्तरेण व्याख्यातास्तेभ्य प्रच्युतो भवति य उपेक्षते क्षपक ॥१४९१॥

तो तस्स तिगिंछाजाणएण खवयस्स सव्वसत्तीए ।
विज्जादेसेण व से पडिकम्म होइ कायव्व ॥१४९२॥

'तो तस्स' ततस्तस्य क्षपकस्य चिकित्सा जानता सर्वशक्त्या प्रतिकर्म कर्तव्य वैद्यस्य चोपदेशेन ॥१४९२॥

णाऊण विकार वेदणाए तिस्से करेज्ज पडियार ।
फासुगदव्वेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडिघाद ॥१४९३॥

'णादूण विकार' ज्ञात्वा विकार तस्या वेदनाया तत प्रतिकार कुर्यात् । योग्यैर्द्रव्यैर्वातिकफपित्तप्रतिघात ॥१४९३॥

गा०—समुद्रके मध्यमे रत्नोसे भरी नावकी तरह हजारो गुणोसे भरी यतिरूपी नौका यदि भयकर ससारसागरमे डूबने लगे ॥१४८९॥

गा०—गुणोसे भरी नावको ससार-समुद्रमे डूबते हुए देखकर यदि कोई उपेक्षा करता है तो उससे बडा अधार्मिक दूसरा कौन होगा ॥१४९०॥

गा०—जो क्षपककी उपेक्षा करता है वह पूर्वमे जो वैयावृत्यके गुण विस्तारसे कहे हैं उनसे च्युत होता है ॥१४९१॥

गा०—अत उस क्षपकके रोगकी चिकित्सा जाननेवाले निर्यापकाचार्यको स्वय अथवा वैद्यके परामर्शसे सर्वशक्तिके साथ इलाज करना चाहिये ॥१४२॥

गा०—उस क्षपककी वेदनाके विकारको जानकर प्रासुक द्रव्योसे वात, पित्त और कफको रोकनेवाला प्रतिकार करना चाहिये ॥१४९३॥

वत्थीहिं अवद्दवणतावणेहिं आलेवसीदकिरियाहि ।
अब्भंगणपरिमद्दण आदीहिं तिगिंछदे खवयं ॥१४९४॥

'वत्थीहिं' वस्तिकर्मभिः 'अवद्दवणतावणेहिं' उष्मकरणतापनैः, आलेपनेन, शीतक्रियया, अभ्यङ्ग-परिमर्दनादिभिश्च चिकित्सते क्षपकं ॥१४९४॥

एवं पि कीरमाणे परियम्मे वेदणा उवसमो सो ।
खवयस्स पावकम्मोदएण तिव्वेण हु ण होज्ज ॥१४९५॥

एवं पि कीरमाणे प्रतीकारे क्षपकस्य वेदनोपशमः तीव्रेण पापकर्मोदयेन[1] नापि भवेदपि, नहि बहिर्द्रव्य-माहात्म्येनैव कर्माणि स्वफलं न प्रयच्छन्ति । तदेव हि बहिर्द्रव्यं एकस्य वेदनां प्रशमयति नापरस्येति प्रतीत-तरमेतद् ॥१४९५॥

अहवा तण्हादिपरीसहेहिं खवओ हविज्ज अभिभूदो ।
उवसग्गेहिं व खवओ अचेदणो होज्ज अभिभूदो ॥१४९६॥

'अहवा तण्हादिपरीसहेहिं' अथवा तृडादिभिः परीषहैरभिभूतो भवेत्क्षपकः, उपसर्गैर्वाभिभूतो निश्चेतनः स्यात् ॥१४९६॥

तो वेदणावसट्टो वाउलिदो वा परीसहादीहिं ।
खवओ अणप्पवसिओ सो विप्पलवेज्ज ज किं पि ॥१४९७॥

'तो वेदणावसट्टो' ततो वेदनावशार्तो व्याकुलितः परीषहोपसर्गैः क्षपकोऽनात्मवशो विप्रलपेद्यदि किञ्चन ॥१४९७॥

गा०—वस्तिकर्म (एनिमा) गर्म लोहेसे दागना, पसीना लाना, लेप लगाना, प्रासुक जलका सेवन कराना, मालिश, अंगमर्दन आदिके द्वारा क्षपककी वेदना दूर करना चाहिये।१४९४।

गा०—इस प्रकार प्रतीकार करने पर भी तीव्र पाप कर्मके उदयसे यदि क्षपककी वेदना शान्त न हो। क्योंकि केवल 'बाह्य' द्रव्यके प्रभावसे ही कर्म अपना फल न दें, ऐसी बात नहीं है। वही बाह्य द्रव्य एककी वेदना शान्त करता है दूसरेकी नहीं करता। यह तो अनुभवसिद्ध है ॥१४९५॥

गा०—अथवा क्षपक प्यास आदिकी वेदनासे अभिभूत हो जाय या उपसर्गोंसे पीड़ित होकर मूर्छित हो जाये ॥१४९६॥

गा०—या वेदनासे पीड़ित और परीषह उपसर्गोंसे व्याकुल होकर क्षपक अपने वशमें न रहे और जो कुछ भी बकने लगे ॥१४९७॥

---

१. येन पन वेदनापि नहि —अ० ।

उब्भासेज्ज व गुणसेढीदो उदरणवुद्धिओ खवओ ।
छट्ठ दोच्च पढम व सिया कुटिलिदपदमिच्छंतो ॥१४९८॥

'उब्भासेज्ज' वदेद्वायोग्य, सयमगुणश्रेणिन कृतावतरणबुद्धि 'छट्ठ' रात्रिभोजन, 'दोच्च' पाण, दिवमे 'पढम व' अशन वा। 'सिया' कदाचित्। 'कुटिलिदपदमिच्छंतो' स्खलत्पद इच्छन् ॥१४९८॥

तह भुज्झतो खवगो सारेदव्वो य सो तओ गणिणा ।
जह सो विसुद्धलेस्सो पच्चागदचेदणो होज्ज ॥१४९९॥

'तह भुज्झतो खवगो' मोहमुपगच्छन् क्षपकस्तथा सारयितव्योऽसौ तेन गणिना। कथ ? यथा विशुद्धलेश्यो भवति प्रत्यागतचेतनश्च ॥१४९९॥

सारणोपाय कथयति—

कोसि तुम किं णामो कत्थ वससि को व सपही कालो ।
किं कुणसि तुम कह वा अत्थसि किं णामगो वाहं ॥१५००॥

'कोऽसि तुम' कस्त्व ? किंनामधेय ? 'कत्थ वससि' क्व वससि ? 'को व सपही कालो' को वेदानी काल ? किमय दिवा रात्रिर्वा ? 'किं कुणसि तुम' किं करोषि भवान् ? 'कह वा अत्थसि' कथ वा तिष्ठसि ? 'किं णामगो वाह' अह वा किंनामधेय ? ॥१५००॥

एव आउच्छित्ता परिक्खहेदु गणी तय खवय ।
सारइ वच्छलयाए तस्स य कवय करिस्संति ॥१५०१॥

'एव आउच्छित्ता' एवमनुपृच्छत् सारयति गणी त क्षपक। किं सचेतनो निश्चेतन इति परीक्षितुकाम वत्सलतया। यद्यस्ति चेतना कवच करिष्यामीति मत्वा ॥१५०१॥

गा०—अयोग्य वचन कहे, या सयमगुणकी सीढीसे नीचे उतरना चाहे, या निचले स्थानको चाहते हुए रात्रि भोजन या रात्रिमे पानक लेना चाहे या दिनमे असमयमे भोजन करना चाहे ॥१४९८॥

गा०—इस प्रकार जब क्षपक मोहमे पड जाये तो आचार्यको उसे सब पिछली बातोका स्मरण कराना चाहिये। जिसमे उसके परिणाम विशुद्ध हो और उसका यथार्थ ज्ञान लौट आवे ॥१४९९॥

उसके उपाय कहते हैं—

गा०—तुम कौन हो ? तुम्हारा क्या नाम है ? कहाँ रहते हो ? इस समय दिन है या रात है ? तुम क्या करते हो ? कहाँ बैठे हो ? मेरा क्या नाम है ॥१५००॥

गा०—इस प्रकार आचार्य उसकी परीक्षाके लिये कि यह सचेत अवस्थामे है या अचेत अवस्थामे है, वात्सल्य भावसे बारम्बार उसे स्मरण कराते हैं। उनकी यह भावना रहती है कि यदि यह सचेत है तो उसके सयमकी रक्षा की जाये ॥१५०१॥

जो पुण एवं ण करिज्ज सारण तस्स [1]वियलचक्खुस्स ।
सो तेण होइ णिद्धघसेण खवओ परिच्चत्तो ॥१५०२॥

'जो पुण एव ण करिज्ज' य पुनरेव न कुर्यात् सारण । स्खलितचित्तवृत्तेः स क्षपकस्तेन परित्यक्तो भवति सूरिणा ॥१५०२॥

एव सारिज्जंतो कोई कम्मुवसमेण लभदि सदि ।
तह य ण लभिज्ज सदिं कोई कम्मे उदिण्णम्मि ॥१५०३॥

'एव सारिज्जंतो' एव सार्यमाण कश्चित् चारित्रमोहोपशमेन असद्वेद्योपशमेन वा स्मृति योग्यायोग्यविषया लभते । अयुक्तेय इच्छा मम अकाले भोक्तु पातु वा प्रत्याख्यात कथ कालेऽपि प्रार्थयामीति मायमाणोऽपि । लभते स्मृति कश्चित्कर्मण्युदीर्णे नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणे । सारणा ॥१५०३॥

सदिमलभतस्स वि कादव्व पडिकम्ममट्ठिय गणिणा ।
उवदेसो वि मया से अणुलोमो होदि कायव्वो ॥१५०४॥

'सदिमलभतस्स वि' स्मृतिमलभमानस्यापि गणिनाऽस्थित कर्तव्य । प्रतिकार , उपदेशोऽपि अनुकूल सदा तस्य कर्तव्य ॥१५०४॥

चेयतो पि य कम्मोदयेण कोई परीसहपरद्धो ।
उब्भासेज्ज व उवक्कावेज्ज व भिंदेज्ज आउरो पदिण्ण ॥१५०५॥

'चेयतो पि' चेतयमानोऽपि कर्मोदयेन कश्चित्परीषहपराजितो यत्किञ्चिद्वदेत् आरटेत, भिन्द्याद्वा स्वा प्रत्याख्यानप्रतिज्ञा ॥१५०५॥

गा०—यदि आचार्य उस चलायमान चित्तवाले क्षपकको इस प्रकारसे स्मरण नही करावे तो समझना चाहिये उस निर्दयीने उस क्षपकको त्याग दिया है ॥१५०२॥

गा०—इस प्रकार स्मरण दिलाने पर कोई-कोई क्षपक चारित्र मोह अथवा असातावेदनीय का उपशम होनेसे योग्य अयोग्यके विचारविषयक स्मृतिको प्राप्त होते हैं कि अकालमें खाने पीनेकी इच्छा करना मेरे लिये योग्य नही है । जो मैं त्याग कर चुका उसे कालमें भी कैसे ग्रहण करूँ ? आदि । किन्तु कोई नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्मकी उदीरणा होनेपर स्मृति प्राप्त नही करते ॥१५०३॥

गा०—स्मृतिको जो प्राप्त नहीं होता, उसके प्रति भी आचार्यको निरन्तर प्रतिकार करते रहना चाहिये । तथा उसके अनुकूल उपदेश भी करते रहना चाहिये ॥१५०४॥

गा०—कोई क्षपक चेतनाको प्राप्त करके भी कर्मके उदयसे परीषहोंसे हारकर यदि अयोग्य वचन बोले, या रुदन करे या अपनी व्रत प्रतिज्ञाको भग करे तो भी उसके प्रति कटुक वचन

---

१ विप्फुरमाणस्स (स्खलितचित्तवृत्ते) । –मूलारा० ।

ण हु सो कडुव फरुसं व भणिदव्वो ण खीसिदव्वो य ।
ण य विचासेदव्वो ण य वट्टदि हीलणं कादु ॥१५०६॥

'ण हु सो कडुग' स एव कुर्वन्क्षपक न कर्तव्य कटुक परुष वा, न भर्त्सनीय, न च त्रास नेतव्य, न च मुक्त परिभव कर्तुं तस्य ॥१५०६॥

परुषवचनादिभि को दोषो जायते इत्यत्रोच्यते—

फरुसवयणादिगेहिं दु माणी [1]विप्फुरिओ तओ सतो ।
उद्धाणमवक्कमण कुज्जा असमाधिकरणं वा ॥१५०७॥

'परुसवयणादिगेहिं' परुषवचनादिभिर्मानी विराधित सन् ॥१५०७॥

तस्स पदिण्णामेर भित्तुं इच्छतयस्स णिज्जवओ ।
सव्वायरेण कवय परीसहणिवारण कुज्जा ॥१५०८॥

'तस्स पदिण्णामेर' तस्य स्वप्रतिज्ञामर्यादया भेत्तु वाञ्छतो निर्यापक सूरि कवच कुर्यात् परीषहनिवारणक्षम ॥१५०८॥

णिद्ध मधुरं पल्हादणिज्ज हिदयंगम अतुरिद वा ।
तो सीहावेदव्वो सो खवओ पण्णवतेण ॥१५०९॥

'णिद्ध' स्नेहसहित, **'मधुर'** श्रोत्रप्रिय, हृदयसुखविधायि, हृदयप्रवेशि, अत्वरित असौ शिक्षयितव्य क्षपक प्रज्ञापयता ॥१५०९॥

रोगादंके सुविहिद विउल वा वेदण धिदियलेण ।
तमदीणममूढो जिण पच्चूहे चरित्तस्स ॥१५१०॥

बोलना उचित नही है, न उसका तिरस्कार करना चाहिये, न उसका हास्य करना चाहिये, न उसे त्रास देना चाहिये और न उसका अनादर करना चाहिये ॥१५०५-१५०६॥

उसके प्रति कठोर वचन बोलने आदिसे क्या हानि होती है यह कहते हैं—

गा०—कठोर वचन आदिसे भडककर वह अभिमानी क्षपक मर्यादासे च्युत हो सकता है या दुर्ध्यानमें लग सकता है अथवा सम्यक्त्वको त्याग सकता है ॥१५०७॥

गा०—यदि वह अपनी प्रतिज्ञारूपी मर्यादाको तोडना चाहे तो निर्यापकाचार्य उसकी रक्षाके लिये ऐसा कवच आदरपूर्वक करे जो परीषहोंका निवारण कर सके ॥१५०८॥

गा०—आचार्यको स्नेहसहित, कानोको प्रिय, हृदयमे सुख देनेवाले तथा हृदयमे प्रवेश करने वाले वचनोंसे क्षपकको धीरे-धीरे सम्बोधना चाहिये ॥१५०९॥

गा०—हे सुन्दर आचार वाले ! तुम दीनता और मूढताको त्यागकर चारित्रमे बाधा डालनेवाली छोटी या बडी व्याधियोंको, महती वेदनाको धैर्यरूपी बलसे जीतो । राग और कोपका

1 विप्पुरिसिदो-विराधित -मूलारा० ।

रोगातङ्के महतोऽल्पाश्च व्याधीन् । विपुला वा वेदना धृतिबलेन जय त्वमदीनोऽमूढश्च प्रत्यूहान् चारित्रस्य । वीतरागकोपतादि चारित्रं । तद्व्याधिप्रतीकारार्थेषु वस्तुषु आदरवतो व्याधिषु वेदनासु च द्वेषवतो नश्यति । ततश्चारित्रविघ्नास्त्वया जेतव्या इति भाव ॥१५१०॥

सव्वे वि य उवसग्गे परिसहे य तिविहेण णिज्जिणाहि तुमं ।
णिज्जिणिय सम्ममेदे होहिसु आराहओ मरणे ॥१५११॥

'सव्वे वि य उवसग्गे' सर्वांश्चोपसर्गान् परीषहांश्च मनोवाक्कायैर्जय । उपसर्गपरीषहजयदु खाभीरुता मनसा जय । भीतोऽयमिति दयया न दु खानि हरन्ति । सन्निहितद्रव्यादिसहकारिकारणमसद्वेद्यमुदयागत अनिवार्यवीर्यं बल प्रयच्छत्येवेति धृतिबलेन भावना मनसा जय । श्रान्तोऽस्मि वेदनादु महात्मता पश्यत मदीयामिमां अतिकष्टामवस्था । दग्धोऽस्मि ताडितोऽस्मि इत्येवमादिदीनवचनानुच्चारण । असकृदनुभूतार्था परीषहा क्षुदादय , उपसर्गाश्च पूर्वं । पूत्कुर्वन्तमपि नामी मुञ्चन्ति । केवल धृतिरहितोऽय वराको रारटीति निन्द्यते । न सन्मार्गात्प्रच्यावयितु इमे क्षमा इति उदारवचनता वचनेन जय । अदीनेक्षणमुखरागवत्ता अचलता च कायेन जय । 'णिज्जिणिय सम्ममेदे' निर्जित्यैव सम्यगेतानुपसर्गपरीषहान्मरण मृतिकाले । आराधओ होहिसि' रत्नत्रयपरिणतो भविष्यसि । उपसर्गपरीषहव्याकुलितचेतसो नैवाराधकता ॥१५११॥

सभर सुविहिय ज ते मज्झम्मि चदुव्विधस्स सघस्स ।
वूढा महापदिण्णा अहय आराहइस्सामि ॥१५१२॥

'सभर' स्मृति निधेहि । 'सुविहिद' सुचारित्र । कि स्मरामि इति चेत् 'त' ता प्रतिज्ञा या कृतवानसि ।

त्याग ही चरित्र है । व्याधिको दूर करनेके उपायोमे आदर करनेवाले तथा व्याधि और वेदनासे द्वेष करनेवालेका चारित्र नष्ट होता है। अत तुम्हे चारित्रके विघ्नोको जीतना चाहिये ॥१५१०॥

गा०-टी०—हे क्षपक ! तुम सब उपसर्गो और परीषहोको मन वचन कायसे जीतो। उपसर्ग और परीषहोंके जीतनेमे जो दु ख होता है उससे न डरना मनसे जीतना है। यह डरपोक है अत दया करके उपसर्ग परीषह उसे दु ख नही देंगे ऐसी बात नही है। द्रव्यादि सहकारी कारणोंके रहने पर असातावेदनीय कर्म उदयमे आता है और उसकी शक्तिको रोकना शक्य नही होता तब वह कष्ट देता ही है। धैर्यरूपी बलपूर्वक ऐसी भावना होना मनसे जीतना है। मैं थक गया हूँ, मेरी इस अतिकष्टकर और दु सह वेदना रूप अवस्थाको देखो, मैं दु खमे जल रहा हूँ, कष्ट ने मुझे मार डाला इत्यादि दीन वचनोका उच्चारण न करना। मैंने पूर्वमें अनेक बार भूख आदि परीषहों और उपसर्गोको सहा है। चिल्लाने पर भी ये छोडते नही है। केवल यह बेचारा धैर्य खोकर रोता है ऐसी निन्दा करते हैं। ये मुझे सन्मार्गसे डिगानेमे समर्थ नही हैं। इस प्रकारके उदार वचन बोलना वचनसे जीतना है। आखोंमे और मुखपर दीनताका भाव न होना, मुखपर प्रसन्नताका रहना, विचलित न होना कायसे जीतना है। इस प्रकार इन परीषहों और उपसर्गोको सम्यक् रूपसे जीतनेपर मरते समय तुम रत्नत्रयरूपसे परिणत हो सकोगे। जिसका चित्त उपसर्ग और परीषहसे व्याकुल रहता है वह आराधक नही हो सकता ॥१५११॥

गा०—हे सुचारित्रसे सम्पन्न क्षपक ! तुमने चतुर्विध सघके मध्यमे जो महती प्रतिज्ञा की थी कि मैं आराधना करूँगा उसे स्मरण करो ॥१५१२॥

मज्झम्मि' मध्ये । कस्य ? 'चदुव्विधस्स' चतुर्विधस्य संघस्य । 'वूढा' धृता । 'महापदिण्णा' महती प्रतिज्ञा । 'अहय' अहं 'आराधइस्सामि' आराधयिष्यामि इति ॥१५१२॥

को णाम भडो कुलजो माणी थोलाइदूण जणमज्झे ।
जुज्झे पलाइ आवडिदमेत्तओ चेव अरिभीदो ॥१५१३॥

'को णाम भडो' क पलायते युद्धे भट शूर । 'कुलजो' मानी । 'थोलाइदूण' भुजास्फालन कृत्वा । जनमध्ये । एव युद्धे शत्रुपराजय करिष्यामीति उद्घुष्य 'आवडिमेत्तओ' अभिमुखायातशत्रुरेव अरिभीत । क पलायन करोति ॥१५१३॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—

थोलाइदूण पुव्व माणी सतो परीसहादीहिं ।
आवडिदमित्तओ चेव को विसण्णो हवे साहू ॥१५१४॥

'थोलाइदूण पुव्व' भुजास्फालन कृत्वा पूर्व । 'परीसहादीहिं आवडिदमेत्तगो चेव' परीषहारातिभिरभिमुखायात एव । 'को विसण्णो हवे साहू माणी सतो' का विषण्णो भवेत्साधुवर्गो मानी सन् ॥१५१४॥

आवडिया पडिकूला पुरओ चेव कमति रणभूमिं ।
अवि य मरिज्ज रणे ते ण य पसरमरीण वड्ढति ॥१५१५॥

'आवडिया पडिकूला' अभिमुखायाता शत्रव । पुरओ चेव कमति रणभूमिं' पुरस्तादेवोपसर्पन्ति रणभूमिं । 'अवि य मरिज्ज रणे' यद्यपि रणे म्रियन्ते । 'ण य पसरमरीण वड्ढन्ति' नैव प्रसरमरीणा वर्धयन्ति ॥१५१५॥

तह आवइपडिकूलदाए साहवो माणिणो सूरा ।
अइतिव्ववेयणाओ सहंति ण य विगडिमुवयंति ॥१५१६॥

'तह आवइपडिकूलदाए' तथा आपत्प्रतिकूलतया । 'साधवो' मानिन शूरा । 'अदितिव्ववेदणाओ' अतीव तीव्रवेदना 'सहंति' सहन्ते । 'ण य विगडिमुवयंति' नैव विकृतिमुपयाति ॥१५१६॥

गा०—कौन कुलीन स्वाभिमानी शूरवीर मनुष्योके बीचमे अपनी भुजाओको ठोककर 'मै युद्धमे इस प्रकार शत्रुओको हराऊगा' ऐसी घोषणा करके सामने आये शत्रुसे ही डरकर भागना पसन्द करेगा ॥१५१३॥

गा०—उसी प्रकार पूर्वमे भुजाओको ठोककर कौन स्वाभिमानी साधु परीषह आदिके सन्मुख आते ही खेदखिन्न होगा ॥१५१४॥

गा०—जिन सुभटोके शत्रु उनके सन्मुख आते हैं वे सुभट शत्रुओके आनेसे पूर्व ही युद्ध भूमिमे पहुँच जाते हैं। वे युद्धमे मर जाये भले ही किन्तु शत्रुओका उत्साह नही बढने देते ॥१५१५॥

गा०—उसी प्रकार स्वाभिमानी शूरवीर साधु आपत्तियोकी प्रतिकूलतामे अति तीव्र कष्ट भोगते हैं किन्तु विकारको प्राप्त नही होते । अर्थात् दुर्भाग्यवश उपसर्ग परीषहोके उपस्थित होनेपर रत्नत्रयकी विराधना नही करते ॥१५१६॥

'धोलाइयस्स कुलजस्स माणिणो रणमुहे वर मरणं ।
ण य लज्जणय काउ जावज्जीवं सुजणमज्झे ॥१५१७॥

'धोलाइयस्स कृतभुजास्फालनस्य । 'माणिणो' मानिन । 'रणमुहे वर मरणं' युद्धमुखे मरणं शोभनं । 'ण य वर' नैव शोभनं । 'लज्जणय काडु जावज्जीवं च सुजणमज्झे' सुजनमध्ये यावज्जीवं निंदाकरणं ॥१५१७॥

समणस्स माणिणो संजदस्स णिहणगमणं पि होइ वरं ।
ण य लज्जणय काढु कायरदादीणकिविणत्तं ॥१५१८॥

'समणस्स' समानस्य श्रवणस्य वा । 'माणिणो' मानिनः, 'संजदस्स' संयतस्य । 'णिधणगमणं पि होदि वरं' निधनगमनमपि भवति वरं । 'ण य लज्जणग काढु' नैव लज्जनीयकरणं शोभनं । कातरता न वरं । 'दीणकिविणत्तं' दीनत्वं कृपणत्वं च न वरं ॥१५१८॥

एयस्स अप्पणो को जीविदहेदुं कुज्जि जपणयं ।
पुत्तपउत्तादीण रणे पलादो सुजणलछं ॥१५१९॥

'एयस्स अप्पणो' एकस्यात्मनः । 'जीविदहेदु' जीवितनिमित्तं । 'को करिज्ज जपणगं' कः कुर्यादपवादं । 'पुत्तपउत्तादीण' पुत्रपौत्रादीनां । 'रणे पलावो' रणात्पलायमानः । सुजणलछं स्वजनलाञ्छनं ॥१५१९॥

तह अप्पणो कुलस्स य संघस्स य मा हु जीविदत्थी तं ।
कुणसु जणे जपणयं किविणं कुव्वं सुगणलछं ॥१५२०॥

'तह' तथा । 'अप्पणो जीविदत्थं' भवतो जीवितार्थं । 'कुलस्स संघस्स य मा कुणसु जणे दूसणयं' कुलस्य संघस्य च दूषणं जने मा कार्षीः । 'किविणं कुव्वं' कृपणत्वं कुर्वन् । 'सुगणलछं' स्वगणलाञ्छनं ॥१५२०॥

गा०—भुजा स्फालन करनेवाले कुलीन अभिमानीके लिये युद्धमें सन्मुख मरना श्रेष्ठ है किन्तु सुजनोंके मध्यमें जीवनपर्यन्त लज्जा उठाना श्रेष्ठ नहीं है ॥१५१७॥

गा०—उसी प्रकार स्वाभिमानी संयमी श्रमणका मर जाना श्रेष्ठ है किन्तु लज्जाजनक कार्य करना श्रेष्ठ नहीं है, कातरता–विपत्तियोंसे घबराना, दीनता कृपणता–कि मैं कुछ भी नहीं कर सकता आदि श्रेष्ठ नहीं है ॥१५१८॥

गा०—एक अपने जीवनके लिये युद्धभूमिसे भागकर कौन अपने पुत्र पौत्र आदिके लिये अपवादका कारण बनेगा और अपने परिवारको लाछन लगायेगा ॥१५१९॥

गा०—उसी प्रकार हे क्षपक ! अपने जीवनके लिये परीषह आदि आनेपर अपनी निर्बलता का परिचय देते हुए अपने कुल और संघको लोकापवादका पात्र मत बनाओ और अपने गणपर लाछन मत लगाओ ॥१५२०॥

१, २ धोवाइय–अ० आ० । ३ मुगलछ ललाटे कुर्कुरदाहसमान–मूलारा० ।

गाढप्पहारसताविदा वि सूरा रणे अरिसमक्खं ।
ण मुहं भजंति सयं मरंति [1]भिउडीमुहा चेव ॥१५२१॥

'गाढप्पहारसताविदा वि' गाढप्रहारसतापिता अपि शूरा 'रणे' युद्धे । 'सगं मुहं अरिसमक्खं ण भजंति' स्वमुखभङ्गं अरीणां पुरतो न कुर्वन्ति । 'मरंति' म्रियते । 'भिगुडीए सह चेव' भ्रकुटया सह चैव ॥१५२१॥

सुट्ठु वि आवडपत्ता ण कायरत्तं करिंति सप्पुरिसा ।
कत्तो पुण दीणत्तं किविणत्तं वा वि काहिंति ॥१५२२॥

'सुट्ठु वि आवडपत्ता' निरन्तरमापदं प्राप्ता अपि । 'सप्पुरिसा ण कायरत्तं करंति' सत्पुरुषा न कातरतां कुर्वन्ति । 'कत्तो पुण काहिंति' कुत पुन करिष्यन्ति । 'दीणत्तं किविणत्तं वावि' दीनतां कृपणतां च ॥१५२२॥

केई अग्गिमदिगदा समंतओ अग्गिणा वि उज्झंता ।
जलमज्झगदा व णरा अत्थंति अचेदणा चेव ॥१५२३॥

केई अत्थंति अचेदणा चेव' केचिदासते अचेतना इव । 'अग्गिमदिगदा' अग्निं प्रविष्टा 'समंतदो अग्गिणा वि डज्झंता' समन्तात् अग्निना दह्यमाना अपि । 'जलमज्झगदा व णरा' जलमध्यगता नरा [2]इव ॥१५२३॥

तत्थ वि साहुक्कारं सगअंगुलिचालणेण कुव्वंति ।
केई करंति धीरा उक्किट्ठिं अग्गिमज्झम्मि ॥१५२४॥

'तत्थ वि' तत्राप्यग्निमध्ये । 'साहुक्कारं सगअंगुलिचालणेण कुव्वंति' साधुकारं स्वाङ्गुलिचालनया कुर्वते । 'केई अग्गिमज्झगदा धीरा' केचिदग्निमध्यगता धीरा । 'उक्किट्ठिं करंति' उत्कृष्टिं उत्क्रोशनं कुर्वन्ति ॥१५२४॥

गा०—युद्धमें शूरवीर पुरुष जोरदार प्रहारसे पीड़ित होनेपर भी शत्रुके सामनेसे अपना मुख नहीं मोड़ते और मुखपर भी टेढ़ी किये हुए ही मरते हैं ॥१५२१॥

गा०—उसी प्रकार सत्पुरुष अत्यन्त आपत्ति आनेपर भी कातर नहीं होते। तब वे दीनता या कायरता क्यों दिखायेंगे ? ॥१५२२॥

गा०—कितने ही सत्पुरुष आगमें प्रवेश करके सब ओरसे आगसे जलनेपर भी जलके मध्यमें प्रविष्ट हुए मनुष्यकी तरह अथवा अचेतनकी तरह रहते हैं ॥१५२३॥

गा०—तथा आगके मध्यमें भी रहते हुए अपने अंगुलि संचालनके द्वारा साधुकार करते हैं कि कितना अच्छा हुआ कि मेरे अशुभ कर्म क्षय हुए। कितने ही धीर वीर पुरुष आगके मध्यमें रहकर अपना आनन्द प्रकट करते हैं ॥१५२४॥

---

१. भिउडीए सह–मु० । २. नरा इव अचेतना इव–आ० मु० ।

जदिदा तह अण्णाणी संसारपवड्ढणाए लेस्साए ।
तिव्वाए वेदणाए सुहसाउलया करिंति धिदिं ॥१५२५॥

'जदिदा' यदि तावत् । 'तह' तथा । 'अण्णाणी धिदिं करिंति' तथा अज्ञानिनो धृति कुर्वन्ति 'संसारपवड्ढणाए लेस्साए' संसारप्रवर्द्धनकारिण्या लेश्यया । 'तिव्वाए वेदणाए' तीव्राया वेदनाया सत्या । 'सुहसाउलया' सुखास्वादनलम्पटा ॥१५२५॥

किं पुण जदिणा संसारसव्वदुक्खक्खयं करतेण ।
बहुतिव्वदुक्खरसजाणएण ण धिदी हवदि कुज्जा ॥१५२६॥

किं पुण जदिणा ण करिज्जा हवदि 'धिदि' किं पुनर्न कार्या भवति धृति यतिना । कीदृशा ? संसारसव्वदुक्खक्खयं संसारसर्वदुःखक्षयं कुर्वता । 'बहुतिव्वदुक्खरसजाणगेण' बहूनां चतुर्गतिगतानां तीव्राणां दुःखानां रसं जानता ॥१५२६॥

असिवे दुब्भिक्खे वा कंतारे भएव आगाढे ।
रोगेहिं व अभिभूदा कुलजा माणं ण विजहंति ॥१५२७॥

'असिवे मार्या । 'दुब्भिक्खे वा' दुर्भिक्षे वा । 'कंतारे' अटव्यां वा । गाढे भये च । उपर्युपरि निपतितभये वा । 'रोगेहिं व अभिभूदा' व्याधिभिर्वा अभिभूता । 'ण विजहंति कुलजा माणं' न जहति कुलप्रसूता मानं ॥१५२७॥

ण पियंति सुरं ण य खाति गोमसं ण य पलंडुमादीय ।
ण य कुव्वंति विकम्मं तहेव अण्णंवि लज्जणयं ॥१५२८॥

'ण पिवंति सुरं' न पिबन्ति सुरां । 'ण खाति' न च भक्षयन्ति गोमांसं । 'ण य पलंडुमादीयं' न पलाण्डुप्रभृतिकं भक्षयन्ति । 'ण य कुव्वंति विकम्मं' नैव कुत्सितं कर्म परोच्छिष्टभोजनादिकं कुर्वन्ति । 'तहेव अण्णंपि लज्जणयं' तथैव नान्यदपि लज्जनीयं कुर्वन्ति ॥१५२८॥

गा०—यदि संसारको बढ़ानेवाली अशुभ लेश्यासे युक्त अज्ञानी पुरुष सांसारिक सुखकी लालसासे तीव्र वेदना होते हुए भी धैर्य धारण करते हैं ॥१५२५॥

विशेषार्थ—आगमें जलकर मरनेका कथन उन धर्मवालोंके लिये किया है जो आगमें जलकर मरनेमें धर्म मानते हैं।

गा०—तो जो क्षपक साधु संसारके सब दुःखोंका क्षय करना चाहता है और चारों गतियोंके तीव्र दुःखोंका स्वाद जानता है वह धैर्य धारण क्यों न करेगा ॥१५२६॥

गा०—मारी रोगमें, दुर्भिक्षमें, भयानक वनमें अत्यन्त प्रगाढ भयमें तथा रोगोंसे ग्रस्त भी कुलीन पुरुष स्वाभिमानको नहीं छोड़ते ॥१५२७॥

गा०—वे मदिरा पान नहीं करते । गोमांस नहीं खाते । लहसुन प्याज आदि नहीं खाते । दूसरेका जूठा खाना आदि बुरे काम नहीं करते । इसी प्रकार अन्य भी लज्जास्पद काम नहीं करते ॥१५२८॥

किं पुण कुलगणसघस्स जसमाणिणो लोयपूजिदा साधू ।
माणं पि जहिय काहति विकम्म सुजणलज्जणय ॥१५२९॥

'किं पुण साहू वि कम्म काहिति' किं पुन साधव कुत्सित कर्म करिष्यन्ति । 'कुलगणसघस्स जसमाणिणो' 'कुलस्य गणस्य सघस्य च यश सपादनाहकारवन्त । 'लोयपूजिदा साधू' लोके कृतपूजा । 'माण विजहिय' मान त्यक्त्वा 'सुजणलज्जणय' साधुजनेन विलज्जनीय कर्म ॥१५२९॥

जो गच्छिज्ज विसाद महल्लमप्प व आवदिं पत्तो ।
त पुरिसकादरं विंति धीरपुरिसा हु सढुत्ति ॥१५३०॥

'जो गच्छिज्ज विसाद' यो गच्छेद्विषाद । 'महल्ल अप्प व आवड पत्तो' महती अल्पा वा आपद प्राप्त । 'तं पुरिसकादर' पुरुषेषु कातर । 'धीरपुरिसा सढुत्ति विंति' धीरा सुपुरुषा षण्ढ इति ब्रुवन्ति ॥१५३०॥

मेरुव्व णिप्पकपा अक्खोभा सागरुव्व गभीरा ।
धिदिवंतो सप्पुरिसा हु ति महल्लावईए वि ॥१५३१॥

'मेरुव्व णिप्पकंपा' मेरुरिव निश्चला । 'अक्खोभा' अकम्पा । 'सागरोव्व' सागर इव 'धिदिवतो सप्पुरिसा' धृतिमन्त सतोषवन सत्पुरुषा । 'महल्लावईए वि' महत्यामापदि ॥१५३१॥

केई विमुत्तसंगा आदारोविदभरा अपडिकम्मा ।
गिरिपब्भारमभिगदा बहुसावदसंकड भीम ॥१५३२॥

'केई उत्तमट्ठ साधेंति' इति वक्ष्यमाणेन सबन्ध । केचिदुत्तम वस्तु रत्नत्रय साधयन्ति । कीदृग्भूता ? 'विमुत्तसंगा' निष्परिग्रहा । 'आदारोविदभरा' आत्मारोपितभरा । 'अपडिकम्मा' निष्प्रतीकारा । 'गिरिपब्भारमभिगदा' गिरिप्राग्भारमभिगता । कीदृग ? 'बहुसावदसकड' बहुव्यालमृगाकुल । 'भीम' भयावह ॥१५३२॥

धिदिधणियबद्धकच्छा अणुत्तरविहारिणो सुदसहाया ।
साहिंति उत्तमट्ठ सावददाढंतरगदा वि ॥१५३३॥

गा०—नग्र कुल गण और सघके यश सम्पादनका अहकार करनेवाले लोकपूजित साधु स्वाभिमान त्यागकर साधुजनके लिये लज्जाके योग्य बुरा कर्म करेंगे क्या ? कभी नहीं करेंगे ॥१५२९॥

गा०—जो छोटी या बडी विपत्ति आने पर खिन्न होता है उस कायर पुरुषको धीर पुरुष नपुंसक कहते हैं ॥१५३०॥

गा०—सज्जन पुरुष महती विपत्तिमें भी सुमेरुकी तरह अकम्प, सागरकी तरह गम्भीर और धैर्यशील रहते हैं ॥१५३१॥

गा०—कितने ही साधु समस्त परिग्रहको त्यागकर, अपने आत्मामें आत्माको आरोपित करके, प्रतीकार रहित होकर, बहुतसे व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तुओंसे भरे भयकर पर्वतोंके शिखरोंपर

'धिदिघणियबद्धकच्छा' धृत्या नितरां बद्धकक्ष्या। 'अणुत्तरविहारिणो प्रकृष्टचारित्रा। 'सुदसहाया' श्रुतज्ञानसहाया। 'साधिंति उत्तमट्ठं' साधयन्त्युत्तमार्थं रत्नत्रयं। 'सावददाढंतरगदा वि' श्वापददंष्ट्रामध्यगता अपि ॥१५३३॥

भल्लक्किए तिरत्तं खज्जतो घोरवेदणट्टो वि।
आराधणं पवण्णो ज्झाणेणावंतिसुकुमालो ॥१५३४॥

'भल्लक्किए तिरत्त खज्जतो' शृगालेन त्रिषु रात्रिषु भक्ष्यमाणः। 'घोरवेदणट्टो वि' घोरवेदनाबाधितोऽपि। 'आराधण पवण्णो ज्झाणेण' शुभध्यानेनाराधनां प्रपन्नः। क ? 'अवंतिसुकुमालो' अवंतिसुकुमारः ॥१५३४॥

[2]पोग्गिलगिरिम्मि य सुकोसलो वि सिद्धत्थदइय भयवंतो।
वग्घीए वि खज्जतो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५३५॥

[3]पुद्गलगिरौ सुकोशलोऽपि सिद्धार्थस्य पुत्रो भगवान् व्याघ्र्या जननीचर्या भक्षितः सन् प्रतिपन्न उत्तमार्थम् ॥१५३५॥

भूमीए समं कीला[4]कोडिददेहो वि अल्लचम्मं व।
भयवं पि गयकुमारो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५३६॥

'भूमीए समं भूमौ समं। 'कीलाकोडिददेहो' कीलोत्कृतदेहः। 'अल्लचम्मं व' आर्द्रचर्मवत्। 'भयवं पि' भगवान् गजकुमारोऽपि। उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ॥१५३६॥

कच्छुजरखाससोसो भत्तच्छदअच्छिकुच्छिदुक्खाणि।
अधियासयाणि सम्मं सणक्कुमारेण वाससयं ॥१५३७॥

जाकर दृढ धैर्यको अपनाकर, उत्कृष्ट चारित्रपूर्वक श्रुतज्ञानकी सहायतासे सिंहादिके मुँहमे जाकर भी उत्तमार्थ रत्नत्रयकी साधना करते हैं ॥१५३२–३३॥

गा०—अवन्ती अर्थात् उज्जैनी नगरीमे सुकुमार मुनि तीन रात तक शृगालीके द्वारा खाये जानेपर घोर वेदनासे पीडित होते हुए भी शुभध्यानके द्वारा रत्नत्रयकी आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५३४॥

गा०—पुद्गल या मुद्गल नामक पर्वतपर सिद्धार्थ राजाके प्रिय पुत्र भगवान् सुकौशल मुनि अपनी पूर्व जन्मकी माता व्याघ्रीके द्वारा खाये जानेपर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३५॥

गा०—पृथ्वीके साथ गीले चमडेकी तरह शरीरमे कीलें ठोककर एकमेक कर देनेपर भी भगवान् गजकुमार मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३६॥

गा०—सनत्कुमार मुनि ने सौ वर्षों तक खाज, ज्वर, खासी, सूखापन, तीव्र उदराग्नि, नेत्रपीडा, उदरपीडा आदिके दुःख बिना सक्लेशके धैर्यपूर्वक सहन किये ॥१५३७॥

---

१ णगोदि अ० आ०। २–३. मोग्गिल—मु०, मूलारा०। ४ कीलाहोडिद-अ०।

'कच्छजरखासतसोसो' कच्छूज्वरकासशोषा । 'भत्तच्छअच्छिकुच्छिदुक्खाणि' तीव्रो जठराग्नि अक्षि-दुःख । कुक्षिदुःख च । 'अधियासयाणि' असक्लेशेन धृतानि 'सणक्कुमारेण' सनत्कुमारेण । 'वाससद' वर्षशत ॥१५३७॥

णावाए णिव्वुडाए गंगामज्झे अमुज्झमाणमदी ।
आराधणं पवण्णो कालगओ एणियापुत्तो ॥१५३८॥

'णावाए णिव्वुडाए' नावि निमग्नायां च । 'गगामज्झे' गगाया मध्ये । 'अमुज्झमाणमदी' अमुह्य-मानमति । 'आराधण पवण्णो आराधना प्रतिपन्न सन् । 'कालगओ' काल गत । 'एणियापुत्तो' एणिकपुत्र-नामधेयो यति ॥१५३८॥

ओमोदरिए घोराए भद्दबाहू असंकिलिट्ठमदी ।
घोराए [1]विगिंछाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५३९॥

'ओमोदरिए घोराए' घोरेणावमोदर्येण तपसा समन्वित । भद्दबाहू असकिलिट्ठमदी' भद्रबाहुरस-क्लिष्टचित्त । 'घोराए[2]विगिंछाए' घोरया क्षुधा बाधितोऽपि । 'पडिवण्णो उत्तम ठाण' प्रतिपन्न उत्तमार्थं ॥१५३९॥

[3]कोसंबीललियघडा वूढा णइपूरएण जलमज्झे ।
आराधण पवण्णा पावोवगदा अमूढमदी ॥१५४०॥
चपाए मासखमणं करित्तु गंगातडम्मि तण्हाए ।
घोराए धम्मघोसो पडिवण्णो उत्तम ठाणं ॥१५४१॥

'चपाए' चम्पानगर्या । 'मासखवण करित्तु' मासोपवास कृत्वा । 'गगातडम्मि' गगायास्तटे । 'तण्हाए घोराए' तृष्णया तीव्रया बाधितोऽपि । 'धम्मघोसो' धर्मघोष । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५४०–१५४१॥

गा०—गगाके मध्यमे नाव डूबनेपर एणिक पुत्र नामके मुनि मोहरहित होकर मरणको प्राप्त हुए और आराधनाके धारक हुए ॥१५३८॥

गा०—घोर अवमोदर्य तपके धारी भद्रबाहु मुनि घोर भूखसे पीडित होनेपर भी सक्लेश रूप परिणाम न करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३९॥

गा०—कौशाम्बी नगरीमें सुखपूर्वक पाले गये इन्द्रदत्त आदि बत्तीस श्रेष्ठि पुत्र जलके मध्यमे यमुना नदीके प्रवाहके द्वारा प्रायोपगमन सन्यास पूर्वक मरणको प्राप्त हुए। उन्होंने मोह रहित होकर आराधनाको प्राप्त किया ॥१५४०॥

गा०—चम्पा नगरीमे एक मासका उपवास करते हुए धर्मघोष नामक मुनि गगाके तटपर तीव्र प्याससे पीडित होकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४१॥

१–२ विगिच्छाए मु० मूलारा० । ३ एता टीकाकारो नेच्छति ।

सीदेण पुव्ववइरियदेवेण विकुव्विएण घोरेण ।
सतत्तो सिरिदत्तो पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४२॥

'सीदेण' शीतेन । 'सतत्तो' सतप्त । 'पुव्ववइरियदेवेण विकुव्विएण' पूर्वजन्मशत्रुणा देवेनोत्पादितेन 'सिरिदत्त' श्रीदत्त । उत्तमार्थमुपगत ॥१५४२॥

उण्हं वाद उण्ह सिलादल आदव च अदिउण्ह ।
सहिदूण उसहसेणो पडिवण्णो उत्तम अट्ठ ॥१५४३॥

'उण्ह वाद' उष्ण वात, 'उण्ह सिलादल' उष्ण शिलातल । 'आदव च अदिउण्ह' आताप चात्युष्ण 'सहिदूण' प्रसह्य वृषभसेन उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५४३॥

रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कोंचेण अग्गिदइदो वि ।
त वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४४॥

'रोहेडयम्मि' रोहेडगे नगरे । 'सत्तीए हओ' शक्त्या हत । 'कोंचेण' क्रोंचनामधेयेन । 'अग्गिदइदो वि' अग्निराजसुतोऽपि । 'त वेदणमधियासिय' ता वेदना प्रसह्य । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५४४॥

काइदि अभयघोसो वि चडवेगेण छिण्णसव्वगो ।
त वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ठ ॥१५४५॥

'काइदि अभयघोसो वि' काकन्द्या नगर्या अभयघोषोऽपि । 'चडवेगेण छिण्णसव्वगो' चडवेगेन छिन्नसर्वांग ॥१५४५॥

दसेहिं य मसएहिं य खज्जतो वेदण पर घोर ।
विज्जुच्चरोऽधियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४६॥

'दसेहिं य' दशैर्मशकैश्च भक्ष्यमाण विद्युच्चरस्ता वेदना अवगणय्य आराधना प्रपन्न ॥ १५४६॥

गा०—पूर्वभवके वैरी देवके द्वारा विक्रिया पूर्वक किये गये शीत से पीडित होकर श्रीदत्त मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४२॥

गा०—गर्म वायु, गर्म शिलातल और अत्यन्त गर्म आतापको सहन करके वृषभसेन उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४३॥

गा०—रोहतक नगरमे क्रोंच नामक राजाके द्वारा शक्ति नामक शस्त्र विशेषसे मारा गया अग्नि राजाका पुत्र उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुआ ॥१५४४॥

गा०—काकन्दी नगरीमे चण्डवेगके द्वारा सब अगोंके छेद डालनेपर अभयघोष मुनि उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४५॥

गा०—डास मच्छरोंके द्वारा खाये जानेपर विद्युच्चर मुनि अत्यन्त घोर वेदनाको सहन करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४६॥

हत्थिणपुरगुरुदत्तो सवलियाली व दोणिमतम्मि
उज्झतो अधियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४७॥

'हत्थिणपुरगुरुदत्तो' हास्तिनापुरवास्तव्यो गुरुदत्त । 'सवलियालीव' हरितमकोश निरामाख [?] पूर्णभाजन थर्कपत्रपिहितमिद मुख अधोमुख मस्थाप्य उपरिभाजनस्य अग्निप्रक्षेप सवलीत्युच्यते । तद्वच्छिरसि निक्षिप्ताग्नि । 'दोणिमतम्मि' द्रोणीमत्पर्वते दह्यमान प्रपन्न उत्तमार्थ ॥१५४७॥

गाढप्पहारविद्धो पूइंगलियाहिं चालणीव कदो ।
तध वि य चिलादपुत्तो पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४८॥

'गाढप्पहारविद्धो' नितरामायुधैर्विद्ध । 'पूइंगलियाहिं' कृष्णै स्थूलोत्तमाङ्गै पिपीलिकाभि । 'चालणीव कदो' चालनीव कृतश्चिलातपुत्रस्तथाप्युत्तमार्थमुपगत ॥१५४८॥

दंडो जउणावंकेण तिक्खकंडेहिं पूरिदंगो वि ।
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४९॥

'दंडो' दडनामको यति । 'जमुणावकेण' यमुनावक्रमंज्ञितेन । 'तिक्खकंडेहिं' तीक्ष्णै शरै 'पूरिताङ्गोऽपि' रत्नत्रय समाराधयति स्म ॥१५४९॥

अभिणदणादिया पचसया णयरम्मि कुभकारकडे ।
आराधण पवण्णा पीलिज्जता वि यंतेण ॥१५५०॥

'अभिणदणादिया' अभिनन्दनप्रभृतय पञ्चशतसख्या, कुम्भकारकटे नगरे यन्त्रेण पीड्यमाना आराधना प्राप्ता ॥१५५०॥

गा०—हस्तिनापुर नगरके वासी गुरुदत्त मुनि द्रोणगिरि पर्वतपर सवलियालीकी तरह जलते हुए उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४७॥

विशेषार्थ—एक पात्रमे उटदकी फलिया भरकर उसे आकके पत्रोंमे ढाककर, उस पात्रका मुख नीचेको करके चारो ओर आगमे घेर देनेपर सवलियाली कहते हैं। द्रोणगिरि पर्वतपर गुरुदत्त मुनिके सिरपर आग जला दी गई थी। वृ० क० कोपमे १३९ नम्बर पर इनकी कथा विस्तारसे दी है।

गा०—चिलातपुत्र नामक मुनिका शरीर काली चीटियोंके तीव्र डक प्रहारसे चलनीकी तरह बीध दिया गया था। फिर भी उन्होंने उत्तमार्थको प्राप्त किया ॥१५४८॥

गा०—दण्ड नामक मुनिके शरीरको यमुनावक्र नामके राजाने तीक्ष्ण बाणोंसे छेदकर भर दिया था। फिर भी वे उसकी वेदनाको सहन करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४९॥

विशेषार्थ—वृ० क० कोपमे मुनिका नाम धान्यकुमार दिया है उनकी कथाका क्रमाक १४१ है।

गा०—कुम्भकारकट नामक नगरमे अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनि कोल्हूमे पेल दिये जानेपर भी आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५५०॥

[1]गोट्ठे पाओवगदो सुबंधुणा गोव्वरे पलिविदम्मि ।
उज्झंतो चाणक्को पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५५१॥
वसदीए पलविदाए रिट्ठामच्चेण उसहसेणो वि ।
आराधण पवण्णो सह परिसाए कुणालम्मि ॥१५५२॥

'वसदीए पलविदाए' वसतौ दग्धायां । रिट्ठामच्चनामधेयेन वृषभसेन सह मुनिपरिषदा प्रतिपन्न आराधनाम् ॥१५५१-१५५२॥

जदिदा एव एदे अणगारा तिव्ववेदणट्टा वि ।
एयागी अपडियम्मा पडिवण्णा उत्तम अट्ठं ॥१५५३॥

'जदिदा' एव यदि एदे तावदेवमेते 'अणगारा' यतयस्तीव्रवेदनापीडिता अपि एकाकिनोऽप्रतीकारा उत्तमार्थं पतिपन्ना ॥१५५३॥

किं पुण अणयारसहायगेण [2]कीरयंत पडिकम्मो ।
संघे ओलग्गते आराधेदुं ण सक्केज्ज ॥१५५४॥

'किं पुण अणगारसहायगेण' किं पुनर्न शक्यते आराधयितुं अनगारसहायेन भवता क्रियमाणे प्रतिकारे सघे चोपासना कुर्वति सति ॥१५५४॥

जिणवयणममिदभूदं महुरं कण्णाहुदिं सुणतेण ।
सक्का हु संघमज्झे साहेदुं उत्तम अट्ठं ॥१५५५॥

'जिणवयण' जिनाना वचन । अमृतभूत, मधुर कर्णाहुतिं शृण्वता त्वया सघमध्ये शक्यमाराधयितु ॥१५५५॥

गा०—चाणक्य मुनि गोकुलमे प्रायोपगमन सन्यासमे स्थित थे। सुबन्धु नामक मत्रीने कण्डोंके ढेरमे आग लगा दी। उसमे जलकर चाणक्य मुनि उत्तम अर्थको प्राप्त हुए ॥१५५१॥

गा०—कुणालपुरीमे रिष्ट नामक मत्रीके द्वारा वसतिकामे आग लगानेपर वृषभसेन मुनि अपने शिष्य परिवारके साथ आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५५२॥

गा०—इस प्रकार यदि ये मुनि अकेले प्रतीकार किये विना तीव्र वेदनासे पीडित होकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५५३॥

गा०—तो तुम्हारी सहायताके लिये तो मुनि समुदाय है वह तुम्हारे कष्टका इलाज करता है, तुम्हारे साथ उपासना करता है तब तुम आराधना क्यों नहीं कर सकते ॥१५५४॥

गा०—अमृतके समान मधुर जिन-वचन तुम्हारे कानोंमे जाता है। उसे सुनते हुए सघके मध्यमे तुम्हारे लिये आराधना करना सरल है ॥१५५५॥

---

१ एता टीकाकारो नेच्छति । २. कीरतयम्मि पडिकम्मे —आ० मु० ।

णिरयतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य सतेण ।
ज पत्त इह दुक्ख त अणुचितेहि तच्चित्तो ॥१५५६॥

'णिरयतिरिक्खगदीसु य' नरकतिर्यग्गतिषु च । 'माणुसदेवत्तणे य सतेण' मानुषत्वदेवत्वयोश्च सता यत्प्राप्त इह सुखानन्तर दु ख 'त अणुचितेहि' तद्गवचित्तस्तदनुचिन्तय ॥१५५६॥

णिरएसु वेदणाओ अणोवमाओ असादबहुलाओ ।
कायणिमित्त पत्तो अणंतखुत्तो व बहुविधाओ ॥१५५७॥

'णिरएसु' नरकेषु । 'वेदणाओ' वेदना । 'अणोवमाओ' अनुपमा । तादृश्या वेदनाया जगत्यन्यस्या अभावात् । 'असादबहुलाओ' असद्वेद्यकर्मबहुला । कारणबहुलत्वेन कार्यानुपरतिराख्याता । 'कायणिमित्त पत्तो' शरीरनिमित्तासयमार्जितकर्मनिमित्तत्वान्मूलकारण निर्दिष्ट कायनिमित्तमिति । 'अणतसो' अणतवार । 'त' भवान् 'बहुविधाओ' बहुविधा ॥१५५७॥

उष्णनरकेषु उष्णमहत्तासूचनार्थोत्तरा गाथा—

जदि कोइ मेरुमत्त लोहुण्डं पक्खिविज्ज णिरयम्मि ।
उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विलिज्ज सो तत्थ ॥१५५८॥

'णिरयम्मि उण्ह 'लोहुण्ड मेरुमत्त जदि कोइ पक्खिवेज्ज' उष्णनरके लोहपिण्ड मेरुसमान यदि कश्चिद्देवो दानवो वा प्रक्षिपेत् । 'सो तत्थ भूमिमपत्तो चेव विलिज्ज'[1] लोहपिण्डो भूमिमप्राप्त एव द्रवतामुपयाति । 'उण्हेण' उष्णेन नरकविलाना ॥१५५८॥

गा०—नरकगति, तिर्यञ्चगतिमे और मनुष्य पर्याय तथा देवपर्यायमे रहते हुए तुमने जो दुःख सुख भोगा, उसमे मन लगाकर उसका विचार करो ॥१५५६॥

गा०-टी०—इस शरीरके निमित्त किये गये असयममे उपार्जित कर्मके निमित्तसे तुमने नरकोमे अनन्तवार नाना प्रकारकी तीव्र वेदना असातावेदनीय कर्मके तीव्र उदयमे भोगी है। इस प्रकारकी वेदना जगत्मे दूसरी नही है। उसका मूल कारण यह शरीर है। उसीके निमित्तसे होनेवाले असयमके कारण असातावेदनीयका तीव्रबन्ध होकर वह नरकमे प्रचुरतासे उदयमे आता रहता है। अत कारणकी बहुलता होनेसे वेदना रूप कार्य निरन्तर हुआ करता है ॥१५५७॥

आगेकी गाथामे उष्ण नरकोमे उष्णताकी महत्ता बतलाते है—

गा०—यदि कोई देव या दानव मेरुके समान लोहेके पिण्डको उष्ण नरकमे फेके तो वह लोहपिण्ड वहाँकी भूमिको प्राप्त होनेसे ही पहले मार्गमे ही नरकविलोकी उष्णतासे पिघल जाये ॥१५५८॥

१–२ लोहपिण्ड आ० । ३ विल्गाइज्ज –अ० आ० ।

तह चेव [1]य तद्देहो पज्जलिदो सीयणिरयपक्खित्तो ।
सीदे भूमिमपत्तो णिमिसेण सडिज्ज लोहुण्डं ॥१५५९॥

'तह चेव' तथैव । 'तद्देहो' मेरुमात्रदेह । 'लोहुंडो' लोहपिण्ड । 'पज्जलिदो' प्रज्वलित । 'सीदणिरयम्मि' शीतनरके । 'पक्खित्तो' प्रक्षिप्तो भूमिमप्राप्त एव । 'सीदेण सडिज्ज' शीतेन विशीर्यते ॥१५५९॥

शीतोष्णजनितवेदनातिशयमुद्दिश्य शारीरवेदनामाचष्टे—

होदि य णरये तिव्वा सभावदो चेव वेदणा देहे ।
चुण्णीकदस्स वा मुच्छिदस्स खारेण सित्तस्स ॥१५६०॥

'होदि य णरये तिव्वा' भवति च नरके तीव्रं वेदना । 'देहे' शरीरे । 'सभावदो चेव' स्वभावत एव । 'चुण्णीकदस्सेव' चूर्णीकृतस्येव । 'खारेण सित्तस्स' क्षारेण सिक्तस्य । 'अमुच्छिदस्स' अमूर्छितस्य । यादृशी वेदना तादृश्येव शरीरे वेदनेति यावत् ॥१५६०॥

णिरयकडयम्मि पत्तो ज दुक्ख लोहकटएहिं तुम ।
णेरइहिं य[2] तत्तो पडिओ ज पाविओ दुक्ख ॥१५६१॥

'णिरयकडयम्मि' नरकविलसमूहे-नरकस्कन्धावारे इति केचिद्वदन्ति । अन्ये तु निरयगर्त इति । 'पत्तो ज दुक्ख' यदद्दु ख प्राप्त । 'लोहकटएहिं' निशिततरलोहकण्टकैं तुद्यमानस्य ॥१५६१॥

ज कूडसामलीए दुक्ख पत्तोसि ज च सूलम्मि ।
असिपत्तवणम्मि य ज ज च कय गिद्धककेहिं ॥१५६२॥

'ज कूडसामलीहिं य' यद्दु ख प्राप्तोऽसि विक्रियाजनितनिशातशाल्मलीभि । ऊर्ध्वमुखैरधोमुखैश्च-तीक्ष्णकण्टकै राकीर्णा कूटशाल्मलीरारोहन् नारकभयात । 'ज च सूलम्मि' यच्च दु खमवाप्नोमि शूलाप्रप्रोत ।

गा०—उसी प्रकार उस पिघले हुए मेरु प्रमाण लोहपिण्डको यदि शीत नरकमे फेंका जाये तो भूमिको प्राप्त होनेमे पहले ही वह वहाँके शीतमे जमकर खण्ड-खण्ड हो जाय ॥१५५९॥

शीत और उष्णसे होनेवाली वेदनाकी महत्ता बतलाकर शारीरिक वेदना कहते हैं—

गा०—जैसे किसी मूर्छारहित मनुष्यके शरीरको कुचलकर उसे खारे तप्त तेलसे सींचनेपर जैसी वेदना होती है वैसी ही तीव्र वेदना नरकमे नारकोके शरीरमे स्वभावसे ही होती है॥१५६०॥

गा०—नरकरूपी स्कन्धावारमे अथवा गढेमे नारकियोंके द्वारा लोहेके अत्यन्त नुकीले काटोपर घसीटे जानेसे तुमने जो दु ख भोगा उसका विचार करो ॥१५६१॥

गा०-टी०—विक्रियासे रचे गये तीक्ष्ण शाल्मली वृक्षोपर, जो ऐसे काटोसे घिरे होते हैं जिनमेसे कुछ काटोका मुख ऊपरकी ओर और कुछका नीचेकी ओर होता है, नारकियोंके भयसे डरकर चढते हुए तुमने जो दु ख भोगा। सूलोके अग्र भागपर चढाये जानेपर तुमने जो दु ख

---

१ यदा तद्देहो च्चिय प–ज० । २ य सत्तो पडिदो तिक्खेहिं तुट्टतो' –इति अन्येषा पाठ । –मूलारा० ।

'असिपत्तवणम्मि य' असय एव पत्राणि यस्मिन्वने तदसिपत्रवन। उष्णार्दिताना पूत्कुर्वता नारकाणा असिपत्रवनेऽनेकासुरविक्रियाविनिर्मितविचित्रायुधपत्राणि वनानि। 'ज च कय' यच्च कृत। 'गिद्धकर्केहि' गृद्धै कङ्कैश्च वज्रमयैस्तुण्डै[1] ते लुञ्चनैस्तुदन्ति। तीक्ष्णीकृतक्रकचसदृशै पक्षै प्रहरन्ति[2] नितान्तखरपरुषैश्चरणाङ्कुशैस्ताडयन्ति ॥१५६२॥

सामसवलेहिं दोस वइतरणीए य पाविओ ज सि।
पत्तो कयवत्तालुयमइगम्ममसमायमतितिव्व ॥१५६३॥

'सामसवलेहिं' श्यामशबलसज्ञितैरसुरै। 'दोस' दोष दण्डाना। 'वइतरणीए य पाविओ ज सि' वैतरण्या नद्या प्रापितो यदसि। तृडभिभूताना जल मृगयता दिक्षु विन्यस्तदीनलोचनाना शुष्कतालुगलाना वैतरणीनदीमुपदर्शयन्ति। रङ्गत्तरङ्गाकुला, अगाधनीलनीरभरितह्रदा, विषयसुखमेवेव दुरन्ततृष्णानुबन्धनोद्यता, ससृतिरिव दुरुत्तरा, आशेव विशाला, कर्मपुद्गलस्कधसहतिरिव विचित्रविपद्विधायिनी, तद्दर्शनाद्दूरादेवोपजातोत्कठा लब्धजीवितास्ससवृत्ता स्म इति मन्यमाना द्रुततरगतयस्तामवगाहन्ते। तदवगाहनानन्तरमेव कृताजलय पिबन्ति ताम्रद्रवसन्निभ तदम्भ। परुषवचनमिव हृदयदाहविधायि, हा विप्रलब्धा स्मेति करुण रसता शिरासि परुषतमसमीरणप्रेरणोत्थिततरङ्गासिधारा निकृन्तन्ति करचरणानि च। तेनातिक्षारेणोष्णेन, कालकूटविषायमानेन जलेन, व्रणान्तरप्रवेशिना दह्यमाना झटिति घटितकरचरणास्तटमेव रटन्त समारोहन्ति। तेषा च

भोगा। जिस वनमे तलवारकी धारके समान पत्ते होते हैं उसे असिपत्र वन कहते हैं। गर्मीसे पीडित नारकी असिपत्र वनमे जाते हैं जो अनेक असुर कुमार देवोकी विक्रियाके द्वारा निर्मित विचित्र आयुध रूप पत्रोसे युक्त होते हैं और उन आयुध रूप पत्तोके गिरनेपर उनका सर्वांग छिद जाता है। तथा गृद्ध और कङ्क पक्षि अपनी वज्रमय चोचोमे उन्हे नोचते हैं तीक्ष्ण आरेके समान पखोसे प्रहार करते हैं। अत्यन्त तीक्ष्ण कठोर चरणरूपी अकुशोसे मारते हैं। इन सबका जो दुःख तुमने भोगा ॥१५६२॥

गा०-टी०—श्याम शबल नामक असुर कुमारोके द्वारा वैतरणी नदीमे तुमने जो दण्ड भोगा। जब नारकी प्याससे व्याकुल होकर जलकी खोजमे होते हैं और उनकी आँखें दीन तथा कण्ठ और तालु सूख जाता है तो उन्हे वैतरणी नदी दिखलाई जाती है। वह रगीन तरगोसे व्याप्त और अगाध नीले जलसे भरी होती है, विषय सुख सेवनकी तरह तृष्णाकी परम्पराको बढाने वाली होती है, ससारकी तरह उसे पार करना कठिन होता है, आशाकी तरह विशाल होती है, कर्मपुद्गलोके स्कन्धोके समूहकी तरह अनेक विपत्तियाँ लानेवाली होती है। उसको देखकर दूरसे ही उनकी उत्कण्ठा बढ जाती है। अब हम जी गये, ऐसा मानते हुए दौडकर नदीमे प्रवेश करते हैं। प्रवेश करते ही हाथोकी अजलि बनाकर पिघले हुए तामेके समान उसके जलको पीते हैं। वह जल कठोर वचनकी तरह हृदयको जलानेवाला होता है। 'अरे हम ठगाये गये' ऐसी करुण चीतकार करते हुए उनके सिर और हाथ पैरोको अत्यन्त कठोर वायुसे प्रेरित लहरें, जो तलवारकी धारके समान होती हैं, काट देती हैं। तब कालकूट विषके समान अत्यन्त खारा गर्म जल उनके घावोमे जाता है। उससे जलते हुए वे तत्काल तटकी ओर जाते हैं। उनके कटे हाथ

---

1 तुण्डै तरललोचनै —आ० मु०। न हि वज्रमयैस्तुहनत्राणि नुदन्ति। 2 रन्ति निरय नम्बर —आ० मु०।

ग्रीवासु श्यामशवला महती शिलावज्रशृङ्खलाप्रोता बध्नन्ति दुर्विमोचा । बद्ध्वा च तस्यामेव पातयन्ति । पातितास्तत्र कृतोन्मज्जननिमज्जनानामुत्तमाङ्गानि असुरविक्रियानिर्मितमहामकरकरप्रहारेण जर्जरीभूय निपतन्ति । पुनश्च तटमारूढान्गच्छतस्तांस्तरुभूय निश्चल बध्नन्ति । तानपरिस्पन्दमवस्थितान्लक्षीकृत्य विध्यन्तीति निशातशरशतसहस्रं । 'पत्तो कथववालुगमदियम्म' प्राप्त कदम्बप्रसूनाकारा वालिका चित्तदु - प्रवेशा , दलालङ्कृतखदिराङ्गारकणप्रकरोपमाना परिप्राप्य तत्र बलात्मचार्यमाण यत्प्राप्तवानसि दु ख तच्चिन्ते[3] बच्चकुरु ॥१५६३॥

ज णीलमडवे तत्तलोहपडिमाउले तुमे पत्त ।
ज पाइओसि खार कडुय तत्त कलयल च ॥१५६४॥

'ज पत्त त चिंतेहि' यत्प्राप्त० दु ख तच्चिन्तय । क्व ? 'णीलमडवे' काललोहघटिते मण्डपे । 'तत्तलोह-पडिमाउले' तप्तलोहप्रतिमाकुले । बलात्कारसपाद्यमानस्तप्तलोहप्रतिमायुवत्यालिंगितो यद्दु ख प्राप्तवानसि तन्मर्नाम निबेहि । 'ज पाइदोऽसि खार' यत्पायितोऽसि क्षार । 'कडुग' कटुक । 'तत्त' तप्त ॥१५६४॥

ज खाविओसि अवसो लोहगारे य पज्जलते त ।
कडुसु ज सि रद्धो ज सि कवल्लीए तलिओ सि ॥१५६५॥

'ज खाविओसि' यत्खादितोऽसि । 'अवसो' अवश । बलाद्यन्त्रविदारिताननं । 'लोहगारे य पज्जलंते' त लोहाङ्गारान्प्रज्वलत स्त्व । 'कडसु ज सि रद्धो' कटुकासु यन्मण्डका इव पक्व ॥१५६५॥

पैर तत्काल जुड जाते है । उनकी गर्दनोमे भारी शिलाएँ वज्रमयी साकलसे बाँध देते हैं जिनको खोलना अति कठिन होता है और उन्हे पुन उसी वैतरणीमे डाल देते है । उसमे गिराये जानेपर वे डूबते उतराते हैं । असुर कुमारोकी विक्रियासे बनाये गये महामच्छोंके प्रहारसे उनके मस्तक छिन्न-भिन्न होकर गिर जाते हैं । पुन वे तट पर जाते हैं और उन्हे पुन निश्चल बाध देते हैं । तब उन निश्चल स्थित नारकियोको लक्ष करके लाखो तीक्ष्ण बाणोसे बींध देते हैं । पुन कदम्बके फूलोंके आकार वाली बालूमे, जिसमे बालिकाके चित्तकी तरह प्रवेश करना कठिन है और जो वज्रमयदलसे शोभित है तथा खैरकी लकडीके अगारोके कण समूहकी तरह गर्म है, उसमे बल-पूर्वक चलाये जानेपर तुमने जो दु ख पाया है उसका विचार करो ॥१५६३॥

गा०—काललोहसे निर्मित मण्डपमे तपाये हुए लोहेसे बनी प्रतिमारूपी युवतियोसे बल-पूर्वक आलिंगन कराये जानेपर तुमने जो दु ख पाया उसका विचार करो । तथा खारा कडुआ तपा हुआ कलकल पिलाये जानेपर जो दु ख पाया उसका चिन्तन करो ॥१५६४॥

विशेषार्थ—ताम्बा, सीसा, सज्जी, गूगल आदिको पकाकर जो काढा तैयार होता है उसे कलकल कहते हैं ।

गा०—बलपूर्वक यन्त्रके द्वारा तुम्हारा मुह फाडकर जो तुम्हे जलते हुए लोहेके अगार खिलाये गये और भट्टीमे माडकी तरह पकाया गया तथा कडाहीमे तला गया ॥१५६५॥

---

१ ढानुगच्छत तम्तत्र मय–अ० । ढान्सत नङ्भय–ज० । २ वारावलिकावाल्विावि–ज० । ग तेषा ता शिला पुनर्नि–मूलारा० । ३ तच्चिन्तय–मु० ।

कुट्टाकुट्टिं चुण्णाचुण्णिं मुग्गरमुसुढिहत्थेहि ।
जं वि सखडाखडि कओ तुम जणसमूहेण ॥१५६६॥

'कुट्टाकुट्टिं बहुशो' यत्कुट्टितश्चूर्णित मुद्गरमुसडिहस्तै, यच्च जनसमूहेन भवान् असकृत्खडित-स्तदन्त करणे कुरु ॥१५६६॥

अनुवृत्तिक्रिया भाषा सन्नति सुखशीलता ।
त्रपा कृपा दमो दानं प्रसादो मार्दवं क्षमा ॥१॥
इत्येवमाद्या सुगुणा प्रशस्ता ये शरीरिणा ।
तेषु ते दुर्लभा नित्य कान्तारेष्विव मानुषा ॥२॥
शत्रुर्मित्रमुदासीन इत्यन्यत्र त्रिधा जन ।
शत्रुरेव हि सर्वोऽत्र जन सर्वस्य नारक ॥३॥
कम्पने कणयैश्चक्रैर्नाराचै क्रकचैर्नखै ।
गदाभिर्मुशलै शूलै प्रासै पाषाणपट्टिशै ॥४॥
मुष्टिभिर्यष्टिभिर्लोष्टै शङ्कुभि शक्तिभि शरै ।
असिभि क्षुरिकाभिश्च कुन्तैर्दण्डै सतोमरै ॥५॥
तथा प्रकारैरन्यैश्च निशितैर्नैकसस्थितै ।
भूस्वभावात्स्वय जातैर्वैक्रियैरपि चायुधै ॥६॥
नारकास्तत्र तेऽन्योन्य रोषवेगेन पूरिता ।
पूर्ववैराण्यनुस्मृत्य वैभगज्ञानसभवात् ॥७॥
घ्नन्ति छिदन्ति भिदन्ति खादन्ति च तुदन्ति च ।
विध्यन्ति चापैर्मथ्नन्ति प्रहरन्ति हरन्ति च ॥८॥
श्वशृगालवृकव्याघ्रगृध्ररूपाणि चापरे ।
विकृत्य विदय पापा बाधतेऽत्र परस्पर ॥९॥

गा०-टी०—अनेक बार हाथमे मुद्गर लेकर तुम्हे कूटा गया, मूसलोंसे जनसमूहने तुम्हे चूर्ण कर डाला। उसका मनमे विचार करो।

अनुकूल क्रिया, भाषा, सज्जनता, नम्रता, सुखशीलता, लज्जा, दया, इन्द्रिय दमन, दान, प्रसन्नता, मार्दव, क्षमा आदि जो प्रशस्त सुगुण प्राणियोमे होते हैं वे गुण नरकमे वैसे ही दुर्लभ हैं जैसे घोर वनमे मनुष्यका मिलना दुर्लभ है। अन्यत्र शत्रु, मित्र और उदासीन तीन प्रकारके लोग होते हैं। किन्तु नारकी सब सबके शत्रु ही होते हैं। नरकमे नारकी अपने विभगज्ञानसे पूर्व जन्मके वैरोको स्मरण करके और क्रोधसे भरकर चक्र, बाण, करोत, नख, गदा, मूसल, शूल, भाला, पाषाणसे निर्मित अस्त्र विशेष, मुट्ठी, लकडी, लोष्ट, शङ्कु, शक्ति, तलवार, छुरी भाला, दण्डा, गुर्ज तथा इसी प्रकारके अन्य तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्रोंसे जो वहाँकी पृथिवीके स्वभावसे स्वय उत्पन्न हो जाते हैं तथा विक्रियासे निर्मित आयुधसे परस्परमे मारते हैं, छेदते भेदते हैं, खाते हैं कोचते हैं, प्रहार करते हैं, बीधते हैं। अन्य नारकी कुत्ता, सियार, भेडिया, व्याघ्र, गृद्ध

काष्ठशैलशिलारूपैर्निपतति च केचुचित् ।
पततस्तान्प्रतीच्छति ते च शूलाग्रसस्थिता ॥१०॥
मज्जयति जलीभूय वायूभूय नुदति च ।
दहति दहनीभूय न दयति परस्पर ॥११॥
तिष्ठ दासीव हन्ति त्वा त्व कुतस्त्य पलायसे ।
निगृह्ये महामोहा-मृत्युस्त्वा समुपस्थित ॥१२॥
छिधि भिधि तुदाकर्ष रु द्धि दधि बधान त ।
बधानेत मुदानाशु वह च्छादय मारय ॥१३॥
प्रवधे पातयाप्येन तुद पिंडी प्रदीपय ।
वितसेति च सरम्भ त मु चति गिरोऽशुभा ॥१४॥

जनेनैदृश नारकेण प्रापितवेदना बुद्धि निरूपयति—

ज 'अवद्धुदो उप्पाडिदाणि अच्छीणि णिरयवासम्मि ।
अवमस्स उक्खया ज सतूलमूलाय ते जिब्भा ॥१५६७॥

'ज अवद्धदो उप्पाडिदाणि' शिर पृष्ठदेशादुत्पाटिते । 'अच्छीणि' लोचने । 'णिरयवासे य' नरकवासे च । 'अवसस्स' अवशस्य । 'उक्खाता' उत्पाटिता । 'ज' यत् । 'सतूलमूलाय ते जिब्भा' निरवशेषा ते जिह्वा ॥१५६७॥

कुभीपाएसु तुम उक्कढिओ ज चिर पि² व सोल्ल ।
ज सुठ्ठिउव्व णिरयम्मि पउलिदो पावकम्मेहिं ॥१५६८॥

'कुभीपाएसु तुम' कुभीपाकेषु त्व । 'उक्कड्ढिदो' उत्क्वथित । 'ज सुट्ठिउव्व' शूलप्रोतमासवत् । 'णिरयम्मि' नरके । 'पोलिदो' अगारप्रकरे पक्व । 'पावकम्मेहिं' पापकर्मभि ॥१५६८॥

आदिका रूप अपनी विक्रियासे बनाकर विस्तारपूर्वक परस्परमे कष्ट देते है। कुछ काष्ठ, पर्वत और शिलारूप बनकर उनपर बरसते है। उनको अपने ऊपर गिरते देखकर दूसरे नारकी जो सूलीके अग्र भागपर टँगे होते हैं उन्हे ग्रहण करते है। वे नारकी जल बनकर दूसरे नारकियोको डुबाते हैं, वायु बनकर उडाते हैं। आग बनकर जलाते है। परस्परमे दया नही करते। अरे दासीपुत्र! ठहर, कहाँ भागा जाता है! मैं तुझे मारूँगा। तेरी मृत्यु आ गई है। इसका छेदन करो, भेदन करो, पकड लो, खीच लो, मार डालो, जला डालो, चीर दो इत्यादि अशुभ वचन बोलते है ॥१५६६॥

नारकी जीवने इस प्रकार जो वेदना भोगी उसे कहते है—

गा०—नरकमे सिरके पिछले भागसे तेरी आँखें निकाली गई। और पराधीनतावश तेरी पूरी जिह्वा जडमूलसे उखाडी गई ॥१५६७॥

गा०—पापी नारकियोके द्वारा नरकमे तुम चिरकाल तक कुम्भीपाकमे औटाये गये। तथा सूलमे पिरोये मासकी तरह अगारोपर पकाये गये ॥१५६८॥

---

१ अवदुव्वा मु० । अवद्धदो मूलारा० । २ पि सोल्लगे अ० ज० । सोल्ल घृतमिश्रित तैल वचलेप इत्यन्य—मूलारा० ।

ज भज्जिदोमि भज्जिदगापि व ज गालिओमि रसय व ।
ज कप्पिओमि वल्लूरय व चुण्णं व चुण्णकदो ॥१५६९॥

'ज भज्जिदोसि' यद्भृष्टोऽसि 'भज्जिदगपि' भज्जिदगनामधेयशाकवत् । 'ज गालिओसि रसगोव्व' यद्गालितोऽसि रसवत् । 'ज कप्पिदोसि' यत्कृन्तित । 'ज छिन्नो सि' यत् छिन्न । 'वल्लूरय पि व' वल्लूरवत् । 'चुण्णव' चूर्णवत् 'चुण्णकदो' चूर्णीकृत ॥१५६९॥

चक्केहिं करकचेहि य ज सि णिकत्तो विकत्तिओ ज च ।
परसूहिं फाडिओ ताडिओ य ज त मुसुंढीहि ॥१५७०॥

'चक्केहि करकचेहिं' चक्रै क्रकचैश्च । ज सि णिकत्तो' यदसि निकृत्त । विकत्तिदो' विविध कृत्त । 'परसूहि फालिदो' परशुभि पाटित । 'ताडिदो' ताडित । 'ज' यत् त्व 'मुसुंढीहिं' मुसुंढीभि ॥१५७०॥

पासेहिं ज च गाढ बद्धो भिण्णो य ज सि दुघणेहि ।
ज खारकद्दमे खुप्पिओ मि ओमच्छिओ अवसो ॥१५७१॥

'पासेहिं' पाशै । 'ज' यत् । 'गाढ बद्धो' दृढ बद्ध । 'भिण्णो य भिन्नश्च । ज सि' यदसि । 'दुघणेहिं' घनै । 'ज' यत् । 'खारकद्दमे' क्षारकर्दमे । 'खुप्पिदोसि निखातोऽसि । 'ओमच्छिओ' अधोमस्तक । 'अवसो' परवश ॥१५७१॥

ज छोडिओमि ज मोडिओमि ज फाडिओसि मलिदो सि ।
जं लोडिदोसि सिंघाडएसु तिक्खेसु वेएण ॥१५७२॥

यद्भून , पाटित , मर्दित , लोठितश्च तीक्ष्णेषु शृगाटकेषु वेगेन ॥१५७२॥

विच्छिण्णगोवगो खार सिच्चित्तु वीजिदो ज मि ।
सत्तीहि वि[1]मुक्कीहि य अदयाए खुंचिओ ज मि ॥१५७३॥

'विच्छिण्णगोवगो' विच्छिन्नागोपाग । 'खार सिच्चित्तु' क्षार सिक्त्वा । 'वीजिदो ज सि यद्वीजित ।

गा०—तुम भाजीकी तरह भूँजे गये हो। गुडके रसकी तरह छाने गये हो। मासके टुकडोकी तरह काटे गये हो और चूर्णकी तरह चूर्ण किये गये हो ॥१५६९॥

गा०—चक्रके द्वारा छेदे गये हो। आरेके द्वारा चीरे गये हो। परसुके द्वारा फाडे गये हो। और मुसुटी अस्त्र विशेषसे पीटे गये हो ॥१५७०॥

गा०—पाशके द्वारा मजबूतीसे बाधे गये हो। घनोके द्वारा छिन्न-भिन्न किये गये हो। पराधीन होकर खारी कीचडमे नीचेको मस्तक करके गाडे गये हो ॥१५७१॥

गा०—जो विदारे गये हो। मोडे गये हो, फाडे गये हो, पैरोंमे मले गये हो, तथा वेगसे तीक्ष्ण लोहमयी सिंघाडोपर घसीटे गये हो ॥१५७२॥

गा०— अग उपागके विच्छिन्न होनेपर खारे जल आदिसे सींचे गये। फिर पखाने

---

१ सुतिक्खीहिं आ० ।

'सत्तीहिं' शक्तिभि । 'विमुक्कीहिं य' अयोमयकण्टकाग्रैर्दण्डैः । 'अदयाए' दयामन्तरेण । 'खुचिदो' परावर्तित ॥१५७३॥

पगलतरुधिरधारो पलंबचम्मो पभिन्नपोट्टसिरो ।
पउलिदहिदओ ज फुडिदच्छो पडिचूरियंगो य ॥१५७४॥

'पगलतरुधिरधारो' प्रगलद्रुधिरधार । 'पलंबचम्मो' प्रलम्बत्वक् । 'पभिन्नपोट्टसिरो' प्रभिन्नोदरशिरा । 'पउलिदहिदओ' प्रतप्तहृदय । 'जं' यत । 'फुडिदच्छो' स्फुटितलोचन । 'पडिचूरिदंगो य' परिचूर्णिताङ्ग ॥१५७४॥

जं [1]चडवडित्तकरचरणंगो पत्तो सि वेदणं तिव्वं ।
णिरए अणंतखुत्तो त अणुचिंतेहि णिस्सेसं ॥१५७५॥

'ज' यत । 'चडवडित्तकरचरणगो' वेपमानकरचरणाङ्ग । पत्तो सि वेदण तिव्व' प्राप्तोऽसि वेदना तीव्रा । 'णिरए' नरके । 'अणतखुत्तो' अनन्तवार तत् अणुचिंतेहि' अनुक्रमेण चिन्तय । णिस्सेस' निरवशेष ॥ नरकगतिदु ख वर्णितम ॥१५७५॥

तिरियगदिं अणुपत्तो भीममहावेदणाउलमपारं ।
जम्मणमरणरहट्टं अणंतखुत्तो परिगदो जं ॥१५७६॥

'तिरियगदिं अणुपत्तो' तिर्यग्गतिमनुप्राप्त । 'भीममहावेदनाउलमपार' । भीममहावेदनाकुलमपारं 'जम्मणमरणरहट्टं' जन्ममरणघटीयन्त्र । 'अणंतखुत्तो' अनन्तवार । 'परिगदो' परिप्राप्तोऽसि । यत् चिंतेहि त इति वक्ष्यमाणेन सबन्ध । तिर्यंचो हि नानाविधा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसभेदेन ॥१५७६॥

हवा की गई जिससे वेदना बढे। फिर शक्ति नामक अस्त्रसे और लोहेके दण्डेसे जिसके आगे काटे लगे हों, निर्दयतापूर्वक खींचे गये ॥१५७३॥

गा०—रुधिरकी धार बह रही है, चमडा लटक रहा है, उदर और सिर फट गया है, हृदय दुःखसे सतप्त है, आँखें फूट गई हैं। समस्त शरीर छिन्न-भिन्न है ॥१५७४॥

गा०—हाथ पैर कांपते हैं। ऐसी दशामें तुमने नरकमें जो अनन्त बार तीव्र कष्ट भोगा उस सबका क्रमसे चिन्तन करो ॥१५७५॥

नरकगतिके दुःखका वर्णन समाप्त हुआ।

गा०-टी०—नरकसे निकलकर तुम तिर्यञ्चगतिमें आये। यह जन्म मरणरूपी घटीयन्त्र (रहट) भयानक महावेदनाओंसे भरा है, इसका पार नहीं है। इसे तुमने अनन्तवार प्राप्त किया है। तिर्यञ्च पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रसके भेदसे अनेक प्रकारके हैं ॥१५७६॥

---

१ चडयडत–मु०, मूलारा०।

आत्मानुभूतान्यपि न स्मरन्ति दुःखानि केचिद्धि नरा प्रमत्ताः ।
दृष्टश्रुतान्यन्यसमुद्भवानि ते विस्मरन्तीति न विस्मयोऽत्र ॥१॥
प्रमादलोपार्थमतो नरेभ्यो ज्ञातोऽपि सोऽर्थः परिकथ्य एव ।
सस्मार्यमाणे प्रभवन्ति यस्मिन्गुणा न दोषाश्च समुद्भवन्ति ॥२॥
शीते निवाते सलिलादि चोष्णे क्षेमे भये सश्रयितुं समर्थाः ।
ये जंगमास्ते न तु सास्ति शक्तिरेकेन्द्रियाणां बत जीवकानां ॥३॥
सर्वोपसर्गानिह मोक्षकामा यथा विरागा मुनयः सहन्ते ।
सर्वोपसर्गानवशा वराका एकेन्द्रिया ये च सदा सहन्ते ॥४॥
जात्यन्धमूका बधिराश्च बाला रथ्यासु रक्षाशरणप्रहीणाः ।
प्रमर्द्यमाना गजवाजियानैर्यथा म्रियेरन् विवशा वराकाः ॥५॥
तथा प्रकारो विकलेन्द्रियाणां प्रवर्तते नारकदुःखतुल्यः ।
मृत्युः समन्तात् सतत सुघोरो ग्रामेष्वरण्येषु च निःशरण्यः ॥६॥
गोजाविकाद्यैः परिमर्द्यमाना यानादिचक्रैः परिपिष्यमाणाः ।
अन्योन्यवक्त्रैः परिमुष्यमाणा दुःखं च मृत्युं च हि ते लभन्ते ॥७॥
छिन्नैः शिरोभिश्चरणैश्च भग्नैश्चशाविशीर्णावयवैस्तनूनां ।
चिरं स्फुरन्तः प्रतिकाररहीनाः कृच्छ्रेण केचिज्जहति स्वमायुः ॥८॥
निमज्यमाना उदबिन्दुनापि निश्वाससवातैरपि चोद्यमाना ।
प्रचोद्यमाना लघुनोष्मणापि नश्यन्ति ये तेषु कथा भवेत् का ॥९॥

कितने ही प्रमादी मनुष्य अपने द्वारा अनुभूत दुःखोंको भी भूल जाते हैं। तब देखे हुए, सुने हुए और दूसरोंके भोगे हुए दुःखोंको भूल जायें तो इसमें क्या आश्चर्य है। अतः मनुष्योंके द्वारा जाना हुआ भी यथार्थ प्रमाद दूर करनेके लिये कहा जाता है। जिसका स्मरण होनेपर गुण प्रकट होते हैं और दोष प्रकट नहीं होते। जो जगम प्राणी होते हैं वे शीतमें वायु रहित स्थानमें, गर्मीमें जलादिमें, भय उपस्थित होनेपर निरापद स्थानमें आश्रय ले सकते हैं। किन्तु खेद है कि एकेन्द्रिय जीवोंमें ऐसी शक्ति नहीं होती। जैसे मोक्षके इच्छुक विरागी मुनि सब उपसर्गोंको सहते हैं। पराधीन बेचारे एकेन्द्रिय भी सब उपसर्गोको सदा सहते हैं। जैसे जन्मसे अन्धे गूँगे बहरे बालक रक्षा और शरणसे विहीन हुए बेचारे विवश होकर मार्गोंमें हाथी घोडे सवारी आदिसे कुचलकर मर जाते हैं। विकलेन्द्रिय जीवोकी भी ऐसी ही दशा है। उनका दुःख भी नारकियोंके समान है। ग्रामो और वनोंमें भी उनको शरण नहीं है। उनकी घोर मृत्यु सदा होती रहती है। गाय बैल, बकरा मेढा आदिके द्वारा ये कुचले जाते हैं। गाडी आदिके चकोंके नीचे पिस जाते हैं। परस्परमें एक दूसरेके मुखोंके द्वारा पीडित होकर वे दुःख और मृत्युको प्राप्त होते हैं। सिरोंके भग्न हो जानेपर, पैरोंके टूट जानेपर तथा शरीरके अवयवोंके रोगसे ग्रस्त होनेपर वे चिरकाल तक तडफडाते रहते हैं, उनका कोई इलाज नहीं करता। बडे कष्टसे वे आयु पूरी करते हैं। जो जलकी एक बूंदमें भी डूब जाते हैं, प्राणियोंके श्वासको वायुसे भी पीडित होते हैं। जरा सी भी गर्मीसे पीडित होनेपर मर जाते हैं उनकी क्या कथा कही जाये ?

१ भवे मु० । २ म्रियते मु० ।

सर प्रविश्येह यथा नर सन्नुन्मज्जन चैव निमज्जन च ।
क्रीडाप्रसक्तो बहुशोऽपि कुर्यादनन्यकार्यं स्ववशो वयस्थ ॥१०॥
प्रविश्य जन्मोदधिमध्यमेव शरीरिणस्ते बहु जन्ममृत्यून् ।
अन्तर्मुहूर्तेऽपि समाप्नुवन्ति पेपीयमाना कटुदु खतोयम् ॥११॥
सूक्ष्मै शरीरैरपि ते महान्ति दु खानि नित्य सममाप्नुवन्ति ।
[1]स्थूलेषु देहेषु समीहितेषु दु खोदयो देहिगणैश्च दृष्ट ॥१२॥
येषा न माता न पिता न बन्धुर्न चापि मित्र न गुरुर्न नाथ ।
न भेषज नाभिजनो न भक्ष्य न ज्ञानमस्त्येव कुत सुख स्यात् ? ॥१३॥
मात्रा वियोगेऽपि सतोह तावत् दु खाम्बु तत्तु [2] न जनो लभेत ।
मात्रा वियोगस्तु भवेन्न येषा स्यात्क्व कथ्य ते न हि दु खराशे ॥१४॥
मा भैष्ट मा भूत्तव दु खजाल मा विष्ट मा वेति वराककाणा ।
आश्वासको वाप्यनुकम्पिता वा तेषा जन कोऽस्ति यथा नराणा ॥१५॥
तैस्तै प्रकारै सतत समन्ताच्छश्वद्दयाना अपि मृत्युमुग्र ।
करोति या को ग्रहण निरीक्ष्य विमुच्य सर्वार्थविदो मनुष्यान् ॥१६॥
अन्योन्यतो मर्त्यजनाच्च पापात् क्षुधादितश्चापि महाभयानि ।
पञ्चेन्द्रिया यानि समाप्नुवन्ति दु खानि तेषामिह कोपमा स्यात् ॥१७॥
स्तनधयान्स्वानपि भक्षयन्त [3]श्रुताश्तिरश्चोऽपि न निष्कृपाका ।
निहत्य खादन्तु परान्परेषु तिर्यक्षु कि विस्मयनीयमस्ति ॥१८॥

जैसे कोई स्वाधीन वयस्क पुरुष क्रीडासक्त हो, सरोवरमें प्रवेश करके बहुत बार जलमें डूबता और उतराता है। वैसे ही शरीरधारी प्राणी जन्मरूपी समुद्रके मध्यमें प्रवेश करके कटुक दु खरूपी जलको पीते हुए एक अन्तर्मुहूर्तमें भी बहुत बार जन्म लेते और मरते हैं। यद्यपि उनके शरीर सूक्ष्म होते हैं फिर भी वे महान् दु ख भोगते हैं। स्थूल शरीर मिलने पर उनका दु ख अन्य प्राणी भी देख सकते हैं। जिनका न पिता है, न माता है, न बन्धु है, न मित्र है, न गुरु है, न स्वामी है, न औषध है, न वश है, न भोजन है और न ज्ञान है उन्हें सुख कैसे हो सकता है। माताका वियोग भी होनेपर इतना दु ख होता है जिसे मनुष्य सह नहीं पाता। जिनके माता ही नहीं है उनको दु ख राशिका तो कहना ही क्या है। तुम मत डरो, तुम्हे दु ख न हो, इस प्रकार उन बेचारोंको मनुष्योंकी तरह न कोई सान्त्वना देनेवाला है और न कोई उनपर दया करनेवाला है। विभिन्न प्रकारोंमें निरन्तर सदा चहुँ ओरसे उग्र मृत्युको प्राप्त उन प्राणियोंको देखकर उनके सम्बन्धमें जानने वाले मनुष्योंके सिवाय अन्य कौन उनकी सुध लेता है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च परस्परमें एक दूसरेसे, पापी मनुष्योंमे भूख प्यास आदिसे जिन महाभयकारी दु खोंको प्राप्त होते हैं उनकी कोई उपमा नहीं है। वे अपने बच्चोंको भी खा जाते हैं। तिर्यञ्च भी दयाहीन नहीं सुने गये हैं। किन्तु जो अपने ही बच्चोंको खाते हैं वे यदि दूसरोंको खा जावें तो इसमे आश्चर्य ही क्या। वे परस्परमें एक दूसरेका घात करनेके लिये प्रहार करते हैं। उनको मारनेके लिये

---

१ स्थूलानुदेहेषु समीहितेषु सुखोदयो देहिगुणैश्च दृष्ट ।'—अ० । २ दु ख च स्या आविष्ट—अ० ।
३ सुता आ० ।

अन्योन्यघातार्थमनुप्रयाति हन्तुं तमन्यः कृपणोऽनुयाति ।
न कश्चिदन्यः सहसा निहन्ता हो [1]धिक्ततो भीमतरं किमन्यत् ॥१९॥
अन्योन्यरन्ध्रेक्षणनष्टनिद्रा अन्योन्यमाहत्य जिजीविषन्तः ।
स्वस्था न येऽन्योन्यभयात्स्वपन्ति किं ते भवेयुः सुखिनः कदाचित् ॥२०॥
वने मृगास्तोयतृणप्रपुष्टाः मृगीसहाया रतिमाप्नुवन्ति ।
व्याधादिभिर्यद्भयमाप्नुवन्ति निरेनसः कारणमत्र कर्म ॥२१॥
वियोजिता आत्मसुतैश्च बालैर्मृग्यो मृगैश्चात्ममनोऽनुकूलैः ।
दिशस्तु दीनाक्षिभिरीक्ष्यमाणाः सुदारुणं मारणमाप्नुवन्ति ॥२२॥
स्वभावपापाः कुकवीरिताभिः प्रोत्साहिता दुःश्रुतिभिः पुनश्च ।
अबिभ्यतो दुर्गतितो यथेष्टं घ्नन्तोऽप्यहस्तश्च हितानुमन्यते ? ॥२३॥
वने मृगेभ्यः पिशिताशनेभ्यो ग्रामेषु नृभ्यश्च तथाविधेभ्यः ।
ते बिभ्यते न क्वचिदाश्वसन्तो यदृच्छया बिभ्रति जीवितानि ॥२४॥
यदङ्कुशादिप्रहृतैर्गजाश्च कशादिघातैश्च हया हताशाः ।
गावश्च तोत्रादिवधैः परेषां कुर्वन्ति कर्मामरणावकामाः ॥२५॥
[2]मत्यायुतानाममलमेतदेव विरागभावप्रभवे निमित्तम् ।
तादृग्विधाना बहवो हि कोटचः क्व प्रकुर्वंस्य[3]मितेतरस्य ॥२६॥
दवह्यमानाश्च दवाग्निवेगैर्महाजलौघैश्च समूह्यमानाः ।
मृगाः खगाः सर्पसरीसृपाश्च सार्धं म्रियन्ते बहवो वताम्ये ॥२७॥

दूसरा पशु उसके पीछे लग जाता है। उसको भी कोई तीसरा मार देता है। धिक्कार है इसे, इससे भयानक और क्या हो सकता है। परस्परमें एक दूसरेके छिद्रोंको देखनेसे जिनकी नींद भाग जाती है, जो एक दूसरेको मारकर जीना चाहते हैं, जो परस्परमें एक दूसरेके भयसे स्वस्थ होकर सो नहीं सकते वे कभी सुखी कैसे हो सकते हैं ? वनमें मृग जल और तृण खाकर पुष्ट होते हैं। हिरणी उनकी सहचरी होती है। परस्परमें प्रेमसे रहते हैं। बिना किसी अपराधके भी व्याध आदिसे उन्हें भय रहता है। इसमें कारण उनका पूर्व कर्म है। उन्हें अपने बच्चोंसे वियोगका दुःख उठाना पड़ता है। अपने मनके अनुकूल मृगोंकी खोजमें दीन दृष्टिसे दिशाओंको देखा करते हैं और इस तरह भयंकर मृत्युको प्राप्त होते हैं। जो स्वभावसे ही पापी हैं, और कुकवियोंके द्वारा कही गई न सुनने योग्य कविताओंसे उत्साहित होकर, दुर्गतिसे भी नहीं डरते वे उन पशुओंको यथेच्छ मारते हैं और इसे हित मानते हैं। वनमें मांसाहारी पशुओंसे, ग्रामोंमें मांसाहारी मनुष्योंसे डरते हैं। वे कहीं भी अपनी इच्छानुसार निर्भय जीवन नहीं बिताते। हाथी अंकुश आदिके प्रहारोंसे, घोड़े कोड़े आदिकी मारसे और बैल पैनी आदिके घातसे मरणपर्यन्त दूसरोंका काम करते हैं। जो बुद्धिमान् हैं उनके वैराग्य उत्पन्न होनेमें यह सब ही निमित्त है। उनकी बहुतसी कोटियाँ हैं वे एक दूसरेको कष्ट कैसे दे सकते हैं। जंगलकी आगके वेगसे जलते हुए महाजलसमूहके प्रवाहमें बहाये जाते हुए मृग, पक्षी, सर्प, सरीसृप तथा अन्य भी बहुतसे जीव एक साथ मर जाते हैं ॥१५७६॥

1. हो धिक्क लोभाग्निनरा किमन्यत्' –आ० । 2. मर्त्यायुतानाममल–आ० । 3. न्त्यमिते नारम्य –आ० ज० ।

ताडणतासणबंधणवाहणलंछणविहेडणं[1] दमणं ।
कण्णच्छेदणणासावेहणणिल्लछणं चेव ॥१५७७॥

'ताडणतासण' ताडनत्रासनबन्धनलाञ्छनवाहनविहेडनकर्णछेदननासिकावेधनवीजविनाशनानि ॥१५७७॥

छेदणभेदणडहण णिपीलण गालण छुहातण्हा ।
भक्खणमद्दणमलणं विकत्तण सीदउण्हं च ॥१५७८॥

छेदनभेदनदहननिपीडनगालनानि क्षुत्तृड्बाधाभक्षणमर्दनमलनविकर्तनानि । शीतमुष्णं च ॥१५७८॥

ज अत्ताणो णिप्पडियम्मो बहुवेदणुद्दिओ पडिओ ।
बहुएहिं मदो दिवसेहिं चडयडतो अणाहो व ॥१५७९॥

'ज अत्ताणो' यदत्राणो । 'णिप्पडियम्मो' निष्प्रतीकारः । 'बहुवदणुद्दिओ' बहुवेदनार्दितः । 'पडिदो' पतितः । 'बहुगेहिं मदो दिवसेहिं' बहुभिर्मृतो दिवसैः । 'चडचडितो' स्फुरद्देहः । 'अणाहो' अनाथ । 'व' इव ॥१५७९॥

रोगा विविहा बाधाओ तह य णिच्च भय च सव्वत्तो ।
तिव्वाओ वेदणाओ धाडणपादाभिघादाओ १५८०॥

'रोगा विविहा' व्याधयो नानाप्रकाराः । 'बाधाओ' बाधाश्च । 'तथा णिच्च भय च सव्वत्तो' नित्यं भयं च सर्वतः । 'तिव्वाओ वेदणाओ' तीव्रा वेदना घाटनपादाभिघाताश्च ॥१५८०॥

सुविहिय अदीदकाले अणंतकाय तुमे अदिगदेण ।
जम्मणमरण[2]मणंतं अणत[3]खुत्तो मक्षणुभूद ॥१५८१॥

'सुविहिद' सुचारित्र । 'अदीदकाले' अतीतकाले । 'अणतकाय तुमे अदिगदेण' अनन्तकाय त्वया प्रविष्टेन । 'जम्मणमरणमणत' जन्ममरणं चानन्तं । 'अणतखुत्तो' अनन्तवारं क्षिप्त । 'समणुभूद' समनुभूतं ॥१५८१॥

गा०—लाठी आदिसे मारना, डराना, रस्सी आदिसे बाधना, बोझा लादकर देशान्तरमे ले जाना, गर्म लोहेसे दागना, पीडा देना, दमन करना, अण्डकोषोको दबा देना । अगोको छेदना, भेदना, जलाना, दबाना, रोग आदि होनेपर रक्त निकालना, भूख प्यासकी बाधा, भक्षण, मर्दन, मलना, कान आदिको काटना, शीत उष्ण इत्यादि दुःख तिर्यञ्च गतिमे तुमने सहे हैं ॥१५७७-७८॥

गा०—जहाँ कोई रक्षक नही, कोई प्रतीकार नही, बहुत कष्टमे पीडित होकर गिरे और अनाथ दशामे तडफडाते हुए तुम बहुत दिनोमे मरे ॥१५७९॥

गा०—तिर्यञ्चगतिमे नाना प्रकारके रोग, नाना प्रकारकी बाधाएँ, सदा सब ओरसे भय, तीव्र वेदनाएँ, पैरसे मारना आदि कष्ट है ॥१५८०॥

गा०—हे चारित्रसे सम्पन्न क्षपक ! अतीतकालमे तुमने अनन्तकायमे जन्म लेकर अनन्त वार अनन्त जन्म मरणोको भोगा ॥१५८१॥

---

१ ण मदण अ० । २ णेण रछण चेव—अ० । ३. णादक अण —अ०, आ० ।

इच्चेवमादिदुक्खं अणंतखुत्तो तिरिक्खजोणीए ।
जं पत्तोसि अदीदे काले चिंतेहिं तं सव्वं ॥१५८२॥

'इच्चेवमादिदुक्खं' इत्येवमादिदुःखं । 'अणतखुत्तो' अनन्तवारं । 'तिरिक्खजोणीए' तिर्यग्योनौ । 'जं' यत् । 'पत्तोऽसि' प्राप्तोऽसि । 'अदीदकाले' अतीतकाले । 'चिंतेहि तं सव्वं' तत्सर्वं चिन्तय । तिरियगदी ॥१५८२॥

देवत्तमाणुसत्ते जं ते जाएण सक्कयकम्मवसा ।
दुक्खाणि किलेसा वि य अणतखुत्तो समणुभूदं ॥१५८३॥

'देवत्तमाणुसत्ते' देवत्वमानुपत्वयो । 'जादेण' जातेन । 'सक्कयकम्मवसा' स्वकृतकर्मवशात् । 'दुक्खाणि किलेसा वि य' दुःखानि क्लेशाश्च । 'अणतखुत्तो' अनन्तवारं समनुभूता ॥१५८३॥

पियविप्पओगदुक्खं अप्पियसंवासजाददुक्खं च ।
[1]जं वेमणस्सदुक्खं जं दुक्खं पत्थिदालाभे ॥१५८४॥

'पियविप्पओगदुक्खं' प्रियविप्रयोगजात दुःखं । 'अप्पियसवासजाददुक्ख च' अप्रियैः सहवासेन जातं च दुःखं । येषां नामश्रवणेऽपि शिरःशूलो जायते, येषां दर्शनाद्नेत्रे घूर्णायेते । 'जं वेमणस्सदुक्खं' यद्वैमनस्यदुःखं 'पत्थिदालाभे जं दुःखं' यद्दुःखं प्रार्थितालाभे ॥१५८४॥

परभिच्चदाए जं ते असब्भवयणेहिं कडुगफरुसेहिं ।
णिब्भत्थणावमाणणतज्जणदुक्खाइं पत्ताइं ॥१५८५॥

'परभिच्चदाए' परभृत्यतया सत्या 'ते' तव 'जं' यज्जातं । 'असब्भवयणेहिं' अशिष्टवचनैः । 'कडुगफरुसेहिं' कटुकैः परुषैश्च । 'णिब्भत्थणावमाणणतज्जणदुक्खाइं पत्ताइं' निर्भर्त्सनावमाननतर्जनदुःखानि प्राप्तानि ॥१५८५॥

दीणत्तरोसचिंताभोगामरिसग्गिपउलिदमणो जं ।
पत्तो घोरं दुक्खं माणुसजोणीए मतेण ॥१५८६॥

गा०—तिर्यञ्चयोनिमें तुमने अतीतकालमें अनन्तवार जो इस प्रकारके दुःख भोगे हैं उन सबका विचार करो ॥१५८२॥

गा०—अपने किये हुए कर्मके वशीभूत होकर तुमने देवपर्याय और मनुष्य पर्यायमें जन्म लिया और वहाँ भी अनन्तवार दुःख और क्लेशोंको भोगा ॥१५८३॥

गा०-टी०—प्रिय जनके वियोगका दुःख, अप्रियजनोंके साथमें रहनेका दुःख, जिनका नाम सुनकर भी सिरमें दर्द होता है, जिनके देखने मात्रसे आँखें लाल हो जाती हैं उन्हें अप्रिय कहते हैं। उनके साथमें रहनेका दुःख, वैमनस्यका दुःख और इच्छित वस्तुके न मिलनेका दुःख, राजा आदिकी नौकरी करनेपर अशिष्ट और कटुक वचनोंका दुःख, धिक्कार, तिरस्कार, अपमान और डाटनेका दुःख तुमने सहा है ॥१५८४-८५॥

---

1. जं ते माणसदुक्खं—मूलारा० ।

'दीणत्तरोसचिंतासोगामरिसग्गिपज्जलिदमणो जं' दीनत्वरोषचिताशोकामर्षाग्निभिः सतप्तमना यत् । 'पत्तो घोर दुक्खं' प्राप्त घोर दुःख । 'माणुसजोणीए सतेण' मनुष्ययोनौ सत्या भवता ॥१५८६॥

दंडणमुंडणताडणधरिसणपरिमोससंकिलेसा य ।
घणहरणदारधरिसणघरदाहजलादिघणणासं ॥१५८७॥

दडणमुडण—दण्डनमुण्डनताडणदूषणपरिमोषणसक्लेशा धनापहरणदारदूषणानि गृहदाहजलादिभिर्द्रविणनाशात ॥१५८७॥

दंडकसालट्ठिसदाणि डंगुराकटमद्दणं घोरं ।
कुंभीपाको मच्छयपलीवणं भत्तवुच्छेदो ॥१५८८॥

'दण्डकसालट्ठिसदाणि' दण्डकशायष्टिशतैस्ताडनानि दण्डादिकार्यत्वाद्दण्डादिशब्देनोच्यन्ते । डंगुरा मुष्टिप्रहारा । 'कंटमद्दणं' कण्टकानामुपरि प्रक्षिप्य मर्दनं घोरं । कुम्भीपाकः । 'मच्छयपलीवणं' मस्तके अग्निप्रज्वलनं । 'भत्तवुच्छेदो' आहारनिरोधः ॥१५८८॥

दमणं च हत्थिपादस्स णिगलअद्दूवरत्तरज्जूहिं ।
बंधणमाकोडणयं ओलंबणणिहणणं चेव ॥१५८९॥

'दमणं च हत्थिपादस्स' हस्तिपादेनोन्मर्दनं । 'णिगलअद्दूवरत्तरज्जूहिं' निगलेन, अन्दुकाभिः, वरत्राभिः, रज्जूभिश्च बन्धनं । 'आकोडणयं' हस्तौ पृष्ठतो नीत्वा बन्धनं । 'ओलंबणं' ग्रीवाबद्धपाशस्य तरुशाखासु लम्बनं । 'णिहणणं' चेव गर्ते निक्षिप्य पूरणं ॥१५८९॥

कण्णोट्ठसीसणासाछेदणदंताण भंजणं चेव ।
उप्पाडणं च अच्छीण तहा जिब्भायणीहरणं ॥१५९०॥

'कण्णोट्ठसीसणासाछेदणं' कर्णयोरोष्ठयोः, शिरसो, नासिकायाश्च छेदः । 'दंताण भंजणं चेव' दन्तानां भञ्जनं । 'उप्पाडणं च अच्छीणं' अक्ष्णोरुत्पाटनं, तथा 'जिब्भाए णीहरणं' जिह्वानिर्हरणं ॥१५९०॥

गा०—दीनता, रोष, चिन्ता, शोक और क्रोधरूप आगसे मनके संतप्त होनेपर तुमने मनुष्ययोनिमें रहते हुए घोर दुःख पाया है ॥१५८६॥

गा०—राजा आदिसे दण्डित होना, सिर मुण्डा करा देना, पीटा जाना, तिरस्कारपूर्वक दोष लगाया जाना, चोरी होना, राजा आदिके द्वारा धनका हरण, स्त्रियोंको दोष लगाना, घरमें आग लगाना, बाढ वगैरहसे सपत्तिका नष्ट होना, डण्डे कोडे लाठी आदिसे पीटा जाना, मुट्ठीका प्रहार होना, काटोंके ऊपर लिटाकर घोर मर्दन करना, कडाहीमें डालकर पकाना, मस्तकपर आग जलाना, आहारका रोक देना इत्यादि दुःख तुमने मनुष्यगतिमें सहे हैं ॥१५८७–८८॥

गा०—हाथीके पैरसे दबाया जाना, साकल, चमडेकी रस्सी या साधारण रस्सीसे बाधा जाना, दोनों हाथ पीछे करके बाधना, गर्दनमें रस्सी डालकर वृक्षसे लटकाना, गड्ढेमें डालकर उसे पूर देना। कान, ओष्ठ और नाक काटना, दात तोडना, आखें निकाल लेना, जीभ उखाड लेना, इत्यादि दुःख तुमने भोगे हैं ॥१५८९–९०॥

अग्गिविससत्तुसप्पादिवालसत्थाभिघादघादेहिं ।
सीदुण्हरोगदसमसएहिं तण्हाछुहादीहिं ॥१५९१॥

'अग्गिविससत्तुसप्पादिवालसत्थाभिघादघादेहिं' अग्नेर्विषस्य, शत्रूणा, सर्पादिव्यालमृगाणा, शस्त्रप्रहारस्य च घाते । 'सीदुण्हरोगदसमसएहिं' शीतोष्णेन, दशमशकै , 'तण्हाछुहादीहिं' तृट्क्षुधादिभि ॥१५९१॥

जं दुक्ख सपत्तो अणंतखुत्तो मणे सरीरे य ।
माणुसभवे वि तं सव्वमेव चिंतेहि त धीर ! ॥१५९२॥

'ज दुक्ख सपत्तो' यद्दु ख सप्राप्त । 'अणतखुत्तो' अनन्तवार । 'मणे सरीरे य' मानसि शरीरे च । मानस शारीर च दु ख प्राप्त । 'माणुसभव वि' मनुष्यभवऽपि । 'त सव्वमेव चिंतेहि' तत्सर्वमेव चिन्तय । 'त धीर' त्व धीर ! ॥१५९२॥

सारीरादो दुक्खादु होइ देवेसु माणस तिव्व ।
दुक्ख दुस्सहमवसस्स परेण अभिजुज्जमाणस्स ॥१५९३॥

'सारीरादो दुक्खादु' शारीराद्दु खात । 'होदि' भवति । 'देवेसु' देवेषु । 'माणुस तिव्व' मानस तीव्र दु ख । 'दु स्सह' सोढुमशक्य । 'अवसस्स' अवशस्य । 'परेण' अन्येन 'अभिजुज्जमाणस्स' अभियुज्यमानस्य वाहनतया नीयमानस्य ॥१५९३॥

देवो माणी सतो पासिय देवे महद्ढिए अण्णे ।
ज दुक्ख सपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥१५९४॥

'देवो माणी सतो' देवो मानी सन् । 'पासिय देवे' देवान् दृष्ट्वा । 'महद्धिए' महर्द्धिकान् । 'अण्णे' अन्यान् । 'ज दुक्ख सपत्तो घोर' यद्घोर दु ख प्राप्त । 'भग्गेण माणेण' भग्नेन मानेन ॥१५९४॥

दिव्वे भोगे अच्छरसाओ अवसस्स सग्गवास च ।
पजहतगस्स ज ते दुक्ख जाद चयणकाले ॥१५९५॥

गा०—आग, विष, शत्रु, सर्प आदि तथा सिंह, शस्त्रके प्रहारसे घात, शीत, उष्ण, डास मच्छर, भूख प्यास, इनसे तुमने मनुष्यभवमे जो शारीरिक और मानसिक दु ख पाया है, हे धीर ! उस सबका विचार करो ॥१५९१-१५९२॥

गा०—जब देवगतिमे अभियोग्य जातिका देव होकर वह परवश होकर इन्द्रादिके द्वारा वाहन बनाया जाता है तब उसे शारीरिक दु खसे तीव्र मानसिक दु ख होता है जो असह्य होता है ॥१५९३॥

गा०—अभिमानी देव हुआ तो अन्य महर्द्धिक देवोको देखकर मानका भग होनेसे जो घोर दु ख हुआ उसका विचार करो ॥१५९४॥

गा०—परवश होकर दिव्य भोग, देवांगनाएँ और स्वर्गवास त्यागनेपर स्वर्गसे च्युत होते समय जो दु ख हुआ उसको स्मरण करो ॥१५९५॥

'दिव्वे भोगे' दिव्यान्भोगान् । 'अच्छरसाओ' देवकन्यका । 'सग्गवास च' स्वर्गवास च । 'पजहत-गस्स' परित्यजत । 'अवसस्स' परवशस्य । 'ज ते दुक्ख जाद' यत्तव दुःख जात । 'चयणकाले' च्यवनकाले ॥१५९५॥

ज गब्भवासकुणिम कुणिमाहार छुहादिदुक्ख च ।
चिंततगस्स य सुचिसुहिदस्स दुक्ख चयणकाले ॥१५९६॥

'ज गब्भवासकुणिम' यद्गर्भवासकुथित । 'कुणिमाहार' कुथिताहार । क्षुधादिदुःख च । 'चिंततगस्स' चिन्तयत । 'सुचिसुहिदस्स' सुचे सुखितस्य । 'ज दुक्ख चयणकाले' स्वर्गाच्च्यवनकाले ॥१५९६॥

एव एद सव्व दुक्ख चदुगदिगद च ज पत्तो ।
तत्तो अणतभागो होज्ज ण वा दुक्खमिमग ते ॥१५९७॥

'एव एद सव्व' एवमेनत्सर्व । 'दुक्ख चदुगदिगद' दुःख चतुर्गतिगत । 'ज पत्तो' यत्प्राप्तवान् । 'तत्तो' तत । 'अणतभागो' अनन्तभागो । 'होज्ज ण वा' भवेद्वा न वा । 'दुक्खमिमग ते' दुःखमिद[1] तव मनुजजन्मनि ॥१५९७॥

सखेज्जमसंखेज्ज काल ताइ अविस्समंतेण ।
दुक्खाइ सोढाइ किं पुण अदिअप्पकालमिम ॥१५९८॥

'सखिज्जमसखिज्ज काल' सख्यातमसख्यात वा काल । 'ताइ दुक्खाइ सोढाइ' तानि दुःखानि सोढानि । 'अविस्समतेण' विश्रामरहितेन । 'किं पुणे' किं पुन सह्यते । 'अदिअप्पकालमिम' अत्यल्पकालमिद दुःख ॥१५९८॥

जदि तारिमाओ तुम्हे सोढाओ वेदणाओ अवसेण ।
धम्मोत्ति इमा सवसेण कह सोढुं ण तीरेज्ज ॥१५९९॥

'जदि तारिसाओ' यदि तादृश्य । 'तुम्हे सोढाओ वेदणाओ' त्वया सोढा वेदना । 'परवसेण'

गा०—पवित्र और सुखी देव स्वर्गसे च्युत होते समय विचारता है कि मुझे अब दुर्गन्धयुक्त गर्भमें जाना होगा । वहाँ दुर्गन्धित भोजन होगा । भूख प्यासकी बाधा होगी । ऐसा विचार करते समय जो दुःख होता है उसका चिन्तन करो ॥१५९६॥

गा०—इस प्रकार चारों गतियोंमें तुमने जो यह सब दुःख भोगा है उसके अनन्तवें भाग दुःख इस मनुष्य जन्ममें हो न भी हो ॥१५९७॥

गा०—तुमने सख्यात वा असख्यात काल पर्यन्त विना विश्राम लिये ये दुःख सहे हैं । तब अति अल्पकालके लिये यह थोडासा दुःख क्यों नहीं सहते हो ॥१५९८॥

गा०-टी०—यदि तुमने परवश होकर उक्त प्रकारकी वेदनाएँ सही हैं तो इस समय इस वेदनाको धर्म मानकर स्वय अपनी इच्छासे क्यों नहीं सहते ।

शका—वेदना धर्म कैसे है ?

---

१ मिद सर्वं मनु —आ० मु० ।

परवशेन । 'धम्मोत्ति' धर्म इति । 'इमा' इयं वेदना । 'सवसेण' स्ववशेन सता । 'सोढुं ण तीरेज्ज' सोढुं न शक्यते ? । कथं वेदना धर्म ? उत्तमक्षमामार्जवार्दवादिभि दशप्रकारो धर्म उच्यते । वेदनासहनं धर्म इति कृत्वा कथं न शक्यते सोढुं सवशेनाऽत्र ॥१५९९॥

[1]तण्हा अणंतखुत्तो संसारे तारिसी तुमं आसी ।
जं पसमेदुं सव्वोदधीणमुदगं ण तीरेज्ज ॥१६००॥
आसी अणंतखुत्तो संसारे ते छुधावि तारिसिया ।
जं पसमेदुं सव्वो पुग्गलकाओ ण तीरेज्ज ॥१६०१॥
जदि तारिसया तण्हा छुधा य अवसेण ते तदा सोढा ।
धम्मोत्ति इमा सवसेण कध सोढुं ण तीरेज्ज ॥१६०२॥
सुदपाणएण अणुसट्ठिभोयणेण य [2]पुणोवगहिएण ।
ज्झाणोसहेण तिव्वा वि वेदणा तीरदे सहिदुं ॥१६०३॥

'सुदपाणएण' त्रिविधधर्मकथाश्रुतिपानेन । 'अणुसट्ठिभोयणेण य' अनुशासनभोजनेन । 'उवगहिदेण' उपगृहीतेन । ज्झाणोसधेण' शुभध्यानौषधेन च । 'तिव्वा वि वेदणा' तीव्रापि वेदना । 'तीरदे सहिदुं' शक्यते सोढुं ॥१६००॥१६०१॥१६०२॥१६०३॥

भीदो व अभीदो वा णिप्पडियम्मो व सप्पडियम्मो वा ।
मुच्चइ ण वेदणाए जीवो कम्मे उदिण्णम्मि ॥१६०४॥

'भीदो व अभीदो वा' भीतोऽभीतो वा । 'णिप्पडियम्मो सप्पडियम्मो वा' निष्प्रतिकार सप्रतिकारो वा । 'मुच्चदि ण वेदणाए जीवो' न मुच्यते वेदनाया जीव । कम्मे उदिण्णम्मि कर्मण्यसद्वेद्ये उदीर्णे ॥१६०४॥

समाधान—उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव आदिके भेदसे दस प्रकारका धर्म कहा है अत वेदनाको सहना भी धर्म है ॥१५९९॥

गा०—हे क्षपक ! ससारमे तुम्हे ऐसी प्यासकी वेदना अनन्त वार हुई है जिसको शान्त करनेके लिये सब समुद्रोका जल भी समर्थ नही है ॥१६००॥

गा०—ससारमे तुम्हे ऐसी भूखकी वेदना अनन्त वार हुई है जिसको शान्त करनेके लिये समस्त पुद्गल काय भी समर्थ नही है ॥१६०१॥

गा०—यदि तुमने परवश होकर वैसी भूख प्यासकी घोर वेदनाको सहा है तो अब धर्म मानकर इस वेदनाको स्वेच्छापूर्वक क्यो नही सहते ॥१६०२॥

गा०—तीन प्रकारकी धर्मकथाको कानोंके द्वारा पीकर, तथा गुरुकी शिक्षारूपी भोजन करके और शुभध्यानरूपी औषधको ग्रहण करके तीव्र भी वेदनाको सहा जा सकता है ॥१६०३॥

गा०—असातावेदनीय कर्मकी उदीरणा होनेपर डरो या न डरो, प्रतीकार करो या न करो, जीव वेदनासे छुटकारा नही पाता ॥१६०४॥

---

१ एतद् गाथात्रय टीकाकारो नेच्छति । २ पुणो उवक्कमिए,—आ० ।

पुरिसस्स पावकम्मोदएण ण करंति वेदणोवसमं ।
सुट्ठु पउत्ताणि वि ओसधाणि अदिवीरियाणी वि ॥१६०५॥

'पुरिसस्स पावकम्मोदयम्मि' पुरुषस्य पापकर्मोदये 'न करेंति' न कुर्वन्ति । 'वेदणोवसम' वेदनोपशमं । सुट्ठु पउत्ताणि वि' सुष्ठु प्रयुक्तान्यपि । 'ओसधाणि वि' औषधानि अदिवीरियाणि' अतिवीर्याण्यपि ॥१६०५॥

रायादिकुडुंबीणं अदयाए असंजमं करंताणं ।
धण्णंतरी वि कादुं ण समत्थो वेदणोवसमं ॥१६०६॥

'रायादिकुडुंबीण' राजादीनां कुटुम्बीनां अनेकद्रव्यसम्पत्परिचारकसम्पत्प्रख्यातानां । अदयाए असंजमं करेंताण' दयामन्तरेणासंयमं कुर्वतां । धण्णंतरी वि कादुं' धन्वन्तरिरपि कर्तुं असमर्थः । वेदणोवसमं' वेदनाया उपशमं । वैद्यसम्पत्ता धन्वन्तरिग्रहणेन सूचिता ॥१६०६॥

किं पुण जीवणिकाये दयंतया जादणेण लद्धेहिं ।
फासुगदव्वेहिं करेंति साहुणो वेदणोवसमं ॥१६०७॥

'किं पुण' किं पुनः । 'जीवणिकाए जीवनिकायान् । दयंतगा' दयमानाः । जादणेण लद्धेहिं याञ्चया लब्धैः । फासुगदव्वेहिं' प्रासुकद्रव्यैः । करेज्ज कुर्यात् । 'साहुणो वेदणोवसमं' साधोर्वेदनोपशमं । परिचारकसम्पदभावो दर्श्यते 'जीवणिकाए दयंतगा' इत्यनेन । यथा व्याधेरुपशमो भवति तथा कुर्वंति परिचारकाः । अमी पुनर्यतयः षड्जीवनिकायबाधापरिहारोद्यता स्वसंयमविनाशभीरवो । 'जायणेण लद्धेहिं' इत्यनेन द्रव्यसम्पदभाव आख्यायते ॥१६०७॥

मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होदि वरं ।
ण य वेदणापडिकारणत्थं अप्पासुगसेवणं कादुं ॥१६०८॥

गा०—जब पुरुषके पापकर्मका उदय होता है तो अच्छी तरहसे प्रयुक्त और अतिशक्तिशाली भी औषधियाँ वेदनाको शान्त नहीं करतीं ॥१६०५॥

गा०-टी०—राजा आदि कुटुम्बी जिनके पास अनेक प्रकारकी धन-सम्पदा और सेवा करनेवाले दास दासियोंकी प्रचुरता होती है, किन्तु जो दयाहीन होकर असंयमी जीवन बिताते हैं, उनकी वेदनाको शान्त करनेके लिये धन्वन्तरि भी समर्थ नहीं है। धन्वन्तरिपदसे वैद्यरूपी सम्पदाको सूचित किया है। अर्थात् धन्वन्तरि जैसा वैद्य भी उनकी वेदनाको दूर नहीं कर सकता ॥१६०६॥

गा०-टी०—तब जीवमात्रपर दया करनेवाले याचनासे प्राप्त प्रासुक द्रव्योंसे साधुकी वेदनाका उपशम कहाँ तक कर सकते हैं? अर्थात् परिचारक साधु जहाँ तक शक्य होता है व्याधिको शान्त करनेका प्रयत्न करते हैं क्योंकि उनके पास परिचारकरूप सम्पदा—दासदासी तो हैं नहीं और यतिगण छह कायके जीवोंको बाधा न पहुँचे इसके लिये सदा तत्पर रहते हैं तथा अपने संयमके विनाशसे भी भयभीत रहते हैं। साथ 'याचनासे प्राप्त' कहनेसे उनके पास धनसम्पदाका भी अभाव कहा है ॥१६०७॥

'मोक्खाभिलासिणो' निरवशेषकर्मापायाभिलाषिण । 'सजदस्स' प्राणसयमवत । 'णिधणगमण पि होदि वर' मरणमपि वर । 'ण य' नैव वर युक्त । 'वदणाणिमित्त' वेदनोपशमाय । 'अप्पासुगसेवण कादु' अयोग्यद्रव्यसेवन कर्तुम ॥१६०८॥

णिधणगमण एयभवे णासो पुणो पुरिल्लजम्मेसु ।
णास असजमो पुण कुणइ भवसएसु बहुगेसु ॥१६०९॥

'णिधणगमणे एयभवे' निधनगमनमेकभवे । 'णासो' नाश । 'ण पुणो' न पुनर्नाश । 'पुरिल्लजम्मेसु' भाविषु जन्मसु । 'असजमो पुण' असयम पुन । 'भवसएसु' जन्मशतेषु । 'बहुएसु' बहुषु । 'णास कुणइ' नाश करोति । वेदना हि न सयतमनुयाति रत्नत्रयभावनोद्यतम । सा हि असात मन्द करोति । असयम पुन असद्वेद्य प्रकृष्टानुभव करोति । उक्त च—'दु खशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्येति' [त० सू० ६।११] ॥१६०९॥

ण करेंति णिव्वुइ इच्छया वि देवा सइंदिया सव्वे ।
पुरिसस्स पावकम्मे अणक्कमग्गे उदिण्णम्मि ॥१६१०॥

'ण करेंति णिव्वुइ' न कुर्वन्ति निर्वृति । 'पुरिसस्स' पुरुषस्य । सइंदिया देवा सव्वे इच्छया वि' सेन्द्रका सर्वे देवा इच्छन्तोऽपि । 'पावकम्मे' पापकर्मणि । 'अणुक्कमगे अनुक्रमके । 'उदिण्णम्मि' उदयमुपगते ॥१६१०॥

किह पुण अण्णो काहिदि उदिण्णकम्मस्स णिव्वुदिं पुरिसो ।
हत्थीहि अतीरंत भंतु भजिहिदि किह ससओ ॥१६११॥

'किह पुण' कथ पुन । अण्णो काहिदि पुरिसो' अन्य करिष्यति पुरुष । 'उदिण्णकम्मस्स' उदया-

---

गा०—समस्त कर्मबन्धनके विनाशरूप मोक्षके अभिलाषी सयमीका मरण होना भी श्रेष्ठ है। किन्तु वेदनाकी शान्तिके लिये अप्रासुक अयोग्य द्रव्यका सेवन करना श्रेष्ठ नही है ॥१६०८॥

गा०-टी०—मरण होना तो एक भवका ही विनाश है भावि जन्मोका नाश नही है किन्तु असयम तो सैकडो जन्मोको नष्ट कर देता है । जो सयमी रत्नत्रयकी भावनामे तत्पर रहते हैं वेदना उनका पीछा नही करती । क्योकि रत्नत्रयको भावना असाताके उदयको मन्द करती है । और असयम असातावेदनीयके अनुभागको बढाता है । कहा भी है दु ख, शोक, पश्चात्ताप, रुदन, वध और हृदयको व्याकुल करनेवाला रुदन स्वय करनेसे, दूसरोमे करनेसे या दोनोमे करनेसे असातावेदनीयका आस्रव होता है ॥१६०९॥

गा०—पुरुषके पापकर्मके अनुक्रमसे उदय आनेपर इन्द्रसहित सब देव इच्छा करनेपर भी सुखी नही कर सकते ॥१६१०॥

गा०—तब असातावेदनीय कर्मका उदय आनेपर अन्य साधारण पुरुष क्या कर सकते हैं ? जिसे महाबलशाली हाथी भी तोडनेमे असमर्थ है क्या उसे बेचारा कमजोर खरगोश तोड सकता है ॥१६११॥

१ अनुक्रमेण —आ० । अणवक्कमगे निष्प्रतीकारे —मूलारा० ।

गतामद्धे यकर्मण । 'णिव्वुदि' निर्वृति । 'हत्थीहिं अतीरत भंतु' हस्तिभिर्महाबले वर्तुमशक्य यद्गुस्तन । 'किध ससगो भजीहिं' कथ स्वल्पप्राणो भङ्क्ष्यति शशक ॥१६११॥

ते अप्पणो वि देवा कम्मोदयपच्चयं मरणदुक्खं ।
वारेदु ण समत्था धणिदं पि विकुव्वमाणा वि ॥१६१२॥

'ते देवा अप्पणो वि कम्मोदयपच्चय मरणदुक्ख' ते देवा सेन्द्रका आत्मनोऽपि कर्मोदयहेतुक मरणदु ख 'वारेदु' ण समत्था' निवारयितु न समर्था । 'धणिदवि विकुव्वमाणा' नितरा विक्रिया कुर्वन्तोऽपि ॥१६१२॥

[1]उज्झति जत्थ हत्थी महाबलपरक्कमा महाकाया ।
सुत्ते तम्मि वहते ससया [2]ऊढेल्लया चेव ॥१६१३॥

'उज्झति' यस्मिन् स्रोतसि हस्तिन उह्यते महाबलपराक्रमा महाकाया । तस्मिन् स्रोतसि वहन्ति शशका गता एव ॥१६१३॥

किह पुण अण्णो मुच्चहिदि सगेण उदयागदेण कम्मेण ।
तेलोक्केण वि कम्म अवारणिज्ज खु समुवेद ॥१६१४॥

'किह पुण अण्णो मुच्चहिदि' कथ पुनरन्यो मोक्ष्यते, स्वेन कर्मणा उदयागतेन । त्रैलोक्येनापि कर्मानिवार्यमेव समुपगत ॥१६१४॥

कह ठाइ सुक्कपत्त वाएण पडतयम्मि मेरुम्मि ।
देवे वि य विहेडयदो कम्मस्स तुमम्मि का मण्णा ॥१६१५॥

'कह ठाइ सुक्कपत्त' कथ तिष्ठेत शुष्कपत्र । वातेन पतति मेरौ । अणिमाद्यष्टगुणसपन्ना देवानपि कुत्सीकुर्वत कर्मणो भवत्यल्पबले का सज्ञा ॥१६१५॥

गा०—वे देव कर्मके उदयके कारण होनेवाले अपने भी मरणके दु खको दूर करनेमे समर्थ नही है यद्यपि वे दिव्यशक्तिसे सम्पन्न होनेसे अनेक प्रकारकी विक्रिया करनेमे समर्थ होते हैं ॥१६१२॥

गा०—जिस प्रवाहमे महाबली, महापराक्रमी और विशाल शरीरवाले हाथी बह जाते हैं उस प्रवाहमे बेचारे खरगोश स्वय ही बह जाते हैं ॥१६१३॥

गा०—जब देव भी अपने उदयागत कर्मको टालनेमे असमर्थ है तब अन्य साधारण प्राणी अपने उदयागत कर्मसे कैसे छूट सकता है ? उदयागत कर्मको तीनो लोक भी नही टाल सकते ॥१६१४॥

गा०—जिस वायुसे मेरुपर्वतका पतन हो सकता है उसके सामने सूखा पत्ता कैसे ठहर सकता है ? इसी प्रकार जो कर्म अणिमा आदि आठ गुणोसे सम्पन्न देवोको भी दुर्गति कर देता है उसके सामने तुम्हारे जैसे मरणोन्मुख मनुष्यकी क्या गिनती है ॥१६१५॥

---

१ वुज्झति—मूलारा० । २ गहिल्लिया अ० आ० ज० । वूढेल्लया मूलारा० ।

कम्माइ बलियाइ बलिओ कम्मादु णत्थि कोवि जगे ।
सव्वबलाइं कम्मं मलेदि हत्थीव णलिणिवणं ॥१६१६॥

'कम्माइ' कर्माणि बलवन्ति, कर्मभ्यो बलवान्नास्ति जगति । कस्मात्सर्वाणि बन्धुविद्याद्रव्यशरीरपरिवारबलानि कर्म मर्दयति हस्तीव नलिनवनं ॥१६१६॥

इच्चेव कम्मुदओ अवारणिज्जोत्ति सुट्ठु णाऊण ।
मा दुक्खायसु मणसा कम्मम्मि सगे उदिण्णम्मि ॥१६१७॥

'इच्चेव कम्मुदओ' इतिशब्द प्रज्ञानपरिसमाप्ति सूचयति । एव इत्युक्तपरामर्शः । 'कम्मुदओ' कर्मोदय । 'अवारणिज्जोत्ति' अनिवार्य इति । 'सुट्ठु णाऊण' सम्यग्ज्ञात्वा । 'मा दुक्खायसु मणसा' मा कार्षीर्दुःख मनसा । 'कम्मम्मि सगे उदिण्णम्मि' कर्मणि स्वके उदीर्णे ॥१६१७॥

पडिकूविदे विसण्णे रडिदे दुक्खाइदे किलिट्ठे वा ।
ण य वेदणोवसामदि णेव विसेसो हवदि तिस्से ॥१६१८॥

'पडिकूविदे' परिदेवने कृते शोके । विषादे रटने, दुःखे, सक्लेशे वा न वेदनोपशाम्यति । नापि कश्चिदतिशयो भवति वेदनायाः ॥१६१८॥

अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ संकिलेसेण होइ खवयस्स ।
अट्ट सुसंकिलेसो ज्झाणं तिरियाउगणिमित्तं ॥१६१९॥

'अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ' अन्योऽप्यत्र गुणो न कश्चिच्छोकादिना संक्लेशेन । प्रेक्षापूर्वकारिणो हि तत्कर्तुं प्रारभते यस्य साध्यं फलं अस्ति । संक्लेशेन न किंचित् अपि मुमुक्षो फलं अपि तु संक्लेशपरिणामो ध्यानं असमनोज्ञविप्रयोगाख्यं तच्च तिर्यगायुषो निमित्तं । ततोऽल्पदुःखभीरु भवत त्वदीय संक्लेशो दुस्तरे तिर्यगावर्ते निपातयतीति भयोपदर्शनं कृतं ॥१६१९॥

गा०—कर्म बड़े बलवान हैं। जगत्में कर्मसे बलवान कोई नहीं है। जैसे हाथी कमलोंके वनको रौंद डालता है। वैसे ही कर्म बन्धु, ज्ञान, द्रव्य, शरीर और परिवार आदि सब बलोंको नष्ट कर देता है। कर्मके सामने ये सब बल क्षीण हो जाते हैं ॥१६१६॥

गा०—इस प्रकार कर्मका उदय अनिवार्य है उसे रोका नहीं जा सकता इस बातको अच्छी तरहसे जानकर अपने कर्मका उदय आनेपर मनमें दुःख मत करो ॥१६१७॥

गा०—रोनेपर, विषाद करनेपर, चिल्लानेपर अथवा दुःख और संक्लेश करनेपर वेदना शान्त नहीं होती और उसमें कोई विशेषता भी नहीं आती ॥१६१८॥

गा०-टी०—शोक आदि संक्लेश करनेमें क्षपकका कोई अन्य लाभ भी नहीं है। बुद्धिमान पुरुष उसी कार्यको करना प्रारम्भ करते हैं जिससे कोई लाभ होता है। संक्लेशसे मुमुक्षुका जरा भी लाभ नहीं है। बल्कि इष्ट वियोग नामक आर्तध्यान संक्लेश परिणामरूप होनेसे तिर्यञ्चायुके बन्धका कारण है अतः थोड़ेसे दुःखसे डरनेवाले आपको तुम्हारा संक्लेश ऐसी तिर्यञ्चगतिरूपी भँवरमें डाल देगा जिससे निकलना बहुत कठिन है ॥१६१९॥

सक्लेशस्य नैरर्थक्यप्रकटनार्थोत्तरगाथा—

हदमाकासं मुट्ठीहिं होइ तह कंडिया तुसा होंति ।
मिगदाओ पीलिदाओ घुमिलिदमुदयं च होइ जहा ॥१६२०॥

'हदमागास' हत मुष्टिभिराकाश ताडितु । तुषकडन तडुलार्थं । सिकतापीडन तिलयत्रे तैलार्थं । जलमथन च घृतार्थं यथापार्थकं तथानर्थक सक्लेशो वेदनातुरस्य । वेदनाया अनिराकरणत्वान्नैरर्थक्य-साम्यादभेदोपन्यासो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो ॥१६२०॥

पुव्वं सयमुवभुत्तं काले णाएण तेत्तियं दव्वं ।
को धारणिओ धणिदस्स देंतओ दुक्खिओ होज्ज ॥१६२१॥

'पुव्वं सयमुवभुत्तं' पूर्वं स्वयमुपभुक्त । काले 'णाएण' न्यायेन । 'तेत्तिय दव्व' तावद्द्रव्य । 'को दुक्खिओ होज्ज धारणिओ' को दु खितो भवेदधमर्ण । 'धणिदस्स' उत्तमर्णे । 'देंतो' स्व द्रव्य ददाति ॥१६२१॥

तह चेव मय पुव्व कदस्स कम्मस्स पाककालम्मि ।
णायागयम्मि को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणंतो ॥१६२२॥

'तह चेव' तथा चैव । 'सय पुव्व कदस्स कम्मस्स' आत्मना पूर्व कृतस्य कर्मण । 'पाककालम्मि' फलदानकाले न्यायेनागते । 'को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणतो' को नाम दु खितो भवेज्ज्ञानी ॥१६२२॥

इय पुव्वकदं इणमज्ज मह कम्माणुगत्ति णाऊण ।
रिणमुक्खणं च दुक्खं पेच्छसु मा दुक्खिओ होहि ॥१६२३॥

'इय पुव्वकद' 'इय' एवभूत । 'दुक्ख पुव्वकद' पूर्वकर्मणा कृत । 'इण' इद दु ख । 'अज्ज' अद्य । 'मह कम्माणुगत्ति' मम कर्मणामिति । 'णादूण' ज्ञात्वा । 'रिणमुक्खण वा' ऋणमोक्षण इव । 'दुक्ख पिच्छसु' दु ख प्रेक्षस्व । 'मा दुक्खिओ होहि' दु खितो मा भू ॥१६२३॥

आगे सक्लेशकी निरर्थकता बतलाते हैं—

गा०—जैसे मुट्ठियोसे आकाशको मारना, चावलके लिये उसके छिलकोको कूटना, तेलके लिये कोल्हूमे रेत पेलना, और घीके लिये जलको मथना निरर्थक है उसी प्रकार वेदनासे पीडित व्यक्तिका सक्लेश करना निरर्थक है। सक्लेश करनेसे वेदना दूर नही होती है अत निरर्थक होनेसे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिमे समानता है ॥१६२०॥

गा०—जैसे कोई कर्जदार साहूकारसे ऋण लेकर स्वय उसका उपभोग करता है। और ऋण चुकानेका समय आनेपर उतना ही द्रव्य देते हुए उसे दु ख नही होता। उसी प्रकार पूर्वमे स्वय बाधे हुए पापकर्मका फल भोगनेवाले ज्ञानीको दु ख कैसा? अत पूवमे बाधे गये कर्मका उदयकाल आनेपर कौन ज्ञानी दु खी होता है ॥१६२१-२२॥

गा०—यह दु ख मेरे पूर्वमे किये गये कर्मोका ही फल है ऐसा जानकर दु खको ऋण मुक्तिके समान देखो। दु खी मत होओ ॥१६२३॥

पुव्वकदमज्झ कम्मं फलिद दोसो ण इत्थ अण्णस्स ।
इदि अप्पणो पओग णच्चा मा दुक्खिदो होहि ॥१६२४॥

'पुव्वकदमज्झ कम्म' पूर्वकृत मदीय कर्म, 'फलिद' फलित । 'दोसो ण एत्थ अण्णस्स' दोषो नैवान्यस्य इति । 'अप्पणो पओग णच्चा' ज्ञात्वा । 'मा दुक्खिदो होहि' मा कृथा दुःख ॥१६२४॥

जदिदा अभूदपुव्व अण्णेसिं दुक्खमप्पणो चेव ।
जाद हविज्ज तो णाय होज्ज दुक्खाइदु जुत्त ॥१६२५॥

'जदिदा' यदि तावत । दुःखमन्येषा अभूतपूर्व । 'अप्पणो चेव' आत्मन एव 'जाद हविज्ज' 'जात भवेत्' 'तो णाम होज्ज दुक्खाइदु जुत्त' । ततो नाम दुःख कर्तुं युक्त ॥१६२५॥

सव्वेसि मामण्ण अवस्सदायव्वय कर काले ।
णाएण य को दाऊण णरो दुक्खादि विलवदि वा ॥१६२६॥

'सव्वेसि सामण्ण' सर्वेषा भव्याना श्रामण्य । 'काले' कर्मविनाशनकाले । 'अवस्स दायव्वय' अवश्य दातव्य । यस्मात्तस्मात् । 'कर' करशब्दवाच्य 'दाऊण' दत्वा । 'णाएण य' न्यायेन च 'को णरो दुक्खदि विलवदि वा' को नरो दुःख करोति विलपति वा ॥१६२६॥

सव्वेसिं सामण्ण करभूदमवस्सभाविकम्मफल ।
इण मज्ज मेत्ति णच्चा लभसु सदिं त धिदिं कुणसु ॥१६२७॥

'सव्वेसिं' सर्वेषा विनेयाना । 'सामण्ण करभूद' श्रामण्य करभूत । 'अवस्सभाविकम्मफल' अवश्यभाविकर्मफल । 'इणमज्जमेदि' इद श्रामण्य अद्य करभूत ममेति । 'णच्चा' ज्ञात्वा । 'लभसु सदिं' स्मृति प्रतिपद्यस्व । 'त' त्व 'धिदिं कुणसु' धृति कुरु ॥१६२७॥

अरहंतसिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसघसक्खिस्स ।
पच्चक्खाणस्स कदस्स भजणादो वर मरण ॥१६२८॥

गा०—यह मेरे पूर्वकृत कर्मो का फल है । इसमे किसी दूसरेका दोष नही है । अत इसे अपना ही प्रयोग जानकर दुःखी मत होओ ॥१६२४॥

गा०—हे क्षपक ! यदि यह दुःख दूसरोको पहिले कभी नही हुआ और तुमको ही हुआ होता तो दुःख करना युक्त था ॥१६२५॥

गा०—कर्मो के विनाशका समय आनेपर सभी भव्य जीवोको मुनिपद अवश्य धारण करना होता है । इसलिये इसे 'कर' कहा है । इस करको न्यायपूर्वक देकर कौन मनुष्य दुःखी होता है या विलाप करता है ॥१६२६॥

गा०—सभी मोक्षमार्गियोके लिये यह श्रामण्य अवश्य भाविकर्मफल होनेसे करके समान देय है अर्थात् सभीको मुनिपद धारण करना होता है । आज यह श्रामण्य मेरे लिये करके समान देय है ऐसा जानकर अपने स्वरूपका स्मरण करो और धैर्य धारण करो ॥१६२७॥

'अरहृत सिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसघसक्खिस्स'। अर्हत, सिद्धान्, केवलिन, तत्रस्था देवता सर्व च सघ साक्षित्वेनोपादाय कृतस्य। 'पच्चक्खाणस्स भजणादो' प्रत्याख्यानस्य विनाशनात्। 'वर' शोभन 'मरण' प्राणपरित्याग ॥१६२८॥

कथ मरणादशोभनता प्रत्याख्यानभगस्येत्याशकायामाचष्टे प्रथममुत्तर प्रत्याख्यानभजने दुष्टता निवेदयितुम्—

आमादिदा तओ होंति तेण ते अप्पमाणकरणेण।
राया विव सक्खिकदो विसंवदतेण कज्जम्मि ॥१६२९॥

'आमादिदा' परिभूता। 'तदो' तत पश्चात्। प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकाल। तेन प्रत्याख्यानभग-कारिणा। ते अर्हदादय। 'अप्पमाणकरणेण' अप्रमाणकरणेन। तत्साक्षिक धर्म प्रतिज्ञाय विनाशयता ते अप्रमाणीकृता भवन्ति। अप्रमाणकरणेन च ते परिभूता भवन्ति। 'राजा विव सक्खिकदो' राजेव साक्षीकृत। 'कज्जम्मि विसंवदतेण' कार्ये विसवदता। एतदुक्त भवति राजसाक्षिक प्रतिज्ञात धर्म चान्यथा कुर्वता राजा यथा परिभूतो भवति एवमर्हदादय इति ॥१६२९॥

जइ दे कदा पमाण अरहतादी हवेज्ज खवएण।
तस्सक्खिद कय सो पच्चक्खाण ण भजिज्ज ॥१६३०॥

'जइ दे कदा पमाण' यदि ते कृता प्रमाण। 'अरहतादी' अर्हदादय। 'हवेज्ज' भवेयु। 'खवएण' क्षपकेण। 'तस्सक्खिद कद पच्चक्खाण' तत्साक्षिक कृत प्रत्याख्यान। 'सो ण भजिज्ज' क्षपको न नाशयेत् ॥१६३०॥

सक्खिकदरायहीलणमावहइ णरस्स जह महादोस।
तह जिणवरादिआसादणा वि दोस मह कुणदि ॥१६३१[1]॥

गा०—अरहन्त, सिद्ध केवली, उस स्थानके वासी देवता और सर्व सघको साक्षी बनाकर ग्रहण किये त्यागको तोडनेसे मरण श्रेष्ठ है ॥१६२८॥

त्यागका भग करना मरनेसे भी बुरा कैसे है ऐसी शका होनेपर त्यागके भगकी बुराई कहते है—

गा०—जैसे राजाको साक्षी बनाकर किये गये कार्यमे विसवाद करनेवाला पुरुष राजाकी अवज्ञा करनेका दोषी होता है। वैसे ही अरहन्त आदि पचपरमेष्ठीकी साक्षीपूर्वक स्वीकार किये गये त्यागको तोडनेवाला मुनि अरहन्त आदिको भी प्रमाण न माननेसे उनकी अवज्ञा करनेका दोषी होता है ॥१६२९॥

गा०—यदि हे क्षपक ! तुम अरहत आदिको प्रमाण मानते हो तो तुम्हे उनकी साक्षिपूर्वक किये गये त्यागको भग नही करना चाहिये ॥ ६३०॥

गा०—जैसे राजाको साक्षी बनाकर उनकी अवज्ञा करना मनुष्यको महादोषका भागी बनाता है वैसे ही अर्हन्त आदिकी आसादना भी महादोषको करनेवाली है ॥१६३१॥

१ न अन्यासे—आ०।

'सक्खिकदरायहीलण' साक्षीकृतराजपरिभव । 'आवहदि णरस्स जह महादोसं' आनयति यथा नरस्य महान्तं दोषं । 'तह जिणवरादि आसादणा' तथा अर्हदाद्यासादनापि । 'दोस महं कुणदि' दोषं महान्तं करोति ॥१६३१॥

त महान्तं दोषं कथयति—

तित्थयरपवयणसुदे आइरिए गणहरे महड्ढीए ।
एदे आसादंतो पावइ पारंचियं ठाणं ॥१६३२॥

'तित्थयरपवयणसुदे' तीर्थकृतान्, रत्नत्रय, आगम । 'आयरिए' आचार्यान् । 'गणहरे' गणधरान् । 'महड्ढीए' महर्द्धिकान् । 'एदे' एतान् । 'असादेंतो' असादयन् । 'पावदि' प्राप्नोति । 'पारंचिय ठाण' पारंचिय-नामधेयं प्रायश्चित्तस्थानं ॥१६३२॥

सक्खीकयरायासादणे हु दोस करे हु एयभवे ।
भवकोडीसु य दोसं जिणादि आसादणं कुणइ ॥१६३३॥

साक्षीकृतराजावमानजानाद्दोषादर्हदाद्यवमानजनितदोषो महानिति दर्शयति । स्पष्टार्था गाथा ॥१६३३॥

[1]मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होइ वरं ।
पच्चक्खाणं भंजंतस्स ण वरमरहंतादिसक्खिकदं ॥१६३४॥

णिधणगमणमेयभवे णासो ण पुणो पुरिल्लजम्मेसु ।
णासं वयभंगो पुण कुणइ भवसएसु बहुएसु ॥१६३५॥

ण तहा दोसं पावइ पच्चक्खाणमकरित्तु कालगदो ।
जह भंजणा हु पावदि पच्चक्खाणं महादोसं ॥१६३६॥

उस महान दोषको कहते हैं—

गा०—तीर्थङ्कर, रत्नत्रय, आगम, आचार्य और महान् ऋद्धिधारियोंकी आसादना करने वाला पारंचिक नामक प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥१६३२॥

गा०—साक्षी बनाये गये राजाकी आसादना करनेपर तो एक ही भवमें दोषका भागी होता है। किन्तु अरहन्त आदिकी आसादना करनेपर करोड़ों भवोंमें दोषका भागी होता है। अतः साक्षी बनाये गये राजाकी अवज्ञाके दोषसे अर्हन्त आदिकी अवज्ञासे होनेवाला दोष महान होता है ॥१६३३॥

मोक्षके अभिलाषी संयमीका मरना भी श्रेष्ठ होता है किन्तु अरहन्त आदिको साक्षी करके किये गये त्यागका भंग करना श्रेष्ठ नहीं है। मरणको प्राप्त होनेपर तो एक भवका ही विनाश होता है, आगेके भवोंका विनाश नहीं होता। किन्तु व्रतका भंग बहुतसे भवोंमें विनाश-कारी होता है ॥१६३४-३५॥

---

१. एते द्वे गाथे टीकाकारो नेच्छति ।

'ण तहः दोसं पावदि' न तथा दोषं प्राप्नोति । 'पच्चक्खाणमकरित्तु' प्रत्याख्यानमकृत्वा । बाल-मदो मृतः । 'जह भजंतो पावदि' यथा प्रत्याख्यानभंगान्महादोषं प्राप्नोति ॥१६३४॥१६३५॥१६३६॥

प्रत्याख्याताहारसेवा हि प्रत्याख्यानभंगः स चाहारं प्रार्थ्यमानो हिंसादिदोषानखिलानानयतीति निगदति—

आहारत्थं हिंसइ भणइ असच्चं करेइ तेणेक्कं ।
रूसइ लुब्भइ मायं करेइ परिगिण्हदि य संगे ॥१६३७॥

'आहारत्थं हिंसइ' आहारार्थं षड्जीवनिकायान्हिनस्ति । असत्यं भणति, स्तैन्यं करोति । रुष्यत्य-लाभे, लुभ्यति लाभे, मायां करोति, परिगृण्हाति संगान् ॥१६३७॥

होइ णरो णिल्लज्जो पयहइ तवणाणदंसणचरित्तं ।
आमिसकलिणा ठइओ छायं मइलेइ य कुलस्स ॥१६३८॥

'होइ णरो णिल्लज्जो' निर्लज्जो भवति नरः आहारार्थं परयाच्ञाकरणात् । प्रजहाति च तपो, ज्ञानं दर्शनं चारित्रं च । आमिषाख्येन कलिनावष्टब्धः छायां कुलस्य मलिनयति परोच्छिष्टभोजनादिना ॥१६३८॥

णासदि बुद्धी जिब्भावसस्स मंदा वि होदि तिक्खा वि ।
जो[1]णिगमिलेमलग्गो व होइ पुरिसो अणप्पवसो ॥१६३९॥

'णासदि बुद्धी' बुद्धिर्नश्यति आहारलम्पटतया युक्तायुक्तविवेकाकरणात् । कस्य ? जिह्वावशस्य तीक्ष्णा पि सती पूर्व बुद्धिः मुग्धा भवति । रसरागमलोपप्लुता अयथार्थस्य न पश्यतीति पारमीककलेशाल्लग्नलिंग इव भवति पुरुषोऽनात्मवशः ॥१६३९॥

गा०—बिना त्याग ग्रहण किये मरनेपर इतना दोष नहीं होता जितना महादोष त्याग लेकर उसका भंग करनेपर होता है ॥१६३६॥

त्यागे हुए आहारको ग्रहण करना व्रतभंग है। वह आहार हिंसा आदि सब दोषोंको लानेवाला है यह कहते हैं—

गा०—आहारके लिये मनुष्य छहकायके जीवोंका घात करता है। असत्य बोलता है, चोरी करता है। आहार न मिलनेपर क्रोध करता है। मिलनेपर उसका लोभ करता है। मायाचार करता है। घर पत्नी आदि परिग्रह स्वीकार करता है ॥१६३७॥

गा०—आहारके लिये मनुष्य निर्लज्ज होता है क्योंकि दूसरोंसे माँगता है। अपना तप, ज्ञान, दर्शन और चारित्र तक त्याग देता है। आहाररूपी कलिके द्वारा ग्रस्त होकर अपने कुलकी छायाको मलिन करता है दूसरोंका झूठा भोजन खाता है ॥१६३८॥

गा०—जो जिह्वाके वशीभूत है उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है क्योंकि भोजनका लम्पटी होनेसे वह भक्ष्य अभक्ष्यका विचार नहीं करता। यदि उसकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है तो वह मन्द हो जाती है क्योंकि रसोंमें रागरूपी मलसे लिप्त होनेसे बुद्धि भक्ष्य वस्तुके यथार्थ स्वरूपको नहीं

1. जोणिवविसेस—अ० ।

धीरत्तणमाहप्प कदण्णद् विणयधम्मसद्धाओ ।
पयहइ कुणइ अणत्थ गललग्गो मच्छओ चेव ॥१६४०॥

'धीरत्त' धीरत्व, माहात्म्य, कृतज्ञता, विनय, धर्मश्रद्धा च प्रजहाति । करोत्यनर्थश्रद्धा च । प्रजहाति करोत्यनर्थमात्मन । गलावलग्नमत्स्य इव ॥१६४०॥

आहारत्थ पुरिसो माणी कुलजादि पहियकित्ती वि ।
भुंजति अभोज्जाए कुणइ कम्म अकिच्च खु ॥१६४१॥

'आहारत्थ'—आहाराय, भुजने अभोज्यानि पुरुषो मानी कुलीन, प्रथितकीर्तिरपि अकरणीय करोति ॥१६४१॥

आहारत्थं मज्जारिसुंसुमारी अही मणुस्सी वि ।
दुब्भिक्खादिसु खायंति पुत्तभडाणि दइयाणि ॥१६४२॥
इहपरलोइयदुक्खाणि आवहते णरस्स जे दोसा ।
ते दोसे कुणइ णरो सव्वे आहारगिद्धीए ॥१६४३॥

स्पष्टम् उत्तरगाथात्रयम् ॥१६४२॥१६४३॥

आहारलोलुपतया स्वयभूरमणसमुद्रे तिमितिमिंगिलादयो मत्स्या महाकाया योजनसहस्रायामा षण्मास विवृतवदना स्वपन्ति । निद्राविमोक्षानन्तर पिहिताननाः स्वजठरप्रविष्टमत्स्यादीनाहारीकृत्य अवधिस्थानना- मधेय नरक प्रविशति । तत्कर्णावलग्नमलाहारा शालिसिक्थमात्रतनुत्वाच्च शालिसिक्थसज्ञका यदीदृशमस्माक शरीर भवेत् किं नि सतु एकोऽपि जन्तुर्लभते ? सर्वान्भक्षयामीति कृतमन प्रणिधानास्ते तमेवावधिस्थान प्रविशति । इति कथयति गाथया—

देख पाती । तथा आहारका लम्पटी मनुष्य विषय सेवन करते हुए मनुष्यकी तरह अपने वशमे नही रहता ॥१६३९॥

गा०—वह धीरता, माहात्म्य, कृतज्ञता, विनय और धर्मश्रद्धाको भी आहारके पीछे छोड देता है और गलेमें फँसी मछलीकी तरह अनर्थ करता है ॥१६४०॥

गा०—मानी, कुलीन और प्रख्यातकीर्ति वाला भी आहारके लिये अभक्ष्यका भक्षण करता है और न करने योग्य कर्म करता है ॥१६४१॥

गा०—भूखसे पीडित होनेपर बिल्ली, मच्छ, सर्पिणि और दुर्भिक्ष आदिमे मनुष्य भी अपने प्रिय पुत्रोको खा जाते हैं ॥१६४२॥

गा०—मनुष्यके जो दोष इस लोक और परलोकमे दुःखदायी हैं वे सब दोष मनुष्य आहारकी लम्पटताके कारण ही करता है ॥१६४३॥

आगे कहते हैं—स्वयभूरमण समुद्रमे तिमितिमिंगल आदि महाकाय वाले महामच्छ जो एक हजार योजन लम्बे होते हैं, छह मास तक मुह खोले सोते रहते हैं। जागने पर अपने मुखमे घुसे मच्छो आदिको खाकर मरकर सातवें नरकमें जाते हैं। उनके कानमे एक शालिसिक्थ नामक मत्स्य रहता है जो उनके कानका मैल खाता है। उसका शरीर चावलके बराबर होता

अवधिट्ठाण णिरयं मच्छो आहारहेदु गच्छंति ।
तत्थेवाहारभिलासेण गदो सालिसिच्छो वि ॥१६४४॥

अवधिट्ठाणमित्यादिका गाथा ॥१६४४॥

चक्कधरो वि सुभूमो फलरसगिद्धीए वंचिओ संतो ।
णट्ठो समुद्दमज्झे सपरिजणो तो गओ णिरयं ॥१६४५॥

'चक्कधरो वि सुभूमो' नाम चक्रलाञ्छनः फलरसगृद्धया वंचितः समुद्रमध्ये विनष्टः सपरिजनः । पश्चाच्च नरकं गतः ॥१६४५॥

आहारत्थं काऊण पावकम्माणि तं परिगओ सि ।
संसारमणादीयं दुक्खसहस्साणि पावंतो ॥१६४६॥

आहाराय पापानि कर्माणि कृत्वा संसारमनादिकं प्रविष्टो भवान् दुःखसहस्राणि वेदयमानः ॥१६४६॥

पुणरवि तहेव संसारं किं भमिदुमिच्छसि अणंतं ।
जं णाम ण वोच्छिज्जइ अज्जवि आहारसण्णा ते ॥१६४७॥

'पुणरवि' पुनरपि । तथैव संसारमनन्तमटितुं किमिच्छसि ? यस्मादद्याप्याहारे तृष्णा न नश्यति ॥१६४७॥

जीवस्स णत्थि तित्ती चिरंपि भुंजंतस्य आहारं ।
तित्तीए विणा चित्तं उव्वूरं उद्‍धुदं होइ ॥१६४८॥

'जीवस्स णत्थि तित्ती' जीवस्य नास्ति तृप्तिः चिरमप्याहारं भुञ्जानस्य । तृप्त्या च विना चित्तं नितरामुज्ज्वलं भवति ॥१६४८॥

है इसलिये उसे सालिसिक्थ कहते हैं। वह कानमें बैठा हुआ मनमें, सोचा करता है कि यदि मेरा शरीर ऐसा होता तो क्या एक भी जन्तु बचकर जा सकता मैं सबको खा जाता। इसी संकल्पसे वह भी मरकर सातवें नरक जाता है—

गा०—महामत्स्य आहारके ही कारण सातवें नरकमें मरकर जाता है और उसी महामत्स्यके कानमें रहनेवाला सालिसिक्थ मत्स्य भी आहारके संकल्पसे मरकर सातवें नरक जाता है ॥१६४४॥

गा०—सुभौम नामक चक्रवर्ती भी एक देवके द्वारा लाये गये फलके रसकी लम्पटताके कारण ठगा जाकर परिवारके साथ समुद्रमें डूब गया और मरकर नरकमें गया ॥१६४५॥

गा०—हे क्षपक! पूर्वजन्मोंमें आहारके ही लिये पाप कर्म करके तुम हजारों दुःख भोगते हुए अनादि संसारमें प्रविष्ट हुए ॥१६४६॥

अब क्या पुनः अनन्त संसारमें भ्रमण करनेकी इच्छा है जो अभी भी तुम्हारी आहार संज्ञा नष्ट नहीं होती ॥१६४७॥

गा०—चिरकाल तक आहार खाकर भी जीवको तृप्ति नहीं होती। और तृप्तिके बिना चित्त अत्यन्त व्याकुल रहता है ॥१६४८॥

जह इधणेहिं अग्गी जह य समुद्दो णदीसहस्सेहिं ।
आहारेण ण सक्को तह तिप्पेदुं इमो जीवो ॥१६४९॥

'जह इधणेहिं अग्गी' यथेन्धनैरग्निर्नदीसहस्रैरुदधिस्तर्पयितुमशक्यस्तथाहारेण जीव ॥१६४९॥

देविंदचक्कवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमा य ।
आहारेण ण तित्ता तिप्पदी कह भोयण अण्णो ॥१६५०॥

'देविंदचक्कवट्टी य' देवेन्द्रा लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षेण आत्मीयतनुतेजोनिमित्तेन आहारेण, चक्रवर्तिनोऽपि षष्टयधिकत्रिशतसूपकारैर्वर्षमात्रेणैकदिनाहारं सस्करणोपनं ढौकितेन तथार्द्धचक्रवर्तिनोऽपि । भोगभूमिजा भोजनाङ्गकल्पतरुप्रभवेन न तृप्ता । कथमन्यो जनस्तृप्यति ॥१६५०॥

उद्धुदमणस्स ण रदी विणा रदीए कुदो हवदि पीदी ।
पीदीए विणा ण सुहं उद्धुदचित्तस्स घण्णस्स ॥१६५१॥

'उद्धुदमणस्स' इतो भद्रमेतद् भद्रमस्माच्चेदमिति परिप्लवमानचेतसो न रति, क्व च तया विना प्रीतिः । प्रीत्या च विना न सुखं चलचित्तस्य ततदाहारलम्पटस्य ॥१६५१॥

सव्वाहारविघाणेहिं तुमे ते मव्वपुग्गला बहुसो ।
आहारिदा अदीदे काले तित्तिं च मि ण पत्तो ॥१६५२॥

'सव्वाहरणविघाणेहिं' अशनपानखाद्यलेह्यविकल्पैस्त्वया सर्वे पुद्गला बहुश आहारिता अतीते काले तृप्तिं च न च प्राप्तो भवान् ॥१६५२॥

गा०—जैसे इंधनसे आगकी और हजारो नदियोसे समुद्रकी तृप्ति नही होती वैसे ही यह जीव आहारसे तृप्त नही हो सकता ॥१६४९॥

गा०–टी०—देवेन्द्रोंके लाभान्तरायके क्षयोपशमका प्रकर्ष होनेसे अपने शरीरके तेजके निमित्तसे आहार प्राप्त होता है। भोजनकी इच्छा होते ही कण्ठमे अमृत झरता है। चक्रवर्तीके भी तीन सौ साठ रसोइया होते हैं और वे सब मिलकर एक वर्षका आहार एक दिनमें बनाते हैं। अर्धचक्रवर्तीकी भी ऐसी स्थिति है। भोगभूमिके जीवोंको भोजनाग जातिके कल्पवृक्षोंसे यथेच्छ आहार प्राप्त होता है। फिर भी इन सबकी तृप्ति नही होती। तब साधारण मनुष्य भोजन से कैसे तृप्त हो सकता है ॥१६५०॥

गा०–टी०—यह आहार उत्तम है। इससे भी यह आहार उत्तम है इस प्रकारसे जिसका चित्त चचल रहता है उसके चित्तमें अनुराग नही होता। अनुरागके बिना प्रीति नही होती। और प्रीतिके बिना सुख नही होता। इस प्रकार विभिन्न आहारोंके लम्पटी चचलचित्त मनुष्यको आहारसे सुख नही होता ॥१६५१॥

गा०—हे क्षपक ! अतीतकालमें तुमने अन्न, पान, खाद्य और लेह्यके भेदसे चार प्रकारका आहार करके सब पुद्गलोंको बहुत बार खाया है फिर भी तुम्हारी तृप्ति नही हुई ॥१६५२॥

कि पुण कठप्पाणो आहारेदूण अज्जमाहारं ।
लभिहिसि तित्ति पाऊणुदधिं हिमलेहणेणेव ॥१६५३॥

'कि पुण' किं पुन कण्ठप्राणोऽप्याहारं गृहीत्वा प्रीतिं लप्स्यसे। पीत्वोदधिं न तृप्तो हि यथा हिमलेहनेन ॥१६५३॥

को एत्थ विभओ दे बहुसो आहारभुत्तपुव्वम्मि ।
जुंज्जेज्ज हु अभिलासो अभुत्तपुव्वम्मि आहारे ॥१६५४॥

'को एत्थ विभओ' कोऽत्र विस्मय। आहारे बहुशो भक्तपूर्वे। युज्यते आहारार्थे अभिलाषो ऽभुक्तपूर्वे ॥१६५४॥

आवादमेत्तसोक्खो आहारणो हु सुखमत्थ बहु अत्थि ।
दुःख चेवत्थ बहु आहट्टतस्स गिद्धीए ॥१६५५॥

'आवादमित्तसोक्खो' जिह्वाग्रपातमात्रसुख आहार। न सुखमत्र बह्वस्ति। दुःखमेवात्र बहु [1]अभिलषिताहारगृद्धया ॥१६५५॥

सुखस्याल्पताया कारणमाचष्टे—

जिब्भामूल योलेइ वेगदो वरहओव्व आहारो ।
तत्थेव रस जाणइ ण य परदो ण वि य से पुरदो ॥१६५६॥

जिह्वाया मूलं वेगेनातिक्रामत्याहार जात्यश्व इव। जिह्वामात्र एव रस वेत्ति जीवो न आहारानुपरित, न च पुरतोऽग्रत। अल्पा च जिह्वा ॥१६५६॥

गा०—अब तो तुम्हारे प्राण कण्ठगत है अर्थात् तुम्हारी मृत्यु निकट है। जैसे समुद्रको पीकर जो तृप्त नही हुआ वह ओसको चाटनेमे तृप्त नही हो सकता। उसी प्रकार जब तुम समस्त पुद्गलोको खाकर भी तृप्त नही हुए तब मरते समय आज भोजनमे कैसे तृप्त हो सकते हो ॥१६५३॥

गा०—जो आहार तुमने पहले अनेक बार खाया है उसमे तुम्हारी उत्सुकता कैसी ? जो आहार पहले कभी नही खाया है उसमे अभिलाषा होना तो उचित है। जिसे तुम अनेक बार भोग चुके हो उसमे अभिलाषा होना ही आश्चर्यकारी है ॥१६५४॥

गा०—आहारमे बहुत सुख नही है केवल जिह्वाके अग्रभागमे रखनेमात्र ही सुख है। किन्तु इच्छितआहारकी लिप्सासे जो दु ख होता है वह दु ख ही बहुत है ॥१६५५॥

आहारमे स्वल्पसुख होनेका कारण कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे उत्तम घोडा बडा तेज दौडता है वैसे ही आहार भी जिह्वाके मूलको बडे वेगसे पार करता है अर्थात् जिह्वापर ग्रास आते ही वह झट पेटमे चला जाता है। बस जिह्वापर रहते हुए ही जीवको आहारके स्वादकी प्रतीति होती है, न पहले होती है और न

1. लषितमाहा—अ०।

अच्छिणिमिसेणमेत्तो आहारमुहस्स मो हवइ कालो ।
गिद्धीए गिलइ वेगं गिद्धीए विणा ण होइ सुह ॥१६५७॥

'अच्छिणिमेमणमित्तो' अक्षिनिमेषणमात्र काल । आहाररससेवाजनितसुखस्य । गृद्धया वेगेन निगिरति । यतो गृद्धया च विना नास्तीन्द्रियसुख ॥१६५७॥

दुक्ख गिद्धीघत्थस्साहट्टंतस्स होइ बहुग च ।
चिरमाहट्टियदुग्गयचेडस्स व अण्णगिद्धीए ॥१६५८॥

'दुक्ख गिद्धीघत्थस्स' दु ख महद्भवति लम्पटतया ग्रस्तस्याभिल्पत । 'चिरमाहट्टियदुग्गदचेडस्स व अण्णगिद्धीए' अन्नगृद्धया चिर व्याकुलस्य दरिद्रसर्वधिनो दासरस्येव ॥१६५८॥

को णाम अप्पसुक्खस्स कारण बहुसुहस्स चुक्केज्ज ।
चुक्कइ हु सकिलिसेण मुणी सग्गापवग्गाणं ॥१६५९॥

'को णाम अप्पसुक्खस्स कारण' को नामाल्पसुखनिमित्त महतो निर्वृतिसुखात्प्रच्यवते च मुनि सक्लेशेन स्वर्गापवर्गसुखाभ्याम् ॥१६५९॥

महुलित्तं असिधारं लेहइ भुंजइ य सो सविसमण्ण ।
जो मरणदेसयाले पच्छेज्ज अकप्पियाहार ॥१६६०॥

'महुलित्त' मधुना लिप्तामसिधारा आस्वादयति । सविषमन्न भुङ्क्ते यो मरणदेशकाले अयोग्याहारप्रार्थना करोति ॥१६६०॥

वादमे । अर्थात् जब आहार जीभपर नही आया और जब आकर गलेमे उतरा तब स्वादकी अनुभूति नहीं होती ॥१६५६॥

गा०—इस प्रकार आहारमे होनेवाले सुखका काल एक बार पलकें बन्द करके खोलनेमे जितना समय लगता है उतना ही है अर्थात् क्षणमात्र है। आहारकी गृद्धि होनेमे आहार वेगमे निगला जाता है और गृद्धिके विना सुख नही होता ॥१६५७॥

गा०—जो आहारविषयक लम्पटताके साथ आहारकी आकाक्षा करता है उसे बहुत दुःख उठाना पड़ता है। जैसे अन्नकी गृद्धिमे चिरकालसे व्याकुल दरिद्र दासको कष्ट होता है वैसा ही कष्ट आहारकी लम्पटतावालेको होता है ॥१६५८॥

गा०-टी०—कौन बुद्धिमान पुरुष थोडेसे सुखके लिये बहुत सुखसे वंचित होना चाहेगा। अर्थात् इस अन्तिम अवस्थामे आहारमे आसक्त होनेसे तुम बहुत सुखसे वंचित हो जाओगे। मुनि सक्लेश परिणाम करनेसे स्वर्ग और मोक्षके सुखसे वंचित हो जाता है—उसे स्वर्ग या मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥१६५९॥

गा०-टी०—जो क्षपक मरते समय अयोग्य आहारकी प्रार्थना करता है वह मधुसे लिप्त तलवारकी धारको चाटता है और विष सहित अन्नको खाता है। अर्थात् जैसे मधुसे लिप्त तलवारकी धारको चाटनेसे तत्काल सुख होता है किन्तु जीभ कट जाती है वैसे ही मरते समय

असिधार व विस वा दोसं पुरिसस्स कुणइ एयभवे ।
कुणइ दु मुणिणो दोस अकप्पसेवा भवसएसु ॥१६६१॥

'असिधार व' असिधारा वा विष वा पुरुषस्य दोषमेवस्मिन्नेव भवे करोति । अयोग्यसेवा भवशतेषु मुनेर्दोषं करोति ॥१६६१॥

जावंत किंचि दुक्ख सारीर माणस च ससारे ।
पत्तो अणतखुत्त कायस्स ममत्तिदोसेण ॥१६६२॥

'जावत किंचि दुक्ख' यावत्किंचिद्दुःख शारीर मानस वा ससारे त्वमनन्तवार प्राप्तवान् । तत्सर्वं शरीरममतादोषेणैव ॥१६६२॥

इण्हि पि जदि ममत्ति कुणसि सरीरे तहेव ताणि तुम ।
दुक्खाणि ससरतो पाविहसि अणतयं कालं ॥१६६३॥

'इण्हि' पि इदानीमपि यदि शरीरे करोषि ममता तथैव तानि दुःखानि चतुर्गतिषु परावर्तमानोऽनन्तकाल प्राप्स्यसि ॥१६६३॥

णत्थि भय मरणसम जम्मणसमय ण विज्जदे दुःख ।
जम्मणमरणादक छिण्ण ममत्ति सरीरादो ॥१६६४॥

'णत्थि भय मरणसम' मरणसदृश भय नास्ति । कुयोनिषु जन्मसमान दुःख न विद्यते । जन्ममरणातक [1]छिन्न शरीरममता ॥१६६४॥

अण्ण इम सरीर अण्णो जीवोत्ति णिच्छिदमदीओ ।
दुक्खभयकिलेसयारी मा हु ममत्ति कुण सरीरे ॥१६६५॥

यदि अर्हन्त आदिको साक्षीपूर्वक त्यागे हुए आहारकी अभिलाषा करता है और उसे खाता है तो तत्काल उसे अपनी इच्छापूर्ति होनेसे सुख प्रतीत होगा। किन्तु उसकी सब आराधना गल जायेगी ॥१६६०॥

गा०—दाहदसे लिप्त तलवार और विषमिश्रित अन्न तो पुरुषका एक भवमे ही अनर्थ करते हैं। किन्तु मुनिका अयोग्य आहारका सेवन सैकडो भवोमे अनर्थकारी होता है ॥१६६१॥

गा०—हे क्षपक ! इस ससारमे तुमने जो कुछ भी शारीरिक और मानसिक दुःख अनन्त वार भोगा है वह सब शरीरमे ममतारूप दोषके कारण ही भोगा है । ॥१६६२॥

गा०—इस समय भी यदि तुम शरीरमे ममता करते हो तो उसी प्रकार चारो गतियोमे भ्रमण करते हुए अनन्त कालतक दुःख भोगोगे ॥१६६३॥

गा०—मरणके समान भय नही है और जन्मके समान दुःख नही है । तथा जन्म मरण बडे वेगसे पार कराशरीरमे ममत्व है उसको तुम दूर करो ॥१६६४॥

जिह्वापर रहते हुए ६ ——— —आ० मु० ।

१ त्यिनमात्—०

'अण्ण इम सरीर' अन्यदिद शरीर । अन्यो जन्तुरिति निश्चितमतिर्दुःखसक्लेशसपादनोद्यता मा कृथा शरीरे ममताम् ॥१६६५॥

सव्व अधियासतो उवसग्गविधि परीसहविधि च ।
णिस्सगदाए मल्लिह असकिलेसेण त मोह ॥१६६६॥

'सव्व उवसग्गविहिं' सर्वं उपसर्गविकल्प परीषहविकल्प च सहमानो मोह भवास्तनूकु० । 'णिस्सगतया' असक्लेशेन च ॥१६६६॥

ण वि कारण तणादोसथारो ण वि य सघसमवाओ ।
साधुस्स सकिलेसतस्स य मरणावसाणम्मि ॥१६६७॥

'ण वि कारण तणादी' नैव कारण तृणादिमस्तर सल्लेखनाया, नापि सघसमुदाय मरणावसाने सक्लिश्यत साधो ॥१६६७॥

जह वाणियगा सागरजलम्मि णावाहिं रयणपुण्णाहिं ।
पट्टणमासण्णा वि हु पमादमूढा वि वज्जति ॥१६६८॥

'जह वाणियगा' यथा वणिजा रत्नसपूर्णाभिर्नौभि सह विनश्यन्ति । समुद्रजलमध्ये प्रमादेन मूढा पत्तनाभ्यिकमागता अपि ॥१६६८॥

सल्लेहणा विसुद्धा केई तह चेव विविहसगेहि ।
सथारे विहरता वि सकिलिट्ठा विवज्जति ॥१६६९॥

'सल्लेहणा विसुद्धा वि' शरीरसल्लेखनाभावात् । सल्लेखनया विशुद्धा अपि सत । पूर्वं केचित् विविध

गा०—यह शरीर भिन्न है और जीव भिन्न है ऐसा निश्चय करके दु ख भय और क्लेशको करनेवाली ममता शरीरमे मत कर अर्थात् शरीरसे ममत्वको त्याग, वही सब दु खोका मूल है ॥१६६५॥

गा०—सब उपसर्गोके प्रकारोको और सब परीषहके प्रकारोको सहन करते हुए तुम नि सगत्वभावनासे सक्लेश परिणामोके बिना मोहको कृश करो ॥१६६६॥

गा०-टी०—यदि मरते समय साधुके परिणाम सक्लेशरूप होते हैं तो तृण आदिका सथरा या वैयावृत्य करनेवाले साधुका जमघट सल्लेखनाका कारण नही हो सकता । अर्थात् तृणादिके सथरा और वैयावृत्य करनेवाले साधु तो सल्लेखनाके बाह्य कारण है अन्तरग कारण तो क्षपकका आर्त रौद्र रहित परिणाम ही है । उसके अभावमे केवल बाह्य कारणोसे सल्लेखना नही हो सकती ॥१६६७॥

गा०—जैसे वणिक् रत्नोसे भरी नावोके साथ नगरके समीप तक आकर भी प्रमादवश मूढ होकर सागरके जलमें डूब जाते हैं ॥१६६८॥

गा०-टी०—उसी प्रकार पहले विशुद्ध भावसे शरीरकी सल्लेखना करनेवाले भी कुछ क्षपक रागद्वेषादि भावरूप विविध परिग्रहोके साथ सथरेपर आरूढ होते हुए भी सक्लेश परिणामो

मर्गेहि विचित्रं रागद्वेषादिभावपरिग्रहैः सह । 'सथारे विहरता वि' सस्तरे प्रवर्तमाना अपि । 'सक्लिट्ठा विवज्जति' सक्लिष्टपरिणता विनश्यन्ति ॥१६६९॥

सल्लेहणापरिस्सममिम कय दुक्कर च सामण्णं ।
मा अप्पसोक्खहेउ तिलोगसार वि णासेइ ॥१६७०॥

'सल्लेहणापरिस्सममिद' शरीरसल्लेखनाया क्रियमाणाया अनशनादितपसा त्रिविधाहारत्यागेन, यावज्जीव वा पानपरिहारेण जात परिश्रममिद । 'दुक्कर च कद सामण्ण' दुष्कर कृत च श्रामण्य । चिरकाल त्रिलोकसार अतिशयितस्वर्गापवर्गसुखदानात् । 'अप्पसुक्खहेदु' अल्पाहारसेवाजनितसुखनिमित्त । 'मा विणसेहि' नैव विनाशय ॥१६७०॥

धीरपुरिसपण्णत्त सप्पुरिसणिसेविय उवणमित्ता ।
धण्णा णिरावयक्खा सथारगया णिसज्जति ॥१६७१॥

'धीरपुरिसपण्णत्त' उपसर्गाणा परिषहाणा चोपनिपाते अविचलधृतयो ये धीरास्तैरुपदिष्ट तमेव । 'सप्पुरिसणिसेविय' सत्पुरुषनिषेवित माग 'उवणमित्ता' आश्रित्य । 'धण्णा' धन्या पुण्यवत । 'णिरावयक्खा' निरपेक्षा परित्यक्तादाना । सथारगया सस्तरारूढा । 'णिसज्जति' शेरते ॥१६७१॥

तम्हा कलेवरकुडी पव्वोढव्वत्ति णिम्ममो दुक्ख ।
कम्मफलमुवेक्खतो विसहसु णिव्वेदणो चेव ॥१६७२॥

'तम्हा' तस्मात् । 'कलेवरकुडी' शरीरकुटी । 'पव्वोढव्वत्ति' परित्याज्येति मत्वा । 'णिम्ममो' शरीरे ममतारहित । 'दुक्ख विसहसु' दु ख विसहस्व । 'कम्मफलवेमुक्खतो' कर्मफलमुपेक्षमाणो । 'णिव्वेदणो चेव' निर्वेदनमिव ॥१६७२॥

इय पण्णविज्जमाणो सो पुव्व जायसकिलेसादो ।
विणियत्ततो दुक्ख पस्सइ परदेहदुक्ख वा ॥१६७३॥

के कारण विनाशको प्राप्त होते हैं। अर्थात् प्रथम तो उनकी सल्लेखना ठीक रहती है। पीछे सक्लेश परिणाम होनेसे सथरेपर रहते हुए भी सल्लेखनासे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥१६६९॥

गा०-टी०—हे क्षपक ! अनशन आदि तपके द्वारा तथा तीन प्रकारके आहार और जीवन पर्यन्तके लिये पानका त्याग करके शरीरको कृश करनेमे तुमने जो परिश्रम किया है और यह अत्यन्त कठिन मुनिपद धारण किया है और इन सबसे तुम्हे जो स्वर्ग और मोक्षका सातिशय सुख मिलनेवाला है, इन सबको आहार सेवनसे होनेवाले थोडेसे सुखके लिये नष्ट मत करो ॥१६७०॥

गा०—उपसर्ग और परीषहोके आनेपर भी जो विचलित नही होते उन धीर पुरुषोंके द्वारा कहे गये और श्रेष्ठ पुरुषोके द्वारा सेवित इस मार्गको अपनाकर पुण्यशाली क्षपक, त्याग और ग्रहणसे निरपेक्ष होकर सस्तरपर आरूढ होकर विशुद्ध होते हैं ॥१६७१॥

गा०—अत यह शरीररूपी कुटिया त्यागने योग्य है ऐसा मानकर शरीरमे ममत्त्व मत करो। तथा कर्मफलकी उपेक्षा करते हुए दु खको इस प्रकार सहो मानो दु ख है ही नही ॥१६७२॥

'इय' एव । 'पण्णविज्जमाणो' प्रज्ञाप्यमान । 'सो पुव्व आदसंकिलेसादो' पूर्व आतसंक्लेशात् । 'विणिवत्तंतो' विनिवर्त्यमान । 'दुक्खं पस्सदि' दुःखं पश्यति । किमिव ? 'परदेहदुक्खं वा' परशरीरगतमिव दुःखं ॥१६७३॥

रायादिमहड्ढीयागमणपओगेण चा वि माणिस्स ।
माणजणणेण कवयं कायव्वं तस्स खवयस्स ॥१६७४॥

'रायादिमहड्ढीयागमणपओगेण' राजादिमहर्द्धिकागमनप्रयोगेण 'चावि माणिस्स' मानिनोऽपि । 'माणजणणेण' मानजननेन । 'कवयं कायव्वं' कवचं कर्तव्यं । 'तस्स खवयस्स' तस्य क्षपकस्य । मम धीरता द्रष्टुं अमी महर्द्धिका समायाता । अमीषां पुरस्तादद्यपि प्राणा यान्ति यान्तु कामं तथापि स्वां मनस्वितां नाहं त्यजामीति मानवतो दुःखं सहते न कुरुते व्रतभङ्गम् ॥१६७४॥

इच्चेवमाइकवचं भणिदं उस्सग्गियं जिणमदम्मि ।
अववादियं च कवयं आगाढे होइ कादव्वं ॥१६७५॥

'इच्चेवमादिकवचं भणिदं' इत्येवमादिकं कवचं कथितो जिनमते । उस्सग्गियो' औत्सर्गिकं सामान्यभूतं । 'अववादियं च कवचं कादव्वं' विशेषरूपोऽपि कवचं कर्तव्यो भवत्यवगाढे मरणे ॥१६७५॥

जह कवचेण अभिज्जेण कवचिओ रणमुहम्मि सत्तूणं ।
जायइ अलंघणिज्जो कम्मसमत्थो य जिणदि य ते ॥१६७६॥

'जह कवचेण' यथा कवचेन । 'अभिज्जेण' अभेद्येन । 'कवचिदो' सन्नद्ध । 'रणमुहे सत्तूणमलंघिज्जो

गा०—इस प्रकार उपदेश द्वारा समझानेपर वह क्षपक पूर्वमें हुए संक्लेशरूप परिणामोंसे अपनेको हटाकर अपने दुःख इस प्रकार देखता है, मानो यह दुःख उसके शरीरमें नहीं है किन्तु किसी दूसरेके शरीरमें है ॥१६७३॥

गा०-टी०—महान् ऐश्वर्यशाली राजा आदिको उस क्षपकके पास लाकर भी उस अभिमानीको मानदान देकर उसका कवच (रक्षाका उपाय) करना चाहिये । उन्हें देख वह विचारता है कि मेरी सहनशीलताको देखनेके लिये ये बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली आये हुए हैं । इनके सामने भले ही मेरे प्राण जायें तो चले जायें । तथापि मैं अपनी मनस्विताको नहीं छोड़ूँगा । इस प्रकार वह मानप्रेमी दुःख सहता है किन्तु व्रतभंग नहीं करता ॥१६७४॥

गा०—इस प्रकार जिनमतमें कवचका औत्सर्गिक अर्थात् सामान्य स्वरूप कहा है । मृत्यु निकट होनेपर आपवादिक अर्थात् विशेषरूप भी कवच करना चाहिये ॥१६७५॥

विशेषार्थ—जिसका मरण अभी दूर है उसके लिये सामान्यरूपसे ऊपर कवचका कथन किया है । यहाँ निकट मरण वालेके लिये अपवादरूप विशेष कवचका कथन किया है । जिसका अभिप्राय यह है कि तत्काल उत्पन्न हुए ध्यानमें विघ्न डालने वाले भूख आदिके दुःखको दूर करनेके लिये यथायोग्य प्रयोग करना चाहिये ।

गा०—जैसे अभेद्य कवचके द्वारा सुरक्षित योद्धा युद्धभूमिमें शत्रुओंके वशमें नहीं आता । तथा शत्रुपर प्रहार करनेमें समर्थ होता है और इस प्रकार शत्रुओंको जीत लेता है ॥१६७६॥

होदि' रणमुखे शत्रूणामलघ्यो भवति। 'कम्मसमत्थो य' प्रहरणादिक्रियासमर्थ। 'जिणदि य ते' जयति च तानरीन् ॥१६७६॥

एव खवओ कवचेण कवचिओ तह परीसहरिऊणं।
जायइ अलघणिज्जो ज्झाणसमत्थो य जिणदि य ते ॥१६७७॥

एव खवगो' एव क्षपक कवचेनोपगृहीत परीपहारिभिर्न स्पृश्यते, ध्यानसमर्थो जयति च तान्परीपहारीन् ॥कवचुति ॥१६७७॥

एव अधियासेंतो सम्म खवओ परीसहे एदे।
सव्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६७८॥

'एव अधियासेंतो' एव सहमान सम्यक्परीपहानेतान्। सर्वत्राप्रतिबद्ध शरीरे, वसतौ, गणे, परिचारकेषु च सर्वत्रोपैति समचित्तताम् ॥१६७८॥

सव्वेसु दव्वपज्जयविधीसु णिच्च ममत्तिदो विजडो।
णिप्पणयदोसमोहो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६७९॥

'सव्वेसु' सर्वेषु द्रव्यपर्यायविकल्पेषु नित्य परित्यक्तममतादोष ममेद सुखसाधन मदीय इति वा। 'णिप्पणयदोसमोहो' निस्नेहो, निर्दोषो, निर्मोह सर्वत्र समतामुपैति ॥१६७९॥

सजोगविप्पओगेसु जहदि इट्ठेसु वा अणिट्ठेसु।
रदि अरदि उस्सुगत्तं हरिस दीणत्तणं च तहा ॥१६८०॥

सयोगे रति, विप्रयोगे अरति, इष्टे वस्तुन्युत्कण्ठा, इष्टयोगे 'रदि' रति, हर्ष, इष्टविप्रयोगे अरति दीनता। 'उस्सुगत्त' उत्सुकता च तथा 'जहदि' जहाति क्षपक कवचेनोपगृहीत ॥१६८०॥

गा०—उसी प्रकार कवचसे सुरक्षित क्षपक परीपह आदिके वशमे नहीं आता। तथा ध्यान करनेमे समर्थ होता है और उन परीपहरूपी शत्रुओंको जीत लेता है ॥१६७७॥

गा०—इस प्रकार इन तत्काल उपस्थित हुई परीपहोको सम्यक् रूपसे सहन करता हुआ क्षपक सर्वत्र शरीर, वसति, सघ और परिचर्या करनेवालोमे अप्रतिबद्ध होता है—ये मेरे हैं मैं इनका हूँ ऐसा सकल्प नहीं करता। तथा सर्वत्र जीवन मरण आदिमे समभावको—रागद्वेषसे रहितताको प्राप्त होता है ॥१६७८॥

गा०—द्रव्य और पर्यायके समस्त भेदोमे नित्य ममता दोषको त्याग स्नेह रहित, दोष रहित और मोहरहित होकर सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है अर्थात् समस्त द्रव्यो और पर्यायोमे 'ये मेरे सुखके साधन हैं' इस प्रकारका ममत्व भाव नहीं रखता। किन्तु सबमे समभाव रखता है। न किसीसे प्रीति करता है और न किसीसे द्वेष करता है ॥१६७९॥

गा०—कवचसे उपकृत हुआ क्षपक सयोगमे रति, वियोगमे अरति, इष्ट वस्तुमे उत्कण्ठा, इष्ट वस्तुके सयोगमे रति तथा हर्ष और इष्ट वस्तुके वियोगमे अरति तथा दीनता नहीं करता ॥१६८०॥

मित्ते सुयणादीसु य सिस्से साधम्मिए कुले चावि ।
राग वा दोस वा पुव्व जायपि मो जहइ ॥१६८१॥

'मित्ते सुयणादीसु य' मित्रेषु बन्धुषु वा । शिष्येषु च सधर्मणि कुले वा पूर्वं जात रागद्वेष वासौ जहाति ॥१६८१॥

भोगेसु देवमाणुस्सगेसु ण करेइ पत्थण खवओ ।
मग्गो विराधणाए भणिओ विसयाभिलासोत्ति ॥१६८२॥

'भोगेसु देवमाणुस्सगेसु' देवमानवगोचरभोगप्रार्थना न करोति क्षपको व्यावर्णितकवचोपगृहीत । विषयाभिलाषो मुक्तिमार्गविराधनाया मूलमिति ज्ञात्वा ॥१६८२॥

इट्ठेसु अणिट्ठेसु य सद्दफरिसरसरूवगंधेसु ।
इहपरलोए जीविदमरणे माणावमाणे च ॥१६८३॥
सव्वत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रागरोसरहिदप्पा ।
खवयस्स रागदोसा हु उत्तमट्ठं विणासंति ॥१६८४॥

स्पष्ट उत्तरगाथाद्वय। ॥१६८३॥१६८४॥

विशेषार्थ—इष्ट वस्तुके मिलनेपर या अनिष्ट वस्तुके बिछुडनेपर चित्तमे प्रसन्नता होना, अनिष्टका सयोग अथवा इष्टका वियोग होनेपर अरति अर्थात् चित्तका दु खी होना, इष्ट वस्तुमे उत्कण्ठा होना—यदि मुझे अमुक वस्तु मिल जाये तो अच्छा हो इस प्रकार हृदयमे उत्कण्ठा होना, हर्ष अर्थात् इष्टका सयोग होनेपर रोमाच, मुखकी प्रसन्नता आदिसे आनन्द व्यक्त होना, तथा इष्टका वियोग होनेपर मुखकी विरूपतासे विषाद व्यक्त होना, ये सब कवचमे उपगृहीत क्षपक छोड देता है ।

गा०—अथवा कवचसे उपगृहीत वह क्षपक मित्रोमे, बन्धुबान्धवोमे, शिष्योमे साधर्मी जनोमे और कुलमे, पूर्वमे उत्पन्न हुए रागद्वेषको छोड देता है अर्थात् समाधि स्वीकार करनेसे पूर्वमे या दीक्षा ग्रहण करनेसे पूर्वमे जो रागद्वेष उत्पन्न हुआ है उसे दूर करता है साथ ही आगे भी रागद्वेष नही करता ॥१६८१॥

गा०—तथा ऊपर कहे गये कवचसे उपगृहीत क्षपक यह जानकर कि विषयोंकी अभिलाषा मोक्षमार्गकी विराधनाका मूल है, देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोकी प्रार्थना नही करता ॥१६८२॥

गा०-टी०—कवचमे उपगृहीत होनेसे क्षपक इष्ट अनिष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमे, इस लोक और परलोकमे, जीवन और मरणमे, मान और अपमानमे सर्वत्र इष्ट अनिष्ट विकल्पसे मुक्त और रागद्वेषसे रहित होता है । क्योकि क्षपकके रागद्वेष उत्तमार्थ अर्थात् रत्नत्रय, सम्यक् ध्यान और समाधिमरणको नष्ट कर देते हैं ॥१६८३-१६८४॥

---

१ विराधेंति मु० ।

जदि वि य से चरिमंते समुदीरदि मारणंतियमसायं ।
सो तह वि असंमूढो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६८५॥

'जदि वि य से' यद्यपि तस्य क्षपकस्य चरमकालान्ते मारणान्तिक दुःख भवेत् सो कवचेनोपगृहीत क्षपक तथापि असम्मूढ सममाव सर्वत्रोपैति ॥१६८५॥

एव सुभाविदप्पा विहरइ सो जाववीरियं काये ।
उट्ठाणे सवेसणे सयणे वा अपरिदंतो ॥१६८६॥[1]

'एव सुभाविदप्पा' निर्यापकेन सूरिणा गदितोर्थ एवमित्युच्यते । तेन सम्यग्भावितचित्त सन्विहरति प्रवर्तते अपरिश्रान्त । 'जाववीरियं काये' यावच्छरीरे बलमस्ति उत्थाने, शयने आसने वा ॥१६८६॥

जाहे सरीरचेट्ठा विगदत्थामस्स से यदणुभूदा ।
देहादि वि ओसग्ग सव्वत्तो कुणइ णिरवेक्खो ॥१६८७॥

'जाहे सरीरचेट्ठा' यदा शरीरचेष्टा विगतबलस्य तस्य स्वल्पा जाता, तदा शरीरादुत्सर्गं करोति सर्वतो मनोवाक्कायैर्निरपेक्ष ॥१६८७॥

तदेव शरीरादिक त्याज्यमुत्तरगाथया दर्शयति—

सेज्जा सथार पाणय च उवधिं तहा सरीर च ।
विज्जावच्चकरा वि य वोसरइ समत्तमारूढो ॥१६८८॥

'सेज्जा' वसति । सस्तर तृणादिक, पान पिच्छ, शरीर च वैयावृत्यकरांश्च व्युत्सृजति । 'समत्तमारूढो' समाप्त सपूर्ण रत्नत्रयमारूढ ॥१६८८॥

गा०—यद्यपि उस क्षपकको अन्तिम समयमें मरण प्राप्त होनेतक दुःख होता है तथापि वह कवचसे उपगृहीत क्षपक शरीरमें भी मोह न रखता हुआ सर्वत्र समभाव धारण करता है ॥१६८५॥

गा०—इस प्रकार निर्यापकाचार्यके द्वारा कहे गये पदार्थ स्वरूपसे अपने चित्तको सम्यक् रूपसे भावित करके वह क्षपक जबतक शरीरमें शक्ति रहती है तबतक बिना थके उठने बैठने और सोनेमें स्वयं प्रवृत्ति करता है ॥१६८६॥

गा०—जब शक्तिहीन होनेपर उसकी शारीरिक चेष्टा मन्द पड़ जाती है तब वह मन वचन कायसे निरपेक्ष होकर शरीरका भी त्याग करता है ॥१६८७॥

आगेकी गाथासे शरीर आदिको त्याज्य बतलाते हैं—

गा०—सम्पूर्ण रत्नत्रयमें आरूढ हुआ वह क्षपक वसति, तृणादि रूप सस्तर, पानक, पिच्छी, शरीर तथा वैयावृत्य करनेवालोंका भी त्याग कर देता है अर्थात् उन सबसे भी निरपेक्ष हो जाता है ॥१६८८॥

---

१ उट्ठाणे सयणे वा णिसीयणे —आ० मु० ।

अवहट्टु कायजोगे व विप्पओगे य तत्थ सो सव्वे ।
सुद्धे मणप्पओगे होइ णिरुद्धज्झवसियप्पा ॥१६८९॥

'अवहट्टुकायजोगे' वाग्योगान्काययोगांश्च सर्वान्निराकृत्य अमावत्र मनोयोगे शुद्धे स्थितो भवति । विषयान्तरसंचारान्निरुद्ध अध्यवसित च आत्मरूप ज्ञानाख्य यस्य स ॥१६८९॥

एवं सव्वत्थेसु वि समभाव उवगओ विसुद्धप्पा ।
मित्ती करुणं मुदिदमुवेक्खउ खवओ पुण उवेदि ॥१६९०॥

'एव सव्वत्थेसु वि' एव सर्ववस्तुषु समतापरिणाममुपगतो विशुद्धचित्त , मैत्री, करुणा, मुदितामुपेक्षा च पश्चादुपैति क्षपक ॥१६९०॥

मैत्र्योपभृतीना चिन्ताना विषयमुपदर्शयति—

जीवेसु मित्तचिंता मेत्ती करुणा य होइ अणुकंपा ।
मुदिदा जदिगुणचिंता सुहदुक्खधियासणमुवेक्खा ॥१६९१॥

'जीवेसु मित्तचिंता' अनन्तकाल चतसृषु गतिषु परिभ्रमतो घटीयन्त्रवत्सर्वे प्राणभृतोऽपि बहुश कृत-महोपकारा इति तेषु मित्रताचिन्ता मैत्री । 'करुणा य होइ अणुकंपा' शारीर, आगन्तुक मानस स्वाभाविक च दु खमसह्यमाप्नुवतो दृष्ट्वा हा वराका मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कषायेणाशुभेन योगेन च समुपार्जिताशुभकर्म-पर्यायपुद्गलस्कन्धतदुदयोद्भवा विपदो विवशा प्राप्नुवन्ति इति करुणा अनुकम्पा । मुदिता नाम यतिगुणचिन्ता यतयो हि विनीता, विरागा, विभया, विमाना, विरोषा, विलोभा इत्यादिका । सुखे अरागा दु खे वा अद्वेषा उपेक्षेत्युच्यते ॥१६९१॥ ममता गता ।

गा०—वह सब काययोगो और वचनयोगोको दूरकर शुद्ध मनोयोगमे स्थिर होता है। क्योकि वह अपने ज्ञानरूप आत्माको युक्ति और तर्क वितर्कसे निश्चित करके उसे अन्य विषयोमे जानेसे रोकता है ॥१६८९॥

गा०—इस प्रकार सब वस्तुओमे समताभाव धारण करके वह क्षपक निर्मल चित्त हो जाता है। फिर मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भावनाको अपनाता है ॥१६९०॥

मैत्री आदि भावनाओंको कहते हैं—

गा०-टी०—अनन्तकाल चारो गतियोमे भ्रमण करते हुए घटीयन्त्रकी तरह सभी प्राणियोने मेरा बहुत उपकार किया है अत उनमे मित्रताकी भावना होना मैत्री है। असह्य शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक दु खको भोगते हुए प्राणियोको देखकर अरे बेचारे मिथ्या-दर्शन, अविरति, कषाय और अशुभ योगसे उपार्जित अशुभ कर्मरूप पुद्गल स्कन्धोंके उदयसे उत्पन्न हुई विपदाओको विवश होकर भोगते हैं। इस प्रकारके भावको करुणा या अनुकंपा कहते हैं। यतियोंके गुणोंके चिन्तनको मुदिता कहते हैं। यतिगण विनयी, रागरहित, भयरहित, मान-रहित, रोषरहित और लोभरहित होते हैं इत्यादि चिन्तन मुदिता है। सुखमे राग और दु खमे द्वेष न करना उपेक्षा है ॥१६९१॥

दसणणाणचरित्तं तव च विरियं समाधिजोगं च ।
तिविहेणुवसपज्जिय सव्वुवरिल्लं कम कुणइ ॥१६९२॥

'दसणणाणचरित्त तव विरिय समाधिजोग च' तत्त्वश्रद्धान तत्त्वावगम, वीतरागता, अशनत्यागक्रिया स्वशक्त्याऽनिगूहन चित्तैकाग्रयोग । 'तिविधेणुवसपज्जिय' मनोवाक्कायै प्रतिपद्य । 'सव्वुवरिल्ल' सर्वेभ्य पूर्वप्रवृत्तदर्शनादिपरिणामेभ्योऽतिशयित क्रम 'कुणदि' क्रम दर्शनादिपदन्यास करोति ॥१६९२॥

शुभध्यानमारुरुक्षत परिकरमाचष्टे—

जिदरागो जिद्दोसो जिदिंदिओ जिदभओ जिदकसाओ ।
अरदिरदिमोहमहणो ज्झाणोवगओ सदा होहि ॥१६९३॥

'जिदरागो' स्वतो व्यतिरिक्तेषु जीवाजीवद्रव्येषु तेषा पर्यायेषु रूपरसगन्धस्पर्शशब्दात्मकेषु विचित्रभेदेषु तत्संस्थानादिषु च यो राग स जितो येन सोऽभिधीयते । तथा मनोज्ञेषु याऽप्रीति स दोष उच्यते स च जितो येन स जितदोष ।

"णेहुत्तुपिदगत्तस्स रेणुगो लग्गदे जहा अगे ।
तह रागदोसणेहोल्लिदस्स कम्मासवो होदि ॥" [मूलाचार २३६] इति ।

जिनवचनाधिगमाद् दुखभीरुर्यति सर्वदु खाना मूलकारणभूतो रागद्वेषाविति मनसा विनिश्चित्य

गा०-टी०—दर्शन अर्थात् तत्त्वश्रद्धान, तत्त्वज्ञान और चारित्र अर्थात् वीतरागता, तप अर्थात् भोजनका त्याग, वीर्य अर्थात् अपनी शक्तिको न छिपाना, तथा समाधियोग अर्थात् चित्तकी एकाग्रता, इन सबको मन वचन कायसे प्राप्त करके क्षपक पूर्वके दर्शन आदिसे विशिष्ट दर्शन आदिमें पग धरता है ॥१६९२॥

विशेषार्थ—मैत्री आदि भावनाके बलसे व्यवहार मोक्षमार्गको प्राप्त करके क्षपक परमार्थ मुक्तिमार्गपर चलनेका प्रयत्न करता है यह इस गाथाके द्वारा कहा है। यह शुभतम ध्यानके लिये प्रयत्नका प्रारम्भ है ॥१६९२॥

आगे शुभध्यानकी सामग्री कहते हैं—

गा०—जो जितराग, जितद्वेष, जितेन्द्रिय, जितभय, जितकषाय और अरति रति तथा मोहका मथन करता है वह सदा ध्यानमें लीन रहता है।

टी०—अपनेसे भिन्न जीव अजीव द्रव्योंमें, रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द रूप उनकी पर्यायोंमें तथा अनेक भेदवाले उनके आकारादिमें जो रागको जीतता है उसे जितराग कहते हैं। तथा अमनोज्ञ वस्तुओंमें प्रीतिका अभाव दोष है। जिसने उसे जीत लिया वह जितदोष है। 'जैसे जिसका शरीर तेलसे लिप्त होता है उसके शरीरमें धूल लगती है। उसी प्रकार जो राग द्वेष और स्नेहमें लिप्त होता है उसके कर्मोंका आस्रव होता है।'

इस जिनागमको जानकर दुखसे भीत यति सब दुखोंका मूल कारण रागद्वेष है ऐसा

---

१ नेहम मुणेयव्व —मूला०।

यस्तयोर्न विपरिणमते सोऽभिधीयते जितरागद्वेष इति। तस्योपायो जितेन्द्रियत्वं यावष्टे--जह जिदिंदिओ इति वाक्यशेषं कृत्वा सम्बन्धः। 'जिदिंदिओ' इन्द्रियशब्देन रूपाद्यालम्बनोपयोगः परिगृह्यते स जितो येन स उच्यते जितेन्द्रिय इति। कथमसौ मतिज्ञानोपयोगो जेतुं शक्यते इति चेत् श्रुतज्ञानोपयोगे एव वृत्ता मनः[1] सत्या, युगपदुपयोगद्वयस्यात्मन्येकदा विरोधादप्रवृत्तेः। न च बाह्यद्रव्यालम्बनमुपयोगमन्तरेणास्ति सम्भवो रागद्वेषयोः। संकल्पपुरोगौ हि ताविति। 'जिदकसायो' क्षमामार्दवार्जवसंतोषपरिणामनिरस्तकषायपरिणामप्रसरो जितकषाय इत्युच्यते। अरते रतेश्च कर्मण उदये उपजातौ रत्यरतिपरिणामौ, मोहो, मिथ्याज्ञानं च सम्यग्ज्ञानभावनया मथ्नाति यः स भण्यते 'अरदिरदिमोहमधणो'। एवं निरस्तध्यानप्रतिपक्षपरिणामः। 'ज्झाणोवगदो होदि' ध्यानाख्यं परिणाममाश्रितो भवति। न हि रागादिभिर्व्याकुलीकृतस्य अर्थयाथात्म्यग्राहि भवति विज्ञानं अविचलं च नावतिष्ठते। अविचलमेव वस्तुनिष्ठं ज्ञानं ध्यानमिष्यते ॥१६९३॥

धम्मं चदुप्पयारं सुक्कं च चदुव्विधं किलेसहरं।
संसारदुक्खभीओ दुण्णि वि ज्झाणाणि सो ज्झादि ॥१६९४॥

'धम्मं चदुप्पयारं' धर्मध्यानं चतुःप्रकारं। धारयति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्मः। स्वभावातिशयादेव चैतन्यादिकाज्जीवादिकं वस्तु भवति। स्वभावातिशयभावादेव वस्तु भण्यते न खरविषाणादि, तेन धर्मशब्दो

मनसे निश्चित करके राग द्वेषरूप परिणमन नहीं करता। उस यतिको जितराग द्वेष कहते हैं। उसका उपाय है जितेन्द्रिय होना। यहाँ इन्द्रिय शब्दसे रूपादिका आलम्बन लेकर जो उपयोग होता है उसका ग्रहण किया है। उसे जो जीत लेता है वह जितेन्द्रिय है।

यह जो मतिज्ञानरूप उपयोग है इसको कैसे जीता जा सकता है? श्रुतज्ञानरूप उपयोगमें ही मनकी प्रवृत्ति होनेपर मतिज्ञानरूप उपयोग जीता जा सकता है। क्योंकि एक साथ एक आत्मामें दो उपयोगोंका विरोध होनेसे दो उपयोगोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। और जबतक उपयोगका आलम्बन बाह्य द्रव्य न हो तबतक रागद्वेष नहीं हो सकते। क्योंकि रागद्वेष संकल्प-पूर्वक होते हैं। तथा जो क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष परिणाममें कषायरूप परिणामोंके प्रसारको निरस्त कर देता है उसे जितकषाय कहते हैं। अरति और रति कर्मका उदय होनेपर उत्पन्न हुए रति और अरतिरूप परिणामोंको और मोह अर्थात् मिथ्याज्ञानको जो सम्यग्ज्ञानरूप भावनासे मथता है उसे 'अरतिरति मोहमथन' कहते हैं। इस प्रकार जो ध्यानके विरोधी परिणामोंको दूर करता है वह ध्यान नामक परिणामको करता है। जो रागादिसे व्याकुल रहता है उसका ज्ञान न तो अर्थके यथार्थस्वरूपको ही ग्रहण करता है और न निश्चल ही रहता है। और वस्तुनिष्ठ निश्चल ज्ञानको ही ध्यान कहते हैं ॥१६९३॥

गा०—धर्मध्यान चार प्रकारका है और शुक्ल ध्यान भी चार प्रकारका है। ये दो ध्यान कष्टको हरनेवाले हैं। चतुर्गति परावर्तनरूप संसारमें जो दुःख होते हैं उनसे भीत मुनि धर्म और शुक्लध्यानोंको ध्याता है ॥१६९४॥

टी०—जो वस्तुकी वस्तुताको धारण करता है उसे धर्म कहते हैं। चैतन्य आदिरूप स्वभावके अतिशयसे ही जीवादि वस्तु होती है। स्वभावरूप अतिशयके होनेसे ही वस्तु कहलाती

१. एवं वृत्तामनः सत्य आ०-योगे वात्मनः प्रवृत्ती सत्या मु०।

वस्तुस्वभाववाची । धर्माद्वस्तुस्वभावादनपेतमिति धर्म्यमित्युच्यते । यद्येवमार्तादिरपि धर्मादनपेतत्वमस्ति । सम्प्रयुक्तामनोज्ञवस्तुवियोग, वियुक्तमनोज्ञवस्तुयोग, रोगातङ्कादिप्रशमन, अभिमतप्राप्ति च धर्ममाश्रित्य प्रवर्तमानत्वाद्धर्मादनपेतेनेति । नैष दोष विवक्षितधर्मविशेषवृत्तिर्धर्मशब्द । अत एव आज्ञापायविपाकसंस्थान-मित्यादिकै धर्मैर्ध्येयैरनपेतत्वाद्ध्यानमाज्ञाविचयादिसंज्ञाभिरुच्यते । ध्येयं ज्ञेयवस्तुस्वरूप तदविनाभावि च ज्ञान ध्यानमिति सगताथ व्याख्येय । अन्ये तु व्याचक्षते-क्षमामार्दवार्जवादिकाद्धर्मादनपेतत्वाद्धर्म्यं इति । ननु च ध्यान ध्येयाविनाभावि न च क्षमादयो धर्मा ध्येया येन तदनपेतत्वमुच्यते । अथ क्षमादिको दशविधो धर्मो ध्येयस्तस्मादनपेतस्तस्यान्यत्राप्रवृत्ते 'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यमिति सूत्र न युज्यते' । उत्तम-क्षमादिधर्मपरिणतादात्मनोऽनपेतत्वात् धर्मादनपेततेति धर्म्यमित्युच्यत इति चेत् शुक्लस्यापि धर्मादनपेतत्वा द्धर्म्यध्यानता स्यादत्रोच्यते—रूढिशब्देषु क्वचित्सभाविनी क्रियामाश्रित्य शब्दव्युत्पत्तिमात्र क्रियते । न सा क्रिया तत्र आशुगमनादश्व इति व्युत्पाद्यमान स्थिते शयिते च प्रवर्तते न चाशुयायिन्यपि वैनतेयादौ प्रवर्तते । तद्वदिहापि शुक्ले न धर्मशब्दो वर्तते । धर्मादन्यत्राप्याज्ञादौ वर्तते । अथ कि ध्यान, 'उत्तमसहननस्यैकाग्रचिन्ता-

है। इमीसे गधेके सींग नामकी कोई वस्तु नहीं है। अत धर्म शब्द वस्तुस्वभावका वाचक है। धर्म अर्थात् वस्तु स्वभावसे जो सहित है उसे धर्म्य कहते हैं।

शका—यदि ऐसा है तो आर्तध्यान आदि भी धर्मसे सहित है। क्योंकि प्राप्त अनिष्ट वस्तुके वियोग, वियुक्त इष्ट वस्तुके सयोग, रोग आदिकी शान्ति और इष्टकी प्राप्ति आदि धर्मको लेकर आर्तध्यान होता है अत वह भी धर्मसे युक्त होनेसे धर्मध्यान कहा जाना चाहिये ?

समाधान—यह दोष ठीक नहीं है। यहाँ धर्म शब्द विवक्षित धर्मविशेषको कहता है। अत आज्ञा, अपाय, विपाक, सस्थान आदि धर्म जिसमें ध्येय होते हैं उस ध्यानको आज्ञाविचय आदि नामोंसे कहा जाता है। अन्य कुछ आचार्य क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि धर्मोंसे युक्त होनेसे धर्म्य कहते हैं।

शका०—ध्यान ध्येयका अविनाभावी है। ध्येयके बिना ध्यान नहीं होता। किन्तु क्षमा आदि धर्म ध्येय नहीं है अत उनसे युक्त ध्यानको धर्म्य नहीं कह सकते। यदि क्षमा आदि दस प्रकारका धर्म ध्येय है और उससे सहित ध्यान धर्म्य है तो वह ध्यान अन्यत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता। तब तत्त्वार्थ सूत्रमें जो कहा है कि आज्ञा, अपाय, विपाक और सस्थानका चिन्तन धर्म्यध्यान है वह नहीं बनता, क्योंकि आत्मा तो उत्तम क्षमा आदि धर्मरूपसे परिणत होनेसे उनसे सहित ही है। वह उनसे हटकर अन्यमें प्रवृत्त होता नहीं। यदि कहोगे कि धर्मसे युक्तताका नाम धर्म्य है तो शुक्लध्यान भी धर्मसे युक्त होनेसे धर्म्यध्यान कहलायेगा।

समाधान—रूढिशब्दोंमें कहींपर होनेवाली क्रियाको लेकर शब्दकी मात्र व्युत्पत्ति की जाती है किन्तु वह क्रिया सिद्धान्तरूप नहीं होती। जैसे आशु—शीघ्र गमन करनेसे अश्व शब्द निष्पन्न होता है। किन्तु जब वह घोडा बैठा होता है या सोता है तब भी उसे अश्व (घोडा) ही कहते हैं। तथा गरुड वगैरह तेज चलते हैं किन्तु उन्हें अश्व नहीं कहते। उसी तरह यहाँ भी धर्म शब्दसे शुक्लध्यान नहीं कहा जाता। तथा उत्तम क्षमा आदि धर्मोंसे भिन्न आज्ञाविचय आदिको धर्म्य कहा जाता है।

शका—ध्यान किसे कहते हैं ?

समाधान—तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है उत्तम संहनन वालेके एकाग्रचिन्ता निरोधको ध्यान

निरोधो ध्यानम्' [त० सू० ९।२७] इति चेत् षट्सु संहननेष्वाद्य त्रितयं संहननं च वज्रर्षभनाराचसंहननं, वज्रनाराचसंहननं, नाराचसंहननमिति । तेषु त्रिषु एकं संहननं यस्य स उत्तमसंहननस्तस्य एकमग्रं मुखमस्येत्येकाग्रे यश्चिन्तानिरोधः स ध्यानमित्युच्यते । ननु चिन्तानिरोधः चिन्ताया अभावस्तस्य का एकमुखता, कथं वा कर्मणां भावे अभावे च निमित्तता । आर्त्तरौद्रयोरशुभकर्मनिमित्ततेष्यते । इतरयोस्तु शुभकर्मणां निमित्तता निर्जरायाश्च हेतुतेष्टा । अत्रोच्यते—न निरोधशब्दोऽत्राभाववाची किंतु रोधवचनो यथा मूत्रनिरोध इति । ननु च परिस्पन्दवतो निरोधो भवति । चिन्तायास्तु को निरोध इत्यत्रोच्यते । 'केचित्प्रवदन्ति' नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती तस्या एकस्मिन्नग्रे नियमश्चिन्तानिरोध इति त इदं [2]प्रष्टव्या । नानार्थाश्रया चिन्ता सा कथमेकत्रैव प्रवर्तते ? एकत्रैव चेत प्रवृत्ता नानार्थावलम्बनं परिस्पन्दं नामादयतीति निरोधवाचो युक्तिरसंगता, 'तस्मादेवमत्र व्याख्यानं [3]चिन्तानव्देन चैतन्यमुच्यते तच्च चैतन्यमन्यमन्य बाधमवगच्छता ज्ञानपर्यायरूपेण वर्तत' इति परिस्पन्दवत्तस्य निरोधो नाम एकत्रैव विषये प्रवृत्तिस्तथा हि य एकत्रैव वर्तते स तत्र निरुद्ध इति भण्यते । उत्तमसंहननप्रयोगादेवार्त्तरौद्रयोरनुत्तमसंहननेषु तिर्यङ्मानवेषु प्रवृत्तिर्न स्यात् । तेन तद्ध्यानावलम्बनो गतिविभागो न स्यात्तेषामनुभवविरोधश्चेदानीतनानामपि तयोर्वृत्तेः सूत्रान्तरविरोधश्च "तदविरतदेश-

---

कहते हैं। छह संहननोंमेंसे आदिके तीन संहनन वज्रर्षभ नाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन और नाराच संहनन उत्तम है। इनमेंसे एक संहनन जिसके हो उसे उत्तम संहनन कहते हैं। उसके एक है अग्र अर्थात् मुख जिसका उस एकाग्रमें जो चिन्ताका निरोध है वह ध्यान है।

शङ्का—चिन्ता निरोधका अर्थ होता है चिन्ताका अभाव। अभाव एक मुख कैसा ? तथा अभाव कर्मों के भाव या अभावमें निमित्त कैसे हो सकता है ? आगममें आर्तध्यान और रौद्रध्यानको अशुभ कर्मों के आस्रवबन्धमें निमित्त कहा है। तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको शुभ कार्यों में निमित्त कहा है तथा निर्जराका भी हेतु कहा है।

समाधान—चिन्ता निरोधमें निरोध शब्दका अर्थ अभाव नहीं है किन्तु उसका अर्थ है रोकना। जैसे मूत्रनिरोध अर्थात् मूत्रको रोकना।

शङ्का—जिसमें हलन चलन होता है उसका निरोध होता है चिन्ता का निरोध कैसा ?

समाधान—कुछ आचार्य कहते हैं, नाना अर्थों का अवलम्बन करनेसे चिन्ता हलन चलन रूप होती है। उसको एक विषयमें नियमित करना चिन्ता निरोध है। उनसे यह पूछना है कि जब चिन्ता नाना अर्थों का आश्रय लेनेवाली है तो वह एक ही स्थानमें कैसे रुक सकती है ? यदि वह एक ही स्थानमें रुक सकती है तो नाना अर्थों के अवलम्बन रूप परिस्पन्द वाली नहीं हो सकती। इसलिये उसका निरोध कहना असंगत है। इसलिये चिन्तानिरोधका अर्थ ऐसा करना चाहिये—चिति धातुसे चिन्ता शब्द बना है उसीसे चैतन्य भी बना है। अतः चिन्ता शब्दसे यहाँ चैतन्य कहा है। वह चैतन्य अन्य-अन्य पदार्थों को जानते हुए ज्ञानपर्याय रूपसे वर्तन करता है अतः वह परिस्पन्द वाला है। उसका निरोध अर्थात् एक ही विषयमें प्रवृत्ति। क्योंकि जो एक ही विषयमें प्रवृत्ति करता है उसे वहीं निरुद्ध कहा जाता है।

शङ्का—ध्यानके लक्षणमें 'उत्तम संहनन' विशेषणका प्रयोग करनेसे अनुत्तम संहननवाले तिर्यञ्चों और मनुष्योंमें आर्तध्यान और रौद्रध्यान नहीं हो सकेंगे। ऐसा होनेसे उन ध्यानोंको लेकर जो गतिका विभाग किया है वह नहीं बनेगा। तथा ऐसा कहना अनुभवसे भी विरुद्ध है

---

१ सर्वार्थसिद्धि ९।२७। २ द्रष्टव्या अ०, आ०। ३ चितिशब्देन—अ०।

विरतप्रमत्तसंयतानां" "हिंसानृतस्तेयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयो"रिति [त० सू० ९।३५] गुणस्थानमात्राश्रयणेनैव स्वामिनिर्देशकृतत्वात् ।

अत्र प्रतिविधीयते — निर्जराहेतुतया विकल्पे ध्यानेषु तत्प्रस्तुते युक्तं साक्षात् मुक्त्यङ्गं ध्यानं निर्देष्टुमिति मन्यमानेन उत्तमसंहननग्रहणं कृतं सूत्रकारेण । यद्येवं आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानीति सूत्रमुत्तरं नोपपद्यते न निर्जराहेतुतास्त्यार्तरौद्रयोरिति । अत्रोच्यते 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमितीदं सूत्रं' मुख्यं ध्यानं मुक्त्यङ्गमुद्दिश्य प्रवृत्तमुत्तरं तु सूत्रमार्तरौद्रधर्म्यशुक्लानीत्येनदेकाग्रचिन्तानिरोधसामान्यान्तर्भूतं अनभिमतमपि ध्यानं निरूपयति । प्रस्तुतस्यैव ध्यानस्य अनभिमतध्यानविविक्तरूपमधिगमयितुमतः प्रासंगिकयो आर्तरौद्रयोरुत्तरत्राम इति न दोषः । अथवोत्तमसंहननग्रहणं वीर्यातिशयवत आत्मनः उपलक्षणं, उत्तमसंहननस्य वीर्यातिशयवतो आत्मनो यदेकवस्तुनिष्ठं ध्यानं तत् ध्यानमिति सूत्रार्थः ॥ 'सुक्कं च चदुविधं' शुक्लं च ध्यानं चतुर्विधं ध्यानं क्लेशाहरं संसारदुःखभीरु चतुर्गतिपरावर्तनेन यानि दुःखानि तेभ्यो भीतः । 'दोण्णि वि' द्वे 'झाणाणि' ध्याने धर्म्यशुक्ले 'सो' क्षपकः 'झादि' ध्यायति ॥१६९४॥

ण परीसहेहिं संताविदो वि सो झाइ अट्टरुद्दाणि ।
सुट्ठुवहाणे सुद्धु वि अट्टरुद्दा वि णासंति ॥१६९५॥

'ण परिस्सहेहिं' स क्षपकः 'परिस्सहेहिं' परीषहैः । 'संताविदो वि' बाधितोऽपि 'अट्टरुद्दाणि' आर्त

क्योंकि आजके मनुष्योंके भी आर्त और रौद्रध्यान होते हैं। तथा उक्त कथनका विरोध अन्य सूत्रोंसे भी होता है। क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमें ही गुणस्थान मात्रका आश्रय लेकर आर्त और रौद्रध्यानके स्वामियोंका कथन किया है। यथा—आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयतो के होता है। रौद्रध्यान अविरत और देशविरतके होता है।

समाधान—तत्त्वार्थसूत्रकारने नौवें अध्यायमें निर्जराके कारणोंका विवेचन करते हुए जब ध्यानका वर्णन किया तो 'साक्षात् मुक्तिकारण ध्यानका निर्देश करना उचित है' ऐसा मानकर ध्यानके लक्षणमें उत्तम संहननपदका ग्रहण किया है।

शंका—यदि ऐसा है तो 'आर्त रौद्र धर्म और शुक्ल' ये चार ध्यान हैं ऐसा सूत्र नहीं कहना चाहिये था क्योंकि आर्त रौद्र निर्जराके कारण नहीं है।

समाधान—'उत्तम संहनन' इत्यादि सूत्र जो मुख्य ध्यान मुक्तिके कारण हैं उनको लक्ष्य करके रचा गया है। आगेका सूत्र, जिसमें ध्यानके चार भेदोंके नाम गिनाये हैं, एकाग्र चिन्ता निरोध सामान्यमें अन्तर्भूत सब ध्यानोंको बतलाता है। अर्थात् आर्त रौद्रमें भी ध्यान सामान्यका लक्षण घटित होता है इसलिये ध्यानके भेदोंमें उनको गिनाया है। यद्यपि वे मोक्षके कारण नहीं हैं। अतः अनिष्ट ध्यानोंसे भिन्न प्रस्तुत धर्म्य शुक्लध्यानोंका ही स्वरूप बतलानेके लिये सूत्रकारने आर्त और रौद्रध्यानोंका कथन किया है। अथवा उत्तम संहनन पद अतिशय वीर्यशाली आत्माका उपलक्षण है। उत्तमसंहनन अर्थात् अतिशय वीर्यसे विशिष्ट आत्माके जो एक वस्तुनिष्ठ ध्यान होता है वही ध्यान है, ऐसा उस सूत्रका अर्थ होता है। संक्षेपसे मौन क्षपक धर्म्य और शुक्लध्यानोंको ध्याता है ॥१६९४॥

गा०—वह क्षपक परीषहोंसे पीडित होनेपर भी आर्त और रौद्रध्यान नहीं करता। क्योंकि

रौद्र च 'न झाइ' ना ध्याति। 'सुट्ठुवहाणे' सुष्ठु उपधाने। शुद्धमपि 'अट्टरुद्दाणि णासति' आर्तरौद्रध्याने नाशयत ॥१६९५॥

अट्टे चउप्पयारे रुद्दे य चउव्विधे य जे भेदा।
ते सव्वे परिजाणदि सथारगओ तओ खवओ ॥१६९६॥

'अट्टे चदुप्पयारे' आर्ते चतु प्रकारे, 'जे भेदा रुद्दे य चदुव्विधे' ये भेदा। 'ते सव्वे परिजाणदि' तान् सर्वान् विजानाति। 'सथारगदो' सस्तरगत। 'तओ खवगो' असौ क्षपक। यो यत परिहर्तुमिच्छन्म कथ तत्तत्त्वतोऽनवबुध्यमानो नियोगत परिहरेदिच्छेद्[1] वार्ये आर्तरौद्र परिहरन् तस्मात ज्ञातव्ये ते इति दर्शयति ॥१६९६॥

अमणुण्णसपओगे इट्ठविओए परिस्सहणिदाणे।
अट्ट कसायसहिय झाण भणिय समासेण ॥१६९७॥
तेणिक्कमोसहिंसारक्खणेसु तह चेव छव्विहारभे।
रुद्द कसायसहिय झाण भणिय समासेण ॥१६९८॥
अवहट्टु अट्टरुद्दे महाभये सुग्गदीए पच्चूहे।
धम्मे सुक्के य सदा होदि समण्णागदमदी सो ॥१६९९॥

'अवहट्टु' अपहृत्य। 'अट्टरुद्दे' आर्तरौद्रे। महतो भयस्य हेतुत्वान्महाभये। 'सुग्गदीए पच्चूहे' सुगतेर्विघ्नभूते। 'धम्मे सुक्के वा' धर्म्ये शुक्ले वा ध्यानेऽसौ क्षपक। 'समण्णागदमदी सो होदि' सम्यगनुपरतमतिर्भवति ॥१६९७॥१६९८॥१६९९॥

आर्त और रौद्र ध्यान सुष्ठु उपधान अर्थात् सक्लेशरहित परिणामोसे, विशुद्ध अर्थात् कर्मों को निर्जीर्ण करनेकी शक्तिसहित भी समीचीन ध्यानको नष्ट कर देते हैं ॥१६९५॥

गा०—आर्तध्यानके जो चार भेद हैं और रौद्रध्यानके जो चार भेद हैं वे सब सस्तरपर आरूढ क्षपक जानता है। जो जिसको त्यागना चाहता है वह उसको यदि यथार्थरूपसे नहीं जानता तो कैसे उसका त्याग कर सकता है। अत क्षपकको आर्त और रौद्र ध्यानोका स्वरूप जानना चाहिये। इसलिये उनको भी बतलाते हैं ॥१६९६॥

गा०—अनिष्ट सयोग, इष्टवियोग, परीषह (वेदना) और निदान ये सक्षेपमे कषायसहित आर्तध्यानके चार भेद हैं ॥१६९७॥

गा०—चोरी, झठ, और हिंसाका रक्षण तथा छह प्रकारके आरम्भको लेकर सक्षेपमे कषाय सहित रौद्रध्यानके चार भेद हैं ॥१६९८॥

गा०—सुगतिमे विघ्न डालनेवाले और महान् भयके कारण होनेसे महाभयरूप रौद्र और आर्तध्यानको त्यागकर वह सम्यक् बुद्धिसम्पन्न क्षपक धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है ॥१६९९॥

---

१ दिच्छदि वार्य —अ०।

किमर्थमसौ ध्यानयो शुभयोर्वर्तत इत्याशङ्कायां ध्यानप्रवृत्तौ कारणमाचष्टे—

इंदियकसायजोगणिरोधं इच्छ च णिज्जरं विउलं।
चित्तस्स य वसियत्त मग्गादु अविप्पणास च ॥१७००॥

'इंदियकसायजोगणिरोध' स्पर्शादिरूपजात उपयोग इन्द्रियशब्देनोच्यते। कषाया क्रोधादयस्तै योग सम्बन्धस्तस्य निरोध निवारणमिच्छन्निर्जरा च विपुलामिच्छन्, वस्तुयाथात्म्यसमाहितचित्तस्य नेन्द्रियविषयजन्योपयोगमभव, कषायाणा चोत्पत्ति 'चित्तस्स य वसियत्त' चित्तस्य स्ववशत्व इच्छन् स्वेष्टे विषये चित्तममकृत्स्थापयतोऽनिष्टाच्च व्यावर्तयत स्ववश भवति चित्त। 'मग्गादो अविप्पणास च' मार्गाद्रत्नत्रयादविप्रणाश च वांछन्, अशुभध्यानप्रवृत्तो रत्नत्रयात्प्रच्युतो भवामीति ध्याने प्रयतते ॥१७००॥

ध्यानपरिकरप्रतिपादनायोत्तरगाथा—

किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु झाणे णिरुद्धदिट्ठीओ।
अप्पाणहि सदिं सधित्ता ससारमोक्खट्ठ ॥१७०१॥

'किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु' बाह्यद्रव्यात्किंचित् किंचिच्चक्षुर्व्यावर्तयित्वा। 'झाणे णिरुद्धदिट्ठीओ' एकविषये परोक्षज्ञाने निरुद्धचैतन्य। 'दृष्टिनिमित्ते हि चैतन्ये दृष्टिशब्दोऽत्र युक्त। 'अप्पाणहि' आत्मनि। 'सदिं' स्मृति। 'सधित्ता' सधाय। स्मृतिशब्देनात्र श्रुतज्ञानेनावगतस्यार्थस्य स्मरणमुच्यते, 'ससारमोक्खट्ठ' ससारविमुक्तये ॥१७०१॥

वह क्षपक किसलिये शुभ ध्यान करता है ? इस प्रकाके उत्तरमे उसके कारण कहते हैं—

गा०—इन्द्रिय और कषायोंसे सम्बन्धको रोकने, अत्यधिक निर्जराको चाहने, चित्तको वशमे करने और रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गको नष्ट न होने देनेके लिये क्षपक शुभ ध्यान ही करता है ॥१७००॥

टी०—यहाँ इन्द्रिय शब्दसे स्पर्श आदिसे उत्पन्न हुआ उपयोग कहा है। कषायसे क्रोधादि लिये हैं। जिसका चित्त वस्तुके यथार्थ स्वरूपसे समाधान युक्त होता है उसकी प्रवृत्ति इन्द्रियोंके विषयसे उत्पन्न हुए उपयोगकी ओर नही होती और न कषायोंकी उत्पत्ति होती है। तथा जो अपने इष्ट विषयमें चित्तको बारम्बार स्थापित करता है और अनिष्टसे चित्तको हटाता है उसका चित्त अपने वशमे रहता है। क्षपक जानता है कि यदि मैं अशुभ ध्यानमे लगा तो रत्नत्रयमे च्युत हो जाऊँगा। इन कारणोंसे वह शुभ ध्यान करता है ॥१७००॥

आगे ध्यानकी सामग्री कहते हैं—

गा०-टी०—बाह्य द्रव्यको देखनेकी ओरसे आँखोंको किञ्चित् हटाकर अर्थात् नाकके अग्र भागपर दृष्टिको स्थिर करके, एक विषयक परोक्षज्ञानमें चैतन्यको रोककर शुद्ध चिद्रूप अपनी आत्मामे स्मृतिका अनुसन्धान करे। गाथामें 'निरुद्ध दृष्टि' पद है। यहाँ दृष्टिमे निमित्त चैतन्यमे दृष्टि शब्दका प्रयोग किया है। और स्मृति शब्दसे श्रुतज्ञानके द्वारा जाने गये अर्थका स्मरण लिया है। अर्थात् दृष्टिको नाकके अग्रभागमे स्थापित करके किसी एक परोक्ष वस्तु विषयक

१ चैतन्यदृष्टि निमित्ते शब्दोऽत्र युक्त —अ० आ०। —चैतन्य दृष्टिनिमित्ते चैतन्ये दृष्टिशब्दो मूलारा०।

पच्चाहरित्तु विसयेहिं इंदियाइं मण च तेहिंतो ।
अप्पाणम्मि मण तं जोग पणिधाय धारेदि ॥१७०२॥

'पच्चाहरित्तु' प्रत्याहृत्य । 'विसयेहिं' विषयेभ्य । 'इंदियाइं' इन्द्रियाणि 'मण च' मनश्च व्यावर्त्य । 'तेहिंतो' विषयेभ्य । 'मण त धारेदि' तन्मनो धारयति । क्व ? 'अप्पाणहि' आत्मनि । 'जोग' योग वीर्यान्तरायक्षयोपशमजवीर्यपरिणाम । 'पणिधाय' 'प्रणिधाय स्थाप्य । एवदुक्त भवति वीर्यपरिणामेन नोइन्द्रियमति धारयतीति ॥१७०२॥

कृतमनोनिरोध कि करोतीत्याशङ्कयाह—

एयग्गेण मणं रुंभिऊण धम्म चउव्विह झादि ।
अणापायविवाग विचय सठाणविचय च ॥१७०३॥

'एयग्गेण' एकध्येयमुखनया । 'मण रु भिदूण मना निरुध्य । 'धम्म' धर्म्य वस्तुस्वभाव । 'चदुविह' चतुर्विध चतुर्विकल्प । 'झादि' ध्यायति । अभ्यन्तरपरिकरोऽयमुक्त सूत्रकारेण । बाह्य परिकर उच्यते । पर्वतगुहाया, गिरिकदरे, दर्यां, तरुकोटर, नदीपुलिने, पितृवने जीर्णोद्याने शून्यागारे वा व्यालमृगाणा पशूना, पक्षिणा, मनुष्याणा वा ध्यानविघ्नकारिणा सन्निधानशून्ये, तत्रस्थैरागन्तुभिश्च जीवैर्वर्जिते, उष्णशीतातपवातादिविरहिते, निरस्तेन्द्रियमनोविक्षेपहेतौ, शुचावनुकूलस्पर्शे भूभागे मन्द-मन्द प्राणापानप्रचार नाभेरूर्ध्व हृदि ललाटेऽन्यत्र वा मनोवृत्ति यथापरिचय प्रणिदधानीति बाह्यपरिकर । 'आणापायविपाकविचये' आज्ञा-

---

ज्ञानमे मनको लगाकर श्रुतमे जाने हुए विषयोका स्मरण करते हुए आत्मामे लीन हो। यह ध्यान ससारसे छूटनेके लिये किया जाता है ॥१७०१॥

गा०—विषयोसे इन्द्रियोको और मनको हटाकर वीर्यान्तरायके क्षयोपशममे उत्पन्न हुए वीर्य परिणामको स्थापित करके आत्मामे मनको लगाता है। अर्थात् वीर्य परिणामसे अपनी शुद्ध आत्मामे मनको धारण करता है ॥१७०२॥

मनको रोककर क्या करता है, यह कहते हैं—

गा०—एक विषयमे मनको रोककर आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचय इन चार प्रकारके धर्मध्यानको ध्याता है ॥१७०३॥

टी०—ग्रथकारने यह ध्यानकी अभ्यन्तर सामग्री कही है। टीकाकारने बाह्य सामग्री इस प्रकार कही है—

पर्वतकी गुफामे, या पहाडकी कन्दरामे, या वृक्षके कोटरमे या नदीके किनारे या स्मशान में या उजडे हुए उद्यानमे या शून्य मकानमे, जहाँ ध्यानमे विघ्न करनेवाले सर्प मृग आदि पशु पक्षी और मनुष्योका वास न हो, तथा वहाँ रहनेवाले और इधर-उधरसे आनेवाले जीव जन्तु न हो, गर्म या सर्द, घाम और वायु आदिसे रहित हो, जहाँ इन्द्रिय और मनको चचल करनेके साधन न हो। ऐसे स्थानमे जो जमीनका भाग साफ सुथरा हो, उसका स्पर्श अनुकूल हो, उसपर स्थित होकर धीरे-धीरे श्वास उच्छ्वास लेते हुए नाभिसे ऊपर हृदयमे या मस्तकपर अथवा अन्य स्थानमे अपने मनोव्यापारको रोकता है। यह ध्यानकी बाह्य सामग्री है। ऐसा करके चार प्रकारका धर्मध्यान करता है। उनमेसे आज्ञाविचय नामक धर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं—

विचयमपायविचयं, विपाकविचयं, 'संठाणविचयं च' संस्थानविचयं च । तत्राज्ञाविचयो निरूप्यते—कर्माणि समूलोत्तरप्रकृतीनि तेषां चतुर्विधो बन्धपर्याय उदयफलविकल्पः जीवद्रव्यं मुक्त्यवस्थेत्येवमादीनामतीन्द्रियत्वात् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षाभावात् बुद्धयतिशये असति दुरवबोधं यदि नाम वस्तुतत्त्वं तथापि सर्वज्ञज्ञान-प्रामाण्यात आगमविषयतत्त्वं तथैव नान्यथेति निश्चयः सम्यग्दर्शनस्वभावत्वान्मोक्षहेतुरित्याज्ञाविचारनिश्चयः ज्ञानं आज्ञाविचयाख्यं धर्मध्यानं । अन्ये तु वदंति स्वयमधिगतपदार्थतत्त्वस्य परं प्रतिपादयितुं सिद्धान्तनिरूपितार्थप्रतिपत्तिहेतुभूतयुक्तिगवेषणावहितचित्ता सर्वज्ञज्ञानप्रकाशनपरा अनया युक्त्या इयं सर्वविदामाज्ञाव-बोधयितुं शक्येति प्रवर्तमानत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यत इति । अनादौ संसारे स्वैरमनोवाक्कायवृत्तेर्मम अशुभ-मनोवाक्कायेभ्योऽपायः कथं स्यादिति अपाये विचयो मीमांसास्मिन्नस्तीत्यपायविचयं द्वितीयं धर्मध्यानं । जात्यन्धसंस्थानीया मिथ्यादृष्टयः समीचीनमुक्तिमार्गापरिज्ञानात् दूरमेवापयन्ति मार्गादिति सन्मार्गापाये प्राणिनां विषयो विचारो यस्मिंस्तदपायविचयं इत्युच्यत इति । मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः कथमिमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः ॥ विपाकविचयं उच्यते—समूलोत्तरप्रकृतीनां कर्मणामष्टप्रकाराणां चतुर्विधः बन्धपर्यायाणां मधुरकटुकविपाकानां तीव्रमध्यमंदपरिणामप्रपञ्चकृतानुभवविशेषाणां द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षाणां एतासु गतिषु योनिषु वा इत्थंभूतं फलमिति विपाके कर्मफले विचयो विचारोऽस्मिन्निति विपाकविचयं । वेत्रासनमल्लरीमृदंगसंस्थानो लोक इति लोकत्रयसंस्थाने विषयो विचारोऽस्मिन्निति संस्थानविषयता ॥१७०३॥

मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों सहित कर्म, उनके चार प्रकारके बन्ध, उदय और फलके भेद, जीव द्रव्य, मुक्ति अवस्था ये सब और इसी प्रकारके अन्य पदार्थ अतीन्द्रिय हैं। तथा श्रुत-ज्ञानावरणके क्षयोपशमका प्रकर्ष न होनेसे विशेष बुद्धि भी नहीं है। ऐसी अवस्थामें यद्यपि वस्तु तत्त्व समझमें नहीं आता तथापि सर्वज्ञके ज्ञानके प्रमाण होनेसे आगममें तो तत्त्व जैसा कहा है, वह वैसा ही है, अन्य रूप नहीं है इस प्रकारका निश्चय सम्यग्दर्शन रूप होनेसे मोक्षका कारण है। इस प्रकार सर्वज्ञकी आज्ञाके विचारका निश्चयरूप ज्ञान आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है। अन्य कुछ आचार्य ऐसा कहते हैं—स्वयंको तो पदार्थों और तत्त्वोंका सम्यग्ज्ञान है। किन्तु दूसरोंको समझानेके लिये सिद्धान्तमें कहे गये अर्थोंका ज्ञान करानेमें हेतुभूत युक्तियोंकी खोजमें मनको लगाना कि इस युक्तिके द्वारा सर्वज्ञकी आज्ञाको समझाया जा सकता है, इसे भी सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रकाशनमें संलग्न होनेसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं। इस अनादि संसारमें स्वच्छन्द मन वचन कायकी प्रवृत्तिमेंसे मेरा अशुभ मन वचन कायसे अपाय अर्थात् छुटकारा कैसे हो इस प्रकार अपायका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह अपायविचय नामक दूसरा धर्मध्यान है। जन्मसे अन्धे मनुष्योंके समान मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन मोक्षमार्गको न जाननेसे मोक्षमार्गसे दूर ही रहते हैं। इस प्रकार सन्मार्गसे प्राणियोंके भटकनेका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो उसे अपायविचय कहते हैं। अथवा संसारके ये प्राणी मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे कैसे अलग हों, कैसे उन्हें छोड़ें इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना अपायविचय है। विपाक-विचयका स्वरूप कहते हैं—मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति सहित आठ प्रकारके कर्मोंका और उनके चार प्रकारके बन्धोंका तथा द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे तीव्र मध्य और मन्द परिणामों के विस्तारसे होनेवाले विपाकका तथा उनके मधुर और कटुक फलोंका कि इन गतियोंमें अथवा योनियोंमें इस प्रकारका फल होता है। इस तरह विपाक अर्थात् कर्मफलका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह विपाकविचय धर्मध्यान है। अधोलोकका आकार वेत्रासनके समान है, मध्यलोक-

धर्मध्यानस्य लक्षणं निदिशति—

धम्मस्स लक्खणं से अज्जवलहुगत्तमद्दवुवदेसा ।
उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ॥१७०४॥

'धम्मस्स लक्खणं से' से तस्य । 'धम्मस्स' धर्मस्य ध्यानस्य । 'लक्खणं' लक्षणं । लक्ष्यते धर्म्यं ध्यानं येन तल्लक्षणं । 'अज्जवलहुगत्तमद्दवमुवदेसा' आकृष्टान्तद्वयतन्तुवत् कुटिलताविरहः आर्जवं । 'लघुगत्त' लघुता निस्सगता जात्याद्यष्टविधाभिमानाभावो मार्दवं । उपेत्य जिनमतं देशनं कथनमुपदेशः हितोपदेश इति यावत् । आर्जवादिभिः कार्यैर्लक्ष्यते धर्म्यध्यानमिति आर्जवादिकं लक्षणं । न ह्यार्तरौद्रे आर्जवादिकं सपादयतः । यदार्जवादिकं परिणाममात्मनः करोति तद्धर्म्यध्यानमिति लक्षणभावः । अथवा आर्जवादिपरिणामसद्भाव एव धर्म्यध्यानं प्रवर्तते नासत्यार्जवादौ । नहि मानमायालोभकषायाविष्टो धर्मे प्रवर्तते, तेनार्जवादिकं कारणं तेन लक्ष्यते धर्म्यमिति लक्षणतार्जवादीनाम् ॥१७०४॥

आलंबणं च वायण पुच्छण परिवट्टणाणुपेहाओ ।
धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥१७०५॥

आलम्बनप्रतिपादनायोत्तरगाथा । 'आलम्बणं च' आश्रयश्च । कस्य ? 'धम्मस्स' धर्मध्यानस्य, 'वायण पुच्छण परिवट्टणाणुपेहाओ' वाचना प्रश्नः, परिवर्तनमनुप्रेक्षेति स्वाध्यायविकल्पाः । वाचनादिस्वाध्यायाभावे

का आकार झल्लरी गोल झांझके समान और ऊर्ध्वलोकका आकार मृदंगके समान है। इस प्रकार तीनों लोकोंके संस्थानका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह संस्थानविचय धर्मध्यान है॥१७०३॥

धर्मध्यानका लक्षण कहते हैं—

गा०—आर्जव, लघुता, मार्दव, उपदेश और जिनागममें स्वाभाविक रुचि ये धर्मध्यानके लक्षण हैं ॥१७०४॥

टी०—जिसमें धर्मध्यानकी पहचान होती है वह उसका लक्षण है। एक धागेको दोनों ओरसे तानतेपर जैसे उसमें कुटिलता नहीं रहती, सरलता रहती है उसी प्रकारकी सरलताको आर्जव कहते हैं। लघुता अनासक्ति और निर्लोभताको कहते हैं। जाति आदि आठ बातोंका गर्व न करना मार्दव है। उप' अर्थात् किसीके पास जाकर 'देश' अर्थात् जिनमतका कथन करना उपदेश है अर्थात् हितोपदेश है। आर्जव आदि कार्योंसे धर्मध्यान पहचाना जाता है इसलिये आर्जव आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं। आर्त और रौद्रध्यान वालोंको आर्जव आदि नहीं होते। जो आत्माके आर्जव आदिरूप परिणाम करता है वह धर्मध्यान है। इस प्रकार आर्जवादि धर्मध्यानके लक्षण हैं। अथवा आर्जव आदि परिणामके होनेपर ही धर्मध्यान होता है, आर्जव आदिके अभावमें नहीं होता। जो मान, माया और लोभसे घिरा रहता है वह धर्ममें प्रवृत्ति नहीं करता। अतः आर्जवादिक धर्मध्यानके कारण हैं उनसे धर्मध्यानकी पहचान होती है। इसीलिये आर्जव आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं ॥१७०४॥

आगेकी गाथासे धर्मध्यानके आलम्बन कहते हैं—

गा०—वाचना, पृच्छना, परिवर्तन और अनुप्रेक्षा ये धर्मध्यानके आलम्बन हैं। तथा सब अनुप्रेक्षा धर्मध्यानके अविरुद्ध हैं ॥१७०५॥

वस्तुयाथात्म्यज्ञानमेव नास्तीति ध्यानाभावः । स तु स्वाध्यायो भवति ज्ञानमविचलं ध्यानमभिहितमित्यालम्बनता स्वाध्यायस्य । 'तेण' तेन धर्मेण ध्यानेनाविरुद्धा 'सव्वाणुपेहाओ' सर्वानुप्रेक्षा एकदैकत्राश्रये वृत्तेरविरोधः । अनित्यतादिवस्तुस्वभावानुप्रेक्षणमनुप्रेक्षासावालम्बनं ध्यानमिति । एतेनानुप्रेक्षाया ध्यानेऽन्तःपातित्वमावेदयता अनुप्रेक्षोपन्यासे बीजाधानं कृतम् ॥१७०५॥

पूर्वोक्तान् धर्मस्य चतुरो भेदान् व्याचष्टे चतसृभिर्गाथाभिः । तत्राज्ञाविचयं निरूपयति—

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाए दव्वमण्णे य ।
आणागेज्झे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥१७०६॥

'पंचेव अत्थिकाया' पञ्चास्तिकाया जीवाः पुद्गलधर्मास्तिकायाः धर्मास्तिकायाः अधर्मास्तिकाया आकाशमिति । तान् 'छज्जीवणिकायो' षड्जीवनिकायान्[1] 'दव्वं' कालाख्यं द्रव्यं 'अण्णे य' अन्यांश्च कर्मबन्धमोक्षादीन् । 'आणागेज्झे भावे' सर्वज्ञाज्ञयागम्यान्भावान् । 'आणाविचयेण' आज्ञाविचयाख्येन धर्मध्यानेन 'विचिणादि' विचारयति । सर्वविद्भिरपास्तरागद्वेषैः परमकारुणिकैः [2]यथामी निरूपितास्ते तथैवेति चिन्ताप्रबन्ध आज्ञाविचय इति यावत् । 'आणापायविवागविचये' इत्यस्मिन्पाठे अपायविचयो नाम धर्मध्यानमिति गाथापूर्वार्धेन व्याचष्टे ॥१७०६॥

कल्लाणपावगाणउपाये विचिणादि जिणमदमुवेच्च ।
विचिणादि वा अवाए जीवाण सुभे य असुभे य ॥१७०७॥

'कल्लाणपावगाण उपाये' तीर्थंकरपददायकानां दर्शनविशुद्ध्यादीनामुपायान् निःशङ्कादीन् विचिनोति

टी०—वाचना, प्रश्न करना, पाठ करना, अर्थका चिन्तन करना ये सब स्वाध्यायके भेद हैं। यदि वाचना आदि स्वाध्याय न किया जाये तो उसके अभावमें वस्तुके यथार्थस्वरूपका ज्ञान ही न होनेसे ध्यानका अभाव प्राप्त होता है। वह स्वाध्याय ज्ञान रूप है और निश्चल ज्ञानका नाम ध्यान है। अतः स्वाध्याय ध्यानका आलम्बन है। तथा सब अनुप्रेक्षाएँ एक समयमें एक आश्रयमें रह सकती हैं अतः वे भी धर्मध्यानके अनुकूल हैं। वस्तुके अनित्य आदि स्वभावका चिन्तन अनुप्रेक्षा है अतः वे भी ध्यानकी आलम्बन हैं। इस प्रकार ग्रन्थकारने अनुप्रेक्षाओंको ध्यानमें अन्तर्भूत कहकर आगे अनुप्रेक्षाओंके कथन करनेका बीज बो दिया है ॥१७०५॥

आगे चार गाथाओंसे धर्मध्यानके चार भेदोंको कहते हैं। सबसे प्रथम आज्ञाविचयको कहते हैं—

गा०-टी०—पाँच अस्तिकाय हैं—जीव पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश। इन अस्तिकायोंको, तथा पाँच प्रकारके स्थावरकाय और त्रसकाय इन छह जीवनिकायोंको, कालद्रव्यको तथा अन्य कर्मबन्ध मोक्ष आदिको जो सर्वज्ञको आज्ञासे ही गम्य है, आज्ञाविचय नामक धर्मध्यानके द्वारा विचार करता है। परम दयालु और राग-द्वेषसे रहित सर्वज्ञ देवने जिस रूपमें इन्हें कहा है वे उसी रूप हैं। इस प्रकारके चिन्तनको आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥१७०६॥

गा०—तीर्थङ्कर पदको देनेवाले दर्शनविशुद्धि आदिके उपाय निःशंकित आदिका विचार

---

१. यान् कालद्रव्य कालाख्य –अ० मु० । २. यथानीति –आ० ।

'जिनमत' जिनकथित उपदेश। 'विचिणादि वा अपाये जीवाण सुभे य असुभे य' जीवाना शुभाशुभकर्मविषयानपायान् तान्विचारयति। एतदुक्त भवति शुभाशुभकर्मण कथमपायो भवति जीवस्य इति चिन्ताप्रवाहोऽपायविचयो नाम। स्पष्टार्थोत्तरगाथा ॥१७०७॥

[1]एयाणेयभवगद जीवाण पुण्णपावकम्मफल ।
उदओदीरणसकमबंधे मोक्ख च विचिणादि ॥१७०८॥
अह तिरियउड्ढलोए विचिणादि सपज्जए ससठाणे ।
एत्थे व अणुगदाओ अणुपेहाओ वि विचिणादि ॥१७०९॥

'अह तिरिय उड्ढलोए' ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकान्। 'विचिणादि' विचारयति। कीदृग्भूतान्। 'सपज्जए' सपर्ययान् सस्थानसहितान् सपर्यायत्रिभुवनसस्थानविचारपर सस्थानविषयाख्य धर्मध्यान। 'एत्थेव' अत्रैव। 'अणुगदाओ' अनुगता। 'अणुपेक्खाओ वि' अनुप्रेक्षा अपि। 'विचिणादि' विचारयति। अनित्यत्वादिस्वभावविचार करोति धर्मध्याने इति कथित भवति ॥१७०८॥१७०९॥

कास्ता अनुप्रेक्षा इत्याशकायामध्रुवादीननुप्रेक्षान्निरूपयत्युत्तरप्रबन्धेन—

[2]अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णससारलोयमसुइत्त ।
आसवसवरणिज्जर धम्म बोधिं च चिंतिज्ज ॥१७१०॥

जिनभगवान्के द्वारा कथित उपदेशके अनुसार करता है। अथवा जीवोंके शुभ और अशुभ कर्मविषयक अपायोका विचार करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जीव शुभ और अशुभ कर्मो से कैसे छूटे इस प्रकारका सतत चिन्तन अपायविचय है ॥१७०७॥

गा०—जीवोंके एक भव या अनेक भव सम्बन्धी पुण्यकर्म और पापकर्मके फलका तथा उदय, उदीरणा, सक्रम, बन्ध और मोक्षका विचार करता है ॥१७०८॥

टी०—कर्मो के फल, उदय, उदीरणा, सक्रम, बन्ध तथा मोक्ष आदिका चिन्तन करना विपाकविचय धर्मध्यान है। क्रमसे कर्मो का अनुभवन होना उदय है और अक्रमसे कर्मो का फल देना उदीरणा है। अर्थात् जो कर्म उदयमे नही आ रहा है उसकी स्थितिको बलपूर्वक घटाकर कर्मका उदयमे लाना उदीरणा है। और एक कर्म प्रकृतिका अपनी सजातीय अन्य प्रकृतिरूप बदलना सक्रम है। इन सबका चिन्तन विपाकविचय धर्मध्यान है ॥१७०९॥

गा०—पर्याय अर्थात् भेद सहित तथा वेत्रासन, झल्लरी और मृदगके समान आकार सहित ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकका चिन्तन करना सस्थानविचय धर्मध्यान है। इसी सस्थानविचयमे सम्बद्ध अनुप्रेक्षाओका भी विचार करता है अर्थात् धर्मध्यानमे ससारके अनित्यत्वादि स्वभावका विचार करता है ॥१७०९॥

आगे अध्रुव आदि अनुप्रेक्षाओका कथन करते हैं—

गा०—अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, ससार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, सवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन बारह अनुप्रेक्षाओका चिन्तन करना चाहिये ॥१७१०॥

---

१ अ० प्रतौ गायेय नास्ति। २ एता श्रीविजयो नेच्छति।

लोगो विलीयदि इमो फेणोव्व सदेवमाणुसतिरिक्खो ।
रिद्धीओ सव्वाओ सुविणयसदसणसमाओ ॥१७११॥

'लोगो विलीयदि इमो' लोको विलयमुपयाति । किमिव ? 'फेणोव्व' फेनवत् । 'सदेवमाणुसतिरिक्खो' देवैर्मनुष्यैस्तिर्यग्भिश्च समन्वित । इत्यनेन लोकत्रयस्यापि विनाशितामिहिता । 'रिद्धीओ सव्वाओ' ऋद्धय सर्वा । 'सुमिणगसदसणसमाओ' स्वप्नज्ञानसमा । ननु 'लोगो विलीयदि इमो' इत्यनेन सर्वस्यानित्यता व्याख्याता, ऋद्धयादयोऽपि लोकान्तर्भूता इति किमर्थं भेदोपन्यास ? । अत्रोच्यते । समुदायस्यावयवात्मकस्यावयवानित्यतामन्तरेण तदनित्यता न सुखेनावगम्यत इति भेदोपन्यस्यते ॥१७१०॥१७११॥

द्रव्यगतो लोभो महान् प्राणभृता तन्मूलत्वादिन्द्रियसुखस्य । प्राणानप्यय त्यजति द्रव्यनिमित्तमतस्तदनित्यतामेव प्रागुपदर्शयति निस्सगतामात्मन सपादयितु—

विज्जूव चचलाइ दिट्ठपणट्ठाइ सव्वसोक्खाइ ।
जलबुब्बुदोव्व अधुवाणि हुति सव्वाणि ठाणाणि ॥१७१२॥

'विज्जूव चचलाइ' विद्युदिव चञ्चलानि, 'दिट्ठपणट्ठाइ' दृष्टप्रणष्टानि, 'सव्वसोक्खाइ' सर्वाणि सुखानि अभिमतरूपादिविषयपञ्चकस्य प्रपञ्चस्य सन्निधानादुपजातानि यानि च मन समुत्थानि सर्वेषा वा मानवाना तिरश्चा दिविजाना वा सुखानि सुखलम्पटतया जन क्लेशाशनिशतनिपातमपि सहते, तानि च नीरभरविन[1]तसभारगम्भीरघारारावनीलनी[2]रदोदरपरिस्फुरत्तडिल्लतेव,एतेनानित्यतादोषोप्रकटनेन सासारिकसुखपराङ्मुखतोपायो निगदित । 'जलबुब्बुदोव्व' जलबुद्बुदवत् । 'अधुवाणि' अध्रुवाणि । 'हुंति' भवन्ति ।

गा०–टी०—देव, मनुष्य और तिर्यञ्चोके साथ यह लोक जलके फेनके समान विनाशको प्राप्त होता है। इससे तीनो लोकोको विनाशशील कहा है। सब ऋद्धियाँ भी स्वप्नज्ञानके समान विनाशीक हैं।

शङ्का—'लोक विनाशशील है' इससे सबको अनित्य कह दिया है। ऋद्धि आदि भी लोकमे अन्तर्भूत हैं। फिर अलगसे उनको विनाशी कहनेका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—समुदाय अवयवात्मक है। अत अवयवोकी अनित्यताके विना समुदायकी अनित्यताका ज्ञान सुखपूर्वक नही होता। इससे ऋद्धियोको अलगसे अनित्य कहा है ॥१७११॥

प्राणियोको द्रव्यका लोभ बहुत अधिक होता है, क्योकि इन्द्रिय सुखका मूल द्रव्य है। इसीसे वह द्रव्यके लिये प्राणो तकको त्याग देता है। अत आत्माको नि सग बनानेके लिये प्रथम द्रव्यकी अनित्यता ही दर्शाते हैं—

गा०–टी०—इष्ट रूप आदि पाँच विषयोके समूहके सम्बन्धसे उत्पन्न तथा मनसे उत्पन्न सब मनुष्यो तिर्यञ्चो और देवोका सब सुख बिजलीके समान चपल है और देखते-देखते नष्ट होनेवाला है। आशय यह है कि मनुष्य सुखका लम्पटी होनेसे सैकडो वज्रपातोके गिरनेसे होनेवाले कष्टको भी सहता है। किन्तु वे सब सुख जलके भारसे नम्र हुए गम्भीर घोर शब्द करने वाले नीले बादलोके उदरमे चमकने वाली बिजुलीकी तरह हैं। इस अनित्यता दोषको प्रकट करनेसे सासारिक सुखसे विमुख होनेका उपाय कहा है। तथा सब स्थान जलके बुलबुलेकी तरह अध्रुव हैं।

---

१ नतभमग –अ० । २ नीरदोपपरि –अ० ।

'ठाणाणि सव्वाणि' सर्वाणि स्थानानि । तिष्ठन्त्येतेषु जीवा इति स्थानानि ग्रामनगरपत्तनादीनि । इद मदीयं स्थान अत्राहं वसामीति मा कृथा सकल्पं । तानि अनित्यानि नित्यबुद्धया परिगृहीतानि विनाशे सङ्क्लेशानानयन्तीति[1] कथितं । अथवा तिष्ठन्त्यस्मिन्स्वकृतविचित्रकर्मोदयात्प्राणिनः[2] इतीन्द्रत्वं, चक्रलाञ्छनत्वं, गणाधिपतित्वं वा एतानि स्थानान्यनित्यानि ॥१७१२॥

पावागदाव बहुगइपधाविदा हुंति सव्वसबंधी ।
सव्वेसिंआसया वि अणिच्चा जह अब्भसघाया ॥१७१३॥

'णावागदाव' जलयानपात्रारूढा इव 'बहुगविपधाविदा हुंति सव्वसबधी' विचित्रशुभाशुभपरिणामोपात्तगतिकर्मवशात्तदुपनीयमानदेवमानवनारकतिर्यक्त्वाख्यगतिपर्यायग्रहणाय कृतप्रयाणा बन्धव सर्वेऽपि । एतेन बन्धुताया अनित्यतोक्ता । उपात्तगत्यपरित्यागे बन्धुता स्थिरा भवति, उपात्ता चेन त्यक्तान्या च गृहीता पितृपुत्रादीना गत्यन्तरमुपगतानामपि बन्धुत्वे स्वजनपरजनविवेक एव न स्यादिति मन्यते । 'सव्वेसि आसया वि' सर्वेषामाश्रया अपि यानाश्रित्य प्राणिनो जीवितुमुत्सहन्ते तेप्याश्रया स्वामी भृत्य पुत्रो भ्रातेत्येवमाद्योऽनित्या यथा अब्भसघादा अभ्रसघाता इव ॥१७१३॥

सवासो वि अणिच्चो पहियाण पिण्डण व छाहीए ।
पीदी वि अच्छिरागोव्व अणिच्चा सव्वजीवाण ॥१७१४॥

'सवासो वि' सहावस्थानमपि बन्धुभिर्मित्रै परिजनैर्वा, 'अणिच्चो' अनित्य । 'पहियाण पिण्डण व

जिनमे जीव ठहरते हैं उन्हे स्थान कहते हैं । वे स्थान हैं—गाँव, नगर आदि । यह मेरा स्थान है । मैं यहाँ रहता हूँ । ऐसा सकल्प तुम मत करो । वे स्थान अनित्य हैं । उन्हे नित्य समझकर ग्रहण करनेपर यदि वे नष्ट होते है तो मनमे बड़ा सक्लेश होता है । अथवा अपने किये विचित्र कर्मके उदयमे प्राणी जिनमे रहते है वे स्थान हैं इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, गणधरपद । ये सब स्थान अनित्य हैं ॥१७१२॥

गा०-टी०—सब सम्बन्धी विचित्र शुभ या अशुभ परिणामोंमे बाधे गये गति नामकर्मके वशमे प्राप्त मनुष्यगति, देवगति, नारकगति और तिर्यञ्चगति रूप पर्यायको ग्रहण करनेके लिये जानेवाले हैं अत वे नावपर सवार यात्रियोंके समान हैं । जैसे नावपर सवार यात्री अपने-अपने स्थानपर चले जाते हैं उसी प्रकार हमारे सम्बन्धी अपने-अपने परिणामोंके अनुसार गति नामकर्मका बन्ध करके मरकर अपनी-अपनी गतिमे चले जाते हैं । इसमे बन्धुताको अनित्य कहा है । जो जिस गतिमें है वह उसी गतिमे रहे, उसे छोड़े नही तो बन्धुपना स्थिर होता है । जिस गतिमे है उसे छोड अन्य गतिको ग्रहण करे तो नित्य कैसे हुई । जो पिता पुत्र आदि मरकर दूसरी गतिमें चले गये फिर भी यदि वे अपने बन्धु हैं तो अपने और परायेका भेद ही नही रहता । तथा जिन आश्रयोंमे प्राणी जीवित रहते हैं वे आश्रय भी, जैसे स्वामी और सेवक, पत्र भ्राता आदि ये सब मेघपटलके समान अनित्य हैं ॥१७१३॥

गा०-टी०—जैसे नाना दिशाओं और नाना देशोंमे आये हुए और भिन्न-भिन्न स्थानोंको

---

१ शानान्या—मु० । २ प्राणिन इ—आ० मु० ।

छाहोए' नानादिग्देशागताना पथिकाना भिन्नस्थानयायिना मार्गोपकण्ठस्थितनिविडस[1]रपलाशालकारवितताशाखाकरशतनिवारितघर्मरश्मिप्रसरतरुवरशीतलाविरलविपुलछायाया पान्थाना समाज इव । 'पीदीवि' प्रीतिरपि । 'अच्छि रागोव्व' प्रणयकलहपांसुपातदूषितप्रियतमालुठत्पाठीनोदरधवललोचनान्तराग इव अनित्या सर्वजीवाना । तथाह्यप्रियाचरणविषकणिकाप्रणयलोचनप्रलय सविदधातीति प्राणभृतामनुभवसिद्धमेव ॥१७१४॥

रत्तिं एगम्मि दुमे सउणाण पिण्डणं व सजोगो ।
परिवेसोव अणिच्चो इस्सरियाणाधणारोग्गं ॥१७१५॥

'रत्तिं' रात्रौ । 'एगम्मि दुमे' एकस्मिन् द्रुमे । 'सगुणाण' पक्षिणा । 'पिण्डण व' पिण्डितमिव 'सजोगो' सयोगो [2]यस्यामस्तद्रुमाभिमुख तत्र वय प्राप्स्यामोन्योन्यमित्यकृतसकल्पाना यथाकथचिदन्योन्यप्राप्तिरल्पकाला तथा प्राणभृतामपि समानकालकालमारुतप्रेरितानामेकस्मि[3]न् कुलविटपिनि कतिपयदिनभावीसप्रयोग । 'परिवेसो व' परिवेष इव । 'अणिच्च' अनित्य । किं ? 'ईसरियाणाधणारोग' ऐश्वर्य प्रभुता आज्ञा धन आरोग्य च ॥१७१५॥

इंदियसामग्गी वि अणिच्चा सज्झाव होइ जीवाणं ।
मज्झण्ह व णराणं जोव्वणमणवट्ठिदं लोए ॥१७१६॥

'इंदियसामग्गीवि' इन्द्रियाणा सामग्र्यपि । 'अणिच्चा' अनित्या । अधता बधिरता च दृश्यत एव । 'मज्झण्ह व' मध्याह्नवत्, 'णराण जोव्वणमणवट्ठिद लोगे' नराणा यौवनमनवस्थित लोके यौवनोऽहमिति जन

जानेवाले पथिक मार्गके समीपमे स्थित अत्यन्त घने पलाश आदि वृक्षोंके फैले हुए शाखाभारसे सूर्यके तेजको दूर करनेवाले वृक्षोकी शीतल और घनी छायामे अपना समाज बनाकर बैठते हैं और धूप ढलनेपर अपने-अपने स्थानोंको चले जाते हैं। उन्हीकी तरह मित्र, बन्धु और परिजनोंके साथ सहवास भी अनित्य है। वे भी आयु पूरी होनेपर अपने अपने स्थानोंको चले जाते हैं। तथा सब जीवोंकी प्रीति भी अनित्य है। जैसे प्रेमकलहके कारण या धूल पड जानेसे प्रिय स्त्रीकी क्रीडा करती हुई मछलियोंके उदर भागके समान श्वेत लोचनोंके कोनोमे ललामी अनित्य है। अप्रिय आचरणरूपी विषकी कनी प्रेमरूपी नेत्रोंको नष्ट कर देती है यह बात सब प्राणियोंके अनुभवसे सिद्ध है अत प्रीति भी अनित्य है ॥१७१४॥

गा०—जैसे पक्षी सूर्यके अस्त होनेपर हम अमुक वृक्षपर मिलेंगे, ऐसा परस्परमे सकल्प नही करते। फिर भी जिस किसी प्रकार कुछ समयके लिये परस्परमे मिल जाते हैं। उसी प्रकार ससारके प्राणी भी समान कालरूप वायुसे प्रेरित होकर एक कुलरूपी वृक्षपर कुछ दिनोंके लिये आ मिलते हैं। तथा ऐश्वर्य, प्रभुता, आज्ञा, धन और आरोग्य भी सूर्यकी परिधिकी तरह अनित्य हैं ॥१७१५॥

गा०-टी०—सन्ध्याकालकी तरह इन्द्रियोंकी सामग्री भी अनित्य है। क्योंकि लोकमे अन्धे और बहरे मनुष्य देखे जाते हैं। तथा मध्याह्न कालकी तरह लोकमे मनुष्योंका यौवन भी अनव-

---

१ तरुखदिरपलाशालकारविततशा—आ० मु० । २ योग सूर्यस्य अस्ते द्रुमा—आ० ।
३ मेकैव—आ० ।

श्लाघ्यते, यौवनदर्पविकारादेव बुध्यमानोऽपि धर्मे न प्रयतते तदनित्य मध्याह्नवत्। क्षिप्रतर व्यतिवर्तिनि यौवने [1]का यौवनकृतोत्तीर्णमद स्याच्च मनस्विनाम् ॥१७१६॥

चदो हीणो व पुणो वड्ढदि एदि य उदू अदीदो वि ।
णदु जोव्वणं णियत्तइ णदीजलमदच्छिद चेव ॥१७१७॥

'चदो हीणोव पुणो वड्ढदि' नित्यराहुमुखकुहरप्रवेशाद्धानिमुपगतोऽपि निशानाय कृष्णपक्षे हीयते हीनो भवति। 'पुणो वड्ढदि' पुन शुक्लपक्षे वर्द्धते। प्रतिदिनोपचीयमानकाल। 'एदि य उदू अदीदोवि' हिमशिशिरवसन्तादयोऽतीता अपि ऋतव पुनरायान्ति 'न तु जोव्वण णियत्तेदि' नैव यौवन निवर्ततेऽतिक्रान्तम् तस्मिन्नेव भवे 'नदीजलमदच्छिद चेव' नदीजलमतिक्रान्तमिव न पुनरेति। तद्वदिद यौवनमित्यनेनानित्यताऽतिशयो यौवनस्य दर्शित ॥१७१७॥

धावदि गिरिणदिसोद व आउग सव्वजीवलोगम्मि ।
सुकुमालदा वि हायदि लोगे पुव्वण्हछाही व ॥१७१८॥

'धावदि गिरिणदिसोदव' धावति गिरिनदीप्रवाह इव। किं? 'आउग' आयु। 'सव्वजीवलोगहि' सर्वस्मिन् जीवलोके। 'सुकुमालदा वि हायदि' सुकुमारतापि हीयते। 'पुव्वण्ह छाही व' पूर्वाह्णच्छाया इव। यथा यथोद्गच्छति तामरसबन्धुस्तथा तथापसहरति छाया शरीरादीना ॥१७१८॥

अवरण्हरुक्खछाही व अट्ठिद वड्ढदे जरा लोगे ।
रूव पि णासइ लहु जलेव लिहिदल्लय रूव ॥१७१९॥

'अवरण्हरुक्खछाहीव' अपराह्णवृक्षच्छायेव। 'अट्ठिव वड्ढदे' अस्तित्व वर्द्धते। क्रियाविशेषणत्वान्नपु सकता। 'जरा लोगे' लोके। सौरूप्यपल्लवदवानलशिखा, सौभाग्यप्रसूनकरकावृष्टि, युवतिहरिणालीव्याघ्री,

स्थिन है। मनुष्य 'मैं युवा हू' इस प्रकारसे अपनी प्रशसा करता है। यौवनके घमण्डसे ही जानते हुए भी धर्ममे प्रयत्नशील नही होता। किन्तु वह यौवन मध्याह्नकालकी तरह अनवस्थित है। इस प्रकार शीघ्र ही जानेवाले यौवनका मनस्वियोको मद कैसा? अर्थात् यौवनका मद करना उचित नही है ॥१७१६॥

गा०–टी०—प्रतिदिन राहुके मुखरूपी बिलमें प्रवेश करनेसे चन्द्रमा कृष्णपक्षमे घटता है और पुन शुक्लपक्षमे प्रतिदिन बढता है। तथा हेमन्त, शिशिर, वसन्त आदि ऋतुएँ भी जाकर पुन लौटती हैं। किन्तु बीता हुआ यौवन उसी भवनमे नही लौटता। जैसे नदीमे गया जल फिर वापिस नही आता। उसी प्रकार यौवन भी जाकर वापिस नही आता। इससे यौवनकी अत्यन्त अनित्यता दिखलाई है ॥१७१७॥

गा०—सर्व जीवलोकमे आयु पहाडी नदीके प्रवाहकी तरह दौडती है। सुकुमारता भी पूर्वाह्णकी छायाके समान दौडती है। जैसे जैसे सूर्य ऊपर उठता है वैसे-वैसे शरीरादिकी छाया घटती जाती है। उसी तरह ज्यो-ज्यो आयु बढती है त्यो त्यो सुकुमारता कम होती है ॥१७१८॥

गा०–टी०—जैसे अपराह्ण कालमे वृक्षोकी छाया बढती है वैसे ही लोकमे एक बार

1 का नुणा मद स्याच्च –आ०।

ज्ञानलोचनपांशुवृष्टिस्तपस्तामरसवनस्य हिमानी, दीनताया जननी, परिभवस्य धात्री, मृतेर्दूती, भीतेः प्रियसखी या जरा सा वर्द्धते। 'रूवंपि णासदि लहु' रूपमपि विलासिनीकटाक्षेक्षणशरशततूणीरायमाणं, चेतोसूक्ष्मदुकूलवसनरञ्जने कौसुम्भरसायमानं, प्रीतिलतिकाया मूलं, सौभाग्यतरुफलं, कूलं पूज्यताया यद्रूपं तल्लघु विनश्यति॥ किमिव ? 'जलेव लिहिदेल्लग रूव' जले लिखितरूपमिव ॥१७१९॥

तेओ वि इंदधणुतेजसण्णिहो होइ सव्वजीवाणं।
दिट्ठपणट्ठा बुद्धी वि होइ उक्काव जीवाणं ॥१७२०॥

'तेओवि इंदधणुतेजसण्णिहो' शरीरस्य तेजोऽपि पौलं मौप्रियतमचापस्य तेज इव गर्जज्जननयनचेतःप्रमोददाय्यपि क्षणेन क्षयमुपव्रजति। 'दिट्ठपणट्ठा' दृष्टप्रणष्टा बुद्धि वि' सकलवस्तुयाथात्म्यावकुण्ठज्ञानतमःपटलपाटनपटीयसी, विचित्रदुःखग्राहव्रजव्याकीर्णकुगतिविशालनिम्नगाप्रवेशननिवारणोद्यता, चारित्रनिधिप्रकटनक्षमादीपवर्तिः, सकलसम्पदाकर्षणविद्या शिवगतिनायिकासखी एवंभूता बुद्धिरप्युल्केवाशु नाशमुपयाति ॥१७२०॥

अदिवडइ बलं खिप्पं रूवं धूलीकदव्वरछाए।
वीचीव अद्धुवं वीरियंपि लोगम्मि जीवाणं ॥१७२१॥

'अदिवडइ बलं खिप्पं' क्षिप्रमतिपतति बलं 'रूवं धूलीकदव्वरछाए' रथ्याया पांसुरचितरूपमिव।

आनेपर बुढापा बढ़ता जाता है। यह बुढ़ापा सुन्दरतारूपी कोमल पत्तोंके लिये वनकी आगकी लपटके समान है। सौभाग्यरूपी पुष्पोंके लिये ओलोंकी वर्षाके समान है। तारुण्यरूपी हरिणोंकी पंक्तिके लिये व्याघ्रके समान है। ज्ञानरूपी नेत्रके लिये धूलकी वर्षाके समान है। तपरूपी कमलोंके वनके लिये वर्फ गिरनेके समान है। अर्थात् वृद्धावस्थाके आनेपर सुन्दरता, सुभगता, तारुण्य, ज्ञान और तप सब क्षीण हो जाते हैं। यह वृद्धावस्था दीनताकी माता है, तिरस्कारकी धाय है, मृत्युकी दूती है और भयकी प्रिय सखी है। तथा जलमें लिखे हुए रूपके समान रूप भी शीघ्र नष्ट हो जाता है। यह रूप सुन्दर स्त्रियोंके कटाक्षरूपी सैकड़ों बाणोंके लिये तूणीरके समान है अर्थात् पुरुषके रूपको देखकर स्त्रियाँ उसपर कटाक्षवाण चलाती हैं। चित्तरूपी सूक्ष्मवस्त्रको रंगनेके लिये कुसुम्भके रंगके समान है। प्रीतिरूपी लताका मूल है। सौभाग्यरूपी वृक्षका फल है। पूज्यताका किनारा है। ऐसा रूप भी शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥१७१९॥

गा०-टी०—शरीरका तेज भी इन्द्र धनुषके तेजके समान है। जैसे इन्द्रधनुषकी कान्ति मनुष्योंके नेत्रों और चित्तको आनन्दकारी होती है किन्तु क्षणभरमें नष्ट हो जाती है वही दशा शरीरकी कान्तिकी भी है। जो बुद्धि समस्त वस्तुओंके यथार्थस्वरूपको ढाकनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकारके पटलको नष्ट करनेमें अतिशय दक्ष है, विचित्र दुःखरूपी मगरमच्छोंके समूहसे व्याप्त कुगतिरूपी विशाल नदीमें प्रवेश करनेसे रोकनेमें तत्पर है, चारित्ररूपी निधिको प्रकट करनेमें दीपककी बत्तीके समान है, समस्त सम्पदाओंको लानेवाली विद्यातुल्य है और मोक्षगतिरूपी नायिकाकी सखी है, ऐसी बुद्धि भी शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥१७२०॥

गा०—जैसे मार्गमें धूलीसे रचा गया आकार शीघ्र नष्ट हो जाता है वैसे ही जीवोंका

---

१ कुटनाशान—आ०।

'वीचीव' चण्डप्रभञ्जनाभिघातोत्थापिततरलतरङ्गमालेव, 'अद्‌धुव' अध्रुव । 'वीरिय' वीर्यमपि । जीवाना शरीरस्य दृढता बल वीर्यमात्मपरिणाम ॥१७२१॥

हिमणिचओ वि व गिहसयणासणभंडाणि होंति अधुवाणि ।
जसकित्ती वि अणिच्चा लोए संज्झब्भरागोव्व ॥१७२२॥

स्पष्टोत्तरगाथा—

किह दा सत्ता कम्मवसत्ता सारदियमेहसरिसमिणं ।
ण मुणंति जगमणिच्चं मरणभयसमुत्थिया संता ॥१७२३॥

'किह' कथ तावन् । 'अणिच्च जग ण मुणंति' जगदनित्य न जानन्ति । के ? [1]'सत्ता' सीदन्ति स्वकृतपापवशात्तासु तासु योनिष्विति सत्त्वा । सारदियमेघसरिसमिणं' शरदृतुसमुद्गतनैकवर्णविचित्र-संस्थानजीमूतमालासदृश । 'मरणभयसमुच्छिदा संता' मरण विष [2]वृषतमजीवितस्य सरित्कूल प्रियवियोगदार-कस्य, शोकाशनेर्जलदपटल, अयस्कान्तोपल' दु खलोहाकर्षणे, बन्धुहृदयोपलानां द्रावकमौषधमायतापदामायतन एवभूतमरणभयसमुत्थिता सन्त । एवमनित्यतामशेषवस्तुविषया ध्येयीकृत्य प्रवर्तते धर्म्यं ध्यान । अद्‌धुव ॥१७२३॥

अशरणताकथनायोत्तरप्रबन्ध । कर्माण्यात्मपरिणामोपार्जितानि कषायपरिणामोपनीतचिरकालस्थितीनि सन्निहितक्षेत्रकालभावाख्यसहकारिकारणानि यदा फलमशुभ प्रयच्छति तदा तानि न निवारयितु कश्चित्स-मर्थोऽस्ति तेनाशरणोऽस्म्यहमिति चिन्ताप्रबन्ध कार्य इत्याचष्टे—

णासदि मदी उदिण्णे कम्मे ण य तस्स दीसदि उवाओ ।
अमदंपि विसं सत्थं तणं पि णीया वि हुंति अरी ॥१७२४॥

बल शीघ्र नष्ट हो जाता है । तथा जीवोंका वीर्य भी प्रचण्ड वायुके अभिघातसे उठी हुई चचल तरगमालाके समान अध्रुव है । जीवोंके शरीरकी दृढताको बल और जीवोंके आत्मपरिणामको वीर्य कहते हैं । ये दोनो ही शीघ्र नष्ट होनेवाले हैं ॥१७२१॥

गा०—घर, शय्या, आसन, भाण्ड ये सब भी बर्फके समूहकी तरह अध्रुव हैं । तथा लोकमे यशकी कीर्ति भी सन्ध्याके समय आकाशकी लालिमाकी तरह अनित्य है ॥१७२२॥

गा०—मरणके भयसे युक्त होनेपर भी अपने अपने कामोमे लीन प्राणी शरत् कालके मेघके समान इस जगत्‌को अनित्य क्यो नही जानते ॥१७२३॥

टी०—अपने किये हुए पापके वशसे उन-उन योनियोमे जो कष्ट उठाते हैं उन्हे सत्त्व कहते है । यह जगत् शरद ऋतुमे उठे हुए अनेक रग और अनेक आकार वाले मेघमालाके समान अनित्य है । तथा जिन्हे अपना जीवन प्रिय है उनके लिये मरण विषके समान है । प्रियजनके वियोगरूपी वृक्षके लिये नदीका तट है । शोकरूपी वज्रपातके लिये मेघपटल है । दुःखरूपी लोहेको लानेके लिये चुम्बक पत्थर है । बन्धुओंके हृदयरूपी पत्थरको पिघलानेके लिये औषध है । मरने पर कठोर हृदय कुटुम्बियोका भी मन पिघल जाता है । लम्बी विपत्तियोका घर है । ऐसा मरणके भयको जानते हुए भी लोग जगत्‌की अनित्यताको नही समझते यह आश्चर्य और खेदकी बात है ॥१७२३॥

---

१ सत्ता विरोति स्व—आ० । २ वृषतनजी—अ० ।

'णासदि मदी' नश्यति मतिः । 'उदिण्णे कम्मे' उदीर्णे कर्मणि । बुद्धिर्द्विधा स्वाभाविकी आगमभवा च । सा द्वयी यस्यासौ हितमवैति नेतरः । उक्तं च—

द्विधेह बुद्धिं प्रवदन्ति सन्तः स्वाभाविकीमागमसंभवाञ्च ।
बुद्धिद्वयं यस्य शरीरिणः स्यादिष्टं हितं सो लभते न चान्यः ॥१॥
स्वाभाविकी यस्य मतिर्विशुद्धा, तीर्थादवाप्तं न तु शास्त्रमस्ति ।
द्रष्टुं हितं धर्ममसौ न शक्तो भाषा [1]विना रूपमिवाप्यनन्धः ॥२॥
तीर्थादवाप्तं श्रुतमस्ति यस्य स्वाभाविकी नास्ति मतिर्विशुद्धा ।
श्रुतस्य नाप्नोति फलं स तस्य दीपस्य हस्तेऽपि सतो यथान्धः ॥३॥
किं दर्पणेनावृतलोचनस्य [2]विदानभोगस्य धनेन वा किम् ।
शास्त्रेण किं वा युधि भीरुकस्य तथैव किं मन्दमतेः श्रुतेन ॥४॥

ईदृशी बुद्धिर्नश्यति ज्ञानावरणाख्ये कर्मण्युदयमुपागते । तच्च ज्ञानावरणं बध्नाति जन्तुर्ज्ञानिनां ज्ञानस्य ज्ञानोपकरणानां च द्वेषान्निह्नवादुपघातात् मात्सर्याद् विघ्नकरणादासादनाद् दूषणात् । ज्ञानादेर्निप्रह्वकरणाद-

इस प्रकार अध्रुवभावनाका कथन समाप्त हुआ । आगे अशरणभावनाका कथन करते हैं—

कर्मबन्ध आत्माके परिणामोंसे होता है । जीवके ही कषायरूप परिणामोंका निमित्त पाकर उन कर्मोंकी दीर्घ स्थिति होती है । प्राप्त द्रव्य क्षेत्र काल और भाव उनके सहकारी कारण होते हैं । जब वे कर्म अशुभ फल देते हैं तो उनको कोई रोक नहीं सकता । अतः मैं अशरण हूँ ऐसा विचारना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०-टी०—कर्मका उदय होनेपर बुद्धि नष्ट हो जाती है । बुद्धि दो प्रकारकी होती है एक स्वाभाविक और दूसरी आगमिक । जिसके दोनों प्रकारकी बुद्धि होती है वह अपने हितको जानता है । जिसके वह बुद्धि नहीं होती वह नहीं जानता । कहा भी है—

सन्त पुरुष दो प्रकारकी बुद्धि कहते हैं—एक स्वाभाविक, दूसरी आगमसे उत्पन्न हुई । जिस शरीरधारीके ये दोनों बुद्धियाँ होती हैं वह अपने इष्ट हितको प्राप्त करता है । जिसके दोनों बुद्धिया नहीं हैं वह हितको प्राप्त नहीं कर सकता । जिसके पास स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धि तो है किन्तु जिसने शास्त्राभ्यास करके आगमिक बुद्धि प्राप्त नहीं की है वह हितकारी धर्मको उसी प्रकार नहीं देख सकता, जैसे दृष्टिसम्पन्न पुरुष रूपको देखते हुए भी भाषाके बिना उसको कह नहीं सकता । जिसके पास गुरुसे प्राप्त शास्त्र तो है किन्तु उसे समझनेकी स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धि नहीं है वह भी श्रुतका फल नहीं प्राप्त कर सकता । जैसे अन्धा पुरुष हाथमें दीपक होते हुए भी उसका फल नहीं पाता । जिसके लोचन मुंदे हैं उसे दर्पणसे क्या लाभ ? जो न दान देता है न भोगता है उसे धनसे क्या लाभ ? जो डरपोक है उसे युद्धमें शास्त्रसे क्या लाभ ? इसी तरह मन्दबुद्धि पुरुषको शास्त्रसे क्या लाभ ? ॥

ज्ञानावरण नामक कर्मका उदय आनेपर इस प्रकारकी बुद्धि नष्ट हो जाती है । ज्ञानियोंसे, ज्ञानसे और ज्ञानके उपकरणोंसे द्वेष करनेसे, ज्ञानको और ज्ञानके साधनोंको छिपानेसे, प्रशंसनीय ज्ञानमें दूषण लगानेसे, ईर्षावश किसीको ज्ञानदान न करनेसे, किसीके ज्ञानाराधनमें बाधा डालनेसे,

१ ना वानमिवा —आ० । २ स्यावि —अ० ।

काले पठनात परेन्द्रियोपघातकारणाद्वा र्दजित अवग्रहेहावायधारणाविकल्प मतिज्ञान श्रुतादिकं वा नाशयति । उक्तं च—

अवग्रहीतुं च तयेहितुं च सोवेहितुं धारयितुं च सम्यक ।
नाल भवत्यर्जितवान्पुरा य कर्माधम ज्ञानवृतेनिमित्तम् ॥१॥

अन्धश्च पश्यन् बधिरश्च शृण्वन् जिह्वा विनाऽसौ रसनास्तथाऽश्नन् ।
[2]त्वचो विनाशे वरशीतकादि जानन्नसौ कर्मविभाववद्ध ॥२॥

घ्राण विना गन्धमय हि जीवो जानाति नित्य निखिल जगच्च ।
परन्तु बोधावृतिकर्मनाम्ना प्रोद्यत्तरा न विषयेषु वेत्ति ॥३॥

एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियता भवेत् स त्रीन्द्रियत्व चतुरिन्द्रियत्वम् ।
तेनावृत कर्ममहाम्बुदेन प्राप्नोति जीवो विमनस्कता च ॥४॥

द्रष्टु हित श्रोतुमथेहितु च कर्तुं च दातु विधिना च भोक्तुम् ।
स्वकर्मणा तेन नरो वृतस्सन् न बुध्यमान पशुनैति साम्यम् ॥५॥

स्वबुद्धि[3]मात्रामपि ज्ञातुमाप्तु श्रेय समीपस्थमि[4]हाप्यविद्वान् ।
सुदूरसस्थ च [5]श्रु तोऽभिगम्य स केन विन्द्यात् परलोकपथ्यम् ॥६॥

प्रशस्त ज्ञानकी प्रशसा न करनेसे, जीव ज्ञानावरण कर्मका बन्ध करता है। तथा ज्ञानादिका निग्रह करनेसे, अकालमें स्वाध्याय करनेसे, दूसरेकी इन्द्रियोका घात करनेसे सचित मतिज्ञानका, जिसके अवग्रह ईहा अवाय और धारणा भेद हैं तथा श्रुतज्ञान आदिका नाश हो जाता है। कहा है—

जो पहले ज्ञानको रोकनेमे निमित्त नीच कर्म उपार्जित कर चुका है, वह सम्यक्रूपसे पदार्थको अवग्रहण करनेमे, ईहित करनेमे, अवायरूपसे जाननेमे तथा जाने हुएको धारण करनेमे समर्थ नही होता। अर्थात् उसे पदार्थोका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप ज्ञान नही होते। यह जीव आँखोंके विना देखता है। कानोंके विना सुनता है। जिह्वाके विना रसोका स्वाद लेता है। त्वचाके विना शीत आदिका अनुभव करता है। किन्तु कर्मोसे बद्ध होनेसे ऐसा नही कर सकता। तथा यह जीव विना नाकके गन्धको जानता है किन्तु ज्ञानावरण नामक कर्मका उदय होनेसे इन्द्रियोंके विना विषयोको नही जानता। उस ज्ञानावरण नामक कर्मरूपी महामेघसे ढका होनेसे यह जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असैनी पञ्चेन्द्रिय होता है। अपने ज्ञानावरण कर्मके उदयसे मनुष्य न हितको देखता है, न सुनता है, न हितको जाननेकी इच्छा करता है, न विधिपूर्वक धन देता है, न उसे भोगता है। इस प्रकार वह पशुके समान हो रहा है। जो अपने समीपवर्ती भी कल्याणको जो कि अपनी बुद्धिमात्रसे प्राप्त करने योग्य है, नही जानता, वह सुदूरवर्ती और शास्त्रके द्वारा जानने योग्य परलोकमे जो हितकर है उसे कैसे जान सकता

---

१ णादर्जि –अ०। २ त्वगीतये मयपि विप्रगेव न यो विनेपान् विषयेषु वेत्ति ॥२॥ एकेन्द्रिय –अ०, मु०। ३ द्विमाप्यार्नापि –आ०। ४ हास्यति –अ०। ५ च तर्तोऽभिगम्य मेत्तेन विद्या –अ०।

महागुहा भीमतम प्रवेशात् सदाप्यगाधाम्भसि मज्जनाच्च ।
घनाच्चिर चारकरोधनाच्च स्यादि्हिन कष्टतरोऽज्ञभाव ॥७॥
तम प्रवेशोऽम्भसि मज्जन च स्याद्दु लक्ष्च्चारकरोधन च ।
जाताविहैकत्र भवास्त्वनन्तानज्ञानज दुःखमनुप्रयाति ॥८॥
नाल विशाल नयन तृतीय श्रुत च मत्या रहितो गृहीतुम् ।
अन्धोऽपि यस्मिन् सति याति मार्गं क्षेमे शिवे मोक्षमहापुरस्य ॥९॥

एव भूतामज्ञतामापादयति ज्ञानावरण न किञ्चित्तन्निवारणक्षम शरणमस्ति । 'ण तस्स दिस्सदि उवाओ' नैव तस्य कर्मणो निवारणे उपायो दृश्यते । असद्वेदस्य कर्मण उदयात् 'अमद पि विस होदि' अमृतमपि विष भवति । 'तणमवि सत्थ तृणमपि शस्त्र भवति । 'णीआ वि होंति अरी' बन्धवोऽपि शत्रवो भवन्ति ॥१७२४॥

ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे किं स्यादित्याह—

मुक्खस्स वि होदि मदी कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ ।
णीया अरी वि सत्थ वि तण अमय च होदि विसं ॥१७२५॥

'मुक्खस्स वि होदि मदी' मूर्खस्यापि भवति मति । 'कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ' कर्मोपशमे ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे सति उपायो दृश्यते सुभगत्वपुण्यकर्मोदयात । 'णीया अरी वि' शत्रवोऽपि बन्धवो भवन्ति 'सत्थ पि तण' शस्त्रमपि तृण भवति, 'अमद होदि विस' विषमप्यमृत भवति सदवेद्योदये ॥१७२५॥

पाओदएण अत्थो हत्थ पत्तो वि णस्सदि णरस्स ।
दूरादो वि सपुण्णस्स एदि अत्थो अयत्तेण ॥१७२६॥

'पावोदयेण' लाभान्तरायस्य कर्मण उदयेन, 'अत्थो हत्थ पत्तो वि णस्सदि णरस्स' हस्तप्राप्तोऽप्यर्थो नश्यति पुस । 'दूरादो वि' दूरतोऽपि । 'सपुण्णस्स' पुण्यवत । 'एदि अत्थो' आयात्यर्थो । 'अयत्तेण' अयत्नेन ॥१७२६॥

है । इस प्राणीका अज्ञानभाव महान् गुफाके भीतर भयकर अन्धकारमे प्रवेश करनेसे, सदा अगाध जलमें डूबे रहनेसे और चिरकाल तक जेलखानेमें पडे रहनेसे भी अधिक कष्टदायी है । अन्धकारमे प्रवेश जलमे डूबना और जेलखानेमे पडे रहना तो एक ही भवमे दु खदायी है किन्तु अज्ञानजन्य दु ख अनन्त भवोंमें दु खदायी ह । श्रुतज्ञान तीसरा विशाल नेत्र है । किन्तु बुद्धिसे रहित प्राणी उसे ग्रहण नही कर सकता । उस श्रुतज्ञानके होनेपर अन्धा मनुष्य भी मोक्षरूपी महानगरके कल्याणकारी मार्ग पर जाता है ।

ज्ञानावरण कर्म इस प्रकारकी अज्ञताको लाता है उसको निवारण करनेमे समर्थ कोई शरण नही है । उसके निवारण का कोई उपाय नही है । असातावेदनीय कर्मके उदयसे अमृत भी विष हो जाता है । तृण भी शस्त्र हो जाता है और बन्धु-बान्धव भी शत्रु हो जाते हैं ॥१७२४॥

गा०-टी०—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर क्या होता है, यह कहते है—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर मूर्खको भी बुद्धि प्राप्त होती है । पुण्यकर्मका उदय होनेसे कर्मोके उपशमका उपाय दृष्टिगोचर होता है तथा सातावेदनीयके उदयमें शत्रु भी बन्धु हो जाते हैं, शस्त्र भी तृण हो जाता है और विष भी अमृत हो जाता है ॥१७२५॥

गा०—पाप अर्थात् लाभान्तराय कर्मके उदयमे मनुष्यके हाथमे आया भी पदार्थ नष्ट हो

पाओदएण सुट्ठु वि चेट्ठंतो को वि पाउणदि दोस ।
पुण्णोदएण दुट्ठु वि चेट्ठंतो को वि लहदि गुण ॥१७२७॥

'पावोदएण' अयशस्कीर्तेरुदयेन । 'सुट्ठु वि चेट्ठंतो' सम्यक् चेष्टमान । 'कोवि पाउणदि दोस' कश्चित्प्राप्नोति दोष । 'पुण्णोदयेण' पुण्यकर्मण उदयेन । 'दुट्ठु वि चेट्ठंतो' यत्किचिदकार्य कुर्वन्नपि । 'कोवि लभदि गुण' कश्चिल्लभते गुणम् ॥१७२७॥

पुण्णोदएण कस्सइ गुणे असते वि होइ जसकित्ती ।
पाओदएण कस्सइ सगुणस्स वि होइ जसघाओ ॥१७२८॥

'पुण्णोदएण' पुण्यस्योदयेन । 'कस्सइ होइ जसकित्ती' कस्यचिद्भवति यशस्कीर्तिश्च । 'पावोदएण' पापस्योदयेन । 'कस्सइ सुगुणस्स वि' कस्यचित् सुगुणवतो पि । 'जसघादो होदि' यशोघातो भवति ॥१७२८॥

णिरुवक्कमस्स कम्मस्स फले समुवट्ठिदंमि दुक्खंमि ।
जादिजरामरणरुजाचिंताभयवेदणादीए ॥१७२९॥

'णिरुवक्कमस्स' नि प्रतीकारस्य कर्मण । 'फले समुवट्ठिदहि दुक्ख हि' समुपस्थिते दु खे, 'जादि-जरामरणरुजाचिंताभयवेदणादीगे' जातो, जरायां, मरणे, व्याधौ, चिन्तायां, भये, वेदनादौ च समुपस्थिते ॥१७२९॥

जीवाण णत्थि कोई ताण मरण च जो हवेज्ज इध ।
पायालमदिगदो वि य ण मुच्चदि सकम्मउदयम्मि ॥१७३०॥

'जीवाण' जीवस्य । नास्ति कश्चित्त्राता शरण वा । 'जो हवेज्ज' यो भवेत् । 'पायालमदिगदो वि' पाताल प्रविष्टोऽपि । 'ण मुच्चदि' । न मुच्यते दु खात् । 'सकम्मउदयेहि' स्वकर्मोदये सति ॥१७३०॥

गिरिकंदर च अडवि सेल भूमि च उदधि लोगत ।
अदिगतूण वि जीवो ण मुच्चदि उदिण्णकम्मेण ॥१७३१॥

जाता है। और पुण्यवानको बिना प्रयत्न किये दूरसे भी पदार्थ प्राप्त होता है ॥१७२६॥

गा०—पाप अर्थात् अयश कीर्ति नामक कर्मके उदयमें सम्यक् चेष्टा करनेवाला भी दोषका भागी होता है। और पुण्य कर्मके उदयसे न करने योग्य भी काम करनेवाला प्रशसाका पात्र होता है ॥१७२७॥

गा०—पुण्यके उदयमे किसीमें गुण न होते भी उसका यश फैलता है। और पापके उदयमें गुणवानका भी अपयश होता है ॥१७२८॥

गा०—जिसका कोई प्रतीकार नही है ऐसे कर्मका उदय आनेपर जन्म, जरा, मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना आदि दु ख भोगने होते हैं ॥१७२९॥

गा०—ऐसी अवस्थामें जीवका कोई रक्षक नहीं है जिसकी वह शरणमें जाये। अपने कर्मके उदयमें पातालमें प्रवेश करनेपर भी कर्मसे छुटकारा नही होता ॥१७३०॥

गिरिकन्दरं च' गिरिकन्दरं अटवीं शैलभूमिसमुद्रांश्च । लोकान्तं प्रविष्टोऽपि जीवो न मुच्यते । उदयागतेन कर्मणा ॥१७३१॥

दुगचदुअणेयपाया परिसप्पादी य जंति भूमीओ ।
मच्छा जलम्मि पक्खी णभम्मि कम्मं तु सव्वत्थ ॥१७३२॥

'दुगचदुअणेयपाया' द्विचतुश्चरणादिकाः । परिसप्पादी य जंति भूमीओ' परिसर्पादयश्च यान्ति भूमावेव । मत्स्या जले पक्षिणो नभसि यान्ति । कर्म सर्वत्र ॥१७३२॥

रविचदवादवेउव्वियाणमगमा वि अत्थि हु पदेसा ।
ण पुणो अत्थि पएसो अगमो कम्मस्स होइ इह ॥१७२३॥

'रविचदवादवेउव्वियाण' सूर्येण, चन्द्रेण, वातेन, देवैश्चागम्याः सन्ति प्रदेशाः । न कर्मणामगम्योऽस्ति प्रदेशोऽस्ति लोके ॥१७३३॥

विज्जोसहमंतबलं बलवीरिय अस्सहत्थिरहजोहा ।
सामादिउवाया वा ण होंति कम्मोदए सरणं ॥१७३४॥

'विज्जामंतोसधिबलवीरिय' विद्या स्वाहाकारान्ता तद्रहितता मन्त्रस्य । वीर्यमात्मनः शक्तिविशेषः । बलमाहारव्यायामजं शरीरस्य दार्ढ्यं, अनीकबन्ध । सामभेददण्डोपप्रदानाख्याश्च हेतवो न शरणं ॥१७३४॥

जह आइच्चमुदितं कोई वारंतओ जगे णत्थि ।
तह कम्ममुदीरतं कोई वारतओ जगे णत्थि ॥१७३५॥

'जह आइच्चमुदितं' यथा दिनमणिमुदयाचलचूडामणितामुपयान्तं न निवारयति कश्चित् तथा कर्मविपाकसहकारिकारणं कर्म न निषेद्धुमस्ति समर्थः ॥१७३५॥

गा०—पहाडकी गुफा, अटवी, पर्वत, भूमि, समुद्र, यहाँ तक कि लोकके अन्त तक चले जानेपर भी जीव उदयप्राप्त कर्मसे नहीं छूटता ॥१७३१॥

गा०—दोपाये, चौपाये और अनेक पैर वाले सर्प आदि तो भूमिपर ही जाते हैं। मच्छ जलमें जाते हैं। पक्षी आकाशमें जाते हैं किन्तु कर्म सर्वत्र पहुँचता है। उसकी गति सर्वत्र है ॥१७३२॥

गा०—लोकमें ऐसे प्रदेश हैं जो सूर्य, चन्द्र, वायु और देवोंके द्वारा अगम्य हैं अर्थात् जहाँ ये नहीं जा सकते। किन्तु ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ कर्मकी गति नहीं है ॥१७३३॥

गा०—कर्मका उदय होनेपर विद्या, मंत्र, औषध, बल वीर्य, घोड़े, हाथी, रथ, योद्धा, साम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपाय शरण नहीं हैं ॥१७३४॥

टी०—जिसके अन्तमें स्वाहाकार होता है उसे विद्या कहते हैं। और जिसके अन्तमें स्वाहाकार नहीं होता उसे मंत्र कहते हैं। वीर्य आत्माकी शक्तिको कहते हैं और बल आहार व्यायामसे उत्पन्न शरीरकी दृढ़ताको कहते हैं ॥१७३४॥

गा०—जैसे सूर्यको उदयाचलसे मस्तकपर आनेको जगत्में कोई नहीं रोक सकता उसी

रोगाणं पडिगारा दिट्ठा कम्मस्स णत्थि पडिगारो।
कम्म मलेदि हु जग हत्थीव णिरकुमो मत्तो ॥१७३६॥

'रोगाण पडिगारा दिट्ठा' व्याधीना प्रतीकारा दृष्टा औषधादय । कर्मणा नास्ति प्रतीकार । जगदशेष मर्दयति कर्म मदगज इव निरङ्कुशो नलिनीवन ॥१७३६॥

रोगाण पडिगारो णत्थि य कम्मे णरस्स समुदिण्णे।
रोगाण पडिगारो होदि हु कम्मे उवसमते ॥१७३७॥

'रोगाण पडिगारो' व्याधीना प्रतीकारो नास्ति कर्मण्यसद्वेद्ये प्राप्तोदये सति, पथ्यौषधादिभिरुपशमो रोगादीना सोऽपि कर्मव्युपशम गत एव नानुपशान्तेऽन्न ॥१७३७॥

विज्जाहरा य बलदेववासुदेवा य चक्कवट्टी वा ।
देविंदा व ण सरण कस्सइ कम्मोदए होंति ॥१७३८॥

'विज्जाहरा य' विद्याधरादयो महाबलपराक्रमा अपि न शरण भवन्ति कर्मोदय इति गाथार्थ ॥१७३८॥

वोल्लेज्ज च कमतो भूमिं उदधिं तरिज्ज पवमाणो ।
ण पुणो तीरदि कम्मस्स फलमुदिण्णस्स वोलेदुं ॥१७३९॥

'वोल्लेज्ज' उल्लङ्घयेत् गच्छन् भूमि, समुद्र तरेत् प्लवमान । उदीर्णस्य कर्मण फलमुल्लङ्घयितु न वेत्ति कोऽन्यो वा महाबलोऽपि ॥१७३९॥

सीहतिमिंगिलग हिदस्स मगो मच्छो व णत्थि जह सरण ।
कम्मोदयम्मि जीवस्स णत्थि सरण तहा कोई ॥१७४०॥

'सीहतिमिंगिलगहिदस्स' सिंहेन तिमिंगिलाख्येन महामत्स्येन च गृहीतस्य नैव शरण भवति अन्यो मृगो मत्स्यो वा । तथा कर्मोदये जीवस्य नास्ति कश्चिच्छरणम् ॥१७४०॥

प्रकार सहकारी कारणोंके मिलनेपर उदयमे आये कर्मको जगत्मे कोई रोक नही सकता ॥१७३५॥

गा०—रोगोका प्रतीकार औषध आदि हैं किन्तु कर्मका कोई प्रतीकार नही है। जैसे निरकुश मत्त हाथी कमलिनीके वनको उजाड देता है वैसे ही कर्म समस्त जगत्को मसल देता है ॥१७३६॥

गा०—असातावेदनीय कर्मका उदय होनेपर रोगोका प्रतीकार नही है। पथ्य औषध आदिसे जो रोगोका उपशम होता है वह भी कर्मका उपशम होनेपर ही होता है। कर्मका उपशम न होनेपर औषध आदि भी लाभकारी नही होती ॥१७३७॥

गा०—कर्मका उदय होनेपर विद्याधर, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती अथवा देवेन्द्र जैसे महाबली, महापराक्रमी भी किसीके शरण नही होते। वे भी रक्षा नही कर सकते ॥१७३८॥

गा०—चलता हुआ प्राणी भूमिको लाघ सकता है। तैरता हुआ प्राणी समुद्रको तैर सकता है। किन्तु उदयागत कर्मके फलको उल्लघन कोई महाबली भी नही कर सकता। उसे सबको भोगना पडता ही है ॥१७३९॥

गा०—जैसे कोई सिंह किसी मृगको पकड ले तो दूसरा मृग उसकी रक्षा नही कर सकता।

---

१ गिलिदस्स अ० ।

व्यावर्णितानामशरणत्वं मनसावधार्य इदं शरणमिति चिन्तनीयमिति कथयति—

दंसणणाणचरित्तं तवो य ताणं च होइ सरणं च ।
जीवस्स कम्मणासणहेदुं कम्मे उदिण्णम्मि ॥१७४१॥

'दंसणणाणचरित्त तवो य' ज्ञानं दर्शनं चारित्रं तपश्च रक्षा शरणं च भवति । जीवस्य कर्मणां नाशहेतुः कर्मण्युदीर्णेऽप्यसद्वेद्यादौ । एवमशरणानुप्रेक्षा गता ॥ असरणा ॥१७४१॥

एकत्वानुप्रेक्षा उत्तरेण प्रबन्धेनोच्यते—

पावं करेदि जीवो बंधवहेदुं सरीरहेदुं च ।
णिरयादिसु तस्स फलं एक्को सो चेव वेदेदि ॥१७४२॥

पापं करोति जीवो बान्धवनिमित्तं शरीरनिमित्तं च । बान्धवशरीरपोषणार्थं कृतस्य कर्मणः फलं नरकादिष्वेक एवानुभवति ॥१७४२॥

नरकादिगतिषु प्राप्तं दुःखमपश्यन्तस्तत्रासतो बान्धवाः किं कुर्वन्तीति आशङ्कां निरस्यति सन्निहिताः पश्यन्तोऽप्यकिंचित्करा इति कथनेन—

रोगादिवेदणाओ वेदयमाणस्स णिययकम्मफलं ।
पेच्छंता वि समक्खं किंचिवि ण करंति से णियया ॥१७४३॥

'रोगादिवेदणाउ' रोगादिदुःखानि । 'णिययकम्मफलं' निजकर्मफलं स्वयोगत्रयोपचितस्य कर्मणः फलं । 'वेदयमाणस्स' वेदयमानस्य । 'समक्खं पेच्छंतावि' प्रत्यक्षं पश्यन्तोऽपि । 'णियया' निजका बान्धवाः, 'से' तस्य

या तिमिंगल नामक महामत्स्य किसी मच्छको पकड़ ले तो दूसरा मच्छ उसको नहीं छुड़ा सकता । उसी प्रकार कर्मका उदय आनेपर जीवका कोई शरण नहीं होता ॥१७४०॥

आगे कहते हैं कि ऊपर जिनका वर्णन किया है, वे शरण नहीं हैं ऐसा मनमें दृढ़ निश्चय करके आगे कहे पदार्थ शरण हैं ऐसा विचारना चाहिये—

गा०—जीवके असातावेदनीय आदि कर्मका उदय होनेपर कर्मोंके नाशके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ही रक्षक हैं और शरण हैं ॥१७४१॥

इस प्रकार अशरणानुप्रेक्षाका कथन हुआ । आगे एकत्वानुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा० - जीव बन्धु-बान्धवोंके निमित्त और शरीरके निमित्त पाप करता है । और बान्धवोंके तथा अपने शरीरके पोषणके लिये जो पापकर्म करता है उसका फल नरकादिमें अकेला ही भोगता है ॥१७४२॥

यहाँ कोई कह सकता है कि नरकादि गतियोंमें वह जो दुःख भोगता है उसे उसके बन्धुबान्धव नहीं देखते क्योंकि वे वहाँ नहीं हैं इसीसे वे कुछ कर नहीं सकते । इसके उत्तरमें कहते हैं कि निकट रहकर देखते हुए भी वे कुछ नहीं कर सकते—

गा०-टी०—अपने मनोयोग, वचनयोग और काययोगसे संचित कर्मका फल जब यह जीव भोगता है तो प्रत्यक्ष देखते हुए भी उसके बन्धुगण कुछ भी उसका प्रतीकार नहीं करते । इस

'किंचिवि ण करंति' किंचिदपि प्रतीकारजात न कुर्वन्ति । परत्रेह वा जन्मन्येक एवानुभवति जन्तुर्न तदीय-कर्मफलसविभागकरणे समर्थ कश्चिदिति भाव ॥१७४३॥

तह तथा यथा दुःख स्वकर्मफलमेक एवानुभवति—

तह मरइ एक्कओ चेव तस्स ण विदिज्जगो हवइ कोई ।
भोगे भोत्तु णियया विदिज्जया ण पुण कम्मफल ॥१७४४॥

तथा स्वायुर्गलने । 'एक्कगो चेव मरदि' एक एव प्राणास्त्यजति । 'ण विदिज्जगो होइ कोई' न सहायो भवति कश्चिन । तदीय मरण सविभज्य गृहीत्वा सहायता न कश्चित्करोतीत्यर्थ । अन्यथा एक एव म्रियते इत्यघटमाने बहूनामप्येकदा मरणात् । 'भोगे' भुज्यन्तेऽनुभूयन्त इति भोगा द्रव्याणि अशनवसनमुख-वासादीनि । भोक्तुमनुभवितु निजका बान्धवा । 'विदिज्जगा' सहाया । 'ण पुण' न पुन । 'कम्मफल भोत्तु णीयगा विदिज्जया' तदीयकर्मफल भोक्तु न बन्धवस्सहाया ॥१७४४॥

प्रकारान्तरेणैकत्वभावनामाचष्टे—

णीया अत्था देहादिया य सगा ण कस्स इह होंति ।
परलोग अण्णेत्ता जदि वि दइज्जंति ते सुट्ठु ॥१७४५॥

'णीगा अत्था' बन्धवो धन शरीरादिकास्च परिग्रहा कस्यचिदपि सम्बन्धिनो न यान्ति परलोक प्रति प्रस्थित । यद्यपि सुष्ठु काम्यन्ते परिग्रहा । गृहीत्वा यान्यदि नामास्य गन्तुमुत्कण्ठा तथापि ते नानुगच्छन्त्येक एव यातीत्येकत्वभावना ॥१७४५॥

इहलोगबन्धवा ते णियया परस्स होंति लोगस्स ।
तह चेव धणं देहो सगा सयणासणादी य ॥१७४६॥

लोक और परलोकमे जीव अकेला ही भोगता है । उसके कर्मफलका बटवारा करनेमे समर्थ कोई भी नही है । यह इसका अभिप्राय है ॥१७४३॥

गा०-टी०—जैसे यह जीव अपने कर्मफलको स्वय ही भोगता है उसी प्रकार अपनी आयु समाप्त होनेपर अकेला ही प्राणोको त्यागता है । दूसरा कोई भी उसका सहायक नही है । अर्थात् उसके मरणका भागीदार बनकर कोई भी उसकी सहायता नही करता । यदि एक ही मरता है ऐसा न हो तो एकके साथ बहुतोको मरण प्राप्त होता है । जो भोगे जाते हैं उन्हे भोग कहते हैं । भोजन, वस्त्र, मुखको सुवासित करनेवाले द्रव्य भोग हैं । भोगोको भोगनेमे तो अपने बन्धु-बान्धव सहायक होते हैं । किन्तु उसके कर्मो का फल भोगनेमे कोई सहायक नही होता ॥१७४४॥

प्रकारान्तरसे एकत्व भावनाको कहते हैं—

गा०-टी०—बन्धु-बान्धव धन और शरीर आदि परिग्रह किसीके नही होते । जब यह जीव परलोक जाता है तो उसके साथ नही जाते । यद्यपि मनुष्य परिग्रहोंमे बहुत अनुराग रखता है । वह यदि उनको पकडकर साथ ले जाना चाहे तो भी वे उसके साथ नही जाते । जीव अकेला ही जाता है । यह एकत्व भावना है ॥१७४५॥

'इहलोगबन्धवा' अस्मिन्नेव जन्मनि बान्धवा । 'परस्स लोगस्स ण णियया होंति' अन्यस्य जन्मनो न बन्धवो भवन्ति । 'तह चेव बाधवा इव धण देहो सगा सयणासणादी य' धन शरीरं शयनासनादयश्च परिग्रहा इह लोके एव न परजन्मनि उपकारका भवन्ति । एवं हि ते बान्धवाः परिग्रहाश्च सहाया इति यद्येतु शक्यन्ते यदनपायितया उपकारिणः स्युः । इह जन्मन्येव ये प्रयान्ति ते परलोकं गच्छन्तमनुसरन्तीति का प्रत्याशा ॥१७४६॥

यद्येते बान्धवादयो न सहायाः कस्तर्हि सहाय इत्याशङ्कायामाचष्टे—

जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्तचरणसुदमइओ ।
सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥१७४७॥

'जो पुण' यः पुनः । 'जीवेण कदो धम्मो' जीवेन कृतो धर्मः, सम्मत्तचरणसुदमइगो' रत्नत्रयरूपो दुर्गतिप्रस्थितं जीवं धारयति धत्ते वा शुभे स्थाने इति रत्नत्रयं धर्म इत्युच्यते । 'सो' स व्यावर्णितो धर्मः । 'जीवस्स' जीवस्य । 'परलोगे' परजन्मनि । गुणकारकः सहायो भवति अभ्युदयनिःश्रेयससुखप्रदानात् । तथा चोक्तं—

दत्वा द्यावापृथिव्योर्वरविषयरतिं वीतभीशुग्विषादां
इत्वा लोकत्रयेऽस्य सुरनरपतिभिः प्राप्य पूजां विशिष्टाम् ।
मृत्युव्याधिप्रसूतिप्रियविगमजरारोगशोकप्रहीणे
मोक्षे नित्योरुसौख्ये क्षिपति निरुपमे यस्स सोऽस्मानसुधर्मः ॥ इति ॥१७४७॥

ननु च 'असहायत्वभावनाधिकारे सहायनिरूपणा कथमुपयुज्यते । नैष दोषः यो येन जन्तुना सहाय-

---

गा०—टी०—जो इस जन्ममें बान्धव हैं वे परलोकमें बान्धव नहीं होते। बान्धवोंकी ही तरह धन, शरीर, शयन, आसन आदि परिग्रह भी इसी लोकमें काम आते हैं परलोकमें नहीं। यदि वे बान्धव और परिग्रह सदा रहनेवाले हों तो उन्हें सहायक कहा जा सकता है। जब वे इसी जन्ममें नष्ट हो जाते हैं तो वे परलोकमें जानेपर साथमें जायेंगे, इसकी आशा कैसी ? ॥१७४६॥

यदि ये बन्धु आदि सहायक नहीं हैं तो कौन सहायक हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—टी०—जीवने सम्यक्त्वचारित्र ज्ञानरूप अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्म किया है जो दुर्गतिमें जानेवाले जीवका धारण करता है उसे शुभ स्थानमें धरता है वह धर्म है इस तरह रत्नत्रयको धर्म कहते हैं। वह धर्म परलोकमें जीवका गुणकारक सहायक होता है। क्योंकि उससे सांसारिक और पारमार्थिक सुख मिलता है। कहा है—

वह धर्म हमारी रक्षा करे जो मर्त्यलोक और स्वर्गलोकके भय, शोक और विषादसे रहित विषय सुखको देकर देवेन्द्रों और राजेन्द्रोंसे विशिष्ट रूपसे पूजित तीन लोकोंका स्वामी तीर्थङ्कर पद प्रदान करता है तथा अन्तमें मृत्यु, रोग, जन्म, प्रियवियोग, जरा, व्याधि और शोकसे रहित नित्य उत्कृष्ट और अनुपम सुखवाले मोक्षमें ले जाता है।

शङ्का—यह अधिकार असहाय भावनाका है कि जीवका कोई सहाय नहीं है। इसमें सहायका कथन करना कैसे उचित है ?

---

१ असहायवचनाधिकारे —आ० । २ योऽनेन जन्तुना —आ० ।

त्वेनाभ्युपगमितो बान्धवादिरसौ सहायो न भवतीति न तत्रादरः कार्यः । सम्यक्त्वज्ञानचारित्रात्मकस्तु धर्मः । धर्मोऽपि जीवपरिणाम उपकारि सहाय इति । तत्रादरो जन्यते सूरिणा । अतिशयितधर्मोऽन्यसहायानिरूपणेन ज्ञातिधनादीनां तथाभूतसहायताभावात् प्रस्तुतैव सहायता समर्थिता भविष्यति । अत्रोच्यते । सम्यक्त्वादयः शुभपरिणामाः प्रशस्तगतिजातिगोत्रसंघातसंहननायुःसद्वेद्यादिकमात्मनि निधाय नश्यन्ति तेन देवो मानवः पञ्चेन्द्रियः पर्याप्तकः कुलीनः शुभनीरोगशरीरश्चिरजीवी सुखी भविष्यति । धर्मानुबन्धिनः पुण्यस्योदयात् दीक्षाभिमुखा बुद्धिर्निरतिचाररत्नत्रयसंपत्तिश्च भविष्यतीति संभवत्युपकारसहायता धर्मस्य । ननु च ज्ञानपूर्वकत्वाच्चरणस्य 'सम्मत्तचरणसुदमइगो'[1] इति कथमुपन्यस्तं ? अयमस्याभिप्रायः सत्यपि श्रुतज्ञाने असंयतसम्यग्दृष्टेश्चारित्राभावान्न महत्यौ संवरनिर्जरे मुख्यगुणे भवतः । तस्मान्मुख्यार्थिनश्चारित्रं प्रधानं किंच तज्ज्ञानमुपायश्चारित्रमुपेयं अतः परार्थत्वाज्ज्ञानमप्रधानं उपेयत्वाच्चरणं प्रधानमिति । 'जो पुण धम्मो जीवेण कदो'[2] इत्यनेन धर्मस्य सर्वथा नित्यत्वं प्रतिषिद्धं फलवैचित्र्यमनुभवसिद्धं, सर्वदैकरूपत्वं धर्मस्य विरुध्यते । सुखसाधनानां स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यादीनां वैचित्र्यात् तत्कार्यसुखस्यापि वैरूप्यं नित्यत्वेऽपि धर्मस्य घटयेदिति चेत् अत्रोच्यते । अनिशयितानतिशयितसुखसाधनता तस्य धर्महेतुता न वेत्यत्र विकल्पद्वये धर्महेतुत्वाभ्युपगमे

समाधान—यह दोष उचित नहीं है क्योंकि जिस जीवने यहाँ जिस बन्धु आदिको अपना सहायक रूपसे माना हुआ है वह सहायक नहीं है इसलिये उसमें आदरभाव नहीं करना चाहिये। सम्यक्त्व ज्ञान चारित्ररूप धर्म जीवका परिणाम होनेसे उसका उपकारी सहायक है। इसलिये आचार्य उसमें आदर कराते हैं।

शङ्का—सातिशय धर्मके सहाय होनेका कथन न करके भी जाति बन्धु धन आदि उस प्रकारके सहायक नहीं होनेसे प्रस्तुत धर्मादिके ही सहायक होनेका समर्थन होता है।

समाधान—सम्यक्त्व आदि शुभपरिणाम आत्मामें उत्तम गति, उत्तम जाति, उत्तम गोत्र, उत्तम संहनन, आयु, सातावेदनीय आदि कर्मों को उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं। उन कर्मोंके उदयमें जीव, देव अथवा पंचेन्द्रिय पर्याप्तक कुलीन, शुभ नीरोग शरीर वाला चिरजीवी और सुखी होता है तथा धर्मानुबन्धि पुण्यके उदयसे बुद्धि मुनिदीक्षाके अभिमुखी होती है और निरतिचार रत्नत्रयरूप सम्पत्ति होती है। अतः धर्म सहायक और उपकारी है।

शङ्का—चारित्र ज्ञानपूर्वक होता है अतः ग्रन्थकारने 'सम्यक्त्वचारित्र श्रुतमतिक' कैसे कहा ? यहाँ चारित्रके पश्चात् ज्ञानका निर्देश किया है ?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि असंयत सम्यग्दृष्टिके श्रुतज्ञान होनेपर भी चारित्रका अभाव होनेसे बहुत अधिक संवर और निर्जरा ये दोनों मुख्य गुण नहीं होते। इसलिये जो संवर और निर्जराके अर्थी हैं उनके लिये चारित्रकी प्रधानता है। तथा ज्ञान उपाय है और चारित्र उपेय है अतः परार्थ होनेसे ज्ञान अप्रधान है तथा उपेय—उपाय द्वारा प्राप्य होनेसे चारित्र प्रधान है। 'जो धर्म जीवने किया' ऐसा कहनेसे धर्मके सर्वथा नित्य होनेका निषेध किया है। धर्मके फलकी विचित्रता अनुभवसे सिद्ध है। अतः धर्मको सर्वदा एकरूपता आगम विरुद्ध है।

शङ्का—सुखके साधन स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला आदि अनेक हैं अतः उनका कार्य सुख भी अनेक रूप है। इस तरह धर्मको नित्य मानने पर भी फल की विचित्रता बन जाती है।

समाधान—कुछ साधन सातिशय सुखदायक होते हैं और कुछ साधारण सुखदायक होते

---

1. सहायमि—अ० मु०। 2. वाग—अ०।

कथं न वैचित्र्यं धर्मस्य। अथ न धर्मो हेतुः [1]स्वहेतुसामान्यायत्तता[2]सुखसाधनानां सातिशयनिरतिशयतदायत्तः फलविभाग इति धर्मस्यानर्थक्यमापद्यते। ततो न धर्मस्य सर्वथा नित्यता ॥१७४७॥

शरीरद्रविणादीनां असहायताभावनां तद्गोचरानुरागनिवर्तनमुखेन स्थिरयत्युत्तरगाथा—

बद्धस्स बंधणेण व ण रागो देहम्मि होइ णाणिस्स।
विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥१७४८॥

'बद्धस्स बंधणेण व ण रागो' रज्जुशृङ्खलादिभिर्बद्धस्य बन्धनक्रियासाधकतमे रज्ज्वादौ दुःखहेतौ यथा न रागः। तथा 'देहम्मि होदि णाणिस्स' सुखदुःखसाधनविवेकज्ञस्य दुःखहेतावसारेऽस्थिरेऽशुचिनि काये न रागो भवति। गुणपक्षपातिनो हि प्राज्ञाः। 'विससरिसेसु' विषसदृशेष्वपि 'ण रागो णाणिस्स' ज्ञानिनो नैव रागः। केषु ? 'अत्थेसु सव्वेसु'। कथमर्थानां विषसदृशतेति चेत्। यथा विषं दुःखदायि प्राणान्वियोजयति च तथार्थोऽप्यर्जनरक्षादिषु व्यापृतं दुःखेन योजयति, प्राणानां च विनाशे निमित्तं भवति। तथाहि। प्राणिनोऽर्थार्थं एव परस्परं प्रघाते प्रयतन्ते अतएव महाभयहेतुत्वान्महाभयतार्थानां सूत्रकारेणोक्ता। 'अत्थेसु महाभयेसु' इति। यद्धि यस्यानुपकारि तस्य तस्मिन्न विवेकिनः सहायबुद्धिर्यथा विषकण्टकादौ, अपकारि शरीरद्रविणादिकमिति पुनः पुनरभ्यस्यतो नेतरः सहायोऽयमिति चिन्ताप्रबन्धः प्रवर्तते ॥ एकत्वं ॥१७४८॥

है। इसमें धर्म भी कारण है या नहीं ? यदि धर्म भी कारण है तो धर्ममें वैचित्र्य क्यों नहीं हुआ। यदि कहोगे कि धर्म कारण नहीं है, सुखके साधन अपने सामान्य कारणोंके अधीन हैं और उनका जो सातिशय तथा निरतिशय फलभेद पाया जाता है वह भी उन्हींके अधीन है तो धर्म निरर्थक सिद्ध होता है। अतः धर्म सर्वथा नित्य नहीं है ॥१७४७॥

विशेषार्थ—यहाँ टीकाकारका धर्मसे अभिप्राय शुभ परिणामोंसे है। शुभ परिणामोंकी हीनाधिकताके अनुसार पुण्यबन्धमें विचित्रता होती है और तदनुसार फलमें विचित्रता होती है ॥१७४७॥

शरीर धन आदिमें असहायताकी भावनाको उनके विषयमें जो अनुराग है उस अनुरागको हटानेके द्वारा स्थिर करते हैं—

गा०-टी०—जैसे पुरुष रस्सी साकल आदिसे बँधा है उसे बन्धन क्रियामें साधकतम रस्सी आदिमें राग नहीं होता क्योंकि वे उसके दुःखमें हेतु हैं, उसी प्रकार जो अपने सुख और दुःखके साधनोंमें भेदको जानता है उसे दुःखके हेतु, असार, *अस्थिर अशुचि शरीरमें राग नहीं होता।* विद्वान्‌जन गुणोंके पक्षपाती होते हैं। अतः विषके समान सब अर्थोंमें ज्ञानीका राग नहीं होता।

शंका—सब अर्थ विषके समान कैसे हैं ?

समाधान—जैसे विष दुःखदायी है, प्राण हरण कर लेता है वैसे ही अर्थ भी जो उसके उपार्जन और रक्षणमें लगता है उसे दुःख देता है। तथा प्राणोंके विनाशमें निमित्त होता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—प्राणीगण अर्थके लिये ही परस्परमें घात करनेमें लगते हैं। इसीलिये ग्रन्थकारने महाभयका कारण होनेसे अर्थोंको महाभयरूप कहा है। जो जिसका उपकार नहीं करता, बल्कि अनुपकार करता है विवेकी पुरुष उसे अपना सहायक नहीं मानते। जैसे विषकण्टक

---

१. सहेतु—अ० मु०। २. यत्तसु—अ० मु०।

अन्यत्वभावनानिरूपणार्थमुत्तरप्रबन्ध —

किहदा जीवो अण्णो अण्णं सोयदि हु दुक्खियं णीय ।
ण य बहुदुक्खपुरक्कडमप्पाणं सोयदि अबुद्धी ॥१७४९॥

'किहदा अण्णो जीवो अण्ण णीय किह सोयदिति' पदघटना । अन्यो जीवो नीग स्वस्मादन्य ज्ञातिवर्गं । 'दुक्खिद' दुःखेनाभिभूत कथ तावच्छोचति । 'ण य सोचदि' नैव शोचते । क ? 'अत्ताण' आत्मान ? कीदृग्भूत 'बहुदुक्खपुरक्कड' शारीरैरागतुकै, मानसै स्वाभाविकैश्च बहुभिर्दु खै पुरस्कृत । 'अबुद्धि' मयाऽतीते काले चतसृषु गतिषु विचित्रासद्वेद्योदयात् द्रव्यक्षेत्रकालभावसहकारिकारणसान्निध्यापेक्षयानुपरतमापद प्राप्ता पुनरप्यागमिष्यति मा खलीकर्तुं । न हि कारणाभ्यासस्थितसहकारिप्रत्यये सति कार्यस्यानुद्भवो नामास्ति, यो यद्भावेपि नामाद्येदुदयं स कथमिव तद्धेतुक ? यथा सत्यपि यवबीजेऽनुपजायमानश्चूताङ्कुरा । तथा सत्य-सद्वेद्योदये यदि न स्युर्दुःखानि च । तस्मादात्मप्रदेशावस्थितस्य दु खबीजस्य केनोपायेनापायो भविष्यतीत्य-चिन्तबुद्धितया अबुद्धि । एतदुक्त भवति परस्य दुःख आत्मन एव दु खमिति मत्वा शोकमयमुपैति, तद्विनाशे च सतत प्रयत्न करोति । तथा च प्रवर्तमानस्य स्वदु खनिवृत्तये न प्रारम्भोऽस्ति । ततोय दुःख भोज भोज पर्यटति । न च परो दुःखात्त्रातु शक्यते । तेन हि सञ्चितानि कर्माणि कथ फल न प्रयच्छन्ति । न हि परस्य शोक फलदायिना कर्मणा प्रतिबन्धक, तथा चाभ्यधायि—

आदिको कोई अपना सहायक नही मानता । उसी प्रकार शरीर धन वगैरह भी अपकार करनेवाले हैं । इस प्रकार बार-बार अभ्यास करनेसे 'मेरा कोई अन्य सहाय नही है । ऐसा सतत् चिन्तन चलता है ॥१७४८॥

आगे अन्यत्व भावनाका कथन करते हैं—

गा०–टी०—अन्य जीव अपनेसे अन्य सम्बन्धी जनोको दु खसे पीडित देखकर कैसे शोक करता है ? किन्तु यह अज्ञानी शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक दु खोंसे घिरे हुए अपने आत्माकी चिन्ता नही करता है कि अतीतकालमे मैंने चारो गतियोमें अनेक प्रकारके असातावेदनीयके उदयसे तथा द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप सहकारी कारणोंके मिलनेमे निरन्तर आपदाएँ भोगी और वे आपदाएँ पुन मुझे परेशान करनेके लिये भविष्यमे आयेंगी । सहकारी कारणोंके साथ कारणके रहते हुए कार्य अवश्य उत्पन्न होता है । जो जिसके रहते हुए भी उत्पन्न नहीं होता वह उसका कारण कैसे हो सकता है ? जैसे जौ बोनेपर आमका अकुर पैदा नही होता अत आमके अकुरका कारण जौके बीज नहीं हैं । उसी प्रकार असातावेदनीयका उदय होते हुए भी यदि दुःख नही होता तो असातावेदनीय दु खका कारण नही हो सकता । किन्तु असातावेदनीयके उदयमें दुःख अवश्य होता है । अत आत्माके प्रदेशोंमे जो दु खके कारण उपस्थित हैं उनका विनाश किस उपायसे होगा, ऐसा विचार न करनेसे उसे अबुद्धि कहा है । कहनेका अभिप्राय यह है कि यह अज्ञानी जीव दूसरेके दु खको अपना ही दुःख मानकर शोक करता है और उसके विनाशका निरन्तर प्रयत्न करता है । और ऐसा करनेसे अपने दु खको दूर करनेका प्रारम्भ भी नही कर पाता । इससे दु ख भोगते-भोगते भ्रमण करता है । दूसरेको दु खसे बचाना शक्य नहीं है । उसने जो कर्मबन्ध किया है वह उसे फल क्यो नहीं देगा ? दूसरेके शोक करनेसे फल देनेवाले कर्म रुक नही जाते । कहा भी है—

प्रीति पूर्वं कृत कर्म मनोवाक्कायकर्मभि ।
न निवारयितु शक्य सहतैस्त्रिदशैरपि ॥ इति ॥

तेनान्यदु खापेक्षा शोकोऽस्य व्यर्थ । अन्यशब्देन च स्वदु खात्पृथक्त्व परदु खस्योच्यते । अन्यत्र परदु खागतस्यानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षा एव परदु खस्यान्यत्वामर प्रेक्षमाण परदु खस्योपहनन वतु न शक्यत इति न शोचति [परदु ख], स्वदु खोन्मूलने प्रयतन इति भावोऽस्य सूरे ॥१७४९॥

सर्वस्य जीवराशेरात्मनोऽन्यत्वस्यैवानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षेति कथयत्युत्तरगाथा—

संसारम्मि अणंते सगेण कम्मेण हीरमाणाणं ।
को कस्स होइ सयणो सज्जइ मोहा जणम्मि जणो ॥१७५०॥

'ससारमि अणंते' अन्तातीते पञ्चविधे ससारे परिवर्तने । 'सगेण कम्मेण' आत्मीयमिथ्यादर्शनादि परिणामोत्पादितकर्मपर्यायेण पुद्गलस्कन्धेन 'हीरमाणाण' आकृष्यमाणाना बहुविधा गति प्रति । 'को कस्स होदि सयणो' नैव कश्चित् कस्यचित्स्वजनो नाम प्रतिनियतोऽस्ति । युज्यतेऽय विवेक स्वजनोऽय परजनोऽयमिति यदि यो यस्य स्वजनत्वेनाभिमतस्स तस्यैव स्वजन सर्वदा भवेत् । परजनो वा स्वजनता नोपेयात् । न चायमस्ति प्रतिनियम स्वकर्म परतन्त्राणामतो न कश्चित् स्वो जन परो वा ममास्ति । सर्वो जीवराशि मिथ्यात्वादिगुणविकल्पोपनीतनानात्वोऽन्य एवेति कृताध्यवसायस्य क्वचिदेव दया प्रीतिर्वा क्वचिन्निर्दयता द्वेषोऽसमानतारूपो न प्रादुर्भवति ततो विरागद्वेषस्य चारित्रमविकल्प भवति । 'सज्जदि जणमि जणो' आसक्ति

'पूर्वमें मन, वचन, कायसे जो कर्म किये है। सब इन्द्र भी मिलकर उनका निवारण नहीं कर सकते'।

इसलिये दूसरेके दु खको देखकर इसका शोक करना व्यर्थ है। अन्य शब्दसे परके दु खको अपने दु खसे भिन्न कहा है। परके आगत दु खको अपनेसे भिन्न चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार परके दु खको अपनेसे भिन्न विचार करता हुआ जानता है कि परके दुःखका विनाश करना शक्य नही है इसलिये वह उसका शोक नही करता। और अपने दु खके विनाशमे प्रयत्नशील रहता है। यह आचार्यका अभिप्राय है ॥१७४९॥

आगे कहते है कि समस्त जीवराशि अपनेसे अन्य है ऐसा चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है—

गा०-टी०—पचपरावर्तन रूप ससारके अनन्त होते हुए अपने मिथ्यादर्शन आदि परिणामोसे उत्पन्न हुए पुद्गल स्कन्धरूप कर्म पर्यायके द्वारा अनेक गतियोमे भ्रमण करते हुए जीवका कौन किसका स्वजन है? यह स्वजन है और यह परजन है यह भेद हो सकता था यदि जो जिसका स्वजन है वह उसीका स्वजन सदा रहता और परजन कभी भी स्वजन न होता। किन्तु अपने-अपने कर्मोके अधीन जीवोका यह नियम नही हो सकता। अत न कोई मेरा स्वजन है और न कोई परजन है। मिथ्यात्व आदि गुणस्थानोके भेदसे नाना भेदरूप हुई समस्त जीवराशि मुझसे भिन्न ही है ऐसा जिसने निश्चय किया है उसका किसीमे ही दया और प्रीति और किसीमे निर्दयता और द्वेष यह असमानतारूप व्यवहार नही बनता। इसलिये जो राग-द्वेषसे रहित है

---

१ सहितैस्त्रिदशै –आ० । स्यानियतापेक्षमाण –आ० ।

करोति जन हि जनो ममाय भ्राता पिता पुत्रो भागिनेयो दास स्वामीति[1], वा मोहाद्वस्तुतत्वस्य अन्यतामात्ररूपस्य निरस्तस्वजनत्वस्य[2] [3]परिज्ञानात् ॥१७५०॥

प्रकारांतरेण स्वजनपरजनविवेकाभाव दर्शयत्युत्तरगाथा—

सव्वो वि जणो सयणो सव्वस्स वि आसि तीदकालम्मि ।
एते य तहाकाले होहिदि सजणो जणस्स जणो ॥१७५१॥

'सव्वो वि जणो सजणो' निरवशेषो जन्तुरनन्त स्वजन । 'सव्वस्स वि' सर्वस्यापि प्राणभृत । 'तीदकालम्मि' अतीते काले 'आसि' आसीत् । 'एते य तधा काले' भविष्यति तथा काले । होहिदि' भविष्यति । 'सजणो जणस्स जणो' स्वजनो जनस्य जन । एतदनेनाख्यायते अतीते भविष्यति च काले सर्वस्य सर्व स्वजन अभीद्भविष्यति च । तत्सर्वसाधारणत्वे स्वजनत्वस्य मति ममाय स्वजन इति मिथ्यासकल्प । [4]तेऽप्यन्ये ममाप्य[5]न्यस्तस्य इत्येतदेव तत्त्वमित्यन्यत्वस्य स्वपरविषयस्यानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षा ॥१७५१॥

रत्तिं रत्तिं रुक्खे रुक्खे जह सउणयाण सगमणं ।
जादीए जादीए जणस्स तह सगमो होई ॥१७५२॥

'रत्ति रत्ति' रात्रौ रात्रौ । 'रुक्खे रुक्खे' वृक्षे वृक्षे । 'जह सउणयाण सगमण' यथा पक्षिणा सगमन । 'जादीए जादीए' जन्मनि जन्मनि । 'जणस्स' जनस्य । 'तहा' तथा । 'सगमो होदि' सगमो भवति । यथा रात्रावाश्रयमन्तरेण स्थातुमसमर्था पक्षिणो योग्य वृक्षमन्विष्य ढौकते । तद्वत्प्राणिनोपि निरवशेषगलितायु पुद्गलस्कन्धा परित्यक्तप्राक्तनशरीरा शरीरांतरग्रहणार्थिन शरीरग्रहणयोग्यदेश योनिसज्ञितमास्कन्दन्ति ।

उसका चारित्र सर्वत्र एकरूप होता है। यह मेरा भाई, पिता, पुत्र, भानेज, दास या स्वामी है इस प्रकार आसक्ति मनुष्य मोहवश करता है। वस्तुतत्त्व तो अन्यतामात्र रूप है उसमें कोई स्वजन नहीं है ॥१७५०॥

प्रकारान्तरसे स्वजन और परजनके भेदका अभाव कहते हैं—

गा०—अतीतकालमें सब प्राणियोंके समस्त अनन्त जीव स्वजन थे। तथा भविष्यत् कालमें सब प्राणियोंके सब जीव स्वजन होंगे ॥१७५१॥

टी०—इस गाथासे यह कहा गया है कि अतीत कालमें सबके सब जीव स्वजन थे और भविष्यमें सबके सब जीव स्वजन होंगे। इस प्रकार जब सभी जीव स्वजन हैं तो यह मेरा स्वजन है इस प्रकारका सकल्प मिथ्या है। वे मुझसे अन्य हैं और मैं उनसे अन्य हूँ, इस स्वपरविषयक अन्यत्व तत्त्वका चिन्तन अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥१७५१॥

गा०—जैसे प्रत्येक रात्रिमें प्रत्येक वृक्षपर पक्षियोंका सगम होता है उसी प्रकार जन्म-जन्ममें मनुष्योंका सगम होता है ॥१७५२॥

टी०—जैसे रात्रिमें आश्रयके विना रहनेमें असमर्थ पक्षी योग्य वृक्षको खोजकर उसपर बसेरा लेते हैं। उन्हींकी तरह ससारके प्राणी भी जब उनके आयुकर्मके पुद्गल स्कन्ध पूर्णरूपसे

१ ति ध्यामो० –आ० । २ जनत्वरि –आ० । ३ अपरिज्ञानात् इति प्रतिभाति । ४ तेनान्या ममाप्यन्यस्तेन्य इत्यर्यदेव –आ० । ५ न्यस्त्यत्व इ –अ० ।

तत्र यथा शुक्रशोणितमयमाश्रितोऽशुचितम तौ पितराविति संकल्पयति । तथाभूतयोरेव शुक्रशोणितयोरुपात्त-देहा भ्रातर इति । 'अन्ये [redacted] एवंभूताश्च ²स्वजनिनोतिसुलभा । कांतारे पक्षिणा निवासवृक्षा इवेति भाव ॥१७५२॥

पहिया उवासये जह तहिं तहिं अल्लियति ते य पुणो ।
छंडित्ता जंति णरा तह णीयसमागमा सव्वे ॥१७५३॥

'पहिया' पथिका । 'उवासये' उपाश्रये कस्मिश्चित । 'जह' यथा । 'तहिं तहिं' तस्मिंस्तस्मिन् ग्राम-नगरादौ । 'अल्लियति' अन्योन्य ढौकन्ते । 'ते य' ते च सगता पथिका । 'पुणो' पश्चात् । 'छंडित्ता' त्यक्त्वा । 'जंति' याति स्वाभिमत देश । 'तह णीयसमागमा सव्वे' तथा बन्धुसमागमा सर्वेऽपि च । एतेन बन्धु-समागमस्यानित्यता व्याख्याता ॥१७५३॥

भिण्णपयडिम्मि लोए को कस्स सभावदो पिओ होज्ज ।
कज्ज पडि सबघ वालुयमुट्ठीव जगमिणमो ॥१७५४॥

'भिण्णपयडिम्मि लोए' नानास्वभावे लोके । 'को कस्स सभावदो पिओ होज्ज' क कस्य स्वभावेन प्रियो भवेत् । समानशीलताया हि सख्य भवति । न च सर्वबन्धव समानशीला कथ तर्हि तेषा वा स बान्धव । 'कज्ज पडि सबधो' कार्यमेवाश्रित्य सम्बन्ध नासति कार्येऽस्ति सम्बन्ध । 'वालुगमुट्ठीव' वालुका-मुष्टिरिव । 'जगमिणमो' लोकोय । यथा वालुकाना भिन्नप्रकृतीना द्रवद्रव्यमतरेण न स्वाभाविक सम्बन्धो येन सगता मुष्टिमुपेयु । उदकादिद्रव्योपनीतैव सगतिस्तासा, एव कार्योपनीतैव सगति स्वजनाना ॥१७५४॥

गल जाते है, और वे पूर्व शरीरको छोड नवीन शरीर ग्रहण करना चाहते हैं, तो वे शरीर ग्रहण करनेके योग्य देशमे, जिसे योनि कहते हैं, जाते हैं। वहाँ उन्हें जिनके अत्यन्त अपवित्र रजवीर्य रूपका आश्रय प्राप्त होता है उन दोनोमे माता-पिताका सकल्प करते हैं। उसी प्रकारके रजवीर्यसे जिनके शरीर बनते हैं वे भाई होते है। वनमे पक्षियोंके रहनेके वृक्षोंकी तरह इस प्रकारके स्वजनवास सुलभ है। यह उक्त गाथाका अभिप्राय है ॥१७५२॥

गा०—जैसे किसी उपाश्रयमे पथिक विभिन्न ग्राम नगर आदिमे परस्परमे मिलते हैं। पीछे वे सब उस उपाश्रयको छोडकर अपने-अपने देशको चले जाते हैं। उसी प्रकार सब बन्धु-बान्धवोका समागम है। इससे बन्धुसमागमको भी अनित्य कहा है ॥१७५३॥

गा०-टी०—लोगोंके अलग-अलग स्वभाव होते हैं। ऐसे नाना स्वभाववाले लोकमे कौन किसको स्वभावसे प्रिय हो सकता है। समानशील वालोमे ही मित्रता होती है। किन्तु सब बन्धु-बान्धव तो समान शीलवाले नही होते। तब कैसे वह उनका बन्धु हो सकता है। कार्यको लेकर ही सम्बन्ध होता है। कार्यके न रहनेपर सम्बन्ध नही रहता। जैसे रेतका प्रत्येक कण अपना भिन्न स्वभाव रखता है। किसी मिलानेवाले द्रव्यके बिना उनका परस्परमे कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है। पानी आदिके सम्बन्धसे ही वे परस्परमे मिलते हैं। अन्यथा मुट्ठीमे अलग-अलग ही रहते हैं। इसी प्रकार स्वजन भी कार्यवश ही परस्परमे मिलते हैं ॥१७५४॥

---

१ अन्यस्र ए-आ० । २ स्वजातयाति —आ० ।

त च कार्यकृत सम्बन्ध स्पष्टयत्युत्तरगाथा—

मायां पोसेइ सुयं आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति ।
पोसेदि सुदो माद गब्भे धरिओ इमाएत्ति ॥१७५५॥

'माया पोसेदि सुद' माता पोषयति सुत । 'आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति' अय ममाधारो भविष्यतीति । 'पोसेदि सुदो माद' पोषयति सुतो मातर । 'गब्भे धरिदो इमाएत्ति' गर्भे धारितोऽनयेति ॥१७५५॥

उपकारापकारयो प्रतिबन्धात् शत्रुता मित्रता वेति तत् कथयति—

होउण अरी वि पुणो मित्त उवकारकारणा होइ ।
पुत्तो वि खणेण अरी जायदि अवयारकरणेण ॥१७५६॥

'होऊण अरी वि' शत्रुरपि भूत्वा । 'पुणो' पुन । 'मित्तो होदि' सुहृद्भवति । क एवमिति । कुत ? 'उपकारकरणा' उपकारकरणेन । 'पुत्तोवि खणेण अरी जायदि' पुत्रोपि क्षणेन शत्रुर्भवति, केन ? अपकारकरणेन, निर्भर्त्सनताडनाद्यपकरणक्रियाया । यस्मादेव ॥१७५६॥

तम्हा ण कोइ कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि ससारे ।
कज्ज पडि हुति जगे णीया व अरी व जीवाणं ॥१७५७॥

'तम्हा' तस्मात् । 'ण कोइ कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि ससारे' नैव कश्चित्कस्यचित्स्वजन परजनो वा विद्यते । 'कज्ज पडि होंति णीया व अरी व जग ' कार्यमेवोपकारापकारलक्षण प्रति बन्धव शत्रवश्च भवन्ति । न स्वाभाविकी बन्धुता शत्रुता वा जीवानामस्ति उपकारापकारक्रिययोरनवस्थितत्वात्सम्भूतोऽरिमित्रभावोप्यनवस्थित इति न रागद्वेषौ क्वचिदपि कार्यौ । मत्तोऽन्ये सर्व एव प्राणभृत इति कार्यान्यत्वानुप्रेक्षेति प्रस्तुताधिकारेणाभिसम्बन्ध ॥१७५७॥

आगे उस कार्यवश हुए सम्बन्धको दृढ करते हैं—

गा०—यह मेरा बुढापेमे आधार होगा इस भावनासे माता पुत्रका पालन करती है और पुत्र माताका पालन करता है कि इसने मुझे गर्भमे धारण किया था ॥१७५५॥

आगे कहते हैं कि शत्रुता और मित्रता उपकार और अपकारसे बँधे हैं—

गा०—शत्रु होकर भी उपकार करनेसे मित्र हो जाता है। अपकार करनेसे पुत्र भी क्षणभरमे शत्रु हो जाता है। अर्थात् यदि पुत्र माता पिताका तिरस्कार करता है उन्हे मारता है तो वह शत्रु ही प्रतीत होता है ॥१७५६॥

गा०—इसलिये ससारमे कोई किसीका न स्वजन है और न परजन है। उपकार और अपकार रूप कार्यको लेकर ही जीवोंके मित्र या शत्रु बनते हैं ॥१७५७॥

टी०—जीवोंमे न तो स्वाभाविक शत्रुता है और न स्वाभाविक बन्धुता है। उपकार और अपकाररूप क्रिया भी स्थायी नही है इसलिये उपकार मूलक मित्रता और अपकारमूलक शत्रुता भी स्थायी नही है। अत न किसीसे राग करना चाहिये और न किसीसे द्वेष करना चाहिये। सभी प्राणी मुझसे अन्य है इस प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षा करना चाहिये ॥१७५७॥

शत्रुमित्रयोर्लक्षणमाचष्टे—

जो जस्स वट्टदि हिदे पुरिसो सो तस्स बंधवो होदि ।
जो जस्स कुणदि अहिद सो तस्स रिवुत्ति णायव्वो ॥१७५८॥

'जो जस्स वट्टदि हिदे' यो यस्य उपकारे वर्तते । 'पुरिसो' पुरुषः । 'सो तस्स बंधवो होदि' स तस्य बन्धुर्भवति । 'जो जस्स कुणदि अहिद' यो यस्य करोत्यहितं । 'सो तस्स रिउत्ति णायव्वो' स तस्य रिपुरिति ज्ञातव्यः ॥१७५८॥

शत्रुलक्षणं बन्धुषु दर्शयति—

णीया करंति विग्घं मोक्खब्भुदयावहस्स धम्मस्स ।
कारिंति य अइबहुगं असंजमं तिव्वदुक्खकरं ॥१७५९॥

'णीया करंति विग्घं' बान्धवाः कुर्वन्ति विघ्नं । कस्य ? 'धम्मस्स' धर्मस्य, कीदृग् ? 'मोक्खब्भुदयावहस्स' निरवशेषदुःखकारिकर्मापाय सांसारिकसातिशयवत् सुखं च संपादयतो रत्नत्रयस्य । 'कारंति य' कारयन्ति च । किं ? 'असंयमं' हिंसानृतस्तेयादिकं, 'अदिबहुगं' अतीव महान्तं । 'तिव्वदुक्खकरं' दुःसह-नरकादिदुःखोत्पादनोद्यतं । हितस्य विघ्नकरणादहिते च प्रवर्तनात् दर्शिता शत्रुता बन्धूनामेतेन । अन्येषां बान्धवाद्यभिमताना शत्रुत्वेनानुप्रेक्षणं अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथितं भवति ॥१७५९॥

इदानीमन्यशब्देन साधवो भण्यते तेषामुपकारकत्वरूपेणानुप्रेक्षेति चेतसि कृत्वा व्याचष्टे—

णीया सत्तू पुरिसस्स हुंति जदिधम्मविग्घकरणेण ।
कारेंति य अतिबहुगं असंजमं तिव्वदुक्खयरं ॥१७६०॥

शत्रु और मित्रका लक्षण कहते हैं—

गा०—जो पुरुष जिसका उपकार करता है वह उसका बान्धव होता है। और जो जिसका अहित करता है वह उसका शत्रु होता है। यह मित्र और शत्रुका लक्षण जानना ॥१७५८॥

आगे बन्धुओंमें शत्रुका लक्षण दिखलाते हैं—

गा०-टी०—बन्धुगण दुःख देनेवाले सब कर्मोंका पूर्णरूपसे विनाश और संसारका सातिशय सुख देनेवाले रत्नत्रयरूप धर्ममें विघ्न करते हैं। और दुःसह नरकादिके खोंको लानेमें तत्पर हिंसा, झूठ, चोरी आदि असंयम कराते हैं। अर्थात् यदि कोई जिनदीक्षा आदि लेकर आत्म-कल्याणमें लगना चाहता है तो परिवारके लोग उसे रोकते हैं तथा अपने पोषणके लिये मनुष्यको बुरे कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं। तो हितसाधनमें विघ्न करनेसे और अहितमें लगानेसे बन्धु शत्रु हैं, यह इसमें दिखलाया है। इसका अभिप्राय यह है कि जो अन्य बान्धव आदि रूपसे इष्ट हैं उन्हें भी शत्रु रूपसे विचारना कि ये मेरे मित्र नहीं हैं, शत्रु हैं, अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥१७५९॥

अब अन्य शब्दसे साधुओंको लेते हैं। उन्हें उपकारी रूपसे विचारना अन्यत्वानुप्रेक्षा है, यह कहते हैं—

गा०—पुरुषके यति धर्म स्वीकार करनेमें विघ्न करनेसे बन्धुगण शत्रु होते हैं तथा वे

[1]अन्यथा यतीना बन्धुत्व कथ [2]प्रस्तुतायां अन्यत्वानुप्रेक्षायामुपयुज्यते ॥१७६०॥

पुरिसस्स पुणो साधू उज्जोव संजणंति जदिधम्मे ।
तध[3] तिव्वदुक्खकरण असंजमं परिहरावेंति ॥१७६१॥

'पुरिसस्स' पुरुषस्य । 'पुणो साधू' साधव पुन 'उज्जोव संजणंति' उद्योग सम्यग्जनयन्ति । 'जदिधम्मे' सर्वारम्भपरिग्रहत्यागरूपे यतिधर्मे, 'तध असंजमं परिहरावेंति' तथा असयम परिहारयन्ति । कीदृग्भूत ? 'तिव्वदुक्खयर' तीव्राणा दुःखानामुत्पादक ॥१७६१॥

उपसहरति प्रस्तुतमर्थ—

तम्हा णीया पुरिसस्स होंति साहू अणेयसुहहेदु ।
मसारमदीणता णीया य णरस्स होंति अरी ॥१७६२॥

'तम्हा' तस्मात् । हिते प्रवर्त्तनात् अहिते निवर्तनात् । 'णीया पुरिसस्स' बन्धव पुरुषस्य । के ? 'साधू' साधव । 'अणेगसुखहेदू' इन्द्रिया[4]तीन्द्रियसकलसुखहेतव । 'समारमदीणता' समारमपारनेकदु खसङ्कुलमवतारयन्त । 'णीया य णरस्स होंति अरी' शत्रवो भवन्ति मनुष्यस्य बन्धव । एतेन सूत्रेण अन्येषा यतीना बन्धूना मित्रत्वशत्रुत्वानुप्रेक्षणे अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथ्यते । एवमनुप्रेक्षमाणस्य धर्मे तदुपदेशक रिणि च यतिजने महानादरो भवति । अभिमत सकल सुखमुपस्थापयतो धर्मस्य विघ्न सम्पादयत्सु चतुर्गतिघटीयन्त्रे[5] दुःखार-[6]आरोहयत्सु नितरामनादरो भवति ॥१७६२॥ अण्णत्त ।

ससारानुप्रेक्षा कथ्यते प्रबन्धेनोत्तरेण—

मिच्छत्तमोहिदमदी संसारमहाडवी तदोदीदि ।
जिणवयणविप्पणट्ठो महाडवीविप्पणट्ठो वा ॥१७६३॥

अत्यन्त दु सह दु खदायी असयम कराते हैं इसलिये भी वे शत्रु हैं ॥१७६०॥

गा०—किन्तु साधु सर्व आरम्भ और सर्व परिग्रहके त्यागरूप मुनिधर्ममें पुरुषको तत्पर करते हैं और तीव्र दु खदायी असयमका त्याग कराते हैं ॥१७६१॥

प्रस्तुत कथनका उपसहार करते हैं—

गा०-टी०—अत हितमें लगाने और अहितसे रोकनेके कारण साधुगण बन्धु हैं। वे इन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय सुखके कारण हैं तथा अनेक दु खोंसे भरे अपार ससारसे पार उतारते हैं। इस गाथाके द्वारा अपनेसे अन्य साधुगणोंका मित्ररूपसे और बन्धुगणोंका शत्रुरूपसे चिन्तन करनेको अन्यत्वानुप्रेक्षा कहा है। ऐसा चिन्तन करनेसे धर्ममें और धर्मका उपदेश करनेवाले साधुगणमें महान आदर होता है। और सर्व इष्ट सुखको देनेवाले धर्ममें विघ्न करनेवालोंमें और जिसपरसे उतरना दुष्कर है उस चार गतिरूपी घटीयन्त्रपर चढाने वालोंमें अत्यन्त अनादर होता है ॥१७६२॥

---

१ अन्येषा—आ० मु०। २ कथमत्र—आ० मु०। ३ असजम परिहरावेंति तिव्वदुक्खयर—आ०। ४ यानिन्द्रि—आ० मु०। ५ यन्त्रे दु खभारे वा—आ० मु०। ६ आरोहत्सु—अ० मु०।

'मिच्छत्तमोहिदमदी' वस्तुयाथात्म्याश्रद्धानं दर्शनमोहोदयजं मिथ्यात्वं तेन मिथ्यात्वेन हेतुना मोहमुपगता मतिर्यस्यासौ । 'ससारमहाडवीं' ससारो महाटवी [1]दुस्तरत्वादनेकदुःखावहत्वाद्विनाशयितृत्वाच्च ता ससारमहाटवी । 'तवो' तस्मात् मिथ्यात्वमूढमतित्वात् । 'अदीदि' प्रविशति । ननु च मिथ्यात्वासंयमकषाययोगाश्चत्वारोऽपि ससारस्य निमित्तभूता तत्र किमुच्यते मिथ्यात्वमूढमतिः ससारमहाटवी प्रविशतीति । अत्रोच्यते—उपलक्षणं मिथ्यात्वग्रहणं असंयमादीना । 'जिणवयणविप्पणट्ठो' द्रव्यभावकर्मारातिजयात् जिनास्तेषा वचनं जीवाद्यर्थयाथात्म्यप्रकाशनपटु प्रत्यक्षादिप्रमाणांतराविरोधि ततो विप्रनष्टस्तदर्थापरिज्ञानाद् यस्तत्त्वाश्रद्धानं तन्निरूपितेन मार्गेणानाचरणाच्च महाटवीं महतीमटवीं प्रविशति । 'विप्पणट्ठो वा' मार्गाद्विप्रनष्ट इव । 'ससारमहोदधिमविगम्म जीवपोतो भमदि' ससारमहासमुद्रं प्रविश्य जीवयानपात्र भ्रमति । कीदृग्भूत ससारमहोदधिं ॥१७६३॥

बहुतिव्वदुक्खसलिल अणतकायप्पवेसपादाल ।
चदुपरिवट्टावत्त चदुगदिबहुपट्टमणत ॥१७६४॥

'बहुतिव्वदुक्खसलिल' बहूनि तीव्राणि दुःखानि सलिलानि यस्मिन्ससारमहोदधौ त । 'अणतकायप्पवेसपादाल' अनन्ताना जीवाना काय शरीरमनतकायं अनन्तकाय [2]प्रवेशास्ते पातालस्थानीया यस्य त । अथवा न विद्यते अन्तो निश्चयोऽस्यैव जीवस्येद शरीरमिति बहूना साधारणत्वात् यस्मिन् काये सोऽनंत कायोऽस्य

आगे ससार अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०-टी०—दर्शनमोहके उदयसे जो वस्तुके यथार्थस्वरूपका अश्रद्धान है उसे मिथ्यात्व कहते हैं। उस मिथ्यात्वके कारण जिसकी मति मोहित है वह मिथ्यात्वसे मोहितमति होनेसे ससाररूपी महा अटवीमे प्रवेश करता है। महाअटवीके समान ही ससारको पार करना कठिन है वह अनेक दुःखोंसे भरा है तथा प्राणीका विनाश करनेवाला है इसलिये ससारको महाटवी कहा है।

शंका—मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग ये चारो भी ससारके हेतु हैं। तब यह क्यो कहा कि मिथ्यात्वमे जिसकी मति मूढ है वह ससार महाटवीमे प्रवेश करता है।

समाधान—मिथ्यात्वका ग्रहण असयम आदिका उपलक्षण है अत मिथ्यात्वके ग्रहणमे असयम आदिका ग्रहण हो जाता है। द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेसे जो जिन कहे जाते हैं उनके वचन जीवादि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशनमे दक्ष हैं तथा वे प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणोंमे अविरुद्ध हैं। उन वचनोका अर्थ न जाननेसे जो तत्त्वोंका अश्रद्धान है उससे तथा उसमें कहे गये मार्गके अनुसार आचरण न करनेसे ससाररूपी महाअटवीमे प्रवेश करता है। तथा मार्गसे भ्रष्ट होकर जीवरूपी जहाज ससाररूपी महासमुद्रमे प्रवेश करके भटकता है ॥१७६३॥

ससाररूपी महासमुद्र कैसा है, यह बतलाते हैं—

गा०-टी०—जिस ससाररूपी महासमुद्रमे तीव्र दुःखरूपी जल भरा है और अनन्त जीवोंके काय अर्थात् शरीरको अनन्तकाय कहते हैं। अनन्तकायमे प्रवेश ही जिस ससार समुद्रमे पाताल हैं। अथवा 'यह शरीर इसी जीवका है' ऐसा अन्त अर्थात् निश्चय जहाँ नहीं वह काय अनन्त है

---

१ दुस्तरत्वाद् बहुत्वा —आ० मु० । २ कायस्य प्र०, आ० ।

जीवस्येत्यनन्तकाय । अन्तरेणापि भावप्रधानो निर्देश । तेनायमर्थ अनन्तकायत्वस्य प्रवेश अनन्तकाय-प्रवेश स पाताल यस्य त । 'चदुपरिवट्टावत्त' चत्वार द्रव्यक्षेत्रकालभावाख्या परिवर्ता आवर्ता यस्मिस्त । 'चदुगदिबहुपट्टण' चतस्रो गतयो बहूनि महान्ति पत्तनानि यस्मिस्त । 'अणत' अनन्त ॥१७६४॥

हिंसादिदोसमगरादिसावद दुविहजीवबहुमच्छ ।
जाइजरामरणोदयमणेयजादीमदुम्मीयं ॥१७६५॥

'हिंसादिदोसमगरादिसावद' हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहा हिंसादिदोषास्ते मकरादय श्वापदा यस्मिस्त । 'दुविहजीवबहुमच्छ' द्विविधा स्थावरजगमविकल्पा जीवा इति द्विविधा जीवास्ते बहवो मत्स्या यस्मिस्त । 'जादिजरामरणोदय' जातिरभिनवशरीरग्रहण, जरा नाम गृहीतस्य शरीरस्य तेजोबलादिभिरूनता, मरण शरीरादपगम एतानि जातिजरामरणानि उदय उद्गतिर्यस्मिस्त । 'अणेयजादीसुदुम्मीग' अनेकानि जातिशतानि ऊर्मयो यस्मिस्त । एकद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियजातय प्रत्येकमवान्तरभेदापेक्षया पृथिवीकायिका, अप्कायिका-स्तेजस्कायिकवनस्पतिकायिका इति । एकेन्द्रियजातिरनेकप्रकारा । षड्त्रिंशद्विकल्पा पृथिवी । आपोऽपि वर्षहिम-हिमानीकरकादिभेदभिन्ना । अग्निरपि प्रदीपोल्मुकर्मार्चिरित्यनेकभेद । वायुरपि गुञ्जामण्डलिकादिविकल्प । वनस्पतयोऽपि तरुगुल्मवल्लीलतातृणादिभेदास्ततो जातिशतानीत्युक्त ॥१७६५॥

क्योकि एक शरीरमे बहुतसे जीव समानरूपसे रहते हैं। वह अनन्तकाय जिस जीवकी है वह अनन्तकाय है। 'भाव प्रत्ययके विना भी निर्देश भावप्रधान होता है' इस नियमके अनुसार अर्थ होता है अनन्त कायत्वका प्रवेश अनन्तकाय प्रवेश। वही जिसमे पाताल है। तथा द्रव्य क्षेत्र काल और भाव परिवर्तन रूप जिसमे चार भँवर हैं। और चारगतिरूप महान् द्वीप हैं तथा जो अनन्त है ॥१७६४॥

विशेषार्थ—ससारको महासमुद्रकी उपमा दी है। समुद्रमे जल होता है ससारमे दु ख ही जल है। जैसे जलका आरपार नही है वैसे ही ससारके दु खका भी आदि अन्त नही है। समुद्रमे पाताल होते हैं जिनमे प्रवेश करके निकलना कठिन है। ससारमे जो अनन्तकाय निगोद हैं वही पाताल है उसमे प्रवेश करके निकलना कठिन है। समुद्रमे भँवर होते है। ससारमे परिवर्तनरूप भँवर है। समुद्रमे द्वीप होते हैं जहाँ कुछ समय ठहर सकते हैं। ससारमे चार गतियाँ ही द्वीप हैं। इसी प्रकार समुद्र भी अनन्त है और ससार भी ॥१७६४॥

गा०-टी०—उस ससाररूपी समुद्रमे हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहरूपी मगर आदि क्रूर जन्तु रहते हैं। स्थावर और जगम जीवरूप बहुतसे मच्छ हैं। जाति अर्थात् नया शरीर धारण करना, जरा अर्थात् वर्तमान शरीरके तेज बल आदिमे कमी होना, मरण अर्थात् शरीरका त्याग। ये जाति जरा और मरण उसके उठाव हैं तथा सैकडो जातियाँरूपी उसमे तरगें हैं। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पचेन्द्रिय ये पाँच जातियाँ हैं। इसमेसे प्रत्येकके अनेक अवान्तर भेद हैं। जैसे एकेन्द्रिय जातिके पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वनस्पतिकायिक आदि अनेक भेद हैं। उनमेसे भी पृथिवीके छत्तीस भेद हैं। जलके भी वर्षा, हिम, ओले आदि भेद हैं। आगके भी दीपक, अगार, लपट आदि अनेक भेद हैं। वायुके भी गुजा, माण्डलिक आदि भेद हैं। वनस्पतिके भी वृक्ष, झाडी, बेल, लता, तृण आदि भेद हैं। इसीसे सैकडो जातियाँ कही हैं ॥१७६५॥

दुविहपरिणामवादं संसारमहोदधिं परमभीमं ।
अदिगम्म जीवपोदो भमइ चिरं कम्मभण्डभरो ॥१७६६॥

'दुविधपरिणामवादं' द्विविधाः शुभाशुभपरिणामा वाता यस्मिंस्तं । 'परमभीमं' अतिभयंकरं । 'अदिगम्म' प्रविश्य । 'जीवपोदो' जीवपोतः । 'भमइ चिरं' चिरकालं भ्रमति । 'कम्मभण्डभरो' कर्मद्रविणभारः । त्रिभिः सम्बन्धः ॥१७६६॥

भवसंसारं निरूपयति—

एगविगतिगचउपंचिंदियाण जाओ हवंति जोणीओ ।
सव्वाओ ताओ पत्तो अणंतखुत्तो इमो जीवो ॥१७६७॥

'एगविगतिगचउपंचिंदियाण' नामकर्म गतिजात्यादिविविधभेदं । तत्र जातिकर्म पञ्चविकल्पं एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजातिविकल्पेन तासां जातीनामुदयात् । एकेन्द्रियतादिपर्यायभाजो जीवा एकेन्द्रियादिशब्देनोच्यन्ते । तेषामेकेन्द्रियादीनां योनय आश्रया बादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तकाख्या जीवद्रव्याणामिहाश्रयत्वेन विवक्षिताः । 'सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः' [त० सू० २।३२] इति सूत्रे ये निर्दिष्टाश्चतुरशीतिशतसहस्रविकल्पास्त इह न गृह्यन्ते । यतः सूत्रान्तरे देवत्वनारकत्वमनुष्यत्वतिर्यक्त्वाख्या भवपर्यायपरावृत्तिर्भवसंसार इत्युक्तं ।

णिरयादिजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लयादु गेवज्जा ।
मिच्छत्तसंसिदेण दु भवट्ठिदी भज्जिदा बहुसो ॥ इति वचनात् ॥

योनयो न भवशब्दवाच्याः । जीवपर्यायो हि भवस्तत्र भवः संसारस्त्रिशद्विधः—पृथिव्यप्तेजोवायुवन-

---

गा०- कर्मरूपी भाण्डसे भरा हुआ जीवरूपी जहाज शुभ अशुभ परिणामरूप वायुसे युक्त अतिभयंकर संसार महासागरमें प्रवेश करके चिरकाल तक भ्रमण करता है ॥१७६६॥

अब भवसंसारका कथन करते हैं—

गा०-टी०—नामकर्मके गतिनामकर्म जातिनामकर्म आदि अनेक भेद हैं। उनमेंसे जातिनामकर्मके पाँच भेद हैं—एकेन्द्रिय जातिनाम, दोइन्द्रिय जातिनाम, त्रीन्द्रिय जातिनाम, चतुरिन्द्रिय जातिनाम और पञ्चेन्द्रिय जातिनाम। उन जातिनाम कर्मोंके उदयसे एकेन्द्रिय आदि पर्यायमें जन्म लेनेवाले जीव एकेन्द्रिय आदि शब्दसे कहे जाते हैं। उन एकेन्द्रिय आदिकी बादर सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त योनियोंको यहाँ जीवद्रव्यका आश्रय कहा है। तत्त्वार्थ सूत्रके 'सचित्तशीतसंवृता' इत्यादि सूत्रमें जो चौरासी लाख योनियाँ कही हैं, यहाँ उनका ग्रहण नहीं किया है। क्योंकि उसी तत्त्वार्थसूत्रके 'संसारिणो मुक्ताश्च' सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीकामें देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यञ्च नामक भवपर्यायके परावर्तनको भवसंसार कहा है। कहा है—'इस जीवने नरकगति आदिकी जघन्य स्थितिसे लेकर उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त अनेक भवस्थितियोंको मिथ्यात्वके संसर्गसे भोगा है।'

अतः भवशब्दसे योनियाँ नहीं कही जातीं। जीवकी पर्यायको भव कहते हैं। भवसंसार तीस प्रकारका है—पृथिवीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकायमेंसे प्रत्येकके

स्पतिकाया प्रत्येक बादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तविकल्पाद्विंशतिविधा । द्वित्रिचतुरिन्द्रियासञ्ज्ञासञ्ज्ञिविकल्पा पञ्चेन्द्रियाश्च पर्याप्तापर्याप्तकविकल्पा दशविधा । अन्ये तु भवपरिवर्तनमेव [1]वदन्ति । नरकगतौ सर्वजघन्य-मायुर्दशवर्षसहस्राणि । तेनायुषा तत्रोत्पन्न पुन परिभ्रम्य तेनैवायुषा तत्र जायते । एव दशवर्ष-सहस्राणा यावन्त समयास्तावत्कृत्वा तत्रैव जातो मृत । पुनरेकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि । तत प्रच्युत्य तिर्यग्गतौ अन्तर्मुहूर्तायु समुत्पन्न । पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि परि-समापितानि । तत प्रच्युत्य एव मनुष्यगतौ । देवगतौ नारकवत् । अय तु विशेष , एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि यावत्तावद्भवपरिवर्तना सर्वास्ता भवन्ति इति । अनन्तवारमय प्राप्तो जीव ॥१७६७॥

द्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—

अण्ण गिण्हदि देह त पुण मुत्तूण गिण्हदे अण्ण ।
घडिजंत व य जीवो भमदि इमो दव्वससारे ॥१७६८॥

अण्ण गेण्हदि देह' अन्यच्छरीर गृह्णाति । **'त पुण मुत्तूण'** तच्छरीर मुक्त्वा पुनरन्यद् गृह्णाति । **घटीयन्त्रमिव जीवो'** घटीयन्त्रवज्जीव । यथा घटीयन्त्र अन्यज्जल गृह्णाति तत त्यक्त्वा पुनरन्यदादत्ते एवमय शरीराणि गृह्णन् मुञ्चश्च भ्रमति । शरीराणि विचित्राणि द्रव्यशब्देनोच्यन्ते तत्स्वात्मन परिवर्तन

बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त चार भेद होनेसे बीस भेद होते हैं। तथा दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असज्ञिपञ्चेन्द्रिय और सज्ञीपञ्चेन्द्रियके पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद होनेसे दसभेद होते हैं।

अन्य आचार्य भवपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते है—

नरकगतिमे सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है। कोई जीव उस आयुको लेकर नरकमे उत्पन्न हुआ। पुन परिभ्रमण करके उतनी ही आयुको लेकर नरकमे उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दस हजार वर्षोंके जितने समय होते हैं उतनी बार दस हजार वर्षकी आयु लेकर नरकमे उत्पन्न हुआ और मरा। पुन दस हजार वर्षकी आयुमे एक-एक समय बढाकर नरकमे उत्पन्न होते हुए वहाँकी उत्कृष्ट आयु तेंतीस सागर पूर्ण की। नरककी आयु पूर्ण करनेके पश्चात् तिर्यञ्च-गतिमे एक अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मरा। नरकगतिमे कहे क्रमानुसार तिर्यञ्चगतिकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य पूर्ण की। तिर्यञ्चगतिके समान मनुष्यगतिकी आयु पूर्ण की और नरकगतिके समान देवगतिकी आयु पूर्ण की। किन्तु इतना विशेष है कि उपरिम ग्रैवेयकको उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर पूर्ण होने पर समस्त भवपरिवर्तन हो जाते हैं। ऐसे भवपरिवर्तन इस जीवने अनन्तवार किये हैं ॥१७६७॥

द्रव्यपरिवर्तनको कहते हैं—

गा०—टी०—घटीयन्त्रकी तरह जीव अन्य शरीरको छोडकर अन्य शरीरको ग्रहण करता है। उसे भी छोडकर अन्य शरीरको ग्रहण करता है। जैसे घटीयन्त्र नया जल ग्रहण करता है उसे निकालकर फिर नया जल ग्रहण करता है। उसी प्रकार यह जीव शरीरोंको ग्रहण करता और छोडता हुआ भ्रमण करता है। द्रव्यशब्दसे विचित्र शरीर कहे हैं। आत्माके शरीरोंका

---

१ सर्वार्थसि० २।१०।

द्रव्यसंसार इति ग्रन्थकारस्यास्य व्याख्या स्थूलबुद्धीनुद्दिश्य । एवं तु द्रव्यपरिवर्तनं ग्राह्यं । द्रव्यपरिवर्तनं द्विविध—नोकर्मपरिवर्तनं कर्मपरिवर्तनं चेति । तत्र नोकर्मपरिवर्तनं नाम त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेन एकस्मिन्समये गृहीताः स्निग्धरूक्षवर्णगन्धादिभिस्तीव्रमन्दमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा अगृहीताननन्तवारानतीत्य, मिश्रकांश्च अनन्तवारानतीत्य मध्ये गृहीतागृहीतांश्च अनन्तवारानतीत्य त एव तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्स-मुदितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं । कर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेन अष्टविधकर्मभावेन ये च गृहीताः समयाधिकावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनं ॥१७६८॥

> रंगगदणडो व इमो बहुविहसंठाणवण्णरूवाणि ।
> गिण्हदि मुच्चदि य ठिदं जीवो संसारमावण्णो ॥१७६९॥

'रंगगदणडो व' रंगप्रविष्टनट इव । 'इमो' अयं 'बहुविहसंठाणवण्णरूवाणि' बहुविधसंस्थानवर्णस्वभा-वान् । गिण्हदि य 'मुच्चदि य अठिदं' गृह्णाति मुञ्चति च [1]अस्थितं । क्रियाविशेषणमेतत् । 'जीवो संसार-मावण्णो' जीवो द्रव्यसंसारमापन्नः ॥१७६९॥

क्षेत्रसंसारं निरूपयति—

> जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणंतसो चेव ।
> काले तदम्मि इमो ण सो पदेसो जए अत्थि ॥१७७०॥

परिवर्तन द्रव्यसंसार है। ग्रन्थकारने स्थूलबुद्धि वालोंको लक्ष करके द्रव्यसंसारका यह स्वरूप कहा है, किन्तु द्रव्यपरिवर्तन इस प्रकार लेना।

द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं—नोकर्म परिवर्तन और कर्म परिवर्तन। उनमेंसे नोकर्म परि-वर्तन इस प्रकार है—तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य जो पुद्गल एक जीवने एक समयमें ग्रहण किये, उनमें जैसा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहा हो और तीव्र, मन्द या मध्यम भावसे वे ग्रहण किये गये हों, दूसरे आदि समयोंमें उन्हें भोगकर छोड़ दिया। उसके पश्चात् अनन्तवार अगृहीत-को ग्रहण करके, अनन्तवार मिश्रको ग्रहण करके, मध्यमें गृहीत और अगृहीतको अनन्तवार ग्रहण करके वे ही पुद्गल उसी जीवके उसी प्रकारसे जब नोकर्म रूपको प्राप्त होते हैं, उस सबको नोकर्म परिवर्तन कहते हैं। अब कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं—एक समयमें एक जीवने आठ कर्म-रूपसे जो पुद्गल ग्रहण किये और एक समय अधिक एक आवली कालके पश्चात् द्वितीय आदि समयोंमें उन्हें भोगकर छोड़ दिया। नोकर्म परिवर्तनमें कहे क्रमके अनुसार वे ही कर्मपुद्गल उसी जीवके उसी प्रकारसे जब कर्मरूपसे आते हैं उस सबको कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं ॥१७६८॥

गा०—जैसे रंगभूमिमें प्रविष्ट हुआ नट अनेक रूपोंको धारण करता है उसी प्रकार द्रव्य-संसारमें भ्रमण करता हुआ जीव निरन्तर अनेक आकार, रूप, स्वभाव आदिको ग्रहण करता और छोड़ता है ॥१७६९॥

---

१. दि य ठि: आ० । २ अवस्थित —आ० मु० ।

'जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज' यत्र क्षेत्रे जातो मृतो वा न भवेज्जीव । 'अणंतसो चेव' अनन्तवारान् । 'कालेतीदम्मि इमो अतीते कालेऽयं । ण सो पदेसो जगे अत्थि' नासौ प्रदेशो जगति विद्यते । अन्ये तु क्षेत्रपरिवर्तन—जयति सूक्ष्मनिगोदजीवो पर्याप्तक सर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान् स्वशरीरमध्यप्रदेशान् कृत्वोत्पन्न क्षुद्रभवग्रहण जीवित्वा मृत, स एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रिश्चतुरिति। एव यावन्तोऽङ्गुलस्यासख्येयभागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्वा तत्रैव जनित्वा पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वलोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति यावत्तावत् क्षेत्रपरिवर्तन । उक्त च—

सव्वम्मि लोगखित्ते कमसो स णत्थि जण्ण उप्पण्ण ।
ओगाहणा य बहुसो परिभमिदो खित्तससारे ॥ [बा० अणु० २६]॥१७७०॥

कालपरिवर्तनमुच्यते—

तक्कालतदाकालसमएसु जीवो अणतसो चेव ।
जादो मदो य सव्वेसु इमो तीदम्मि कालम्मि ॥१७७१॥

'तक्कालतदाकालसमयेसु' उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसज्ञितयो कालयोर्ये समयास्तेषु । 'जीवो अणतसो चेव' जीवोऽनन्तवारान् । 'जादो मदो य सव्वेसु' जातो मृतश्च सर्वेषु समयेषु । 'इमो तीदम्मि कालम्मि' अयमतीते काले । इयमस्या गाथाया प्रपञ्चव्याख्या—उत्सर्पिण्या प्रथमसमये जात कश्चिज्जीव स्वायुष परिसमाप्तौ मृत, स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जात स्वायुष क्षयान्मृत । स एव पुनस्तृतीयाया-

---

अब क्षेत्रसमारको कहते हैं—

गा०—जगत्मे ऐसा कोई प्रदेश नही है जहाँ यह जीव अतीत कालमे अनन्तवार जन्मा और मरा न हो ॥१७७०॥

टी०—अन्य आचार्य क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव सबसे जघन्य प्रदेशवाला शरीर लेकर लोकके आठ मध्यप्रदेशोको अपने शरीरके मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभव ग्रहण करके एक श्वासके अठारहवें भाग समय तक जिया और मरा । वही जीव पुन उसी अवगाहनाको लेकर उसी स्थानमे दुबारा उत्पन्न हुआ, तिबारा उत्पन्न हुआ, चौथी बार उत्पन्न हुआ । इस तरह अगुलके असख्यातवें भाग प्रमाण आकाशमे जितने प्रदेश होते हैं उतनी बार वहाँ उत्पन्न हुआ । पुन एक-एक प्रदेश बढाते-बढाते सर्वलोकको अपना जन्मक्षेत्र बनाया । इस सबको क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं । कहा भी है—

सब लोकक्षेत्रमे ऐसा कोई स्थान नही है जहाँ यह क्रमसे उत्पन्न नही हुआ । अनेक अवगाहनाके साथ इस जीवने क्षेत्र ससारमे परिभ्रमण किया ॥१७७०॥

कालपरिवर्तनको कहते हैं—

गा०—यह जीव अतीत कालमे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोमे अनन्त बार उत्पन्न हुआ और अनन्तबार मरा ॥१७७१॥

टी०—इस गाथाकी विस्तृत व्याख्या इस प्रकार है—उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमे उत्पन्न हुआ कोई जीव अपनी आयुके समाप्त होनेपर मरा । वही जीव पुन दूसरी उत्सर्पिणीके

उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जात । एवमनेन क्रमेण उत्सर्पिणी परिसमाप्ता तथा चावसर्पिणी । एवं जन्मनैरन्तर्य-मुक्तं । मरणस्यापि नैरन्तर्यं तथैव ग्राह्यमेव तावत्कालपरिवर्तनं । उक्तं च—

'उवसप्पिणिअवसप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु ।
जादो मदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे ॥' [बा०, अणु० २७] ॥१७७१॥

स्पन्दनसंसारं निरूपयत्युत्तरगाथा—

अट्ठपदेसे मुत्तूण इमो सेसेसु सगपदेसेसु ।
तत्तमिव अद्धरणं उव्वत्तपरत्तणं कुणदि ॥१७७३॥

'अट्ठपदेसे मुत्तूण' अष्टौ प्रदेशान्रुचकाकारान् मुक्त्वा । 'इमो' अयं जीवः । 'सेसेसु सगपदेसेसु' शेषेषु स्वप्रदेशेषु 'तत्तमिव अद्दहणं' तप्तजलमध्यस्थतन्दुलवत् । 'उव्वत्त परत्तणं कुणदि' उद्वर्तनं परावर्तनं करोति । एतया गाथया स्वप्रदेशेषु संसारतामात्मनः क्षेत्रसंसारत्वेनोच्यते ॥१७७३॥

भावसंसारोत्तरप्रतिपादनार्थं गाथा—

लोगागासपएसा असंखगुणिदा हवंति जावदिया ।
तावदियाणि हु अज्झवसाणाणि इमस्स जीवस्स ॥१७७४॥

'लोगागासपदेसा' लोकाकाशस्य प्रदेशाः । 'असंखगुणिदा' असंख्यगुणिताः । 'हवंति जावदिया' यावन्तो भवन्ति । 'तावदियाणि हु अज्झवसाणाणि' तावदध्यवसायस्थानानि भवन्ति । 'इमस्स जीवस्स' अस्य जीवस्य । जीवस्य असंख्यातलोकप्रमाणेष्वध्यवसायसंज्ञितेषु भावेषु परावृत्तिर्भावसंसारः ॥१७७४॥

दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ और अपनी आयुके समाप्त होने पर मरा। वह जीव पुनः तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ। इस क्रमसे उसने उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी क्रमसे अवसर्पिणी समाप्त की। अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोंमें क्रमसे जन्मा। तथा इसी प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब समयोंमें मरा भी। इस सबको काल परिवर्तन कहते हैं। कहा भी है—

कालसंसारमें भ्रमण करनेसे यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोंमें अनेक बार जन्मा और अनेक बार मरा ॥१७७१॥

आगे क्षेत्रसंसाररूप स्पन्दन संसारको कहते हैं—

गा०—लोकके मध्यमें स्थित गौके स्तनके आकार आठ प्रदेशोंको छोड़कर यह जीव अपने शेष प्रदेशोंमें तप्त जलके मध्यमें स्थित चावलोंकी तरह उद्वर्तन परावर्तन किया करता है। अर्थात् जैसे आग पर रखे गर्म जलमें पड़े हुए चावल ऊपर नीचे हुआ करते हैं उसी प्रकार आठ मध्य प्रदेशोंको छोड़कर जीवके शेष प्रदेश चल रहते हैं ॥१७७३॥

भाव संसारका कथन करते हैं—

गा०—लोककाशके प्रदेशोंको असंख्यातसे गुणा करनेपर जितनी राशि होती है उतने ही इस जीवके अध्यवसाय स्थान होते हैं। इन असंख्यात लोक प्रमाण अध्यवसाय नामक भावोंमें जीवके परावर्तनको भाव संसार कहते हैं ॥१७७४॥

अज्झवसाणठाणंतराणि जीवो विकुव्वइ इमो हु ।
णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि णाणाविहे वण्णे ॥१७७५॥

'अज्झवसाणठाणंतराणि जीवो विकुव्वइ इमो खु' अध्यवसायस्थानान्तराणि जीव परिणमयत्ययं । 'णिच्चपि' नित्यमपि, 'यथा सरडो णाणाविहे वण्णे' यथा शाना नानाविधान्वर्णानुपादत्ते । एव ससार ॥१७७५॥

तस्य भयमुपदर्शयति—

आगासम्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी ।
हिंसंति एक्कमेक्कं सव्वत्थ भयं खु संसारे ॥१७७६॥

'आयासम्मि वि पक्खी' आकाशे संचरन्त परकीयपक्षिणोऽपि बाधन्ते । 'जले वि मच्छा' जलेऽपि मत्स्या । 'थले वि थलचारी' भूमावपि भूमिचारिण । 'हिंसंति' बाधन्ते । 'एक्कमेक्क' अन्यान्य । 'सव्वत्थ भय खु ससारे' सर्वत्र भय ससारे ॥१६७६॥

गा०—जैसे गिरगिट नित्य ही नाना प्रकारके रंग बदलता है वैसे ही यह जीव अध्यवसाय स्थानोको धारण करता हुआ परिणमन करता है ॥१७७५॥

विशेषार्थ—भावपरिवर्तनका विस्तृत स्वरूप इस प्रकार है—पञ्चेन्द्रिय सज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई जीव सबसे जघन्य अपने योग्य ज्ञानावरण कर्मका अन्त कोटिकोटी सागर प्रमाण स्थितिबन्ध करता है। उस जीवके उस स्थितिबन्धके योग्य असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थान होते हैं। उनमेंसे सबसे जघन्य कषायाध्यवसायस्थानमें निमित्त असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं। इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषायाध्यवसाय स्थान, सबसे जघन्य ही अनुभागबन्ध स्थानको प्राप्त उस जीवके उसके योग्य सबसे जघन्य एक योगस्थान होता है। फिर उसी स्थिति, उसी कषाय स्थान और उसी अनुभागस्थानको प्राप्त उस जीवके दूसरा योगस्थान होता है जो पहलेसे असंख्यात भागवृद्धियुक्त होता है। इस प्रकार श्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंके समाप्त होनेपर पुन वही स्थिति और उसी कषायाध्यवसायस्थानको प्राप्त उसी जीवके दूसरा अनुभागाध्यवसायस्थान होता है। उसके भी योगस्थान पूर्ववत् जानना चाहिये। इस प्रकार तीसरे आदि असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होनेपर उसी स्थितिको प्राप्त उसी जीवके दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है। उसके भी अनुभागाध्यवसायस्थान पूर्ववत् जानना। इस प्रकार तीसरे आदि कषायाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होनेपर वही जीव एक समय अधिक जघन्यस्थितिको बाँधता है। उसके भी कषायादि स्थान पूर्ववत् जानना। इसी प्रकार एक-एक समय अधिकके क्रमसे ज्ञानावरण कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर पूर्ववत् बाँधता है। इसी प्रकार सब मूलकर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंकी सब स्थितियोंको उक्त प्रकारसे बाँधता है। इस सबको भावपरिवर्तन कहते हैं ॥१७७५॥

ससारमें भय दर्शाते हैं—

गा०—आकाशमें विचरण करते हुए पक्षियोको दूसरे पक्षी बाधा देते हैं। जलमें मच्छ बाधा करते हैं। थलमें थलचारी बाधा करते हैं। इस प्रकार सर्वत्र एक दूसरेको हिंसा करते हैं। अत ससारमें सर्वत्र भय है ॥१७७६॥

समगो वाहपरद्धो बिलत्ति णाऊण अजगरस्स मुहं ।
सरणत्ति मण्णमाणो मच्चुस्स मुहं जह अदीदि ॥१७७७॥

'ससगो वाहपरद्धो' शशो व्याधेनोपद्रुत, 'विलत्तिणाऊण अजगरस्य मुहं' विलमिति ज्ञात्वा अजगरस्य मुखं । 'सरणत्ति मण्णमाणो' शरणमिति मन्यमान । 'मच्चुस्स मुहं जह अदीदि' मृत्योर्मुखं यथा प्रविशति ॥१७७७॥

तह अण्णाणी जीवा परिद्धमाणच्छुहादिवाहेहिं ।
अदिगच्छंति महादुहहेदुं संसारसप्पमुहं ॥१७७८॥

'तह अण्णाणी जीवा' तथा अज्ञानिनो जीवा । 'परिद्धमाणच्छुहादिवाहेहिं' अनुबाध्यमाना क्षुदादिभि व्याधैः[1] । 'अदिगच्छंति' प्रविशन्ति । 'महादुहहेदुं' महतो दुःखस्य निमित्तं । 'संसारसप्पमुहं' संसारसर्पमुखं ॥१७७८॥

जावदियाइं सुहाइं होंति लोगम्मि सव्वजोणीसु ।
ताइंपि बहुविधाइं अणंतखुत्तो इमो पत्तो ॥१७७९॥

'जावदियाइं' यावन्ति । 'सुहाणि होंति लोगम्मि' सुखानि भवन्ति लोके । 'सव्वजोणीसु' सर्वासु योनिषु । 'ताइंपि बहुविधाइं' तान्यपि बहुविधानि । 'अणंतखुत्तो इमो पत्तो' अनन्तवारमयं जीवः प्राप्त ॥१७७९॥

दुक्खं अणंतखुत्तो पावेत्तु सुहंपि पावदि कहिं वि ।
तह वि य अणंतखुत्तो सव्वाणि सुहाणि पत्ताणि ॥१७८०॥

'दुक्ख अणंतखुत्तो पावेत्तु सुहंपि पावदि कहिंवि' दुःखमपि अनन्तवारं प्राप्य सुखमपि प्राप्नोति क्वचित् । 'तह वि य अणंतखुत्तो' तथाप्यनन्तवारं 'सव्वाणि सुखाणि पत्ताणि' सर्वाणि सुखानि प्राप्तानि गणभृता चक्रवर्तिना पञ्चानुत्तरविमानवासिना लौकान्तिकानामहमिन्द्राणां च सुखानि मुक्त्वा ॥१७८०॥

गा०—जैसे खरगोश व्याधसे सताया जानेपर बिल समझकर अजगरके मुखमें प्रवेश करता है। वह उसे अपना शरण मानकर मृत्युके मुखमें प्रवेश करता है ॥१७७७॥

गा०—उसी प्रकार अज्ञानी जीव भूख प्यास आदि व्याधोंके द्वारा पीडित होनेपर महान् दुःखमें निमित्त संसाररूपी सर्पके मुखमें प्रवेश करते हैं ॥१७७८॥

गा०—लोकमें सब योनियोंमें जितने प्रकारके सुख होते हैं उन सब अनेक प्रकारके सुखोंको भी इस जीवने अनन्तबार भोगा है ॥१७७९॥

गा०—अनन्तबार दुःखोंको प्राप्त करके कदाचित् सुखको भी प्राप्त करता है। तथापि अनन्तबार इस जीवने सब सुखोंको प्राप्त किया है ॥१७८०॥

टी०—किन्तु गणधर, चक्रवर्ती, पाच अनुत्तर विमानवासी, लौकान्तिक और अनुदिश विमानवासी देवोंका सुख इस जीवने प्राप्त नही किया, क्योंकि ये चक्रवर्तीको छोडकर शेष सब नियमसे सम्यग्दृष्टि होनेसे मोक्षगामी होते हैं। और चक्रवर्ती पद बार-बार प्राप्त नही होता है ॥१७८०॥

---

१ अनुभाव्यमाना क्षुदादिभिर्व्याधैः व्याधैश्च —आ० मु० ।

करणेहिं होदि विगलो बहुसो चित्तवचिसोदणिचेहिं ।
घाणेण य जिब्भाए चिट्ठाबलविरियजोगेहिं ॥१७८१॥

'करणेहिं होदि विगलो' विकलेन्द्रियः क्वचिद्भवति । 'बहुसो' बहुशः । 'चित्तवचिसोदणित्तेहिं' मनसा वचसा श्रोत्रेण नेत्रेण करणेन हीनः । स्पर्शनेन्द्रियवैकल्यासंभवात् तदनुपन्यासः । 'घाणेण य' घ्राणेन च । 'जिब्भाए' जिह्वया । 'चेट्ठाबलविरियजोगेहिं' चेष्टया बलेन वीर्येण च ॥१७८१॥

जच्चंधबहिरमूओ छादो तिसिओ वणे व एयाई ।
भमइ सुचिरंपि जीवो जम्मवणे णट्ठसिद्धिपहो ॥१७८२॥

'जच्चंधबधिरमूगो' जात्यन्धो, बधिरो, मूकः । 'छादो' क्षुधा पीडितः, 'तिसिदो' तृषाभिभूतः । 'वणे व एगागी भमदि' असहायो यथा वने भ्रमति । तथा 'सुचिरंपि' चिरकालमपि । जीवो 'जम्मवणे' जन्मवने भ्रमति । 'णट्ठसिद्धिपहो' नष्टसिद्धिमार्गः । उक्तं च—

कलुषचरितैर्नष्टज्ञानस्सुसंचितकर्मभिः, करणविकलः [1]कर्मोद्भूतो भवार्णवपाततः ।
सुचिरमवशो दुःखार्तो [2]निमीलितलोचनो, भ्रमति कृपणो नष्टत्राणः शुभेतरकर्मकृत् ।
श्रवणविकलो वाग्धीनोऽज्ञो यथावृतलोचनः, तृषितमलिनो नष्टोऽटव्यां चरेदसहायकः ।
असकृदसकृत् गृह्णन् मुञ्चंश्चराचरदेहतां, भ्रमति सुचिरं जन्माटव्यां तथायमदेशकः ॥इति॥१७८२॥

एइंदियेसु पंचविधेसु वि उत्थाणवीरियविहूणो ।
भमदि अणंतं कालं दुक्खसहस्साणि पावेंतो ॥१७८३॥

'एगिंदियेसु पंचविधेसु वि' एकेन्द्रियेषु पञ्चप्रकारेष्वपि । पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिशरीरधारिषु ।

गा०—यह जीव बहुत बार मन, वचन, श्रोत्र, नेत्र, घ्राण और जिह्वा इन्द्रिय तथा चेष्टा बल और वीर्यसे हीन विकलेन्द्रिय होता है।

टी०—किसी प्राणीका स्पर्शन इन्द्रियसे हीन होना तो असंभव है अतः उसका कथन नहीं किया है ॥१७८१॥

गा०-टी०—कभी यह जीव जन्मसे ही अन्धा, बहिरा, गूँगा होता है और भूख तथा प्याससे पीडित होकर जैसे कोई मार्ग भूलकर वनमें अकेला भटकता है उसी प्रकार मोक्षमार्गसे भ्रष्ट होकर जन्मरूपी वनमें अकेला भ्रमण करता है। कहा भी है—अपने बुरे आचरणोंसे संचित किये कर्मोंके द्वारा अपना ज्ञान खोकर यह जीव विकलेन्द्रिय होता है तथा कर्मोंसे प्रेरित हो संसाररूपी समुद्रमें गिरकर चिरकाल तक पराधीन हो, आँख बन्द करके भ्रमण करता है। उसका कोई रक्षक नहीं होता। जैसे कोई बहरा, गूँगा अन्धा मूर्ख प्राणी प्याससे व्याकुल हो, मार्ग भूलकर अकेला वनमें भटकता है। उसी प्रकार यह संसारी प्राणी मार्गदर्शकके बिना बार-बार त्रसस्थावर पर्यायको ग्रहण करता और छोड़ता हुआ चिरकाल तक जन्मरूपी वनमें भ्रमण करता है ॥१७८२॥

गा०—पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पतिका शरीर धारण करनेवाले पाँच प्रकारके

---

१. कर्मोद्भूतभ —आ०। २. तोऽन्य नि —मु०।

'उत्थाणवीरियविहीणो' पृथिव्यादिकायान् परित्यज्य त्रसकायप्राप्तिनिमित्तोत्थानवीर्यरहित । 'भमदि अणंत काल' भ्रमति अनन्तकाल । 'दुक्खसहस्साणि पावेंतो' दुःखसहस्राणि प्राप्नुवन् ॥१७८३॥

बहुदुक्खावत्ताए ससारणदीए पावकलुसाए ।
भमइ वरागो जीवो अण्णाणणिमीलिदो सुचिरं ॥१७८४॥

'बहुदुक्खावत्ताए' बहुदुःखावर्तायां । 'ससारणदीए' संसृतिनद्यां । 'पावकलुसाए' पापकलङ्कसहितायां । 'वरागो जीवो भमदि' दीनो जीवो भ्रमति । 'सुचिर अण्णाणणिमीलिदो' अज्ञानेन निमीलित ॥१७८४॥

विसयामिसारगाढ कुजोणिणेमि सुहदुक्खदढखीलं ।
अण्णाणतुंबधरिदं कसायदढपट्टियाबंध ॥१७८५॥

'विसयामिसारगाढ' विषयाभिलाषारैर्गाढं स्तब्धं । 'कुजोणिणेमि सुहदुक्खदढखील' कुत्सितयोनिनेमिक सुखदुःखदृढकील । 'अण्णाणतुबधरिद' अज्ञानतुम्बधारित । 'कसायदढपट्टियाबद्ध' कषायदृढपट्टिकाबन्ध ॥१७८५॥

बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणिं मोहवेगमहिचवल ।
ससारचक्कमारुहिय भमदि जीवो अणप्पवसो ॥१७८६॥

'बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणि' अनेकजन्मसहस्रविशालमार्गं । 'मोहवेग' मोहवेग । 'ससारचक्कमारुहिय' एवभूत ससारचक्रमारुह्य । 'अणप्पवसो जीवो भमदि' अनात्मवशो जीवो भ्रमति ॥१७८६॥

भार णरो वहंतो कहिंचि विस्समदि ओरुहिय भारं ।
देहभरवाहिणो पुण ण लहति खणं पि विस्समिदु ॥१७८७॥

'भार णरो वहतो' भार वहन्नर । 'कहिवि भारमोरुहिय' कस्मिंश्चिद्देशे काले च भारमवतार्य । 'विस्समदि' विश्राम्यति । 'देहभरवाहिणो पुण' देहभारोद्वाहिनो जीवा पुन । 'न लभति खण पि विस्समिदु' न लभन्ते क्षणमपि विश्राम कर्तुं । औदारिकवैक्रियिकयोर्विनष्टयोरपि कार्मणतैजसयोरवस्थानात् ॥१७८७॥

एकेन्द्रियोमे यह जीव हजारो कष्ट भोगता हुआ अनन्तकाल तक भ्रमण करता है। उसमे इतनी भी शक्ति नही होती कि पृथिवी आदि कायोका त्याग करके त्रसकायकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर सके ॥१७८३॥

गा०—अज्ञानमे पडा हुआ यह बेचारा जीव पापरूपी मैले पानीसे भरी और बहुत दु ख-रूपी भँवरोसे युक्त ससाररूपी नदीमे चिरकाल भ्रमण करता है ॥१७८४॥

गा०—यह ससाररूपी चक्र (पहिया) विषयोकी अभिलापारूपी आरोंसे जकडा हुआ है, कुयोनिरूपी नेमि—हाल उसपर चढी हुई है। उसमे सुख दु खरूपी मजबूत कीले लगी हैं। अज्ञानरूपी तुम्बपर वह स्थित है, कषायरूपी दृढ पहियोंसे कसा हुआ है। अनेक हजार जन्मरूपी उसका विशाल मार्ग है। उसपर वह ससार चक्र चलता है। मोहरूपी वेगसे अतिशीघ्र चलता है। ऐसे ससाररूपी चक्रपर सवार होकर यह पराधीन जीव भ्रमण करता है ॥१७८५-८६॥

गा०-टी०—भारवाही मनुष्य तो किसी देश और कालमे अपना भार उतारकर विश्राम कर लेता है। किन्तु शरीरके भारको ढोनेवाले जीव एक क्षणके लिये भी विश्राम नही पाते। औदारिक

कम्माणुभावदुहिदो एव मोहंधयारगहणम्मि ।
अंधो व दुग्गमग्गे भमदि हु संसारकंतारे ॥१७८८॥

'कम्माणुभावदुहिदो' असद्वेद्यादिपापकर्ममाहात्म्यजनितदुःखः । 'एव'मुक्तेन क्रमेण । 'संसारकंतारे भमदि' संसारकान्तारे भ्रमति । कीदृशे ? 'मोहंधयारगहणम्मि' मोहान्धकारगहने । 'अंधो व दुग्गमग्गे' अंध इव दुर्गमार्गे ॥१७८८॥

दुक्खस्स पडिगरेंतो सुहमिच्छंतो य तह इमो जीवो ।
पाणवधादीदोसे करेइ मोहेण संछण्णो ॥१७८९॥

'दुक्खस्स पडिगरेंतो' दुःखस्य प्रतीकारं कुर्वन् । 'सुहमिच्छंतो य' इन्द्रियसुखमभिलषन् । 'इमो जीवो' अयं जीवः । 'पाणवधादीदोसे' हिंसादिदोषान् । 'करेदि मोहेण संछण्णो' करोति मोहेन संछन्नः । एतदुक्तं भवति–दुःखभीरुरनिरवद्येषु[1] खापायस्योपायं न वेत्ति । दुःखनिराकरणार्थ्यपि दुःखहेतूनेव हिंसादीन् प्रवर्तयति । इन्द्रियसुखलम्पटोऽपि तेष्वेव हिंसादिषु दुःखहेतुषु प्रवर्तते । ततोऽस्य सकलो व्यापारो दुःखस्यैव मूलमिति ॥१७८९॥

दोसेहिं तेहिं बहुगं कम्मं बंधदि तदो णवं जीवो ।
अध तेण पच्चइ पुणो पविसित्तु व अग्गिमग्गीदो ॥१७९०॥

'दोसेहिं तेहिं' प्राणिवधादिकैर्दोषैः । 'बहुगं कम्मं बंधदि' महत्कर्म बध्नाति । 'नवं' प्रत्यग्रं । 'तदो' पश्चात् । 'अध' कर्मबन्धानन्तरं । 'तेण पच्चदि' तेन बन्धनेन कर्मणा पच्यते । 'पविसित्तु व' प्रविश्येव । किं ? 'अग्गिं' अग्निं । 'अग्गीदो' अग्नेः । अग्नेरागत्य अग्निं प्रविश्य यथा बाध्यते एवं पूर्वं कर्मभिर्बाधितः पुनः प्रत्यग्रकर्मानिलेन[2] दह्यते इति ॥१७९०॥

और वैक्रियिक शरीरोंके छूट जानेपर भी कार्मण और तैजस शरीर बराबर बने रहते हैं ॥१७८७॥

गा०—इस प्रकार असातावेदनीय आदि पापकर्मोंके प्रभावसे दुःखी जीव मोहरूपी अन्धकारसे गहन संसाररूपी वनमें उसी प्रकार भ्रमण करता है जैसे अन्धा व्यक्ति दुर्गम मार्गमें भटकता है ॥१७८८॥

गा०-टी०—मोहसे आच्छादित यह जीव दुःखमें बचनेका उपाय करता है और इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा रखता है और उसके लिये हिंसा आदि दोषोंको करता है। आशय यह है कि दुःखसे डरता है किन्तु समस्त दुःखोंके विनाशका उपाय नहीं जानता। यद्यपि दुःखोंको दूर करना चाहता है किन्तु हिंसा आदि पापोंमें प्रवृत्त होता है जो दुःखके हेतु हैं। इन्द्रिय सुखका लम्पटी होते हुए उन्हीं हिंसा आदि पापोंमें लगा रहता है जो दुःखके कारण हैं। इसलिये उसका सब काम दुःखका ही मूल होता है ॥१७८९॥

गा०—उन हिंसा आदि दोषोंको करनेमें जीव बहुत सा नया कर्म बाँधता है। कर्मबन्धके पश्चात् उस कर्मका फल भोगता है। इस प्रकार जैसे कोई एक आगसे निकलकर दूसरी आगमें प्रवेश करके कष्ट उठाता है, वैसे ही पूर्वबद्ध कर्मोंको भोगकर पुनः नवीन कर्मरूपी आगमें जलता है ॥१७९०॥

---

१. भीरुनरो विशेषदुःखापायस्यापाय –आ० मु०। निःशेषदुःखापायोपाय—मूलारा०।
२. कर्मनिबन्धेन –आ०।

वधतो मुच्चंतो एवं कम्म पुणो पुणो जीवो ।
सुहकामो बहुदुक्खं संसारमणादिय भमइ ॥१७९१॥

'बधतो मुच्चतो' बन्धन् मुञ्चन् । 'एव कम्म पुणो पुणो जीवो' कर्म पुन पुनर्जीव दत्तफलानि मुञ्चति, कर्मफलानुभवकालोपजातरागद्वेषादिपरिणामैरभिनवानि कर्माणि बध्नाति । सुहकामो' सुखाभिलाषवान् । 'बहुदुक्ख' विविधदु ख । 'ससारमणादिय भमदि' अनादिक ससार भ्रमति । ससारचिन्ता ॥१७९१॥

लोकानुप्रेक्षा निरूप्यते । नामस्थापनाद्रव्यादिविकल्पेन यद्यप्यनेकप्रकारो लोकस्तथापीह लोकशब्देन जीवद्रव्यलोक एवोच्यते । कथ ? सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात्—

आहिंडयपुरिसस्स व इमस्स णीया तहिं तहिं होंति ।
सव्वे वि इमो पत्तो सबंधे सव्वजीवेहिं ॥१७९२॥

'आहिंडगपुरिसस्स व' देशान्तर भ्रमत पुस इव । 'इमस्स णीया तहि तहि होति' अस्य बधवस्तत्र तत्र भवन्ति । सव्वेवि इमो पत्तो' सर्वानय प्राप्त । सबधे' सबधान् । सव्वजीवेहिं' सर्वजीवै सह ॥१७९२॥

माया वि होइ भज्जा भज्जा मायत्तण पुणमुवेदि ।
इय समारे सव्वे परियट्टते हु सबधा ॥१७९३॥

मादा य होदि भज्जा' माता भार्या भवति । भार्या मातृता पुनरेति । एव ससारे सर्वे सम्बन्धा परिवर्तन्ते इति गाथार्थ ॥१७९३॥

जणणी वसंततिलया भगिणी कमला य आसि भज्जाओ ।
धणदेवस्स य एक्कम्मि भवे ससारवासम्मि ॥१७९४॥

'जणणी वसततिलया' धनदेवस्य जननी वसततिलका । कमला भगिनी । ते उभे भार्ये जाते

गा०—इस प्रकार जीव जो कर्म फल दे लेते है उन्हें छोड देता है और कर्मोका फल भोगते समय होनेवाले राग-द्वेष रूप परिणामोंसे नवीन कर्मोंका बन्ध करता है। सुखकी अभिलाषा रखकर बहुत दु खोंसे भरे अनादि ससारमे भ्रमण करता है ॥१७९१॥ ससार अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

अब लोकानुप्रेक्षाका कथन करते है। यद्यपि नाम, स्थापना, द्रव्य आदिके भेदसे लोकके अनेक भेद हैं । तथापि यहाँ लोक शब्दसे जीव द्रव्यलोक ही कहा है क्योंकि गाथामे जीवके प्रवृत्ति क्रमका कथन किया है—

गा०—जैसे देशान्तरमे भ्रमण करनेवाले पुरुषको सर्वत्र इष्ट-मित्र मिलते हैं उसी प्रकार इस जीवके भी जहाँ-जहाँ यह जन्म लेता है वहाँ-वहाँ बन्धु-बान्धव होते हैं। इस तरह इसने सब जीवोंके साथ सब सम्बन्ध प्राप्त किये हैं ॥१७९२॥

गा०—जो इस जन्म माता है वही दूसरे जन्ममे पत्नी होती है और पत्नी होकर पुन माता बन जाती है । इस प्रकार ससारमे सब सम्बन्ध परिवर्तनशील हैं ॥१७९३॥

गा०-टी०—दूसरे भवोमे सम्बन्ध बदलनेकी तो बात ही क्या है। किन्तु धनदेवकी माता वसन्ततिलका और बहन कमला, ये दोनो उसी भवमे धनदेवकी पत्नी हुई । कहा भी है—

घनदेवस्य तस्मिन्नेव भवे। भवान्तरेषु सबन्धान्ययाभावे किमस्ति वाच्य ? उक्त च—

यद्येकदेहवहने लभतेऽपवाद दुःख ततो व्यसनमुग्रबल च पापम्।
नानाशरीरवहनेषु क्व न दुःख प्राप्नोति को न विषयार्जितपापकर्मा॥
कुर्वन्ति तन्मदगजोद्धतदत्तवेग खड्गो विकृष्टबलपाणिविसृष्टधार ।
कुर्वन्ति दुःखमधिक विषया नराणा, तस्मात्त्यजन्ति विषयान् परिदृष्टतत्त्वा ॥

एवमय कष्टो लोकधर्म ॥१७९४॥

राया वि होइ दासो दासो रायत्तण पुणमुवेदि।
इय ससारे परिवट्टते ठाणाणि सव्वाणि ॥१७९५॥

'राया वि होइ दासो' राजा दासो भवति, नीचैर्गोत्रार्जनात्, दासो राजता पुनरुपैति उच्चैर्गोत्रकर्मण उदयात्। एव ससारे परिवर्तन्ते सर्वाणि स्थानानि ॥१७९५॥

कुलरूवतेयभोगाधिगो वि राया विदेहदेसवदी।
वच्चघरम्मि सुभोगो जाओ कीडो सकम्मेहि ॥१७९६॥

'कुलरूवतेयभोगाधिगो वि' कुलेन रूपेण तेजसा भोगेनाधिकोऽपि। विदेहजनपदाधिपती राजा सुभोगसज्ञ सुवर्चोगृहे कीटो जात स्वै कर्मभि प्रेरित । उक्त च—

दृष्टा क्वचित्सुरमनुष्यगणप्रधाना सर्वर्द्धिदीप्तवपुष शशिकान्तरूपा ।
भ्रष्टास्त एव पुनरन्यभत प्रपन्ना हीना भवन्ति कुलरूपधनप्रतापै ॥१७९६॥

यदि एक शरीर धारण करनेपर जीव अनेक अपवादो और दुःखोको पाता है और उसमे मनोवेदना और उग्र पापको बाधता है तब विषय सेवनके द्वारा पापकर्मका उपार्जन करनेवाला कौन पुरुष नाना शरीर धारण करनेपर कैसे दुःख नही पाता है अर्थात् अवश्य दुःख पाता है।

मदमे मत्त हाथीके द्वारा वेगपूर्वक किया गया प्रहार तथा बलशाली हाथमे छोडी गयी तीक्ष्ण तलवार दुःख नही देते। उससे भी अधिक दुःख विषय देते हैं। इसलिये तत्त्वज्ञानी जन विषयोको त्याग देते हैं। इस प्रकार यह लोकधर्म दुःखदायक है ॥१७९४॥

गा०—नीच गोत्रका बन्ध करनेसे राजा मरकर दास होता है और उच्च गोत्रका बन्ध करनेसे दास राजा हो जाता है। इस प्रकार ससारमे सब स्थान परिवर्तनशील है ॥१७९५॥

गा०—विदेह देशका राजा सुभोग कुल, रूप, तेज और भोगमे अधिक होते हुए भी अपने कर्मोंसे प्रेरित होकर विष्टाघरमे कीट हुआ, कहा भी है—जो देव और मनुष्योंमे प्रधान थे, जिनका शरीर सब ऋद्धियोंसे दीप्तिमान था, जिनका रूप चन्द्रमाकी तरह मनोहर था, वे भी अन्य गतिमे कुल, रूप, धन और प्रतापसे भ्रष्ट होकर दीन होते है ॥१७९६॥

---

१ वेग अ०, मु०। २ न्यमतिप्रप -आ०। -र्गति प्रपन्ना -मु०।

होउण महड्ढीओ देवो सुभवण्णगंधरूवधरो ।
कुणिमम्मि वसदि गब्भे धिगत्थु ससारवासस्स ॥१७९७॥

'होऊण महड्ढोओ देवो' महर्द्धिको देवो भूत्वा । 'सुभवण्णगधरूवधरो' प्रशस्ततेजोगन्धरूपान्वित ।

इन्द्रचापतडिदम्बुधराणा यद्वदाशु गगने सहसेव ।
जन्म सभवति तद्वदमीषा जन्म वेद्यमशुचिप्रविमुक्तम् ॥
वातपित्तकफजै परिमुक्त व्याधिभिर्विगतखेदमनिद्रम् ।
अच्युत परमयौवनयुक्त सर्वतोऽविकलमुत्तमकान्ति ॥
सर्वतश्च विमलाम्बरवर्णस्पर्शगन्धवरवाङ्मितहास ।
सद्विलासगतिचेष्टित[1]लील ते शरीरमरमत्र लभन्ते ॥
गीतवाद्यततितूर्यनिनादैस्तास्तदाथ समुपेत्य सहर्षाः ।
देवदेव[2]वनिता प्रणिपत्य कुर्वतेऽत्र समुपासनमेषा ॥
फुल्लपङ्कजसमैरथ हस्तैर्दक्षिणै प्रवरलक्षणकीर्णै ।
चारुचन्द्रवदना नतिमेषां स्निग्धदृष्टिहसिता प्रतिगृह्य ॥
मृगपासनमस्तकोपविष्टान् मृगपामप्रमतानिवाचलानां ।
अथ तानभिषेकमापयति मुदितास्तत्र [3]सुरा सुवर्णकुम्भै ॥
प्रविकाशय वक्त्रपङ्कजानि सुरनाथार्कगुणाशुभि सुराणा ।
[4]कुरुत सुचिर स्वमाधिपत्यमिति तान्वाग्भिरभिष्टुवन्ति चैव ॥

गा०-टी०—शुभरूप, शुभगन्ध, और प्रशस्त तेजधारी महती ऋद्धिका धारक देव भी होकर गन्दे गर्भस्थानमें वास करता है।

देवोंमे उत्पत्तिका वर्णन करते हुए कहा है—

जैसे आकाशमें सहसा ही शीघ्रतासे इन्द्रधनुष, बिजली और मेघ प्रकट होते है उसी प्रकार देवोंका जन्म होता है। उनका शरीर अपवित्र वस्तुओंसे रहित होता है, वात, पित्त और कफसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंसे रहित होता है। खेद और नींदसे रहित होता है। उत्कृष्ट यौवनसे युक्त होता है, सब रूपसे परिपूर्ण होता है, उत्तम कान्तिसे युक्त होता है। उत्तम रूप, रस गन्धसे युक्त है। वचन-विलास, हास-विलास, गति चेष्टासे लीला सहित होता है। वे देव ऐसा शरीर तत्काल प्राप्त कर लेते हैं। उसके पश्चात् गीत वाद्योंकी पंक्ति तथा भेरीके शब्दोंके साथ देव-देवागना बडे हर्षके साथ उनके पास जा, नमस्कार करके उनकी सेवा करते हैं। हास सहित स्निग्ध दृष्टिसे युक्त सुन्दर चन्द्रमुखी देवागनाएँ खिले हुए कमलके समान तथा उत्तम लक्षणोंसे युक्त दक्षिण हाथोंसे उनका नमस्कार स्वीकार करती हैं।

पर्वतोंके अग्रभाग पर बैठे हुए सिंहके समान सिंहासनके मस्तक पर बैठे हुए उन देवोंका वे देव प्रसन्नतापूर्वक सुवर्ण कलशोंसे अभिषेक करते हैं। हे देवेन्द्ररूपी सूर्य! अपने गुणरूपी किरणोंसे देवोंके मुखरूपी कमलोंको विकसित करो और चिरकाल तक हमारे स्वामी रहो, इस

१ शीला आ०। २ दिव्यव –आ०। ३ तत्र सुवर्णरत्नकु –आ०। ४ कुरुत –आ०।

आदाय नैदाघरविं शिरःसु न्यस्तैरिवैतैर्मुकुटानि भूत्वा ।
विभूषिताश्चाभरणैरनर्घैर्हारार्धहाराङ्गदकुण्डलाद्यैः ॥
ज्योतिर्विभूषान् गगनप्रदेशान् विद्युद्विनद्धान् रुचिराम्बुदांश्च ।
रत्नाचितान् हेममहागिरींश्च विशेषयतो[1]ऽभ्यधिकं विभान्ति ॥
दिव्यवीर्यबलविक्रमायुषो दिव्यदीप्तवपुषो दिशो दश ।
भासयन्ति विमलाम्ब[2]रार्कवद्दिव्यसौम्यवपुषः शशाङ्कवत् ॥
दूरमभ्युत्पतन्ति लाघवाद् गौरवाद् गिरिसमा भवन्ति च ।
आणवाद्विशन्ति मेदिनीं पार्थिवाश्च महतोऽपि रुन्धते ॥
काष्ठमग्निमनिलं जलं महीं सम्प्रविश्य च तनूः शरीरिणां ।
निर्विशेषगुणकाः सहासितुं ते भवन्ति[3] सुचिरं सुजन्य ॥
पावकाचलपुरं वनावनीसागरांश्च सहसा निपत्य ते ।
स्थानमीप्सितमम श्रमाद्विना यान्ति चाप्रतिह[4]ताः समीरवत् ॥
उत्क्षिपेयुरवनीं [5]महाबलात् पातयेयुरपि मन्दराम्करे ।
मन्दराग्रशिखरं धरास्थितास्ते स्पृशेयुरपि यद्यभीप्सितं ॥
ईशितुं सुरनृणामयत्नतः कर्तुमात्मवशगान् मृगानपि ।
रूपमात्ममनसा समीप्सितं [6]स्रष्टुमप्यलममी [7]सहस्रधा ॥

प्रकार वे देव अपने वचनोंसे उनकी स्तुति करते हैं ॥ उनके मस्तक पर मुकुट शोभित होते हैं जो मानो ग्रीष्म कालके सूर्यको ही पकड कर सिरो पर रख लिया है ऐसे प्रतीत होते हैं। उन मुकुटोंसे तथा हार, अर्द्धहार, बाजूबन्द, कुण्डल आदि बहुमूल्य आभरणोंसे भूषित होकर वे देव सूर्यचन्द्रसे सुशोभित आकाशसे, बिजलीसे सम्बद्ध सुन्दर मेघोंसे और रत्नोंसे खचित स्वर्णमयी पर्वतोंसे भी अधिक सुशोभित होते हैं। दिव्य वीर्य, बल, विक्रम और आयुवाले तथा दिव्य चमकदार शरीरवाले वे देव निर्मल आकाशमें स्थित सूर्य और दिव्य सौम्य शरीरवाले चन्द्रमाकी तरह दसो दिशाओंको प्रकाशित करते हैं। वे लाघवसे सुदूर तक ऊपर उठे हुए हैं और गौरवसे पर्वतके समान होते हैं। सूक्ष्म होनेसे पृथिवीमें प्रवेश करते हैं और महान् होनेसे बड़ो-बड़ोको रोकते हैं। अर्थात् *अणिमा, महिमा, लघिमा और गरिमा सिद्धिके धारी होते हैं।* वे काष्ठ, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वीमें तथा प्राणियोंके शरीरमें प्रवेश करके उन्हींके समान हो जाते हैं। ऐसी उनमें शक्ति होती है ॥ वे आग, पर्वत, पृथ्वी और सागरमें, सहसा प्रवेश करके श्रमके बिना बेरोक-टोक वायुकी तरह इच्छित स्थानको चले आते हैं। वे महान् बलसे पृथ्वीको ऊपर उठा सकते हैं। अपने हाथोंसे मन्दराचलको गिरा सकते हैं। वे पृथ्वी पर रहकर यदि चाहे तो सुमेरुकी चोटीके अग्रभागको छू सकते हैं अर्थात् प्राप्ति और प्राकाम्य सिद्धिसे सम्पन्न होते हैं ॥

वे बिना प्रयत्नके देवों और मनुष्योंका स्वामित्व कर सकते हैं। मृगोंको भी अपने वशमें कर सकते हैं और हजारों इच्छित रूप बना सकते हैं। अर्थात् ईशित्व और वशित्व सिद्धिसे सम्पन्न होते हैं ॥ अपनी सुगन्धसे और मिष्ट वचनोंसे दिशाओंको पूरित करके सन्तान आदिके

---

१ तोऽभ्यधि —आ० । २ बरा क्वचिद् —आ० । ३ ति विभवान सु—आ० । ४ ता शरीर—अ० । ५ महाबलान —अ० मु० । ६ स्पष्टुम —अ० । ७. सह स्तवा —आ० ।

सपूर्यास्ता स्वसुरभिगन्धैर्माल्यै^१मृ^र्ष्टै शुभकुसुमैश्च ।
सतानार्थैर्विरचितमाला नित्याम्लाना परिवहमाना ॥
माल्यैर्गन्धै सुखमनुलिप्ता ^२दथ्युर्वस्त्राण्यतिविरजासि ।
ररम्यते रतिनिपुणाभिस्स्वाभि सार्द्धं वरवनिताभि ॥
^३सुखेनैव जीवन्तो यान्ति वियोगकृत परिताप ।
तत्र महर्द्धियुता अपि देवा स्त्रीपुरुषा विषमायुष एव ॥
प्राणभृतामिह मध्यमलोके तीव्रतरादिकषायचतुष्क ।
स्यात्सुरसततय समकाला, तन्न भवति हि कर्मवशेन ॥
अब्ध्युपमानितजीवितदेवे, स्त्री चिरजीवितवत्यपि तस्या ।
पल्यमित बत जीवितकाल तेन वियोगमित सुरलोक ॥
मृत्युकृत च विचिन्त्य सुदु ख भावि सुरा परिभीतमनस्का ।
तत्र भजन्ति मृगा इव बद्धा व्याघ्रसमीपमुपेत्य सभीका ॥
गर्भकृतामपि ते दुरवस्था सपरिचिन्त्य पुन समवाप्य ।
शोकभये विपुले परियान्ति चारकरोध इवाभ्युपयाते ॥
मूत्रपथादशुचेरतिदु ख निर्गमन स्मरता च शुचीना ।
जन्मतयेति भय दिविजाना, स्यादधिक तदवाप्य सुख तत् ॥
तानपि चालु पतेत् क्षुदनिष्टा पश्यत सर्वधुरिव कष्टा ।
वर्षसहस्रमितीह गतेऽपि कालदरो न जहात्यहमिद्र ॥
उच्छ्वसन श्रमज नृपतेपि पञ्चमितैर्दिवसैर्यदि यान्ति ।
कान्यसुरेषु कथा बत लोके हो सभयो जननार्णववास ॥

सुन्दर फूलोमे रचित माला धारण करते हैं जो कभी मुरझाती नहीं है ॥ सुखपूर्वक माला और गन्धसे विलिप्त वे देव अत्यन्त स्वच्छ वस्त्र धारण करते हैं और रतिमे निपुण अपनी देवागनाओके साथ रमण करते हैं ॥ इस प्रकार सुखपूर्वक जीवन यापन करते हुए वियोगजन्य सन्तापको सहते हैं। क्योकि स्वर्गमे महर्द्धिक भी देव-देवागना समान आयुवाले नहीं होते। आगे-पीछे मरते हैं ॥ मध्यलोकसे यहाके प्राणियोकी कषाय तीव्रतर होती है। अत कर्मवश देव-देवागनाओकी आयु समान नहीं होती ॥ देवकी आयु सागरप्रमाण होती है और देवागना चिरकाल तक भी जीवित रहे तो उसकी आयु पल्यप्रमाण ही होती है इसलिये देवलोकमे वियोगजन्य सन्ताप होता है। भविष्यमे होनेवाले मृत्यु जन्य दु खका विचार करके देव डर जाते हैं और वहाँ ऐसे भयभीत रहते हैं जैसे व्याघ्रके समीपमे बाधे गये मृग। स्वर्गलोकसे च्युत होनेपर गर्भमे होनेवाली दुरवस्थाका भी विचार करके वे महान् शोक और भयसे युक्त होते हैं जैसे कोई जेलखानेसे डरता है। पवित्र देवोको देवलोकमे जितना सुख होता है उससे भी अधिक भय स्त्रीके अपवित्र मूत्रमार्गसे जन्म लेनेका स्मरण करके जन्मसे ही होता है। यहाँ स्वर्गमे तो हजार वर्ष बीतनेपर भी भूख नहीं सताती थी। किन्तु मनुष्य पर्यायमे जन्म लेनेपर सर्पिणीकी तरह भूख सताती है यह भय अहमिन्द्रदेवको भी नहीं छोड़ता। स्वर्गमे तो पन्द्रह दिनमे एक बार श्वास लेनेका श्रम उठाना होता

---

१ वांमृष्टै —आ० मु०। २ मा वस्त्राव —अ०। ३ तत्र सुखतोऽपि यान्ति —आ०।

रोगजराविकलत्वविहीनास्तत्र पुनश्च भवम्मनुजानाम् ।
तत्सहित प्रसमीक्ष्य पुरस्तात् प्राप्यमवश्यमतश्च्युतमात्रे ॥
अन्यवशादवशा विलपन्तो देशमिवान्यमुपद्रवयुक्त ।
सप्रतिपत्सव उपभय ते शोकवशा बहुशोऽपि भवन्ति ॥
यत्सुरसौख्यमवाप्य विमाने भूतरजो जगतीरपि यान्ति ।
तत्परिचिन्तयता कुशलाना केन सुरेषु भवेद्बहुमान ॥
तेऽवधिना विधिना बहुतत्त्व दूरगतान्यपि जानत एव ।
तेन भया प्रनुभूय पुरस्तादश्नुवते [1]भयकृद्यदपश्चात् ॥
य सहसा भयमभ्युपयाति पूर्वतर न भय स उपैति ।
प्राग्विदितात्मवधस्तु नर प्राक् प्राप्य भय वधमेति हि पश्चात् ॥
अतो न सौख्य तदिहास्ति किंचन विमृश्यमान मनसा भवार्णवे ।
सुखे प्रसक्तो विपुले [2]पुमानय भजेत दु खेन विनाणुनापि यत् ॥
यथाणुकेशोपहतेऽपि भोजने न त नरो रोचयते कुलोदित ।
तथाल्पदो[3]षेऽप्यसुखे सुखे सति न तद्बुधो रोचयते कदाचन ॥
[4]प्रपीयमानेऽम्बुनि पातितो यथा लवोऽपि मूत्रस्य तदम्बु दूषयेत् ।
तथा लवाशोऽप्यसुखस्य सत्सुखे करोति सर्वस्य सुखस्य दूषण ॥

किन्तु मनुष्यगतिमे तो सतत श्वास लेना होता है । हा, जन्मरूपी समुद्रका वास भयकारक है। यहाँ देवगतिमे तो रोग, बुढ़ापा आदि नही है । किन्तु मनुष्योमे तो ये सब हैं। यहाँसे च्युत होने पर ये सब अवश्य प्राप्त होगे। ऐसा देख वे देव दु खी होते हैं। जैसे कोई परवश होकर उपद्रवसे युक्त अन्य देशमे जानेपर विलाप करता है वैसे ही देव स्वाधीन होते हुए भी परवश होकर देवगतिमे मनुष्यगतिमे जानेका बहुत शोक करते हैं। स्वर्गके विमानोमें देवोका सुख प्राप्त करके भी जीवोको पुन इसी मनुष्यलोकमे जन्म लेना होता है ऐसा विचार करनेवाले बुद्धिमानोको देवोंके प्रति बहुमान कैसे हो सकता है। वे देव अवधिज्ञानके द्वारा दूरवर्ती तत्त्वोको भी जानते ही हैं। इससे पहले ही भयका अनुभव करते हैं।

जो भय अचानक उपस्थित होना है उसका भय पहलेसे नही होता। किन्तु जिस मनुष्यको पहलेसे यह ज्ञात हो जाता है कि मेरा वध होगा वह पहले भयभीत होता है, पीछे मारा जाता है। अर्थात् मनुष्यगतिमें तो मृत्युका बोध पहलेसे नही होता। किन्तु देवगतिमे तो मृत्युसे छह मास पूर्व माला मुरझा जाती है। अत मृत्यु पीछे होती है और उसका भय पहले आ जाता है। अत विचार करनेपर इस ससाररूपी समुद्रमें कुछ भी सुख नहीं है। बहुत सुखमे आसक्त मनुष्य भी एक परमाणु प्रमाण दु खके विना सुख नही भोग सकता। अर्थात् ससारके सुखमे दु खका मिश्रण रहता ही है। जैसे कुलीन मनुष्यको यदि भोजनमे जरा सा भी बाल आदि गिर जाये तो भोजन नहीं रुचता उसी प्रकार ज्ञानीको बहुतसे सुखमे थोडा सा भी दु ख मिला हो तो वह सुख नही रुचता। जैसे पीनेके पानीमें मूत्रकी एक बूंद भी गिरनेपर वह पानी दूषित

१ भयमप्यय पश्चात् –आ० । २ पुमानय –आ० मु० । ३ दोषोऽप्य–अ० मु० । ४ प्रपीयमाने –अ० आ० ।

गुणैरनेकैरपि संयुता स्त्रियं कृतापचारां सकृदप्यनिर्घृण ।
नरो जहात्येव यथा तथा बुधी न दृष्टिदोषादिव सोऽत्रमिच्छति (?)

'कुणिमम्मि वसति गब्भे' कुथितगर्भे वसति । 'धिगत्यु संसारवासस्स' धिगस्तु संसारवासस्य । उक्तं च—

त्यागाद्भोगादेव [1]समुत्य मनुजेषु गर्भस्मृत्या गर्भनिपातं च समोक्ष्य ।
त्रस्तादेव [2]देहाशुचीनपि निरीक्ष्य गर्भविष्टा दु खमिवान्तेऽनुभवन्ति ॥१७९७॥

इध किं परलोगे वा सत्तू पुरिसस्स हुंति णीया वि ।
इहइं परत्त वा खाइ पुत्तमस णियगमादा ॥१७९८॥

'इत्थ किं परलोगे वा' इहलोके परलोके वा, 'पुरिसस्स णीया वि सत्तू होंति' बान्धवोऽपि शत्रवो भवति पुरुषस्य । 'इहइ परत्त वा खाइ' इह वा परत्र वा अत्ति, 'पुत्तमस णियगमादा' पुत्रस्य मांस आत्मीया जननी अत्ति किमतः परं कष्टं ॥१७९८॥

होऊण रिऊ बहुदुक्खकारओ बंधवो पुणो होदि ।
इय परिवत्तइ णीयत्तण च सत्तुत्तणं च जये ॥१७९९॥

'होऊण रिऊ' रिपुर्भूत्वा पूर्व । 'बहुदुक्खकरो' विचित्रदु खकारी । स एव पुणो पश्चादपि । 'पिय बंधवो होदि' प्रियबांधवो भवति । 'इय परिवत्तदि' एवं परिवर्तते । 'णीयत्तण च सत्तुत्तण च' बन्धुत्वं च शत्रुत्वं च । 'जगे' जीवलोके ॥१७९९॥

विमलाहेदुं वकेण मारिओ णियपभारियागब्भे ।
जाओ जाओ जादिंभरो सुदिट्ठी सकम्मेहिं ॥१८००॥

'विमलाहेदु' विमलानिमित्तं । 'वकेण मारिदो' वक्राख्येन भृत्येन मारितः । क ? 'सुदिट्ठी' सुदृष्टि

हो जाता है उसी प्रकार दु खका जरा सा भी अंश सब सुखको दूषित कर देता है। जैसे अनेक गुणोंसे युक्त स्त्री यदि एक बार भी व्यभिचार दोषसे दूषित हो जाये तो दयालु भी मनुष्य उसे त्याग देता है। उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य भी दु खसे मिश्रित सुखको त्याग देता है।

अत कहा है—मनुष्योंमें गर्भका स्मरण करके तथा गर्भपातको देखकर और मनुष्योंके अपवित्र शरीरको देखकर देव दु खी होते हैं और मरण होनेपर गर्भमें प्रवेश करके दु ख भोगते हैं ॥१७९७॥

गा०—इस लोक अथवा परलोकमें बन्धु भी मनुष्यके शत्रु हो जाते हैं। इस लोक तथा परलोकमें माता भी अपने पुत्रके मांसको खाती है इससे अधिक कष्टकी बात और क्या है ? ॥१७९८॥

गा०—बहुत दु ख देनेवाला शत्रु भी पुन प्रिय बन्धु हो जाता है। इस प्रकार जगत्‌में बन्धुता और शत्रुता परिवर्तनशील है ॥१७९९॥

गा०—सुदृष्टि नामक रत्नपारखी मैथुन करते समय अपनी पत्नी विमलाके निमित्तसे

---

१. समुत्थान् अ० । २ त्रस्ता देहचमूनीवि -अ० ।

नामधेय । 'सकम्मेहिं' आत्मीयैः कर्मभिः । 'जादो' उत्पन्न । क्व 'णियभारियागब्भे' निजभार्यागर्भे । 'जादिभरो जादो' जातिस्मरश्च जातः ॥१८००॥

होऊण बंभणो सोत्तिओ सु पाव करित्तु माणेण ।
सुणगो व सूगरो वा पाणो वा होइ परलोए ॥१८०१॥

'होऊण बंभणो सोत्तिओ' श्रोत्रियो ब्राह्मणो भूत्वा । 'माणेण' जातिमदेन । गुणिजननिन्दावमानाभ्यां 'पाव करित्तु' पापं कृत्वा नीचैर्गोत्रमुपचित्य । सुणगो व सूगरो वा पाणो वा होदि परलोए' श्वा शूकरश्चाण्डालो वा भवति परजन्मनि ॥१८०१॥

दारिद्दं अड्ढित्त णिंदं च थुदिं च वसणमब्भुदयं ।
पावदि बहुसो जीवो पुरिसित्थिणवुंसयत्तं च ॥१८०२॥

'दारिद्दं' दारिद्र्य । 'बहुसो जीवो पावदि' बहुशः जीवः प्राप्नोति लाभान्तरायोदयात् । 'अड्ढित्त' आढ्यता पूर्ववदेव सम्बन्ध । पावदि बहुसो इमो इत्यनेन । लाभान्तरायक्षयोपशमादीप्सितानि द्रव्याणि लभते, लब्धानि च नश्यन्ति तत आढ्यता । 'णिंदा' श्वपाकश्चण्डाल कुणः काणो दुर्भगो मूर्ख कृपण इत्यादिका । 'थुदिं च' स्तुतिं च कुलीना रूपवान् वाग्मी आढ्यः प्राज्ञ इत्यादिका यशस्कीर्त्युदयात् । 'एव वसण' दुःख असद्वेद्योदयात् । 'अब्भुदय' देवमनुजभवज सुख सद्वेद्योदयात् । 'पुरिसित्थिणवुंसयत्त च' पुरुषत्व च स्त्रीत्व च नपुंसकत्व च बहुशः प्राप्नोति ॥१८०२॥

कारी होइ अकारी अप्पडिभोगो जणो हु लोगम्मि ।
कारी वि जणमभक्खं होइ अकारी सपडिभोगो ॥१८०३॥

'अकारी अपि' दोषमकुर्वन्नपि कारी भवति, 'अप्पडिभोगो जणो' पुण्यरहितो जन । 'कारीवि' कुर्व-

---

अपने सेवक वकके द्वारा मारा गया और मरकर अपनी पत्नी विमलाके गर्भमें उत्पन्न हुआ । उत्पन्न होनेपर उसे पूर्वजन्मका स्मरण हो आया ॥१८००॥

विशेषार्थ—बृहत्कथाकोशमें १५३वें नम्बर पर इसकी कथा है ।

गा०—श्रोत्रिय ब्राह्मण होकर यह जीव अपनी जातिका अभिमान करके गुणी जनोंकी निन्दा और अपमानके द्वारा नीच गोत्रका बन्ध करता है और मरकर परलोकमें कुत्ता, सूकर या चण्डाल होता है ॥१८०१॥

गा०-टी०—यह जीव लाभान्तरायका उदय होनेसे अनेक बार दरिद्र अवस्था पाता है । लाभान्तरायका क्षयोपशम होनेसे अनेक बार इच्छित धन पाता है । इस प्रकार अनेक बार धनीसे दरिद्र और दरिद्रसे धनी होता है । अयशकीर्तिका उदय होनेसे चण्डाल, काना, अभागा, मूर्ख, कंजूस आदि निन्दाका पात्र होता है । यशःकीर्तिका उदय होनेसे कुलीन, रूपवान धनी, पण्डित इत्यादि स्तुतिका पात्र होता है । असातावेदनीयका उदय होनेसे दुःख उठाता है और सातावेदनीयका उदय होनेसे देव और मनुष्य भवका सुख भोगता है । इसी प्रकार अनेक बार स्त्री, पुरुष और नपुंसक होता है ॥१८०२॥

गा०—पुण्यहीन मनुष्य लोकमें दोष नहीं करनेपर भी दोषका भागी होता है । और पुण्यवान अनाचार करके भी लोगोंसे सन्मुख दुराचारी सिद्ध नहीं होता ॥१८०३॥

न्नप्यनाचार, 'जणसमक्ख' जनाना प्रत्यक्ष 'अकारो होदि' दुराचारो न भवति। सर्पाङ्गभाग पुण्यवान् ॥१८०३॥

मरिसीए चंदिगाए कालो वेस्सो पिओ जहा जोण्हो ।
सरिसे वि तहाचारे कोई वेस्सो पिओ कोई ॥१८०४॥

'सरिसीए चंदिगाए' चंद्रिकाया समानायामपि। 'कालो वेस्सो' कालपक्षो द्वेष्य। 'पिओ जहा जोण्हो' शुक्लपक्षो यथा प्रिय। 'सरिसे वि तहाचारे' सदृशेऽप्याचारे द्वयो पुसो। 'कोई वेस्सो पिओ कोई' कश्चित् द्वेष्य कश्चित् प्रिय ॥१८०४॥

इय एस लोगधम्मो चिंतिज्जंतो करेइ णिव्वेदं ।
धण्णा ते भयवंता जे मुक्का लोगधम्मादो ॥१८०५॥

'इय एस लोगधम्मो' अयमेव प्राणिधर्म। 'चिंतिज्जंतो' चिन्त्यमानो। 'करेइ णिव्वेद' निर्वेद करोति। 'धण्णा ते भयवंता' पुण्यवन्तस्ते यतय। 'जे मुक्का लोगधम्मादो' ये मुक्ता प्राणिधर्माद् व्यावर्णितात् ॥१८०५॥

विज्जू व चंचलं फेणदुब्बलं वाधिमहियमच्चुहदं ।
णाणी किह पेच्छंतो रमेज्ज दुक्खुद्धुदं लोगं ॥१८०६॥

'विज्जू व चंचल' विद्युदिव चचल, 'फेणदुब्बल' फेनमिव दुर्बल। 'वाधिमहिदमच्चुहद' व्याधिभिमथित मृत्युना हत। 'लोग पेच्छंतो' लोक पश्यन्। 'णाणी किध रमेज्ज' ज्ञानी कथ तत्र रति कुर्यात्। लोगधम्मचिन्ता ॥१८०६॥

अशुभत्वानुप्रेक्षा प्रक्रम्यते—

असुहा अत्था कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणं ।
एओ चेव सुभो णवरि सव्वसोक्खायरो धम्मो ॥१८०७॥

'असुहा अत्था कामा य हुंति' अशुभा अर्था कामाश्च भवन्ति। 'देहो य सव्वमणुयाण' देहश्च सर्व

गा०—जैसे चांदकी चांदनीके समान होनेपर भी लोग कृष्णपक्षसे द्वेष करते हैं और शुक्लपक्षसे प्रेम करते हैं। वैसे ही समान आचार होते हुए भी कोई मनुष्य लोगोंको प्रिय होता है और कोई अप्रिय होता है ॥१८०४॥

गा०—इस प्रकार लोकदशाका चिन्तन करनेसे वैराग्य उत्पन्न होता है। वे पुण्यवान यतिजन धन्य हैं जो इस ऊपर कही संसारकी दशासे मुक्त हो गये हैं ॥१८०५॥

गा०—बिजलीकी तरह चंचल, फेनकी तरह दुर्बल, रोगोंसे ग्रस्त और मृत्युसे पीडित इस लोकको देखकर ज्ञानी इसमें कैसे अनुराग कर सकता है ॥१८०६॥

इस प्रकार लोकानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

अब अशुभत्व अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—अर्थ, काम और सब मनुष्योंकी देह अशुभ है। एक मात्र सुखोंकी खान धर्म ही शुभ है। शेष सब अशुभ है ॥१८०७॥

मनुजानाम् । 'एक्को चेव सुभो' एक एव शुभ पुन । 'सव्वसुक्खायरो धम्मो' सर्वेषा सौख्यानामाकरो धर्म ॥१८०७॥

अर्थस्याशुभता व्याचष्टे—

इहलोगियपरलोगियदोसे पुरिसस्स आवहइ णिच्चं ।
अत्थो अणत्थमूल महाभयं मुत्तिपडिपंथो ॥१८०८॥

'इहलोगियपरलोगियदोसे' ऐहिकान् पारलौकिकाश्च दोषान् । 'पुरिसस्स आवहइ णिच्च' पुरुषस्य आवहति नित्य । 'अत्थो अणत्थमूल' अर्थोऽनर्थाना मूल, 'महाभय' महतो भयस्य मूलत्वान्महाभय । 'मुत्तिपडिपंथो' मुक्तेरर्गलीभूत ॥१८०८॥

कामस्याशुभतामाचष्टे—

कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा ।
उवधो लोए दुक्खावहा य ण य हुंति ते सुलहा ॥१८०९॥

'कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया' अशुचिकुटिभवा लघुत्वकारिण । 'अप्पकालिया कामा' अल्पकालेषु भवा कामा । 'उवधो लोए' लोकद्वये दु खावहाश्च । ण य होंति ते सुलभा' नैव ते सुलभा भवन्ति ॥१८०९॥

कामाशुभत्वमाख्याति—

अट्ठिदलिया छिरावक्कवद्धिया मंसमट्टियालित्ता ।
बहुकुणिमभण्डभरिदा विहिंमणिज्जा खु कुणिमकुडी ॥१८१०॥

'अट्ठिदलिया' अस्थिदलनिष्पन्ना । 'छिरावक्कवद्धिया' शिरावल्कलैर्बद्धा । 'मसमट्टियालित्ता' मास

अर्थकी अशुभता बतलाते हैं—

गा०–टी०—धन सब अनर्थोंकी जड है। यह पुरुषमें इस लोक और परलोक सम्बन्धी दोष लाता है अर्थात् धन पाकर मनुष्य व्यसनोंमें फँस जाता है और उसमें वह इस लोकमे भी निन्दाका पात्र होता है और परलोकमें भी कष्ट उठाता है। मृत्यु आदि महान् भयोका मूल होनेसे धन महाभय रूप है। और मोक्षमार्गके लिये तो अर्गला है। धनमे मस्त मनुष्य मोक्षकी बात भी सुनना नहीं चाहता ॥१८०८॥

अब कामकी अशुभता बतलाते हैं—

गा०—यह कामभोग अपवित्र अपने और परके शरीरके सयोगसे पैदा होता है। यह मनुष्यको गिराता है, उसे लोगोंकी दृष्टिमे लघु करता है। यह अल्पकालके लिये होता है तथा दोनों ही लोकोंमे दु खदायी है। तथा सुलभ भी नही है ॥१८०९॥

अब शरीरकी अशुचिता कहते हैं—

गा०—यह शरीर रूपी कुटी हड्डी रूपी पत्तोंसे बनी है। सिराएँ रूपी वल्कल (छाल) से

मृत्तिकालिप्ता। 'बहुकुणिमभंडभरिदा' अनेकाशुचिद्रव्यपूर्णा। 'विहिंसणिज्जा खु कुणिमकुडी' जुगुप्सनीया अशुचिकुटी ॥१८१०॥

इगालो धुव्वंतो ण सुद्धिमुवयादि जह जलादीहिं।
तह देहो धोव्वंतो ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं ॥१८११॥

'इगालो धोव्वंतो' प्रक्षाल्यमाना मषी न शुद्धमुपयाति न शुक्लतामुपयाति। 'जह' यथा। 'जलादीहिं' जलादिभि। 'तह देहो धोव्वंतो' तथा शरीरं प्रक्षाल्यमानं। 'ण जादि सुद्धिं जलादीहिं' न याति शुद्धिं जलादिभि ॥१८११॥

सलिलादीणि अमेज्झं कुणइ अमेज्झाणि ण दु जलादीणि।
मेज्झममेज्झं कुव्वंति सयमवि मेज्झाणि संताणि ॥१८१२॥

'सलिलादीणि' सलिलादीनि द्रव्याणि शुचीनि। 'अमेज्झं कुणदि' अमेध्यं करोति। 'अमेज्झाणि' अशुचीनि। 'ण दु जलादीणि मेज्झं कुणदि' नैव जलादीनि शुचितामापादयन्तीति। 'अमेज्झाणि' अशुचीनि 'सयममेज्झाणि संताणि' अमेध्ययोगात् स्वयमशुचीनि सन्ति ॥१८१२॥

तारिसयममेज्झमयं सरीरयं किह जलादिजोगेण।
मेज्झं हवेज्ज मेज्झं ण हु होदि अमेज्झमयघडओ ॥१८१३॥

'तारिसयममेज्झमयं' शुचीनामशुचिताकरणसमर्थाशुचिमयं शरीरकं। 'किह' कथं। 'जलादिजोगेण' जलादिसम्बन्धेन। 'मेज्झं हवेज्ज' शुचिर्भवेत्। 'अमेज्झमय घडगो' अमेध्यमयो घटः। 'ण खु मेज्झो होदि' नैव शुचिर्भवति। यथा जलादियोगेन ॥१८१३॥

यदि शरीरमशुचि किं तर्हि शुचीत्यत्राह—

णवरि हु धम्मो मेज्झो धम्मत्थस्स वि णमंति देवा वि।
धम्मेण चेव[1] जादि खु साहू जल्लोसधादीया ॥१८१४॥

बाँधी हुई है। मासरूपी मिट्टीसे लीपी गई है तथा अनेक अपवित्र वस्तुओंसे भरी हुई है। इस तरह यह शरीररूपी कुटिया घृणास्पद है ॥१८१०॥

गा०—जैसे कोयलोंको जलादिसे धोनेपर भी वे सफेद नहीं होते। उसी प्रकार जलादिसे धोनेपर भी शरीरकी शुद्धि नहीं होती ॥१८११॥

गा०—अपवित्र शरीर जलादिको भी अपवित्र कर देता है। अर्थात् शरीरके सम्बन्धसे निर्मल जल मैला हो जाता है। जल स्वयं मैला नहीं है, स्वयं तो निर्मल ही है किन्तु जल शरीरको पवित्र नहीं बनाता। बल्कि शरीरके संयोगसे जल ही अपवित्र हो जाता है ॥१८१२॥

गा०—निर्मलको मलीन करनेवाला अपवित्र शरीर जलादिके सम्बन्धसे कैसे पवित्र हो सकता है। क्या मलसे भरा घडा पानीसे धोनेसे पवित्र हो सकता है ॥१८१३॥

यह शरीर अपवित्र है तो पवित्र कौन है, इसका उत्तर देते हैं—

गा०—किन्तु धर्म पवित्र है क्योंकि रत्नत्रयात्मक धर्ममें स्थितको देव भी नमस्कार करते

---

१. चेव इति हु साहू —अ०।

'णवरि दु धम्मो मेज्झो' धर्म पुन शुचि । कस्मात् सुशब्दो यस्मादित्यर्थे वर्तते । 'धम्मत्थस्स वि णमंति देवा वि' यस्माद्धर्मे रत्नत्रयात्मके स्थितस्य देवा अपि नमस्कार कुर्वन्ति । धर्मेण शुचिना योगादात्मापि शुचिरिति । 'धर्मेण चेव जादि दु साधू' धर्मेणैव प्राप्नुवन्ति साधव । किं ? 'जल्लोसधादीया' जल्लौषध्यादिकमृद्धयतिशयम् ॥१८१४॥ अशुभत्त ।

आस्रवानुप्रेक्षा निरूप्यते—

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिए दुक्खजलयराइण्णे ।
जीवस्स दु परिब्भमणम्मि कारणं आसवो होदि ॥१८१५॥

'जम्मसमुद्दे' जन्मसमुद्रे । 'बहुदोसवीचिए' विचित्रदोषतरङ्गे । 'दुक्खजलयराकिण्णे' दुःखजलचरैराकीर्णे । 'जीवस्स परिब्भमणम्मि' जीवस्य परिभ्रमणे यत् कारणं तत् 'आसवो' आस्रवो भवति । ननु च कर्माणि कारणानि नत्वास्रव । अत्रोच्यते । कर्मणा परिभ्रमणकारणाना कारणत्वादास्रव कारणमित्युक्त ॥१८१५॥

संसारसागरे से कम्मजलमसंवुडस्स आसवदि ।
आसवणीए णावाए जह सलिलं उदधिमज्झम्मि ॥१८१६॥

'ससारसागरे' ससारसमुद्रे । 'से तस्य । 'असवुडस्स' सवररहितस्य सम्यक्त्वसयमक्षमामार्दवार्जवसतोषपरिणामरहितस्य । 'कम्मजलमासवदि' ज्ञानावरणादिकर्मजलमास्रवत्यागच्छति । 'आसवणीए णावाए' आस्रवणशीलाया नावि यथा सलिलं प्रविशति । 'उदधिमज्झे' समुद्रमध्ये ॥१८१६॥

धूली णेहुत्तुप्पिदगत्ते लग्गा मलो जहा होदि ।
मिच्छत्तादिसिणेहोल्लिदस्स कम्मं तहा होदि ॥१८१७॥

है। पवित्र धर्मके सम्बन्धसे आत्मा भी पवित्र है। धर्मसे ही साधु भी जल्लौषधी आदि ऋद्धियोंको प्राप्त करते हैं। अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्मका साधन करनेसे साधुओंके शरीरका मल भी औषधीरूप हो जाता है ॥१८१४॥

आगे आस्रवानुप्रेक्षाको कहते हैं—

गा०-टी०—यह जन्ममरणरूपी समुद्र विविध दोषरूपी लहरोंसे युक्त है तथा दुःखरूपी जलचर जीवोंसे भरा है। इस समुद्रमें परिभ्रमणका कारण आस्रव है।

शंका—संसार समुद्रमें परिभ्रमणका कारण तो कर्म है, आस्रव नहीं है।

समाधान—परिभ्रमणका कारण कर्म है यह ठीक है। किन्तु उन कर्मोंका कारण आस्रव है। अतः आस्रवको परिभ्रमणका कारण कहा है ॥१८१५॥

गा०—जैसे समुद्रके मध्यमें छेदयुक्त नावमें जल प्रवेश करता है वैसे ही संसाररूपी समुद्रमें जो जीव संवरसे रहित है अर्थात् सम्यक्त्व, संयम, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि रूप परिणामोंसे रहित है उसके ज्ञानावरण आदि कर्मरूप जलका आस्रव होता है ॥१८१६॥

गा०—जैसे तेलसे लिप्त शरीरमें लगी हुई धूल मलरूप हो जाती है वैसे ही जो आत्मा

'घूलो णेहुत्तुप्पिवगत्ते लग्गा' घूलो स्नेहाभ्यक्तशरीरलग्ना। 'जहा मलो होदि' यथा मल भवति। 'मिच्छत्तादिसिणेहोल्लिदस्स' मिथ्यात्वासंयमकषायपरिणामस्नेहाभ्यक्तस्यात्मन प्रदेशेष्ववस्थित कर्मप्रायोग्य द्रव्य। 'तहा' तथा। 'कम्म होदि' कर्म भवति। एतदुक्त भवति-आत्मपरिणामान्मिथ्यात्वादिकान विशिष्ट पुद्गलद्रव्य कर्मत्वेन परिणमयतीति कर्मत्वपर्यायहेतुरात्मन परिणाम आस्रव इत्यर्थ ॥१८१७॥

ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलदव्वेहिं सव्वदो लोगो।
सुहमेहिं बादरेहिं य दिस्सादिस्सेहिं य तहेव ॥१८१८॥

'ओगाढगाढणिचिदो' अनुप्रवेशगाढ निचित। 'पुग्गलदव्वेहिं' पुद्गलद्रव्यै 'सव्वदो लोगो' कात्स्न्येन लोक। 'सुहमेहिं बादरेहिं य' सूक्ष्मै स्थूलैश्च। 'दिस्सादिस्सेहिं' चक्षुषा दृश्यैरदृश्यैश्च। 'तहेव' सर्वत्र। एतया गाथया कर्मत्वपर्यायप्रयोग्याना पुद्गलद्रव्याणा सर्वत्र लोकाकाशे बहूनामस्तित्वमाख्यातम् ॥१८१८॥

के ते आस्रवा इत्यत्राह—

मिच्छत्त अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होंति।
अरहंतवुत्तअत्थेसु विमोहो होइ मिच्छत्तं ॥१८१९॥

'मिच्छत्त अविरमण कसायजोगा य आसवा होंति' मिथ्यात्वमसयम कषाययोगाश्च आस्रवा भवन्ति। आस्रवत्यागच्छति कर्मत्वपर्याय पुद्गला एभि कारणभूतैरिति मिथ्यात्वादय आस्रवशब्दवाच्या तेष्वास्रवेषु। मिथ्यात्वस्वरूप कथयति। 'अरहंतवुत्त अत्थेसु' अर्हदुक्तेषु अनन्तद्रव्यपर्यायात्मकेषु अर्थेषु 'विमोहो मिच्छत्त होदि' अश्रद्धान मिथ्यात्व भवति ॥१८१९॥

असयममाचष्टे—

अविरमण हिंसादी पंच वि दोसा हवंति णायव्वा।
कोधादीया चत्तारि कसाया रागदोसमया ॥१८२०॥

मिथ्यात्व, असयम और कषायपरिणामरूप तैलसे लिप्त होता है उस आत्माके प्रदेशोंमे स्थित कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप हो जाते हैं। इसका आशय यह है, मिथ्यात्व आदि रूप आत्माके परिणामोंमे विशिष्ट पुद्गलद्रव्य कर्मरूपसे परिणमन करता है इसलिये कर्मरूप परिणमनमें कारण आत्माके परिणाम ही आस्रव हैं ॥१८१७॥

गा०—यह लोक सर्वत्र पुद्गल द्रव्योंसे ठसाठस भरा हुआ है। वे पुद्गल सूक्ष्म भी है और बादर भी हैं। चक्षुके द्वारा दिखाई देने योग्य भी हैं और न दिखाई देने योग्य भी हैं।

टी०—इस गाथाके द्वारा कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गल द्रव्योंका सर्वत्र लोकाकाशमे अस्तित्व बतलाया है ॥१८१८॥

वे आस्रव कौन हैं यह बतलाते हैं—

गा०—मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग ये आस्रव हैं। जिन कारणोंसे पुद्गल कर्मरूप होकर आते हैं उन मिथ्यात्व आदिको आस्रव कहते हैं। उनमेंसे मिथ्यात्वका स्वरूप कहते हैं—अर्हन्त भगवान्‌के द्वारा कहे गये अनन्त द्रव्य पर्यायात्मक पदार्थोंमे अश्रद्धान करना मिथ्यात्व है ॥१८१९॥

'अविरमण' अविरमण नाम। 'हिंसादि पंच वि दोसा' हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाख्या पञ्चापि दोषा । 'हवंति णादव्वा' अविरमण भवन्तीति ज्ञातव्या । प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण, असदभिधान, अदत्तादान, मैथुनकर्म विशेष, मूर्छा चेति एते परिणामा अविरमणशब्देनोच्यन्ते । विरमणं हि निवृत्तिस्ततोऽन्यत्वात् । प्रवृत्तिरूपा हिंसादय अविरमण इत्युच्यन्ते । 'कोधादीया' क्रोधमानमायालोभा । 'चत्तारि' चत्वार । 'कसाया' कषाया इत्युच्यन्ते । 'रागदोसमया' रागद्वेषात्मका ॥१८२०॥

रागद्वेषयोर्माहात्म्यं दर्शयति—

किहदा राओ रंजेदि णरं कुणिमे वि जाणुग देहे ।
किहदा दोसो वेसं खणेण णीयंपि कुणइ णरं ॥१८२१॥

'किहदा राओ रंजेदि णरं' कथं तावद्रागो रञ्जयति नरं । 'कुणिमे वि देहे' अशुचावपि देहे, अनुरागस्यायोग्ये । 'जाणुग' शरीराशुचित्व जानन्त अज्ञ रञ्जयति । सारे वस्तुनि नरं रञ्जयतीति न तच्चित्र ज्ञातारमशुचिन्यसारे शरीरे रञ्जयतीत्येतदद्भुतमिति भाव । 'दोसो' दोष, 'किहदा वेसं कुणदि' कथं तावद्द्वेष्य करोति । 'खणेण' क्षणमात्रेण । 'णीयंपि णरं' बान्धवमपि नरं । अनेनापि द्वेषमाहात्म्यमाख्यायते । रागाश्रयानपि बधून् द्वेष्यान् करोतीति ॥१८२१॥

सम्मादिट्ठी वि णरो जेसिं दोसेण कुणइ पावाणि ।
धित्तेसि गारविंदियसण्णामयरागदोसाण ॥१८२२॥

'सम्मादिट्ठी वि णरो' तत्वज्ञानश्रद्धानसमन्वितोऽपि नर । 'जेसिं दोसेण कुणदि पावाणि' येषा दोषेण करोति पापानि । 'धित्तेसिं गारवेंदियसण्णामयरागदोसाण' धिक्तान्गौरवानिन्द्रियाणि सज्ञामदान् रागद्वेषाश्च ॥१८२२॥

असयमका स्वरूप कहते हैं—

गा०—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच दोषोंको असयम कहते हैं। कषाययुक्त आत्मपरिणामके योगसे प्राणोंके घातको हिंसा कहते हैं। प्राणि पीडाकारक अप्रशस्त वचन बोलनेको असत्य कहते हैं। बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणको चोरी कहते हैं। मैथुन कर्मको अब्रह्म कहते हैं और ममत्व भावको परिग्रह कहते हैं। ये सब परिणाम असयम कहे जाते हैं। इन सबसे निवृत्तिको सयम कहते हैं। और प्रवृत्तिरूप हिंसादि परिणाम असयम हैं। तथा राग-द्वेषमय चार कषाय हैं। अर्थात् हिंसादिरूप परिणाम असयम है और क्रोधादि कषाय हैं इनमेंसे क्रोध और मान द्वेषरूप हैं और माया, लोभ रागरूप हैं ॥१८२०॥

राग और द्वेषका माहात्म्य बतलाते हैं—

गा०-टी०—यह शरीर अशुचि है। रागके अयोग्य है। यह राग शरीरकी अशुचिताको जाननेवाले अज्ञानीको उसमें अनुरक्त करता है सारवान् वस्तुमें मनुष्यको अनुरक्त नहीं करता। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य इसमें है कि यह जाननेवालेको भी असार शरीरमें अनुरक्त करता है। तथा द्वेष क्षणमात्रमें बन्धु मनुष्यको भी द्वेषका पात्र बनाता है। इससे द्वेषका माहात्म्य कहते हैं कि जो बन्धु राग करने योग्य हैं उन्हें भी वह द्वेषका पात्र बनाता है ॥१८२१॥

गा०—तत्त्वोंके ज्ञान और श्रद्धानसे युक्त मनुष्य भी अर्थात् सम्यग्दृष्टी मनुष्य भी जिनके

जो अभिलासो विसएसु तेण ण य पावए सुह पुरिसो ।
पावदि य कम्मबंधं पुरिसो विसयाभिलासेण ॥१८२३॥

'जो अभिलासो विसएसु' यो अभिलाषो विषयेषु स्पर्शादिषु । 'तेण विसयाभिलासेण ण य पावदे सुह पुरिसो' प्राप्नोति नैव सुख पुरुष । 'पावदि य कम्मबध' प्राप्नोति च कर्मबन्ध, 'पुरिसो विसयाभिलासेण' पुरुषो विषयाभिलाषेण निमित्तेन । एतेन विषयाभिलाषपरिणामस्य प्राणिनामसकृत् प्रवर्तमानस्याहितता निवेदिता, सुख न प्रयच्छति कर्मबन्धकारण तु भवतीति विषयाभिलाषस्यास्रवस्य स्वरूप कथित ॥१८२३॥

विषयाभिलाषस्य दुष्टता प्रकारान्तरेणाचष्टे—

कोई डहिज्ज जह चदण णरो दारुग च बहुमोल्लं ।
णासेइ मणुस्सभव पुरिसो तह विसयलोहेण ॥१८२४॥

'कोई डहिज्ज जह चदण' कश्चिद्यथा दहेच्चन्दन । 'बहुमोल्ल' महामूल्य । 'दारग च' अगुर्वादिदारु च, यथा दहति भस्मादिक स्वल्प समुद्दिश्य । 'तहा णासेदि मणुस्सभव' तथा नाशयति मानुषभव अतीन्द्रियानन्तसुखकारण । 'पुरिसो तह विसयलोभेण' अतितुच्छविषयगार्ध्येन ॥१८२४॥ उक्त च—

विषया जनितेन्द्रियोत्सवा बहुभिश्चापि समन्विता रसै ।
विषगर्भसुसस्कृतान्नवत परिभुक्ता परिणामदारुणा ॥
विषयसुखप्रतिबद्धलोलचित्तो विषयनिमित्तमनिष्टकर्म कृत्वा ।
विषयसुखप्रविहीणजातिजातो विषयसुख लभते न ना विपुण्य ॥

दोषसे पाप करता है उन गारवोको, इन्द्रियोको, सज्ञामदोको और राग द्वेषको धिक्कार हो ॥१८२२॥

गा०—विषयोमे जो अभिलाषा है उसके कारण पुरुष सुख नही पाता विषयोकी चाहके निमित्तसे पुरुष कर्मबन्ध करता है ॥१८२३॥

टी०—इससे प्राणियोमे निरन्तर प्रवर्तमान विषयोकी चाहरूप परिणामको अहितकारी बतलाया है । उसमे सुख तो नही होता, किन्तु कर्मबन्ध होता है । अत विषयोकी अभिलाषाको आस्रवरूप कहा है ॥१८२३॥

गा०-टी०—अन्य प्रकारसे विषयोकी अभिलाषाकी दुष्टता बतलाते है—जैसे कोई मनुष्य राख आदिके लिये बहुमूल्य चन्दनकी लकडीको जला देता है । वैसे ही मनुष्य अति तुच्छ विषयोके लोभमे उस मनुष्य भवको नष्ट कर देता है जिसके द्वारा अतीन्द्रिय अनन्त सुख प्राप्त हो सकता है । कहा भी है—ये विषय इन्द्रियोके लिये आनन्द उत्पन्न करते है तो बहुतसे रस उन विषयोमे रहते है । किन्तु विषसे सस्कार किये गये अन्नकी तरह उनको भोगनेपर अत्यन्त भयकर परिणाम होता है । जिसका चचल चित्त विषय सुखमे अत्यासक्त होता है वह विषयोकी प्राप्तिके लिये अनिष्ट कार्य करके ऐसी पर्यायमे जन्म लेता है जहाँ उसे विषयसुख मिलता ही नही । ठीक ही है, पुण्यहीन मनुष्य विषयसुखको नही पाता ॥१८२४॥

छड्डिय रयणाणि जहा रयणदीवा हरेज्ज कट्ठाणि ।
माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा ॥१८२५॥

'छड्डिय रयणाणि जहा' रत्नानि त्यक्त्वा यथा, **'रयणद्दीवा हरेज्ज कट्ठाणि'** रत्नद्वीपात्काष्ठान्याहरति । **'तहा माणुसभवे वि'** मनुष्यभवेऽपि, **'छड्डिय धम्मं'** धर्मं विहाय । **'भोगे भिलसदि'** भोगानवाञ्छति । एतदुक्तं भवति—अनेकमाररत्नास्पदं रत्नद्वीपं सुदुर्लभं प्राप्य मुधा लभ्यान्यपि रत्नान्यनुपादाय असारमिन्धनं सुलभं सारबुद्ध्या यथा कश्चिदाहरति जडः । तथानेकगुणरत्नाकरं मनुष्यभवं दुरवापमवाप्य अतर्पकं पराधीनं अल्पकालिकं विषयसुखमभिलषति ॥१८२५॥

गंतूण णंदणवणं अमयं छंडिय विसं जह पियइ ।
माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा ॥१८२६॥

'गंतूण णंदणवणं' गत्वा नन्दनवनं । **'अमयं छंडिय'** अमृतं त्यक्त्वा । **'विसं जहा पियइ'** विषं यथा पिबति कश्चित् । **'माणुसभवे वि छड्डिय'** मनुष्यभवेऽपि त्यक्त्वा । **'धम्मं'** धर्मं । **'भोगेभिलसदि तहा'** भोगानभिलषति तथा ॥१८२६॥

योगशब्दार्थमाचष्टे—

पावपओगा मणवचिकाया कम्मासवं पकुव्वंति ।
भुज्जंतो दुब्भत्तं वणम्मि जह आसवं कुणइ ॥१८२७॥

'पावपओगा' पापं प्रयुज्यते प्रवर्त्यते एभिरिति पापप्रयोगाः । **'मणवचिकाया'** मनोवाक्कायाः, **'कम्मासवं पकुव्वंति'** कर्मत्वपर्यायागमं पुद्गलानां कुर्वन्ति । **'भुंजतो दुब्भत्तं'** भुञ्जमानो दुराहारं । **'वणम्मि जह आसवं कुणदि'** व्रणे यथा आस्रवं स्रुतिं पूतीनां करोति ॥१८२७॥

गा०-टी०—जैसे कोई मनुष्य रत्नद्वीपमें जाकर रत्नोंको छोड़ लकड़ी बीनता है वैसे ही मनुष्यभवमें धर्मको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे कोई मूर्ख अनेक बहुमूल्य रत्नोंसे भरे तथा अतिदुर्लभ रत्नद्वीपमें जाकर विना प्रयत्नके ही प्राप्त भी रत्नोंको ग्रहण न करके असार और सुलभ ईंधनको ही सारभूत मानकर ग्रहण करता है, उसी प्रकार जो मनुष्यभव अनेक गुणरूपी रत्नोंकी खान है, जिसका मिलना बहुत कठिन है उसे प्राप्त करके भी अज्ञानी ऐसे विषयसुखकी अभिलाषा करता है जो तृप्ति प्रदान नहीं करता तथा पराधीन है और अल्प काल ही रहता है ॥१८२५॥

गा०—जैसे कोई पुरुष नन्दन वनमें जाकर भी अमृतको छोड़ विष पीता है। वैसे ही मनुष्यभवको पाकर भी मनुष्य धर्मको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है ॥१८२६॥

योगशब्दका अर्थ कहते हैं—

गा०—जिनके द्वारा पापमें प्रवृत्ति की जाती है वे मन, वचन, काय, पुद्गलोंको कर्मरूपसे परिणमाते हैं। जैसे अपथ्य सेवन करनेवाला अपने घावमें पीव पैदा करता है। अर्थात् जैसे अपथ्य सेवन करनेसे घावमें पीव आता है वैसे ही मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे कर्मोंका आस्रव होता है ॥१८२७॥

कर्माणि शुभाशुभरूपाणि द्विविधानि, तत्र कस्य कर्मणः क आस्रव इत्यत्राह—

अणुकंपासुद्धुवओगो वि य पुण्णस्स आसवदुवारं ।
तं विवरीदं आसवदारं पावस्स कम्मस्स ॥१८२८॥

'अणुकंपा' अनुकम्पा । 'सुद्धुवओगो' शुद्धश्च प्रयोगः परिणामः । 'पुण्णस्स आसवदुवारं' पुद्गलानां पुण्यत्वपर्यायागमनमुखं सद्वेद्यं सम्यक्त्वं रतिहास्यपुंवेदाः शुभे नामगोत्रे शुभं चायुः पुण्यं एतेभ्योऽन्यानि पापानि । अनुकम्पा त्रिप्रकारा । धर्मानुकम्पा मिश्रानुकम्पा सर्वानुकम्पा चेति । तत्र धर्मानुकम्पा नाम परित्यक्तासंयमेषु मानापमानसुखदुःखलाभालाभतृणसुवर्णादिषु समानचित्तेषु दान्तेन्द्रियान्तःकरणेषु जननीमिव[1] मुक्तिमाश्रितेषु परिहृतोग्रकषायविषयेषु दिव्येषु भोगेषु दोषान्विचिन्त्य विरागतामुपगतेषु संसारमहासमुद्रभयेन निशास्वप्यल्पनिद्रेषु, अङ्गीकृतनिःसङ्गत्वेषु, क्षमादिदशविधधर्मपरिणतेषु यानुकम्पा सा धर्मानुकम्पा, यया प्रयुक्तो जनो विवेकी तद्योग्यान्नपानावसथौषधादिकं संयमसाधनं यतिभ्यः प्रयच्छति । स्वामविनिगुह्य शक्तिं उपसर्गदोषानपसारयति आज्ञाप्यतामिति सेवां करोति भ्रष्टमार्गाणां पन्थानमुपदर्शयति । तैः संयोगमवाप्य अहो सपुण्या वयमिति हृष्यति, सभासु तेषां गुणानुत्कीर्तयति[2], तान् गुरूनिव पश्यति । तेषां गुणानामभीक्ष्णं स्मरति, महात्मभिः कदा नु मम समागम इति । तैः संयोगं समीप्सति, तदीयान् गुणान् परैरभिवर्ण्यमानान्निशम्य तुष्यति । इत्यमनुकम्पापरः साधुगुणानुमननानुकारी भवति । त्रिधा च सन्तो बन्धमुपदिशन्ति, स्वयं कृतेः, कारणायाः, परैः कृतस्यानुमतेश्च । ततो महागुणराशिगतहर्षात् महान् पुण्यास्रवः ।

कर्म शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारके हैं। किससे किस कर्मका आस्रव होता है यह कहते हैं—

गा०—अनुकम्पा और शुद्ध उपयोग पुण्य कर्मके आस्रवके द्वार हैं। और अनुकम्पा तथा शुद्ध उपयोगसे विपरीत परिणाम पाप कर्मके आस्रवके द्वार हैं ॥१८२८॥

टी०—अनुकम्पाके तीन भेद हैं—धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा, सर्वानुकम्पा। जिन्होंने असंयमका त्याग कर दिया है, मान, अपमान, सुख-दुख, लाभ-अलाभ तथा तृण-सुवर्ण आदिमें जिनका समभाव है, इन्द्रिय और मनका जिन्होंने दमन किया है, जो माताके समान मुक्तिके आश्रित हैं, जिन्होंने उग्र कषाय विषयोंका परित्याग किया है, दिव्य भोगोंमें दोषोंका विचार करके विरागताको अपनाया है, संसाररूपी महासमुद्रके भयसे रात्रिमें भी जो अल्प निद्रा लेते हैं, जिन्होंने निःसंगताको स्वीकार किया है और जो उत्तम क्षमा आदि दस प्रकारके धर्मोंमें लीन हैं उनमें जो अनुकम्पा है उसे धर्मानुकम्पा कहते हैं। उस धर्मानुकम्पासे प्रेरित होकर विवेकी जन उन मुनियोंके योग्य अन्नपान, वसतिका आदि संयमके साधन प्रदान करते हैं। अपनी शक्तिको न छिपाकर उपसर्ग और दोषोंको दूर करते हैं। 'हमें आज्ञा दीजिये' इस प्रकार निवेदन करके सेवा करते हैं। जो मार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं उन्हें सन्मार्ग दिखलाते हैं। उन मुनियोंका संयोग प्राप्त होनेपर 'अहो हम बड़े पुण्यशाली हैं।' इस प्रकार विचार कर प्रसन्न होते हैं। सभाओंमें उनके गुणोंका बखान करते हैं। उनको गुरुके समान मानते हैं। उनके गुणोंका सदा स्मरण करते हैं कि कब उनका समागम हो। उनके संयोगकी अभिलाषा रखते हैं। दूसरे द्वारा उनके गुणोंकी प्रशंसा सुनकर सन्तुष्ट होते हैं। इस प्रकार अनुकम्पामें तत्पर साधु गुणोंकी अनुमोदना करनेवाला

---

१ मातरमिव—आ० मु०। २ ति स्वान्ते मु—आ० मु०।

मिथ्यानुकम्पोच्यते—पृथुपापकर्ममूलेभ्यो हिंसादिभ्यो व्यावृत्ताः सन्तोषवैराग्यपरता विनीता दिग्विरतिं, देशविरतिं, अनर्थदण्डविरतिं चोपगताम्तीव्रदोषाद् भोगोपभोगान्निवृत्य शेषे च भोगे कृतप्रमाणा पापात्परिभीतचित्ता, विशिष्टदेशे काले च विवर्जितसर्वसावद्याः पर्वस्वारम्भयोग सकलं विसृज्य उपवासं ये कुर्वन्ति तेषु सयतासयतेषु क्रियमाणानुकम्पा मिश्रानुकम्पेत्युच्यते। जीवामि जीवेषु दया च कृत्वा कृत्स्नामबुध्यमाना जिनसूत्राद्बाह्या येऽन्यपाषण्डरताविनीता कष्टानि तपांसि कुर्वन्ति, तेषु क्रियमाणानुकम्पा तया सर्वोऽपि कर्मपुण्यं प्रचिनोति।

देश प्रवृत्तिर्गृहिणामकृत्स्नात् मिथ्यात्वदोषोपहतोन्यधर्मः।
इत्येषु मिश्रो भवतीति धर्मो मिश्रानुकम्पामवगच्छेज्जन्तु[1]॥
सद्दृष्टयो वापि कुदृष्टयो वा स्वभावतो मार्दवसप्रयुक्ताः।
यां कुर्वते सर्वशरीरवर्गे सर्वानुकम्पेत्यभिधीयते सा॥

छिन्नान् बद्धान् रुद्धान् प्रहृतान् विलुप्यमानाश्च मर्त्यान्, सहैनसो निरेनसो वा परिदृश्य मृगान्विहगान् सरीसृपान् पशूंश्च मांसादिनिमित्तं प्रहन्यमानान् परलोकैः परस्परं वा तान् हिंसतो भक्षयतश्च दृष्ट्वा सूक्ष्माननेकान् कुन्थुपिपीलिकाप्रभृति प्राणभृतो मनुजकरभखरशरभकरितुरगादिभिः समृद्यमानानभिवीक्ष्य असाध्यरोगोरगदशनान् परितप्यमानान् मृतोऽस्मि नष्टोऽस्म्यभिधावतेति रोगानुभूयमानान्, गुरुपुत्रकलत्रादिभिर-

होता है। पूर्व ज्ञानियोंने बन्धको तीन प्रकारसे कहा है। स्वयं करनेसे, दूसरोंसे करानेसे और दूसरोंके करने पर उसकी अनुमोदना करनेसे। अतः महागुणशाली मुनियोंको देखकर हर्ष प्रकट करनेसे महान् पुण्यास्रव होता है।

अब मिश्रानुकम्पा कहते हैं। जो महान् पाप कर्मके मूल हिंसा आदिसे निवृत्त हैं, सन्तोष और वैराग्यमें तत्पर हैं, विनीत हैं, दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरतिको धारण किये हुए हैं, तीव्र दोषवाले भोग उपभोगोंका त्याग करके शेष भोगोंका जिन्होंने परिमाण कर लिया है, जिनका चित्त पापसे भीत रहता है, जो विशिष्ट देश और कालमें सब सावद्यका त्याग करते हैं अर्थात् त्रिकाल सामायिक करते हैं, पर्वके दिनोंमें समस्त आरम्भको त्याग उपवास करते हैं उन संयमासंयमियोंमें जो अनुकम्पा की जाती है वह मिश्रानुकम्पा है। मैं जिलाता हूँ ऐसा मान जो जीवोंपर दया तो करते हैं किन्तु पूर्णरूपसे दयाको नहीं जानते। ऐसे जो जिनागमसे बाह्य अन्य धर्मोंको माननेवाले विनयी तपस्वी हैं कष्टदायक तपस्या करते हैं उनमें अनुकम्पा भी मिश्रानुकम्पा है। उसमें सब जीव पुण्य कर्मका संचय करते हैं। कहा भी है—

गृहस्थ एकदेशसे प्रवृत्तिशील होनेसे पूर्ण संयमका पालक नहीं होता। तथा मिथ्यात्वके दोषसे सदोष अन्य धर्मवालोंमें अनुकम्पा मिश्रानुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जो स्वभावसे ही मार्दव भावसे युक्त हैं वे जो समस्त प्राणियोंमें अनुकम्पा करते हैं उसे सर्वानुकम्पा कहते हैं। जिनके अवयव कट गये हैं, जो बाँधे गये हैं, रोके गये हैं, पीटे गये हैं, लूटे गये हैं ऐसे निरपराधी अथवा अपराधी मनुष्योंको देखकर तथा मृगों, पक्षियों, सरीसृपों और पशुओंको मांस के लिये दूसरे लोगोंके द्वारा मारा जाना अथवा उन्हें परस्परमें ही एक दूसरेको हिंसा करते और एक दूसरेका भक्षण करते देखकर, तथा कुंथु चींटी आदि अनेक छोटे जन्तुओंको मनुष्य, ऊँट, गधा, शरभ, हाथी, घोड़े आदिके द्वारा कुचले जाते देखकर, तथा असाध्य रोगरूपी सर्पके द्वारा

1. 'पामवगच्छतज अ०।

प्राप्तकाल सहसा वियुज्य ऊर्ध्वभुजान् विक्रोशत, स्वाङ्गानि घ्नतश्च शोकेन, उपार्जितद्रविणैर्वियुज्यमानान् कृपणान् प्रनष्टबन्धून् धैर्यशिल्पविद्याव्यवसायहीनान् वा न् प्रज्ञाप्रसवत्या वराकान् निरीक्ष्य तद् दु खमात्मस्थमिव विचिन्त्य स्वास्थ्यमुपशमनमनुकम्पा ।

सुदुर्लभं मानुषजन्म लब्ध्वा मा क्लेशपात्राणि वृथैव भूत ।
धर्मे शुभे भूतहिते यतध्वमित्येवमाद्यैरपि चोपदेशैः ॥

कृतकरिष्यमाणोपकारानपेक्षैरनुकम्पा कृता भवति ।

पुण्यास्रव सा त्रिविधानुकम्पा सुतेषु पुत्रं जननी शुभेव ।
इवैतानुकम्पा प्रभवाद्धि पुण्यान्नाके सुता अभ्युपपत्तिमीयुः ॥

शुद्धप्रयोगो निरूप्यते स च द्विप्रकार यतिगृहिगोचरभेदेन । यतेः शुद्धोपयोग इत्थम्भूत—

जीवान्न हन्यां न मृषा वदेयं चौर्यं न कुर्यान्न भजेय भोगान् ।
धनं न सेवेय न च क्षपासु भुञ्जीय कृच्छ्रेऽपि शरीरतापे ॥१॥
रोषेण मानेन च मायया च लोभेन चाहं बहुदोषकेन ।
युञ्जेय नारम्भपरिग्रहैश्च दीक्षां शुभामभ्युपगम्य भूय ॥२॥
यथा न भात्युज्ज्वलमौलिमालो भिक्षां चरन्कार्मुकबाणपाणि ।
तथा न भायां यदि दीक्षित सन् वहेय दोषानवहाय लज्जाम् ॥३॥

इसे जानेसे पीडित मैं मर गया, मैं नष्ट हो गया इत्यादि चिल्लानेवाले रोगियोको देख तथा जिनकी अवस्था अभी मरनेकी नही है ऐसे गुरु, पुत्र, स्त्री आदिका सहसा वियोग हो जानेसे चिल्लाते हुए, अपने अगोको शोकसे पीटते हुए, कमाये हुए धनके नष्ट हो जानेसे दीन हुए तथा धैर्य, शिल्प, विद्या और व्यवसायसे रहित गरीब प्राणियोको देख उनके दुखको अपना ही दुख मानकर उसको शान्त करना अनुकम्पा है। 'अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर वृथा ही क्लेशके पात्र मत बनो। प्राणियोंके लिये कल्याणकारी धर्ममें मन लगाओ' इत्यादि उपदेशोंके द्वारा किये गये अथवा भविष्यमें किये जानेवाले उपकारकी अपेक्षाके विना अनुकम्पा करना चाहिये।

ये तीनो प्रकारकी अनुकम्पा पुण्य कर्मका आस्रव करती है। वह जैसे माता पुत्रके लिये शुभ होती है उसी प्रकार शुभ है। उस अनुकम्पासे हुए पुण्यके विपाकसे मरकर स्वर्गमें देव होते हैं।

अब शुद्ध प्रयोगका स्वरूप कहते हैं—उसके दो भेद है-एक यति सम्बन्धी शुद्धप्रयोग और दूसरा गृहस्थ सम्बन्धी शुद्ध सप्रयोग। यतिका शुद्ध प्रयोग इस प्रकार है—मैं जीवोका घात नही करूँगा। झूठ नही बोलूगा। चोरी नही करूँगा। भोगोको नही भोगूँगा। धनका सेवन नहीं करूँगा। शरीरमें अत्यन्त कष्ट होनेपर भी रात्रिमें भोजन नही करूँगा। शुभ दीक्षा लेकर बहुदोषपूर्ण क्रोध माना माया लोभसे आरम्भ और परिग्रहसे सम्बन्ध नही रखूँगा। जैसे कोई मनुष्य सिरपर मुकुटमाला धारण करके और हाथमें धनुष बाण लेकर भिक्षा मागे तो शोभा नही देता। उसी प्रकार यदि मैं दीक्षा लेकर लज्जा त्याग दोषोको वहन करूँ तो शोभा नही देता। महान्

१ य वा प्रजा प्रसत्तापकर नि –अ० ।

लिङ्ग गृहीत्वा महतामृषीणा, अङ्ग च बिभ्रत्परिकर्महीनम् ।
भङ्ग व्रतानामविचिन्त्य कष्ट सङ्ग कथ कामगुणेषु कुर्याम् ॥४॥
चर्यामनार्याचरितामधैर्यो धैर्येण हीन कृपणत्वमेत्य ।
कथ वृथामुण्डशिराश्चरेय लिङ्गीभवन्नङ्गविकारयुक्त ॥५॥
इत्येवमादि शुभकर्मचिंता सिद्धार्हदाचार्यबहुश्रुतेषु ।
चैत्येषु सघे जिनशासने च भक्तिविरक्तिर्गुणरागिता च ॥

विनीतता सयमो अप्रमत्तता, मृदुता, क्षमा, आर्जव सतोष, सज्ञाशल्यगौरवविजय, उपसर्ग-परीषहजय, सम्यग्दर्शन, तत्त्वज्ञान, सरागसयम, दशविधधर्मध्यान, जिनेन्द्रपूजा, पूजोपदेश नि शकित्वा-दिगुणाष्टक, प्रशस्तरागसमेता तपोभावना, पञ्चसमितय, तिस्रो गुप्तय इत्येवमाद्या शुद्धप्रयोगा । गृहिणा शुद्धोपयोग उच्यते—गृहीतव्रताना धारणपालनयोरिच्छा क्षणमपि व्रतभङ्गोऽनिष्ट, अभीक्ष्ण यतिप्रयोग अन्नादिदान श्रद्धादिविधिपुरस्सर श्रमनोदनाय भोगान् भुक्त्वापि स्वगित[1]सक्तिविगर्हण, सदा गृहप्रमोक्षप्रार्थना, धर्मश्रवणोपलम्भात्मनसोऽतितुष्टि, भक्त्या पञ्चगुरुस्तवनप्रणमने तत्पूजा, परेषा च स्थिरीकरणमुपबृहण, वात्सल्य, जिनेन्द्रभक्तानामुपकारकरण, जिनेन्द्रशास्त्राभिगम, जिनशासनप्रभावना इत्यादिक । **'तव्विवरीद'** अनुकम्पाशुद्धप्रयोगाभ्या विपरीत परिणाम । *'आसवदार'* आस्रवद्वार, *'पावस्स कम्मस्स'* अशुभस्य कर्मण । आस्रव । ॥१८२८॥

ऋषियोका लिंग स्वीकार करके और स्नान आदिके बिना शरीर धारण करके व्रतोंके भगका विचार न करते हुए काम सेवन आदिका ससर्ग मैं कैसे कर सकता हूं। मैं धैर्य खो, दीन बनकर अनार्योंके द्वारा आचरण करके योग्य चर्या कैसे कर सकता हूं। शरीरमे विकार युक्त होकर घूमने पर साधु होकर सिर मुडाना व्यर्थ है। इत्यादि प्रकारसे शुभ कर्मकी चिन्ता करना, सिद्ध, अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय, प्रतिमा, सघ और जिनशासनमे भक्ति, वैराग्य, गुणोमे अनुराग, विनययुक्त प्रवृत्ति, सयम, अप्रमादीपना, परिणामोमे कोमलता, क्षमा, आर्जव, सन्तोष, आहारादि सज्ञा मिथ्यात्व आदि शल्य और ऋद्धि आदिके मदको जीतना, उपसर्ग और परीषहको जीतना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सरागसयम, दस प्रकारका धर्मध्यान, जिनपूजा, जिनपूजाका उपदेश, नि शकित आदि आठ गुण, प्रशस्तराग, तपोभावना, पांच समिति, तीन गुप्ति इत्यादि शुद्ध प्रयोग हैं।

अब गृहस्थोका शुद्ध प्रयोग कहते हैं—ग्रहण किये हुए व्रतोंके धारण और पालनकी इच्छा, एक क्षणके लिये भी व्रतभगको इष्ट न मानना, निरन्तर यतियोको दान देना, श्रद्धा आदि विधि-पूर्वक अन्न आदि देना, भोगोको भोगकर भी थकान दूर करनेके लिये अपनी भोगासक्तिकी निन्दा करना, सदा घर छोडनेकी भावना करना, धर्मका श्रवण करनेको मिले तो मनका अतितुष्ट होना, भक्तिपूर्वक पचपरमेष्ठीका स्तवन और प्रणाम करना, उनकी पूजा करना, दूसरोको धर्ममे स्थिर करना, धर्मका बढाना साधर्मीवात्सल्य, जिनेन्द्रदेवके भक्तोका उपकार करना, जिन शास्त्रोका अभ्यास करना, जिनशासनकी प्रभावना करना आदि श्रावकोका शुद्ध प्रयोग है। अनुकम्पा और शुद्ध प्रयोगमे विपरीत परिणाम अशुभ कर्मके आस्रवके द्वार हैं ॥१८२८॥

---

१ तगिर्वि—अ० मु०।

संवरानुप्रेक्षा वक्ष्यते। संव्रियन्ते निरुध्यन्तेऽभिनवाः कर्मपर्यायाः पुद्गलानां येन जीवपरिणामेन। मिथ्यात्वादिपरिणामो वा निरुध्यते स संवरः। तत्राद्य सूरिर्मिथ्यात्वादिपरिणामसंवरान् सम्यक्त्वादीनां संवरतामाचष्टे—

मिच्छत्तासवदारं रुंभइ सम्मत्तदिढकवाडेण।
हिंसादिदुवाराणि वि दढवदफलहेहिं रुंभंति ॥१८२९॥

'मिच्छत्तासवदारं' तत्त्वाश्रद्धानमास्रवद्वारं। 'रुंभंति' रुध्यते, 'सम्मत्तदिढकवाडेण' तत्त्वश्रद्धान कवाटेन। 'हिंसादिदुवाराणि वि' हिंसादिद्वाराण्यपि, 'दढवदफलहेहिं रुंभंति' दृढव्रतपरिघैः स्थगयन्ति ॥१८२९॥

उवसमदयादमाउहकरेण रक्खा कसायचोरेहिं।
सक्का काउं आउहकरेण रक्खाव चोराण ॥१८३०॥

'उवसमदयादमाउहकरेण' उपशमः कषायवेदनीयस्य कर्मणस्तिरोभवनं, दया सर्वप्राणिविषया, दमः कषायदोषभावनया चित्तनिग्रहः। एते त्रय आयुधाः करे यस्य तेन। 'कसायचोरेहिं' कषायचोरेभ्यः। 'रक्खा सक्का काउं' रक्षा शक्या कर्तुं, 'आयुधकरेण रक्खाव चोरेहिं' आयुधहस्तेन चोरेभ्यो रक्षेव, कषायदोषपरिज्ञानेनासक्तं प्रवृत्तेन क्रोधादिनिमित्तवस्तुपरिहारेण तत्प्रतिपक्षक्षमादिपरिणामेन च कषायनिवारणं। उक्तं च—

जयेत्तदा कोपमुपाश्रितः क्षमां जयेच्च मानं समुपेत्य मार्दवं।
तथैव मायामपि चार्जवाज्जयेत्, जयेच्च संतोषवशेन लुब्धतां ॥
जिता कषाया यदि तेन तैर्जितं कषायमूलं सकलं हि बन्धनमिति ॥१८३०॥

मिथ्यात्वसंवरं कषायसंवरं च निरूप्य इन्द्रियसंवरं व्याचष्टे—

इंदियदुद्दंतस्सा णिग्घिप्पंति दमणाणखलिणेहिं।
उप्पहगामी णिग्घिप्पंति हु खलिणेहिं जह तुरया ॥१८३१॥

अब संवर अनुप्रेक्षा कहते हैं। जिस जीव परिणामसे पुद्गलोंके नवीन कर्म पर्यायें अथवा मिथ्यात्वादि परिणाम रुकते हैं उसे संवर कहते हैं। उनमेंसे ग्रन्थकार मिथ्यात्व आदि परिणामोंका संवर करनेसे सम्यक्त्व आदिको संवर कहते हैं—

गा०—मिथ्यात्व अर्थात् तत्त्वके अश्रद्धानरूप आस्रवका द्वार सम्यक्त्व अर्थात् तत्त्वके श्रद्धान रूप दृढ कपाटोंके द्वारा रोका जाता है और हिंसा आदि आस्रव द्वारोंको दृढ व्रतरूपी अर्गलाओंसे रोका जाता है ॥१८२९॥

गा०-टी०—कषायवेदनीय कर्मके तिरोभाव अर्थात् उदय अवस्थाको प्राप्त न होनेको उपशम कहते हैं। सब प्राणियोंपर दयाभाव होना दया है। कषायोंके दोषोंका विचार करके चित्तका निग्रह करना दम है। ये तीन अस्त्र जिसके पास हैं वह कषायरूप चोरोंसे अपनी रक्षा कर सकता है। जैसे जिसके हाथमें अस्त्र होता है वह चोरोंसे अपनी रक्षा कर सकता है उसी प्रकार कषायके दोषोंको जाननेसे, क्रोध आदिमें निमित्त वस्तुसे बचनेसे और कषायोंके विरोधी क्षमा आदि परिणामोंसे कषायको दूर किया जा सकता है। कहा भी है—सदा क्षमाकी उपासना करके क्रोधको जीतना चाहिये। मार्दवको धारण करके मानको जीतना चाहिये। तथा आर्जवभावसे मायाको जीतना चाहिये और सन्तोषसे लोभको जीतना चाहिये। जिसने कषायोंको जीत लिया उन्होंने क्या नहीं जीता। अर्थात् सबको जीत लिया। क्योंकि सब बन्धनका मूल कषाय है॥१८३०॥

'इंदियदुद्दंतस्सा' इन्द्रियदुर्दान्ताश्वा । 'णिग्घिप्पंति' निगृह्यन्ते निरुध्यन्ते । केन ? 'दमणाणखलिणेहिं' दमप्रधानानि दमज्ञानानि, तान्येव खलिनानि तैः । शब्दादिषु वर्तमानानि इन्द्रियज्ञानानि रागद्वेषमूलानि तानी-हेन्द्रियशब्देनोच्यन्ते । तेषां चास्रवाणां निरोधस्तत्त्वज्ञानभावनया भवति । द्वयोरुपयोर्युगपदेकस्मिन्नात्मन्य-प्रवृत्तेः । 'उप्पयगामी' उन्मार्गयायिन । 'जह तुरगा णिग्घिप्पंति' यथाश्वा निगृह्यन्ते । 'खलिणेहिं' खरैः खलिनैः ॥१८३१॥

अणिहुदमणसा इंदियसप्पाणि णिगेण्हिदुं ण तीरंति ।
विज्जामंतोसघहीणेण व आसीविसा सप्पा ॥१८३२॥

'अणिहुदमणसा' ज्ञानेन अनिभृतचेतसा । 'इंदियसप्पाइं' इन्द्रियसर्पा । 'णिगिण्हेदुं' निग्रहीतुं । 'ण तीरंति' न शक्यन्ते । 'विज्जामंतोसहोहोणेण व' विद्यया मन्त्रेण औषधेन वा हीनेन, 'आसीविसा सप्पा' आशीविषा सर्पा यथा न गृह्यन्ते ॥१८३२॥

प्रमादसंवरं कथयत्युत्तरगाथा—

पावपयोगासवदारणिरोधो अप्पमादफलिगेण ।
कीरइ फलिगेण जहा णावाए जलासवणिरोधो ॥१८३३॥

'पावपयोगासवदारणिरोधो' अशुभपरिणामास्रवद्वारनिरोधः । विकथादयः पञ्चदशप्रमादपरिणामा 'पावपयोगा' इत्युच्यन्ते । तेषां निरोधः 'अप्पमादफलगेण' अप्रमादफलकेन । केन फलकेन कः प्रमाद उच्यते सत्यासत्यमृषाभाषा विकथा निरुणद्धि, स्वाध्यायो ध्यानमेकाग्रतेति चेति एते प्रमादविकथाप्रतिपक्षभूता ।

मिथ्यात्व और कषायके संवरका कथन करके इन्द्रिय संवर कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे कुमार्गमें जानेवाले दुष्ट घोडोको कठोर लगामके द्वारा वशमे किया जाता है। वैसे ही दमप्रधान ज्ञानके द्वारा इन्द्रियरूपी दुर्दान्त घोडोको वशमे किया जाता है। यहाँ इन्द्रिय शब्दसे शब्द आदि विषयोंमे प्रवर्तमान इन्द्रिय ज्ञानको कहा है जिसका मूल राग और द्वेष है। उनसे हानेवाले आस्रवोंका निरोध तत्त्वज्ञानकी भावनासे होता है क्योंकि एक आत्मामे एक साथ दो रूप—तत्त्वज्ञान भी और इन्द्रिय विषयोंमे प्रवृत्ति भी नहीं हो सकते ॥१८३१॥

गा०—जैसे जिसके पास विद्या, मंत्र और औषध नहीं है वह सर्पोंको वशमे नहीं कर सकता। उसी प्रकार जिसका मन चंचल है वह इन्द्रियरूपी सर्पोंको वशमे नहीं कर सकता॥१८३२॥

आगे प्रमादके संवरको कहते हैं—

गा०—जैसे लकडीके पाटियेसे नावमे जलका आना रोका जाता है। वैसे ही अप्रमादरूपी पाटियेसे अशुभ परिणामोरूपी आस्रव द्वारको रोका जाता है ॥१८३३॥

टी०—किस पाटियेसे किस प्रमादको रोका जाता है यह कहते हैं—सत्य और अनुभयरूप वचन विकथा नामक प्रमादको रोकते हैं। स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विकथा नामक प्रमादके प्रतिपक्षी हैं। इनमे लगे रहनेसे खोटी कथाका अवसर ही नहीं मिलता। क्षमा, मार्दव, आर्जव

१. दो रूपमन इत्याह –आ० मु०।

क्षमामार्दवार्जवसंतोषा, कषायप्रमादस्य प्रत्यनीकभूता। ज्ञानभावना, रागद्वेषेन्द्रियविषयविविक्तदेशावस्थानं ज्ञानेन मनःप्रणिधानं, इन्द्रियविषयरागद्वेषजदोषाणामनुस्मरणं, विषयोपलब्धावनादरश्चेति एते इन्द्रियप्रमादप्रतिपक्षाः। तथा चोक्तम्—

वराङ्गनाङ्गानि च रागचोदितो यदृच्छया वा न निरीक्ष्य रज्यति।
तथैव रूपाण्यशुभानि वीक्षितुं न नेच्छति द्वेषवशप्रचोदितः ॥१॥
निरीक्ष्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता पुरुषः स्वचक्षुषः।
सुगीतवादित्रभवान्मनोहरान् स्वरान्मनोज्ञान्युवतीरितानपि ॥२॥
न वाञ्छति श्रोतुमिहादरेण यो यदृच्छया वा न निशम्य रज्यति।
स्वराननेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितुं ॥३॥
निशम्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता श्रवणेन्द्रियस्य च।
तुरुष्ककालागुरुकुष्ठकुङ्कुमान् तमालपत्रोत्पलचम्पकादिकान् ॥४॥
शुभं न जिघ्रासति गन्धमादरात् यदृच्छयाघ्राय न चापि रज्यति।
तथैव गन्धानशुभानपोह यो न नेच्छति घ्रातुमसून्नतद्विषान् ॥५॥
निषेव्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स नासेन्द्रियजिन्नरोत्तमः।
न यो महामृष्टविशिष्टभोजनप्रियापलेह्यापि[1] मनोहरान् रसान् ॥६॥
निषेवितुं रागवशेन काङ्क्षति यदृच्छया वा न निषेव्य रज्यति।
रसाननेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितुं ॥७॥
निषेव्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता रसनेन्द्रियस्य च।

कषायनामक प्रमादके विरोधी है। ज्ञानकी भावना, रागद्वेषके कारण इन्द्रिय विषयोंसे रहित देशमें रहना, ज्ञानके द्वारा मनको एकाग्र करना, इन्द्रियोंके विषयोंमें रागद्वेषमें उत्पन्न हुए दोषोंका स्मरण करना, और विषयोंकी उपलब्धिमें आदरभाव न होना, ये इन्द्रिय नामक प्रमादके विरोधी हैं। कहा भी है—

रागसे प्रेरित होकर अथवा स्वेच्छासे सुन्दर स्त्रीके अंगोंको देखकर राग नहीं करता। तथा द्वेषसे प्रेरित होकर अशुभ रूपोंको देखनेकी इच्छा नहीं करता। जो यदृच्छासे देखकर भी द्वेष नहीं करता वह पुरुष अपनी आँखोंका विजेता है। अच्छे गीत, और वादित्रोंके मनोहर स्वरोंको तथा युवती स्त्रियोंके द्वारा कहे गये शब्दोंको भी जो आदरपूर्वक सुनना नहीं चाहता और अचानक सुनकर भी उनमें अनुराग नहीं करता। तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर स्वरोंको भी सुननेकी इच्छा नहीं करता। अचानक अमनोज्ञ स्वर सुनाई पड जाये तो उससे द्वेष नहीं करता, वह श्रवणेन्द्रियका जेता है। लोबान, काला अगर, कुष्ठ, कुंकुम, तमालपत्र, कमल, चम्पक आदिकी सुगन्धको आदरभावसे जो नहीं सूंघता, और अचानक सूंघनेमें आ जाये तो उसमें राग नहीं करता। उसी प्रकार जो अशुभ गन्धको भी सूंघनेसे द्वेष नहीं करता। और अचानक दुर्गन्ध सूंघ ले तो उससे द्वेष नहीं करता वह श्रेष्ठ पुरुष नासा इन्द्रियको जीतनेवाला है। जो अत्यन्त मीठे विशिष्ट भोजनको और मनोहर रसोंको रागवश सेवन करना नहीं चाहता, अचानक सेवनमें आ जाये तो उसमें राग नहीं करता। तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर रसोंको भी सेवन

---

१ प्रिय प्रलेह्यादिमनो मनोहरान् –आ० ।

मनोज्ञशय्यासनकान्तयोषिता, शुभांश्च य स्पर्शविशेषान् मनोहरान् ॥८॥
न सेवितुं रागवशेन वाञ्छति यदृच्छया वा न निषेव्य रज्यति ।
प्रमर्दनाच्छादनमार्जनानि वा विलेपनाभ्यञ्जनमज्जनानि च ॥९॥
शरीरसौख्याय न यश्च सेवते विवृद्धवैराग्ययुतो महायतिः ।
हिमोष्णभूशैलशिलातृणादिजानशोभनान् स्पर्शविशेषांश्च सर्वदा ॥१०॥
न नेच्छति द्वेष्टि न वाप्युपागतान् स्वर्शेन्द्रियस्यैव भवेद्विजिष्णुता ।
रणे रिपूणामिव निर्भयो जयेत यथेन्द्रियाणां जयमास्थितो यतिरिति ॥११॥

निद्राया प्रतिपक्षभूतोऽप्रमाद, अनशनमवमोदर्य, रसपरित्याग, ससाराद्भीतिर्निद्रादोषचिन्ता रत्नत्रयेऽनुराग स्वदुश्चरितानां स्मरणेन शोक इत्येवमादिक । स्नेहप्रमादप्रतिपक्षभावनोच्यते—बन्धुताया अनवस्थितत्वभावना, तदर्थानेकारम्भपरिग्रहप्रवृत्तिचिन्ता, धर्मविघ्नता, दोषापेक्षणमित्यादिक । एवभूतेनाप्रमादफलकेन प्रवर्तता निरुध्यते । 'कीरदि फलगेण जहा' क्रियते फलकेन यथा । 'णावाए जलासवणिरोधो' नाव जलास्रवनिरोध ॥१८३३॥

गुत्तिपरिखाइ हि गुत्त सजमणयर ण कम्मरिउसेणा ।
बधेइ[3] सत्तुसेणा पुर व परिखादिहि सुगुत्त ॥१८३४॥

'गुत्तिपरिखाहिगुत्त' गुप्तिपरिखाभिर्गुप्त, सयमनगर कर्मरिपुसेना न भक्तु शक्नोति । परिखादिभिर्गुप्त शत्रुसेनेवेति । गुप्त मवरतास्याता ॥१८३४॥

न करनेकी इच्छा नही करता। और अचानक सेवनमे आ जाय तो द्वेष नही करता, वह रसना इन्द्रियका जेता होता है। जो मनोज्ञ शय्या, मनोज्ञ आसन, सुन्दर स्त्री, तथा मनोहर शुभ स्पर्शवाली वस्तुओको रागके वशीभूत हो सेवन करनेकी इच्छा नही करता। अचानक सेवनमे आनेपर उनसे राग नही करता। तथा जो बढे हुए वैराग्यसे शोभित महायती शारीरिक सुखके लिये शरीरका दबाना, आच्छादन, मार्जन, लेपन, तेल, स्नान आदिका सेवन नही करता। तथा सर्वदा अतिशीतल या अतिउष्ण पृथ्वी, पहाड, पत्थर, तृण आदि जन्य अप्रिय स्पर्शों को सेवन न करनेकी इच्छा नही करता और ऐसे अप्रिय स्पर्श प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष नही करता वह स्पर्शन इन्द्रियका जीतनेवाला होता है। जैसे युद्धमे निर्भय व्यक्ति शत्रुओको जीतता है। उसी प्रकार वह यति इन्द्रियोंको जीतता है। निद्राका विरोधी है अप्रमाद, अनशन, अवमौदय, रसपरित्याग, ससारसे भय, निद्राके दोषोका चिन्तन, रत्नत्रयमे अनुराग, अपने बुरे आचरणोका स्मरण करके शोक करना आदि। स्नेह नामक प्रमादकी विरोधी भावना कहते हैं—बन्धुता अस्थिर है ऐसा विचारना जिनके प्रति स्नेह होता है उनके लिये अनेक आरम्भ परिग्रह आदिकी चिन्ता करना होती है। धर्म साधनमे विघ्न होता है। इत्यादि दोषोका चिन्तन स्नेहका प्रतिपक्षी है। इस प्रकारके अप्रमादरूप पाटियेसे प्रमादजन्य आस्रवका सवर होता है ॥१८३३॥

गा०—जैसे शत्रुकी सेना परिखा आदिसे सुरक्षित नगरको नष्ट नही कर सकती। वैसे ही कर्मरूपी शत्रुकी सेना गुप्तिरूपी परिखा आदिसे युक्त सयमरूपी नगरको नष्ट नही कर सकती ॥१८३४॥

---

१ योषित शुभाश्च –आ० । २ मार्जनानि अ० मु० । ३ धसदि—मूलारा० ।

गुप्तीना सवरतामाख्याति—

समिदिदिढणावमारुहिय अप्पमत्तो भवोदधि तरदि ।
छज्जीवणिकायवधादिपावमगरेहिं अच्छित्तो ॥१८३५॥

'समिदिदिढनावमारहिय' समितिसज्ञिता दृढनावमारुह्य । 'अप्पमत्तो' अप्रमत्तो भवोदधि तरति पड्जीवनिकायवधादिपापमकरैरस्पृष्ट । एतेन समिते सवरताख्याता ॥१८३५॥

दारेव दारवालो हिदये सुप्पणिहिदा सदी जस्स ।
दोसा धसंति ण त पुर सुगुत्त जहा सत्तू ॥१८३६॥

'दारेव दारवालो' द्वारे द्वारपाल इव । हृदये सम्यक्प्रणिहिता वस्तुतत्त्वाना स्मृतिर्यस्य त दोषा नाऽभिभवन्ति पुर सुगुप्त शत्रव इव ॥१८३६॥

जो हु सदिविप्पहूणो सो दोसरिऊण गेज्झओ होइ ।
अधलगो व चरतो ¹अरीणमविदिज्जओ चेव ॥१८३७॥

'जो खु सदिविप्पहूणो' य स्मृतिहीन । 'सो दोसरिऊण गेज्झओ होइ' असौ दोषरिपुभिर्ग्राह्यो भवति । अरीणा मध्ये असहायोऽन्ध शत्रुग्राह्यो यथा ॥१८३७॥

अमु²यतो सम्मत्त परीसहचमुक्करे उदीरतो ।
णेव सदी मोत्तव्वा एत्थ दु आराधणा भणिया ॥१८३८॥

'अमुयतेण' अमुञ्चता । 'सम्मत्त' रत्नत्रय । 'परीसहसमोगरे' परीषहप्रकरे अभिभवत्यपि नैव स्मृतिर्मोक्तव्या । अत्राराधना कथिता । सवर । ॥१८३८॥

इससे गुप्तिको सवरका कारण कहा है—

गा०—प्रमादरहित साधु समितिरूपी दृढ नावपर आरूढ होकर छह कायके जीवोंके घातसे होनेवाले पापरूपी मगरमच्छोंसे अछूता रहकर ससार समुद्रको पार करता है ॥१८३५॥

इससे समितिको सवरका कारण कहा है—

गा०—जैसे सुरक्षित नगरका शत्रु ध्वस नही कर सकते, उसी प्रकार द्वारपर खडे द्वारपालकी तरह जिसके हृदयमे वस्तु तत्त्वोकी स्मृति बनी रहती है, दोष उसका अनिष्ट नही कर सकते ॥१८३६॥

गा०—जैसे शत्रुओके मध्यमे असहाय अन्धा व्यक्ति शत्रुओके द्वारा पकडा जाता है । वैसे ही जिसे वस्तु तत्त्वोका सतत स्मरण नही रहता, वह दोषरूपी शत्रुओसे पकडा जाता है ॥१८३७॥

गा०—परीषहोके समूहसे पीडित होते हुए भी साधुको रत्नत्रयको न छोडते हुए तत्त्वोका स्मरण नही छोडना चाहिये । सदा तत्त्वका स्मरण करते रहना चाहिये । इसीको यहाँ आराधना कहा है ॥१८३८॥

सवर अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

---

१ अदवीमवि –अ० आ० । २ अमुयतेण आ० ।

निर्जरानुप्रेक्षोच्यते—

इय सव्वत्थवि संवरसवुडकम्मासवो भवित्तु मुणी ।
कुव्वंति तवं विविहं सुत्तुत्तं णिज्जराहेदुं ॥१८३९॥

'इय' एवं । 'सव्वत्थवि' उक्तं संवरप्रकारं । 'संवुडकम्मासवो भवित्तु मुणी' संवृतकर्मास्रवो भूत्वा मुनिः करोति विविधं तपः सूत्रोक्तं निर्जराहेतुं ॥१८३९॥

तवसा विणा ण मोक्खो संवरमित्तेण होइ कम्मस्स ।
उवभोगादीहिं विणा धणं ण हु खीयदि सुगुत्तं ॥१८४०॥

'तवसा विणा' तपसोऽन्तरेण न कर्ममोक्षो भवति संवरमात्रेण । सुरक्षितमपि धनं नैव हीयते उपभोगमन्तरेण तथा । तस्मात् तपोनुष्ठातव्यं निर्जरायै । का सा निर्जरा नाम ? पूर्वकृतकर्मशातनं तु निर्जरा ॥१८४०॥

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा ।
पढमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य ॥१८४१॥

'पुव्वगदकम्मसडणं' पूर्वकृतकर्मपुद्गलस्कंधावृतानामवयवानां जीवप्रदेशेभ्योऽपगमनं निर्जरा । तथा चोक्तं 'एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरेति' । निर्जरा द्विविधा द्रव्यनिर्जरा भावनिर्जरा चेति । द्रव्यनिर्जरा नाम गृहीतानामशनपानादिद्रव्याणां एकदेशापगमनं वमनादिव । भावनिर्जरा नाम कर्मत्वपर्यायविगमः पुद्गलानां । सा पुनर्द्विविधा, आद्या विपाकजाता दत्तफलानां कर्मणां गलनं विपाकजा निर्जरा । द्वितीयाऽविपाकजाता ॥१८४१॥

अब निर्जरा अनुप्रेक्षाको कहते हैं—

गा०—इस प्रकार संवरके उक्त भेदोंके द्वारा मुनि कर्मों का आस्रव रोककर आगममें कहे अनेक प्रकारके तपोंको करता है जो निर्जराके कारण हैं ॥१८३९॥

गा०—जैसे सुरक्षित भी धन उपभोग किये बिना नहीं घटता, उसी प्रकार तपके बिना कर्मों के संवरमात्रसे कर्मों का क्षय नहीं होता । अतः निर्जराके लिये तप करना चाहिये । पूर्वमें बद्ध कर्मों के क्रमसे क्षयको निर्जरा कहते हैं ॥१८४०॥

गा०—टी०—पूर्वमें बाँधे हुए पौद्गलिक कर्मस्कन्धोंके अवयवोंका जीवके प्रदेशोंसे अलग होना निर्जरा है । कहा भी है—'कर्मों के एकदेशका क्षय निर्जराका लक्षण है । निर्जराके दो भेद हैं—द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा । खाये हुए भोजन पान आदि द्रव्योंके एकदेशका वमन आदिके द्वारा बाहर निकलना द्रव्यनिर्जरा है । और पुद्गलोंका कर्मरूप पर्यायको त्यागना भावनिर्जरा है । भावनिर्जराके भी दो भेद हैं—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा । जो कर्म अपना फल दे चुके हैं उनकी निर्जरा सविपाक निर्जरा है और जिन कर्मों का विपाक काल नहीं आया है उन्हें तप आदिके द्वारा बलात् उदयमें लाकर खेरना अविपाक निर्जरा है ॥१८४१॥

विशेषार्थ—द्रव्यसंग्रह आदिमें भी निर्जराके उक्त भेदोंका कथन है किन्तु उनमें फल दे चुकने वाले कर्म पुद्गलोंका जीवसे पृथक् होना द्रव्यनिर्जरा है और जीवके जिस भावसे यह द्रव्यनिर्जरा होती है उस भावको भावनिर्जरा कहा है ॥१८४१॥

अत्र दृष्टान्तमाचष्टे द्विविधा निर्जरामवगमयितु—

कालेण उवायेण य पच्चति जहा वणप्फदिफलाइ ।
तह कालेण तवेण य पच्चंति कदाणि कम्माणि ॥१८४२॥

'कालेण उवाएण य' यथा कालेनोपायेन च वनस्पतीना फलानि पच्यन्ते तथा कालेन तपसा पच्यन्ते कृतानि कर्माणि ॥१८४२॥

तयोर्निर्जरयो का कस्य भवतीत्याशङ्कायामाचष्टे—

सव्वेसिं उदयमागदस्स कम्मस्स णिज्जरा होइ ।
कम्मस्स तवेण पुणो सव्वस्स वि णिज्जरा होइ ॥१८४३॥

'सव्वेसिमुदयसमयागदस्स' सर्वेषा समयपूर्वके तपसि वृत्ताना अवृत्ताना च अथवा मिथ्यादृष्ट्यादीना सम्यग्दृष्ट्यादीना वा उदयावलिकाप्रविष्टस्य दत्तस्य फलस्य कर्मणो निर्जरा भवति । एतेन विपाकनिर्जरा स्वल्पेत्याख्यात भवति । कथ न सर्वाणि कर्माणि गलन्तीति चेदुच्यते—सर्वाणि कर्माणि भिन्नस्थितिकानि सहकारिकारणाना द्रव्यक्षेत्रादीना [1]युगपदसान्निध्यादुदय सर्वस्य नोपव्रजन्ति, ततो यदुदयप्राप्त तदेवागच्छति नेतरदिति । 'तवेण पुणो' तपसा पुन । 'कम्मस्स सव्वस्स वि' कर्मण सर्वस्यापि निर्जरा भवति ॥१८४३॥

ण हु कम्मस्स अवेदिदफलस्स कस्सइ हवेज्ज परिमोक्खो ।
होज्ज व तस्स विणासो तवग्गिणा डज्झमाणस्स ॥१८४४॥

दोनो प्रकारकी निर्जराको समझानेके लिये दृष्टान्त कहते हैं—

गा०—जैसे वनस्पतियोंके फल अपने समयपर भी पकते हैं और उपाय करनेसे समयसे पहले भी पक जाते हैं, उसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्म भी अपनी स्थिति पूरी होनेपर अपना फल देते हैं और तपके द्वारा स्थिति पूरी होनेसे पूर्व ही फल देकर चले जाते हैं ॥१८४२॥

उक्त दोनो निर्जराओंमेसे किसके कौन निर्जरा होती है, यह कहते हैं—

गा०-टी०—सभी जीवोंके जो तप करते हैं या तप नही करते, अथवा सम्यग्दृष्टी हो या मिथ्यादृष्टी हो उन सब जीवोंके उदयावलीमे प्रवेश करके अपना फल देनेवाले कर्मो की निर्जरा होती है अर्थात् सविपाक निर्जरा तो सभी जीवोंके सदा हुआ करती हैं क्योंकि सभी जीव सदा कर्म करते हैं और सदा उनका फल भोगते हैं। इससे सविपाक निर्जरा थोडे ही कर्मको होती है यह सूचित होता है।

शका—सब कर्मो की निर्जरा क्यों नही होती ?

समाधान—सब कर्मोकी स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। तथा सबके सहकारी कारण द्रव्य क्षेत्र आदि एक साथ नही मिलते अत सब कर्म एक साथ उदयमे नही आते। अत जिस कर्मका उदय होता है उसीकी निर्जरा होती है। शेषकी निर्जरा नही होती। किन्तु तप करनेसे सब कर्मो की निर्जरा होती है ॥१८४३॥

---

१ यममयाग —आ०। २ दुदयमुपव्रजति —अ०।

'कम्मस्स ण हु हवेज्ज परिमोक्खो' अननुभूतफलस्य कर्मणो नैव कस्यचित् मोक्षो भवति इति। तत फल प्रदायापयाति। एतेन विपाकनिर्जरोक्ता 'होज्ज व तस्स कम्मस्स विणासो' भवेद्वा तस्य कर्मणो विनाश। 'तवग्गिणा डज्झमाणस्स' तपोऽग्निना दह्यमानस्य। एतेन कृत कर्म तत्फलमदत्वा न निवर्तत इत्येतन्निरस्त ॥१८४४॥

डहिऊण जहा अग्गी विद्धंसदि सुबहुगपि तणरासी।
विद्धंसेदि तवग्गी तह कम्मतण सुबहुगपि ॥१८४५॥

'डहिऊण जहा अग्गी' यथाग्निर्दग्ध्वा नाशयति महान्तमपि तृणराशि तथा तपोग्नि सुमहदपि कर्मतृण विनाशयति ॥१८४५॥

तपस कर्मविनाशनक्रममुपदर्शयत्युत्तरगाथा—

कम्म पि परिणमिज्जइ सिणेहपरिसोसएण सुतवेण।
तो त सिणेहमुक्क कम्म परिसडदि धूलिव्व ॥१८४६॥

'कम्म पि परिणमिज्जदि' कर्माण्यपि अभाव नीयन्ते, केण? 'सुतवेण' ज्ञानदर्शनचरणसहभाविना तपसा। 'सिणेहपरिसोसगेण' कर्मपुद्गलगतस्नेहपरिणामविशोषणकारिणा। 'तो' पश्चात्। स्नेहपरिणामविनाशोत्तरकाल। 'कम्म परिसडदि' कर्म परितोऽपयाति, 'सिणेहमुक्क' स्नेहमुक्त धूलीव। दृश्यते हि स्नेहाद्बन्धमुपागताना तत्क्षते परस्परतो वियोग यथा जलेनैव पिण्डतागताना सिक्ताना शुष्के जले वियोगमापद्यमानता ॥१८४६॥

गा०-टी०—जिस कर्मका फल नही भोगा गया है उसका विनाश नही होता। अत कर्म फल देकर जाता है। इससे सविपाक निर्जराका स्वरूप कहा। सविपाक निर्जरा उन्ही कर्मोकी होती है जो अपना फल दे चुकते हैं। किन्तु तपकी अग्निमें जलकर ऐसे कर्मो का भी विनाश होता है जिन्होने फल नही दिया है। इससे जो मत ऐसा मानते हैं कि किया हुआ कर्म बिना फल दिये नही जाता, उनका खण्डन होता है ॥१८४४॥

गा०—जैसे आग महान् भी तृणराशिको जलाकर खाक कर देती है। उसी प्रकार तपरूपी आग महान् भी कर्मरूपी तृणोंके ढेरको जलाकर नष्ट कर देती है ॥१८४५॥

आगे तपसे कर्मोके विनाशका क्रम दिखलाते हैं—

गा०-टी०—ज्ञान, दर्शन और चारित्रके साथ होनेवाला तप कर्म-पुद्गलोंमें रहनेवाले स्नेह परिणामको सोख लेता है। अत उससे कर्मो का अभाव होता है। क्योंकि कर्मो में रहनेवाले स्नेहपरिणामका विनाश होनेके पश्चात् स्नेहरहित धूलकी तरह कर्म नष्ट हो जाते हैं। देखा जाता है जो वस्तुएँ चिक्कणता गुणके कारण परस्परमे बँधी होती हैं, उनकी चिक्कणता नष्ट होनेपर वे परस्परमे अलग हो जाती हैं जैसे जलके सयोगसे धूल बँध जाती है और जलके सूखने पर अलग-अलग हो जाती है। इसी प्रकार कषाय आदि रूप स्नेहके कारण जो कर्मपुद्गल जीवके साथ एकरूप होते हैं, तपके द्वारा कषायके चले जानेपर वे जीवसे पृथक् हो जाते हैं ॥१८४६॥

---

१ कर्माणि सुतवेण शोभनेन तपसाऽन्ययाभाव नीयन्ते। केण? ज्ञान आ०।

धादुगद जह कणय सुज्झइ धम्मंतमग्गिणा महदा ।
सुज्झइ तवग्गिधंतो तह जीवो कम्मधादुगदो ॥१८४७॥

'धादुगद' यथा सुवर्णपाषाणगत कनक महताग्निना दह्यमान शुध्यति, मलात् पृथग्भवति तथा जीव कर्मधातुगतस्तपोऽग्निना दह्यमान शुध्यति ॥१८४७॥

यद्येव तप एवानुष्ठातव्य किं सवरेणेति शङ्का निराकरोति—

तवसा चेव ण मोक्खो सवरहीणस्स होइ जिणवयणे ।
ण हु सोत्ते पविसते किसिणं परिसुस्सदि तलाय ॥१८४८॥

'तवसा चेव ण मोक्खो' तपसैव न सर्वकर्मापायो भवति, सवरहीनस्य जिनवचने । स्रोतसि प्रविशति न जलादिक कृत्स्न परिशुष्यति ॥१८४८॥

एवं पिणद्धसवरवम्मो सम्मत्तवाहणारूढो ।
सुदणाणमहाधणुगो झाणादितवोमयसरेहि ॥१८४९॥

'एव पिणद्धसवरवम्मो' एव पिनद्धसवरकवच , सम्यक्त्ववाहनारूढ, श्रुतज्ञानचापधर , ध्यानादितपोमयशरै ॥१८४९॥

सजमरणभूमीए कम्मारिचमू पराजिणिय सव्वं ।
पावदि सजमजोहो अणोवमं मोक्खरज्जसिरिं ॥१८५०॥

'सजमरणभूमीए' सयमयुद्धाङ्गणे कर्मारिचमू सर्वामभिभूय प्राप्नोति सयतयोध अनुपमा मोक्षराज्यश्रिय । निर्जरा ॥१८५०॥

गा०—जैसे सुवर्ण पाषाणको महान् अग्निमें फूँकने पर उसमेंसे सोना अलग हो जाता है। उसी प्रकार तपरूपी आगसे तपानेपर कर्मरूपी धातुमे घिरा हुआ जीव शुद्ध हो जाता है ॥१८४७॥

इस परसे कोई शका करता है कि यदि तपसे जीव शुद्ध होता है तो तप ही करना चाहिए, सवरकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जिनागममें सवरके विना केवल तपसे ही सब कर्मोका विनाश नही कहा है। क्योकि यदि तालाबमे जल आता रहता है तो तालाबको पूर्णरूपसे सुखाया नही जा सकता ॥१८४८॥

गा०—अत जिसने सवररूप कवच धारण किया है, जो सम्यक्त्वरूपी रथपर सवार है, और श्रुतज्ञानरूपी धनुष लिये हुए है वह सयमरूपी योद्धा सयमरूपी रणभूमिमें ध्यान आदि तपोमय बाणोंके द्वारा समस्त कर्मरूपी शत्रुओकी सेनाको पराजित करके मोक्षरूपी अनुपम राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥१८५०॥

निर्जरानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

---

१. धम्मो तह —अ० आ० ।

धर्मगुणानुप्रेक्षणायोच्यते—

जीवो मोक्खपुरक्कडकल्लाणपरंपरस्स जो भागी ।
भावेणुववज्जदि सो धम्मं तं तारिसमुदारं ॥१८५१॥

'जीवो मोक्खपुरक्कडकल्लाणपरंपरस्स जो भागी' यो जीवः मोक्षावसानकल्याणपरंपराया भाजनभूतः । स धर्मं भावेन प्रतिपद्यते, तं तादृशमुदारं सकलसुखसंपादनक्षमं महान्तं धर्मं ॥१८५१॥

धम्मेण होदि पुज्जो विस्ससणिज्जो पिओ जसंसी य ।
सुहसज्झो य णराणं धम्मो मणणिव्वुदिकरो य ॥१८५२॥

'धम्मेण होदि पुज्जो' धर्मेण पूज्यो भवति । विश्वसनीयः प्रियो यशस्वी च भवति, सुखेन च साध्यो नराणां धर्मः । उक्तं च—दृष्टे श्रुते च विदिते स्मृते च धर्मे फलागमो भवतीति, मनसो निर्वृतिं च करोति ॥१८५२॥

जावदियाइं कल्लाणाइं[1] माणुस्स-देवलोगे य ।
आवहदि ताणि सव्वाणि मोक्खं मोक्खं च वरधम्मो ॥१८५३॥

'जावदियाइं कल्लाणाइं' यावन्ति कल्याणानि स्वर्गे मनुष्यलोके च तानि सर्वाण्यावहति धर्मो मोक्षसुखं च ॥१८५३॥

ते धण्णा जिणधम्मं जिणदिट्ठं सव्वदुक्खणासयरं ।
पडिवण्णा दिढधिदिया विसुद्धमणसा णिरावेक्खा ॥१८५४॥

'ते धण्णा' पुण्यवन्तः । जिनदृष्टं धर्मं सर्वदुःखनाशकरं प्रतिपन्नाः शुद्धेन मनसा दृढधृतिकाः, निराकुलाः ॥१८५४॥

अब धर्मानुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—जो जीव सुदेवत्व सुमानुषत्व आदि कल्याण परम्पराके साथ अन्तमें मोक्षको प्राप्त करता है वही समस्त सुख सम्पादनमें समर्थ महान् धर्मको भावपूर्वक धारण करता है। अर्थात् भावपूर्वक धर्मका पालन करनेमें सांसारिक सुखके साथ मोक्षसुख प्राप्त होता है ॥१८५१॥

गा०—धर्मसे मनुष्य पूज्य होता है, सबका विश्वासपात्र होता है, सबका प्रिय और यशस्वी होता है। मनुष्य धर्मको सुखपूर्वक पालन कर सकते हैं। कहा भी है—धर्मकी श्रद्धा करनेपर, धर्मको सुननेपर, धर्मको जानने और धर्मका स्मरण करनेपर फलकी प्राप्ति होती है। तथा धर्मसे मनको शान्ति मिलती है ॥१८५२॥

गा०—मनुष्यलोक और देवलोकमें जितने कल्याण हैं उन सबको उत्तमधर्म लाता है और अन्तमें मोक्षसुखको भी लाता है ॥१८५३॥

गा०—जिन्होंने जिन भगवान्‌के द्वारा कहे गये और सब दुःखोंका नाश करनेवाले जिन धर्मको दृढ धैर्यके साथ निर्मल मनसे और बिना किसी प्रकारकी अपेक्षाके धारण किया वे पुण्यशाली हैं ॥१८५४॥

---

[1] इ मग्गे य माणुस्सो य –मु० ।

विसयाडवीए उम्मग्गविहरिदा सुचिरमिंदियस्सेहिं ।
जिणदिट्ठणिव्वुदिपह धण्णा ओदरिय गच्छंति ॥१८५५॥

'विसयाडवीए' विषयाटव्या उन्मार्गविहारिण सुचिरमिन्द्रियाश्वैर्वलान्नीता सन्त ये च जिनदृष्ट-निर्वृत्तिमार्गं गच्छन्ति ते धन्या इन्द्रियाश्वेभ्योऽवरुह्य ॥१८५५॥

रागेण य दोसेण य जगे रमंतम्मि वीदरागम्मि ।
धम्मम्मि णिरासादम्मि रदी अदिदुल्लहा होइ ॥१८५६॥

'रागेण य दोसेण य जगे रमतम्मि' रागद्वेषाभ्यां सह जगति क्रीडति । वीतरागे धर्मे निरास्वादे रतिरतीव दुर्लभा भवति । उक्तं च—

कुलं च रूपं च यशश्च कीर्तिर्धनं च विद्या च सुखं च लक्ष्मी ।
आरोग्यमाज्ञेप्सितसप्रयोगो ह्यप्रियवियोगोऽपि च दीर्घमायु ॥
स्वर्गश्च मोक्षश्च मयोपदिष्टा भावा इमेऽन्ये च जगत्प्रशस्ता ।
धर्मेण शक्या जगतीह लब्धु, हिताय तं कर्तुमतोऽर्हसि त्वं ॥ [॥१८५६॥]

सहलं माणुसजम्मं तस्स हवदि जस्स चरणमणवज्जं ।
संसारदुक्खकारयकम्मागमदारसंरोधं ॥१८५७॥

'सहलं माणुसजम्मं' तस्य मनुष्यस्य जन्म सफलं भवति यस्य चरणमनवद्यं । कीदृशं ? संसारदुःख-संपादनोद्यतकर्मागमद्वारनिरोधकारी । अनेन चारित्रमिह धर्मो धर्मत्वेनोच्यत इत्याख्यातं भवति ॥१८५७॥

जह जह णिव्वेदसम वेरग्गदयादमा पवड्ढंति ।
तह तह अब्भासयरं णिव्वाणं होइ पुरिसस्स ॥१८५८॥

गा०—जो विषयरूपी वनमें इन्द्रियरूपी घोडोंके द्वारा बलपूर्वक ले जाये जाकर चिरकालसे कुमार्गमें विहार करते हैं और एक दिन उन इन्द्रियरूपी घोडोंसे उतरकर जिन भगवान्‌के द्वारा कहे मोक्षमार्गमें चलने लगते हैं वे धन्य हैं ॥१८५५॥

गा०-टी०—जो राग और द्वेषपूर्वक संसारके भोगोंमें फँसे हैं, स्वादरहित वीतराग धर्ममें उनकी रुचि होना अतिदुर्लभ है। कहा भी है—जिनेन्द्रदेवने कुल, रूप, यश, कीर्ति, धन, विद्या, सुख, लक्ष्मी, आरोग्य, इष्टसंयोग, अनिष्ट वियोग, दीर्घ आयु, स्वर्ग, मोक्ष तथा अन्य भी जगत्‌में प्रशस्त भाव कहे हैं। इस जगत्‌में उन्हें धर्मके द्वारा प्राप्त करना शक्य है। अतः तुम अपने हितके लिये धर्माचरण करो ॥१८५६॥

गा०—संसारके दुःखोंको करनेमें समर्थ कर्मोंके आनेके द्वारको रोकनेवाला चारित्र जिसका निर्दोष है उसका मनुष्य जन्म सफल है। यहाँ धर्म शब्दसे चारित्र कहा है, इससे यह प्रकट होता है ॥१८५७॥

गा०—जैसे-जैसे मनुष्यमें वैराग्य, निर्वेद, उपशम, दया और चित्तका निग्रह बढ़ता है वैसे-वैसे मोक्ष निकट आता है ॥१८५८॥

यथा यथा निर्वेद उपशमो वैराग्य दया चित्तनिग्रहश्च प्रवर्तते तथा तथा समीपतरं भवति निर्वाणं पुरुषस्य ॥१८५८॥

धर्मं स्तौति—

सम्मद्दसणतुंबं दुवालसंगारयं जिणिंदाणं ।
वयणेमियं जगे जयइ धम्मचक्कं तवोधारं ॥१८५९॥

'सम्मद्दसणतुंबं' सम्यग्दर्शनतुम्बं द्वादशाङ्गारकं व्रतनेमिकं तपोधारं जिनेन्द्राणां धर्मचक्रं जगति जयति ॥१८५९॥ धम्म ।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कथ्यते—

दंसणसुदतवचरणमइयम्मि धम्मम्मि दुल्लहा बोही ।
जीवस्स कम्मसत्तस्स संसरंतस्स संसारे ॥१८६०॥

'दंसणसुदतवचरणमइयम्मि' दर्शनश्रुततपश्चरणमये धर्मे दुर्लभा बोधिर्जीवस्य कर्मसक्तस्य संसारे संसरतः ॥१८६०॥

तस्या दुर्लभतां प्रकटयत्युत्तरप्रबन्धेन—

संसारम्मि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तं ।
जुगसमिलासंजोगो जह लवणजले समुद्दम्मि ॥१८६१॥

'संसारम्मि अणंते' अनन्तसंसारे जीवानां मनुष्यत्वं दुर्लभं पूर्वापरसमुद्रनिक्षिप्तयुगसमिलाधिकाष्ठसंयोग इव ॥१८६१॥

गा०—जिनेन्द्रका धर्मचक्र जगत्में जयशील होता है। सम्यग्दर्शन उसकी नाभि है, द्वादशांग उसके अर हैं, व्रत नेमि है और तप धारा अर्थात् दूसरी नेमि है ॥१८५८॥

विशेषार्थ—जैसे गाड़ीके चक्रमें अर होते हैं, बीचमें उसकी नाभि होती है। उसी प्रकार जिनेन्द्रके धर्मचक्रकी नाभि सम्यग्दर्शन है। द्वादशांगवाणी या बारह तप उसके डण्डे हैं। और व्रत नेमि है। इनके आधारपर वह धर्मचक्र गतिशील होता है ॥१८५९॥

धर्मानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

अब बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—संसारमें भटकते हुए कर्मलिप्त जीवके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् तपश्चरणमयी धर्ममें बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्ति दुर्लभ है ॥१८६०॥

आगे उसकी दुर्लभता बतलाते हैं—

गा०—जैसे लवणसमुद्रके पूर्व भागमें जुआ और पश्चिम भागमें उसकी लकड़ी डाल देनेपर दोनोंका संयोग दुर्लभ है। उसी प्रकार अनन्त संसारमें मनुष्य भवका पाना दुर्लभ है ॥१८६१॥

मनुजताया दुर्लभत्वे कारणमाह—

असुहपरिणामबहुलत्तण च लोगस्स अदिमहल्लत्त ।
जोणिबहुत्त च कुणदि सुदुल्लह माणुस जोणी ॥१८६२॥

'असुहपरिणामबहुलत्तण च' अशुभपरिणामाना मिथ्यात्वासंयमकषायप्रमादाना परिणामाना बहुत्व मनुजयोनिदुर्लभता करोति । मनुजरहितलोकस्थानिमहत्त्व च तत् दुर्लभता करोति । असख्येया हि द्वीपसमुद्रा नारकावासा, स्वर्गपटलानि, इतरच्च लोकाकाशमतिमहत् । योनीना बहुत्व चेतराशा निबन्धन तद्दुर्लभ-ताया ॥१८६२॥

अपरामपि दुर्लभतापरम्परा दर्शयत्युत्तरगाथा—

[1]देसकुलरूवमारोग्गमाउग बुद्धिसवणगहणाणि ।
लद्धे वि माणुसत्ते ण हुति सुलभाणि जीवस्स ॥१८६३॥

'देसकुलरूवमारोग्ग' देशकुलरूपमारोग्य । आयुगमायुष्क । 'बुद्धिसवणगहणाणि' बुद्धिश्रवणग्रहणानि । लब्धेऽपि मनुष्यत्वे मनुष्यगतिनामकर्मोदयात्, जिनप्रणीतधर्मप्रगल्भमानवबहुलो देशो दुर्लभ । अन्तर्द्वीपाना शकयवनकिरातबर्बरपारसीकसिंहलादिदेशाना धर्मज्ञमानवरहितानामतिबहुलत्वात । लब्धेऽपि देशे सुजनावासे

मनुष्य पर्यायकी दुर्लभताका कारण कहते हैं—

गा०-टी०—मिथ्यात्व, असयम, कषाय और प्रमादरूप अशुभ परिणामोकी बहुतायतके कारण मनुष्य योनि दुर्लभ है । तथा मनुष्य रहित लोक अतिमहान् है इससे भी मनुष्ययोनि दुर्लभ हो क्योंकि असख्यात द्वीप समुद्रो तक तो नरकावास है, ऊपर स्वर्गपटल । शेष लोकाकाश भी महान् है । तथा जीवोंकी योनिया बहुत हैं । इससे भी मनुष्य योनि दुर्लभ है ॥१८६२॥

विशेषार्थ—लोकके मध्यमे पैतालीस लाख योजन प्रमाण क्षेत्र ही मनुष्य लोक है । अढाई द्वीपके बाहर सब तिर्यञ्च ही रहते हैं । नारकी रहते हैं । ऊपर देव रहते हैं । तथा जीवोका योनियाँ भी बहुत हैं इसके साथ ही अशुभ परिणामोकी भी बहुलता है । शुभ परिणाम होनेसे ही मनुष्यगतिमे अच्छा क्षेत्र, जाति, कुल आदि उपलब्ध होते हैं तभी तो मनुष्य होकर धर्मलाभ हो सकता है । मनुष्य पर्याय भी पाई किन्तु देश, कुल, जाति ठीक नही मिले तो मनुष्य पर्याय पाकर भी क्या लाभ हुआ । अत धर्मसाधनके योग्य मनुष्य पर्याय दुर्लभ है ॥१८६२॥

आगे और भी दुर्लभताके कारण कहते हैं -

गा०—जीवके मनुष्य पर्याय प्राप्त करने पर भी देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण सुलभ नही हैं ॥१८६३॥

टी०—मनुष्यगति नाम कर्मके उदयसे मनुष्यपर्याय पानेपर भी जिन भगवान्के द्वारा कहे गये धर्ममे दक्ष मनुष्योंमे भरा हुआ देश प्राप्त होना दुर्लभ है । क्योकि धर्मके ज्ञाता मनुष्योंसे रहित अन्तर्द्वीप तथा शक, यवन, किरात, बर्बर, पारसीक और सिंहल आदि देश अनेक हैं ।

---

१ 'देसकुल जाइ रूव, आरोग्ग आउग च पुण्ण च ।
बुद्धिसवणगहणाणि लद्धे णरत्तेहिं दुल्लह होई ॥' –आ० ।

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यादिकं कुलं दुरधिगमनीयं सुकुलानामल्पत्वात्[1] असकृन्नीचैर्गोत्रबन्धनात्। मिथ्यात्वोदयात् प्रायेण प्राणिनो गुणान् गुणिजनं च निन्दन्त्याक्रोशन्ति, निर्गुणोऽपि कुलाभिमानमतिमहदुद्वहति, तेन नीचैर्गोत्रमुपचिनोति, गुणे गुणिजने चानुरागः कुलाभिमानतिरस्करणं वा कदाचिदेव भवति इति शोभनं कुलं कदाचिदेव लभ्यते। चारित्रमोहोदयात् षड्जीवनिकायबाधाकरणे सततमुद्यतः तदीयरूपशोभोन्मूलनसंपादनेनोपार्जितेनाशुभरूपनामकर्मणा विरूपो बहुशो भवति। जीवदया कदाचिदेव क्वचिदेव करोति। प्रशस्तरूपनामकर्मलभ्यं सौरूप्यमपि क्लेशेन लभ्यते। परजीवसंतापकरणे कृतोत्साहः सर्वदैवेति रोगी भवति बहुशः, परसंतापपरिहारं वैयावृत्त्यं च कदाचिदेव करोति। इति नीरोगतापि कादाचित्की दुर्लभा। परेषां प्रायेणायुर्निहन्तीति स्वल्पायुरेवायं जनो जायते। कदाचिदेवाहिंसाव्रतपरिपालनाच्चिरजीविता सदा न लभ्यते। समीचीनज्ञानिजनदूषणात् तन्मात्सर्यात् तद्विघ्नकरणात्तदासादनाच्चक्षुरादीन्द्रियोपघातकरणाच्च मतिश्रुतज्ञानावरणे वराको बध्नातीति दुर्मेधा भवति। बहुषु जन्मशतसहस्रेषु मतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात् शुभपरिणामोपनीतात् कदाचिदेव विवेककारिणी बुद्धिर्भवति। सत्यामपि बुद्धौ हिताहितविचारणक्षमं धर्मश्रवणमतिदुर्लभं, यतीनां विरागद्वेषाणां, समीचीनज्ञानप्रकाशनोन्मूलितदुर्भेद्यमोहान्धतमसानां, अशेषजीवनिकायदयाक्रियोद्यतानां असौलभ्यात्, तीव्रमिथ्यादर्शनोपनीतगुणिजनद्वेषेण मिथ्याज्ञानलवलाभदुर्विदग्धतया स्वगृहीततत्त्वपरवशतया आलस्येन वा यतीनां

धर्मज्ञजनोंसे बसा हुआ देश मिलनेपर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि कुल मिलना कठिन है क्योंकि अच्छे कुल बहुत कम हैं। और इसका कारण यह है कि जीवोंके निरन्तर नीच गोत्रका बन्ध हुआ करता है। मिथ्यात्वके उदयसे प्रायः प्राणी गुणों और गुणीजनोंकी निन्दा करते हैं, उनके सम्बन्धमें बका करते हैं। गुणहीन भी अपने कुलका बड़ा अभिमान रखते हैं। उससे वे नीच गोत्रका बन्ध करते हैं। गुणोंमें और गुणीजनोंमें अनुराग तथा कुलके अभिमानका तिरस्कार कम ही देखा जाता है। इसलिये जीवोंको अच्छा कुल कम ही मिलता है। चारित्रमोहके उदयमें जीव छह कायके जीवोंको बाधा देनेमें निरन्तर लगे रहते हैं वे उनके रूपकी शोभाको विनष्ट करते हैं। उससे उपार्जित अशुभ नामकर्मसे जीव अधिकतर विरूप होते हैं। जीवोंपर दया कम ही लोग करते हैं। अतः प्रशस्त रूपनामकर्मके द्वारा प्राप्य सुन्दर रूप भी बड़े कष्टसे प्राप्त होता है। प्राणी सर्वदा दूसरे जीवोंको संताप देनेका उत्साह रखते हैं। इसलिये अधिकतर रोगी होते हैं। दूसरोंका कष्ट दूर करनेवाली वैयावृत्य कम ही करते हैं। इसलिये नीरोगता भी दुर्लभ है। प्राणी प्रायः दूसरोंकी आयुका घात करते हैं उन्हें मार देते हैं। इससे वे अल्प आयुवाले होते हैं। कदाचित् ही अहिंसाव्रतका पालन करनेसे चिरजीवि होते हैं, सदा चिरजीवी नहीं होते। सच्चे ज्ञानिजनोंको दूषण लगानेसे, उनसे डाह करनेसे, उनके ज्ञानाराधनमें विघ्न डालनेसे, उनकी *आसादना करनेसे तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंका घात करनेसे प्राणी मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञाना-*वरण कर्मों का बन्ध करनेसे बुद्धिहीन होते हैं। लाखों जन्मोंमेंसे कुछ ही जन्मोंमें शुभपरिणामवश मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेसे विवेकशील बुद्धि प्राप्त होती है। बुद्धि प्राप्त होनेपर भी हित अहितके विचारमें समर्थ धर्मका सुनना दुर्लभ है। क्योंकि रागद्वेषसे रहित, सच्चे ज्ञानके प्रकाशनसे दुर्भेद्य मोहान्धकारका उन्मूलन करनेवाले और समस्त जीवोंपर दया करनेवाले मुनिगण दुर्लभ हैं। तथा तीव्र मिथ्यादर्शनके कारण गुणीजनोंसे द्वेष करनेवाले या थोड़ा-सा मिथ्याज्ञान प्राप्त करके अपनेको बड़ा विद्वान् माननेवाले या अपने जाने हुए तत्त्वके

---

१ नामसुलभत्वात् –आ० ।

स्वपरोद्धरणप्रवीणतापरिज्ञानाच्च न ढौकन्ते यतिजनमिति धर्मश्रवणस्य दुर्लभता । कदाचिदेव पापोपशमाद्यति-जनानु ढौकनेऽपि नयप्रसरे सप्रश्ने प्रशस्तवागनुयायिनि गुरुजने चाभिमुखे सति श्रवणं भवतीति दुर्लभता श्रवणस्य । किञ्च यतिजननिकेतनमुपगतोऽपि यदृच्छया निद्राति, स्वयं परेषां यत्किंचिदसारं वदति, मुग्धाना वा वचनं शृणोति न विनयेन ढौकत इति वा दुर्लभं श्रवणं । श्रुतेऽपि धर्मे तत्परिज्ञानमतिदुर्लभं श्रुतज्ञाना-वरणोदयात् । दुःकरत्वं मनःप्रणिधानस्य कदाचिदप्यश्रुतपूर्वत्वात्, सूक्ष्मत्वाच्च जीवादितत्त्वस्य । श्रुतज्ञाना-धिकरणे क्षयोपशमे मनःप्रणिधानं वक्तुर्वचनसौष्ठवं चेति सकलमिदमसुलभमिति धर्मज्ञानं दुर्लभं । ज्ञातेऽपि धर्मे अस्ति धर्मो जीवपरिणामसम्यक्त्वज्ञानचरणतपोदानपूजात्मकोऽभ्युदयनिश्रेयसफलदायी जिनैर्व्यावर्णितरूप-इति श्रद्धानं न सुखेन लभ्यते, दर्शनमोहोदयात् । उपदेशकालकरणलब्धयश्च कादाचित्का इति ॥१८६३॥

लद्धेसु वि तेसु पुणो बोधी जिणसासणम्मि ण हु सुलहा ।
कुपधाकुलो य लोगो ज बलिया रागदोसा य ॥१८६४॥

'लद्धेसु वि तेसु पुणो' लब्धेष्वपि तेषु मनुजभवादिषु बोधिर्दीक्षाभिमुखा बुद्धिर्न सुलभा प्रबलत्वात्सं-यमघातिकर्मण । कुमार्गाकुलत्वात् लोकस्य बहूनामाचरणमेव प्रमाणयन् यत्किंचनाचरति, बलवन्तश्च रागद्वेषा ज्ञानश्रद्धानोपेतमपि न सन्मार्गं ढौकितुं ददति ॥१८६४॥

परवश मनुष्योके कारण या यतिगणके आलस्यसे अथवा अपना और दूसरोका उद्धार करनेमे दक्ष न होनेसे यतिजन भी नही आते हैं इससे भी धर्मश्रवणकी दुर्लभता है । कदाचित् पापका उपशम होनेसे यतिजनके पधारनेपर भी विनयपूर्वक प्रश्न करनेपर और प्रशस्त वचन बोलनेवाले गुरुके सन्मुख होनेपर धर्म सुननेको मिलता है इसलिये धर्मश्रवणकी दुर्लभता है । अथवा मुनिगणके वास स्थानपर जाकर भी सोता है स्वय जो कुछ असार वचन बोलता है या मूर्खो के वचन सुनता है, विनय पूर्वक वर्ताव नही करता । इससे भी धर्म श्रवण दुर्लभ है ।

धर्म सुननेपर भी श्रुतज्ञानावरणका उदय होनेसे उसको समझना अतिदुर्लभ है । तथा समझनेपर भी उसमें मन लगाना दुष्कर है क्योकि पहले कभी नही सुना था । तथा जीवादि तत्त्व भी सूक्ष्म है । श्रुतज्ञानका क्षयोपशम, मनका लगना, वक्ताका वचन सौष्ठव ये सब दुर्लभ होनेसे धर्मज्ञान दुर्लभ है, धर्मका ज्ञान होनेपर भी 'जिन भगवान्के द्वारा कहा हुआ स्वर्ग और मोक्षरूप फलको देनेवाला जीवके सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्र तप दान पूजा भावरूप धर्म है' ऐसा श्रद्धान दुर्लभ है क्योकि जीवोके दर्शनमोहका उदय रहता है । उपदेशलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि भी सदा नही होती, कदाचित् ही होती है ॥१८६३॥

गा०-टी०—मनुष्यभव आदिके प्राप्त होनेपर भी 'बोधि' अर्थात् जिन दीक्षाकी ओर अभिमुख बुद्धिका होना सुलभ नही है क्योकि जीवोके सयमको घातनेवाला कर्म प्रबल होता है । तथा यह लोक मिथ्यामतोसे भरा है । अत बहुत लोग जिस धर्मका आचरण करते हैं उसे ही प्रमाण मानकर जो कुछ मनमे आता है, करते हैं । रागद्वेषके बलवान होनेसे ज्ञान और श्रद्धानसे युक्त भी मनुष्य सन्मार्गपर नही चलता ॥१८६४॥

---

१ नुपढौकनें विनय —आ० ।

इय दुल्लहाए बोहीए जो पमाइज्ज कह वि लद्धाए ।
सो उल्लट्टइ दुक्खेण रदणगिरिसिहरमारुहिय ॥१८६५॥

'इय दुल्लहाए बोहीए' उक्तेन क्रमेण दुर्लभाया दीक्षाभिमुखाया बुद्धो लब्धायामपि य प्रमाद्यत्यसौ रत्नगिरिशिखरमारुह्य तत पतति प्रमादी ॥१८६५॥

फिडिदा सती बोधी ण य सुलहा होइ ससरतस्स ।
पडिद समुद्दमज्झे रदण व तमघयारम्मि ॥१८६६॥

'फिडिदा सती' बोधिर्विनष्टा सती दीक्षाभिमुखा बुद्धि पुनर्न सुलभा भवति ससरत । अन्धकारे समुद्रमध्ये पतित रत्नमिव ॥१८६६॥

ते धण्णा जे जिणवरदिट्ठे धम्मम्मि होंति सबुद्धा ।
जे य पवण्णा धम्म भावेण उवट्ठिदमदीया ॥१८६७॥

स्पष्टोत्तरा गाथा । बोधित्ति ॥१८६७॥

प्रस्तुतमथमुपसहरति—

इय आलबणमणुपेहाओ धम्मस्स होंति ज्झाणस्स ।
ज्झायतो ण वि णस्सदि ज्झाणे आलबणेहिं मुणी ॥१८६८॥

'इय आलबण' एवमालम्बन भवन्त्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानस्य । ध्याने प्रवृत्तो न विप्रणश्यति ध्याननिमित्तालम्बनेभ्यो यति । यो हि यद्वस्तुस्वरूपे प्रणिहितचित्त सतत वस्तुयाथात्म्यान्न प्रच्यवते तस्याविस्मरणात् ॥१८६८॥

गा०—इस प्रकार उक्त क्रमानुसार दीक्षाके अभिमुख दुर्लभ बुद्धि प्राप्त होनेपर भी जो प्रमाद करता है वह प्रमादी सुमेरुके शिखरपर चढकर भी उससे गिरता है ॥१८६५॥

गा०—जैसे अन्धकारमे समुद्रके मध्यमे गिरा रत्न पाना दुर्लभ है वैसे ही एक बार प्राप्त होकर नष्ट हुई दीक्षाभिमुख बुद्धिरूप बोधि ससारमे भ्रमण करनेवाले जीवको प्राप्त होना दुर्लभ है ॥१८६६॥

गा०—जो जिन भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट धर्ममे प्रबुद्ध होते हैं वे धन्य हैं। तथा जो दीक्षाभिमुख बुद्धिको प्राप्त करके भावपूर्वक धर्मको अपनाते हैं वे तो महाधन्य हैं ॥१८६७॥

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

प्रस्तुत चर्चाका उपसहार करते हैं—

गा०—इस प्रकार अनुप्रेक्षा धर्मध्यानका आलम्बन होती है। ध्यान करनेवाला साधु ध्यानमें निमित्त आलम्बनोंका आश्रय लेनेसे ध्यानसे च्युत नहीं होता। जो जिस वस्तुके स्वरूपमें अपने मनको लगाता है वह उस वस्तुके यथार्थस्वरूपसे च्युत नहीं होता, क्योंकि वह उसे भूलता नहीं है ॥१८६८॥

ध्यातुरालम्बनबाहुल्यं दर्शयत्युत्तरा गाथा—

आलंबणं च वायण पुच्छणपरियट्टणाणुपेहाओ ।
धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥१८६९॥
आलंबणेहिं भरिदो लोगो झाइदुमणस्स खवयस्स ।
जं जं मणसा पिच्छदि तं तं आलंबणं हवइ ॥१८७०॥

'धम्मस्स आलंबणेहिं भरिदो' ध्यानस्यालम्बनैः पूर्णो लोको ध्यातुकामस्य क्षपकस्य यद्यन्मनसा पश्यति तत्तदालम्बनं भवति ॥१८६९॥१८७०॥

धर्मध्यानं व्याख्याय ध्यानान्तरं व्याख्यातुमुत्तरप्रबन्धः —

इच्चेवमदिक्कंतो धम्मज्झाणं जदा हवइ खवओ ।
सुक्कज्झाणं झायदि तत्तो सुविसुद्धलेस्साओ ॥१८७१॥

'इच्चेवमदिक्कंतो' धर्मध्यानमेवं व्यावर्णितरूपमतिक्रान्तो यदा भवेत् क्षपकः शुक्लध्यानमसौ ध्याति सुविशुद्धलेश्यासमन्वितः । परिणामश्रेण्या हि उत्तरोत्तरानुगुणतया स्थितः क्रमेणैव प्रवर्तते । न हि प्रथमे सोपानेऽस्थापितचरणः द्वितीयादिकं सोपानमारोढुं प्रभवति । एवमप्रमत्तो धर्मध्याने प्रवृत्त एव शुक्लध्यानमर्हतीति सूत्रेणानेन ज्ञापितं ॥१८७१॥

चतुर्विधशुक्लध्यानं नामतो दर्शयति गाथाद्वयम्—

ज्झाणं पुधत्तसवितक्कसवीचारं हवे पढमसुक्कं ।
सवितक्केक्कत्तावीचारं ज्झाणं विदियसुक्कं ॥१८७२॥

आगेकी गाथामें ध्यान करनेवालेके अनेक आलम्बन बतलाते हैं—

गा०—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना तथा अनुप्रेक्षाएँ नामक स्वाध्याय धर्मध्यानके आलम्बन है। अतः सब अनुप्रेक्षा धर्मध्यानके अनुकूल आलम्बन हैं अर्थात् उनको लेकर धर्मध्यान किया जाता है ॥१८६९॥

ध्यान करनेके इच्छुक क्षपकके लिये यह लोक आलम्बनोंसे भरा हुआ है। वह मनको जिस ओर लगाता है वही आलम्बन हो जाता है ॥१८७०॥

धर्मध्यानका कथन करके शुक्लध्यानका कथन करते हैं—

गा०-टी०—इस प्रकार ऊपर कहे धर्मध्यानको जब क्षपक पूर्ण कर लेता है तब वह अति विशुद्ध लेश्याके साथ शुक्लध्यानको ध्याता है। क्योंकि परिणामोंकी पंक्ति उत्तरोत्तर निर्मलताको लिये हुए स्थित है अतः वह क्रमसे ही होती है। जिसने पहली सीढ़ीपर पैर नहीं रखा वह दूसरी सीढ़ीपर नहीं चढ़ सकता। अतः धर्मध्यानमें परिपूर्ण हुआ अप्रमत्त संयमी ही शुक्लध्यान करनेमें समर्थ होता है, यह बात इस गाथाके द्वारा कही है ॥१८७१॥

आगे दो गाथाओंके द्वारा चार प्रकारके शुक्लध्यानोंके नाम कहते हैं—

गा०—पहला शुक्लध्यान पृथक्त्व सवितर्क सविचार नामक है। दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क एकत्व अविचार नामक है ॥१८७२॥

'ज्झाण पुनत्तसवितक्कसवीचार' ध्यान पृथक्त्वसवितर्कसवीचार प्रथमशुक्ल भवति । 'सवितक्केक्कत्तावीचार' सवितर्कैकत्वावीचार द्वितीय शुक्लध्यान ॥१८७२॥

सुहुमकिरियं तु तदियं सुक्कज्झाणं जिणेहिं पण्णत्तं ।
बेंति चउत्थं सुक्कं जिणा समुच्छिण्णकिरियं तु ॥१८७३॥

'सुहुमकिरियं तु तदियं' तृतीयं शुक्लध्यानं जिनैः प्रज्ञप्तं सूक्ष्मक्रियमिति । 'बेंति चउत्थ सुक्क' ब्रुवते चतुर्थं शुक्लं जिना समुच्छिन्नक्रियं ॥१८७३॥

पृथक्त्वसवितर्कसवीचारं व्याचष्टे गाथात्रयेण—

दव्वाइं अणेयाइं तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्झायंति ।
उवसंतमोहणिज्जा तेण पुधत्तं त्ति तं भणिया ॥१८७४॥

'दव्वाइं अणेयाइं तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्झायंति' द्रव्याण्यनेकानि त्रिभिर्योगैः परावर्तमाना येन चिन्तयन्त्युपशान्तमोहनीयास्तेन पृथक्त्वमिति प्रथमध्यानमुक्तम्, एतदर्थं कथयति—अन्यदन्यद्द्रव्यमवलम्ब्य प्रवृत्तेनान्येनान्येन योगेन प्रवृत्तस्यात्मनो भवतीति पृथक्त्वव्यपदेशो ध्यानस्येति ॥१८७४॥

जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ।
ज्झायदि ज्झाणं एदं सवितक्कं तेण तं झाणं ॥१८७५॥

'जम्हा सुदं वितक्कं' यस्मात् श्रुतं वितर्कं यस्मात् पूर्वगतार्थकुशलो ध्यानमेतत्प्रवर्तयति । तेन तत् ध्यानं सवितर्कं । चतुर्दशपूर्वाणां श्रुतत्वात्तदुपदिष्टोऽर्थः साहचर्यात् वितर्कशब्देनोच्यते । तेन वितर्केणार्थश्रुतेन

गा०—जिन भगवान्ने तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रिय कहा है और चतुर्थ शुक्ल समुच्छिन्नक्रिय कहा है ॥१८७३॥

आगे तीन गाथाओंसे पृथक्त्व सवितर्क सविचारका कथन करते हैं—

गा०—उपशान्त मोहनीय गुणस्थानवाले यतः तीन योगोंके द्वारा अनेक द्रव्योंको बदल बदलकर ध्यान करते हैं इससे इसे पृथक्त्व कहते हैं ॥१८७४॥

विशेषार्थ—प्रथम शुक्लध्यानका नाम पृथक्त्व है क्योंकि इसमें योगपरिवर्तनके साथ ध्येयका भी परिवर्तन होता रहता है इसलिये इसको पृथक्त्व कहते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यानके स्वामियोंको लेकर मतभेद पाया जाता है। तत्त्वार्थसूत्रमें श्रेणीसे नीचे धर्मध्यान और श्रेणीमें शुक्लध्यान कहा है। श्रेणि आठवें गुणस्थानसे प्रारम्भ होती है। अतः आठवेंसे ही पृथक्त्व शुक्लध्यान कहा है। किन्तु यहाँ ग्यारहवें गुणस्थानमें पृथक्त्व शुक्लध्यान कहा है। श्वेताम्बर परम्परामें भी ऐसा ही माना गया है। वीरसेन स्वामीने धवला टीका (१३, पृ० ७४) में भी ऐसा ही लिखा है। उनका कथन है कि कषायसहित जीवोंके धर्मध्यान होता है और कषायरहित जीवोंके शुक्लध्यान होता है। क्योंकि कषायका अभाव होनेसे ही उसका नाम शुक्लध्यान है। इस प्रथम शुक्लध्यानमें योगका और ध्येयका परिवर्तन होते रहनेसे इसे पृथक्त्व नाम दिया है ॥१८७४॥

गा०-टी०—यतः श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं और यतः चौदह पूर्वोमें आये अर्थमें कुशल

ध्येयेन सह वर्तत इति श्रुतज्ञानमेवावलम्ब्य सवितर्कमित्युच्यते। अथवा वितर्कशब्द श्रुत तद्धेतुत्वात्। श्रुतज्ञान ध्यानसंज्ञित सह कारणेन श्रुतेन वर्तत इति सवितर्क ॥१८७५॥

अत्थाण वजणाण य जोगाण य सकमो हु वीचारो।
तस्स य भावेण तयं सुत्ते उत्तं सवीचारं ॥१८७६॥

'अत्थाण वजणाण य जोगाण य सकमो खु वीचारो' अर्थाना ये व्यञ्जना शब्दास्तेषामिति, वैयधिकरण्येन सम्बन्ध, न पुनरर्थाना व्यञ्जनाना चेति समुच्चय। अर्थपृथक्त्वस्य पृथक्त्वशब्देनोपादानात्। योगाना च सक्रमो वीचार 'तस्स य भावेण' वीचारस्य सद्भावेन। 'तय' तद्धि शुक्लध्यान सूत्रे सवीचारमित्युक्त। 'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला' इत्येवमादिपरिमितानेकद्रव्यप्रत्यय[1]परमश्रुतवाक्योद्भूत ध्यानमिति पृथग्भूतद्रव्यालम्बनत्वेन रूपेण एकद्रव्यालम्बनात् एकत्ववितर्काद्भिद्यते योगत्रयसहायत्वादेकयोगादविचाराद्द्वितीयध्यानाद्भिद्यते। उपशान्तमोहनीयस्वामिकत्वात क्षीणकषायस्वामिकाद्ध्यानाद्भिद्यते। सवितर्कत्वेन अवितर्काभ्या तृतीयचतुर्थाभ्या विलक्षण। अत एव नामनिर्देशेनैव ध्यानान्तरविलक्षण पृथक्त्वमवितर्कसवीचारमिति लक्षणमुक्त ॥१८७६॥

अर्थात् चौदह पूर्वों का ज्ञाता साधु ही इस शुक्लध्यानको ध्याता है इससे इस प्रथम शुक्लध्यानको सवितर्क कहते हैं। अर्थात् चौदह पूर्व श्रुतरूप होनेसे उनमें जो वस्तुविवेचन है उसको भी वितर्क शब्दसे कहते है। प्रथम शुक्लध्यानमें उस अर्थश्रुतरूप वितर्कका ध्यान किया जाता है इससे उसे सवितर्क कहते हैं। अथवा श्रुतका कारण होनेसे वितर्क शब्दका अर्थ श्रुत है। ध्यान श्रुतज्ञानकी सज्ञा है उसका कारण श्रुत है। तो अपने कारण श्रुतके साथ रहनेसे उसे सवितर्क कहते हैं॥१८७५॥

गा०-टी०—तथा अर्थोके वाचक जो शब्द हैं उनके सक्रम अर्थात् परावर्तन को और योगोंके परिवर्तनको विचार कहते हैं। 'अत्थाण वजणाण य' का अर्थ अर्थों के और व्यजनोंके परिवर्तनको वीचार कहते हैं इस प्रकारसे समुच्चयरूप नही लेना चाहिये क्योंकि पृथक्त्व शब्दसे अर्थका पृथक्त्व ग्रहण किया है। इस वीचारके होनेसे इस शुक्लध्यानको आगममें सवीचार कहा है।

'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला' इत्यादि परिमित अनेक द्रव्योका ज्ञान करानेमे समर्थ श्रुतके वचनोंसे उत्पन्न हुआ यह ध्यान भिन्न-भिन्न द्रव्योका आलम्बन करता है अत एक ही द्रव्यका आलम्बन करनेवाले एकत्व वितर्क शुक्लध्यानमें भिन्न होता है। तथा पृथक्त्व वितर्क शुक्लध्यान तीनों योगोंकी सहायतासे होता है और एकत्ववितर्क एक ही योगकी सहायतासे होता है। इससे भी वह इसमें भिन्न पडता है। पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यानका स्वामी उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती होता है और एकत्ववितर्कका स्वामी क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती होता है। इसमे भी वह इससे भिन्न है। पृथक्त्ववितर्क वितर्क सहित होता है और तीसरा तथा चतुर्थ शुक्लध्यान वितर्क रहित होते हैं। अत वह तीसरे और चतुर्थ शुक्लध्यानसे विलक्षण है। अत पृथक्त्ववितर्क सवीचार नामसे ही अन्य ध्यानोंमे इसकी विलक्षणता प्रकट होती है। इस प्रकार प्रथम शुक्लध्यानका लक्षण कहा है ॥१८७६॥

---

१ मादपरि –आ०। २ यमपरम् –अ० मु०। –मादिपरिमितानेकद्रव्य प्रत्यायनपरश्रुत–मूलारा०।

जेणेगमेव दव्वं जोगेणेगेण अण्णदरगेण ।
खीणकसाओ ज्झायदि तेणेगत्तं तयं भणियं ॥१८७७॥

'जेणेगमेव दव्वं जोगेणेगेण अण्णदरगेण' येनैकमेव द्रव्यं अन्यतरेण योगेनैकेन सह वृत्तं, क्षीणकषायो ध्याति तेनैकत्वं तद्भणितं एकद्रव्यालम्बनत्वात् । अन्यतरयोगवृत्तेरेवात्मन उत्पत्तेरेकत्वं ध्यानं क्षीणकषाय-स्वामिकं भवेत् ॥१८७७॥

जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ।
ज्झायदि ज्झाणं एवं सवितक्कं तेण तं ज्झाणं ॥१७७८॥
अत्थाण वंजणाण य जोगाण संकमो हु वीचारो ।
तस्स अभावेण तयं ज्झाणं अविचारमिदि वुत्तं ॥१८७९॥

एकद्रव्यालम्बनत्वेन [1]परिमितानेकसत्रपर्यायद्रव्यालम्बनात् प्रथमध्यानात्समस्तवस्तुविषयाभ्यां तृतीय-चतुर्थाभ्यां च विलक्षणता द्वितीयस्यानया गाथया निवेदिता । क्षीणकषायग्रहणेन उपशान्तमोहस्वामिक-त्वात् । सयोग्ययोगकेवलिस्वामिकाभ्यां च भेदः । सवितर्कता पूर्ववदेव । पूर्वव्यावर्णितवीचाराभावादवीचारत्वं ॥१८७८–७९॥

विशेषार्थ—महापुराणके इक्कीसवें पर्वमें ध्यानका वर्णन करते हुए कहा है—अनेकपनेको पृथक्त्व कहते हैं और श्रुतको वितर्क कहते हैं। तथा अर्थ, व्यंजन और योगोंके परिवर्तनको वीचार कहते हैं। इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला मुनि एक अर्थसे दूसरे अर्थको, एक वाक्यसे दूसरे वाक्यको और एक योगसे दूसरे योगको प्राप्त होता हुआ इस ध्यानको ध्याता है। यतः तीनों योगोंके धारक और चौदह पूर्वोके ज्ञाता मुनिराज इस ध्यानको करते हैं अतः प्रथम शुक्लध्यान सवितर्क और सवीचार होता है। श्रुतस्कन्धरूपी समुद्रमें जितना वचन और अर्थका विस्तार है वह इस शुक्लध्यान में ध्येय होता है और इसका फल मोहनीय कर्मका उपशम या क्षय है। यह ध्यान उपशान्त मोह और क्षीणमोह गुणस्थानमें तथा उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिके शेष गुण-स्थानोंमें माना गया है ॥१८७६॥

गा०–टी०—दूसरे शुक्लध्यानका नाम एकत्ववितर्क है क्योंकि इसमें एक ही योगका अवलम्बन लेकर एक ही द्रव्यका ध्यान किया जाता है। अतः एक द्रव्यका अवलम्बन लेनेसे इसे एकत्व कहते हैं। यह ध्यान किसी एक योगमें स्थित आत्माके ही होता है। इसका स्वामी क्षीण कषाय गुणस्थानवर्ती मुनि होता है ॥१८७७॥

विशेषार्थ—यहाँ एक शब्दका अर्थ है 'प्रधान' और समस्त छह द्रव्योंमें प्रधान एक आत्मा ही है। सोमदेव उपासकाध्ययन (श्लोक ६२३) में कहा है—मनमें किसी विचारके न होते हुए जब आत्मा आत्मामें लीन होता है उसे निर्बीजध्यान कहते हैं। यह निर्बीजध्यान एकत्ववितर्क ही है। अतः एक द्रव्य और एक योगका अवलम्बन करनेसे प्रथम शुक्लध्यानसे भिन्न है ॥१८७७॥

गा०—यतः श्रुतको वितर्क कहते हैं और यतः चौदह पूर्वगत अर्थमें कुशल मुनि ही इस ध्यानका ध्याता है। इससे दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क है। तथा अर्थ, व्यंजन और योगोंके परि-

1. नाप–आ० ।

तृतीयध्यानमाचष्टे—

अवितक्कमवीचारं सुहुमकिरियबंधणं तदियसुक्कं।
सुहुमम्मि कायजोगे भणिदं तं सव्वभावगदं ॥१८८०॥

'अवितक्कमवीचारं' श्रुतानालम्बनत्वादवितर्कं स्वयं श्रुतज्ञानं भवतीति वा अवितर्कं। पूर्वमालम्बीकृतादर्थादर्थान्तरालम्बनत्वं नाम वीचारो नास्तीत्यविचारं। 'सुहुमकिरियबंधणं' सूक्ष्मक्रियाऽस्येति सूक्ष्मक्रियं आत्मनस्बन्धनमाश्रयोऽस्येति सूक्ष्मक्रियाबन्धनं तृतीयशुक्लं। 'सुहुमम्मि कायजोगे' सूक्ष्मकाययोगे सति प्रवृत्तं भणितं सूक्ष्मक्रियमिति। 'तं सव्वभावगदं' तृतीयं शुक्लध्यानं त्रिकालगोचरानन्तसामान्यविशेषात्मकद्रव्यषट्कयुगपत्प्रकाशनस्वरूपं, द्रव्यषट्कसमस्तस्वरूपयुगपत्प्रकाशनमेकमग्रं मुखमस्येति एकमुखतापि विद्यत इति ध्यानशब्दस्यार्थोऽभिमुखे विद्यते। 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमित्यत्र' सूत्रे चिंताशब्दो ज्ञानसामान्यवचनं। तेन श्रुतज्ञानं क्वचिद्ध्यानमित्युच्यते, क्वचित्केवलज्ञानं क्वचिच्छ्रुताज्ञानं क्वचिन्मतिज्ञानं मत्यज्ञानं वा, यतोऽविचलत्वमेव ध्यानं, ज्ञानस्य तस्याविचलत्वं साधारणं सर्वज्ञानोपयोगानां ॥१८८०॥

वर्तनको वीचार कहते हैं। उसके न होनेसे दूसरा शुक्लध्यान अवीचार कहा है ॥१८७८-७९॥

विशेषार्थ—प्रथम शुक्लध्यान परिमित अनेक द्रव्यों और पर्यायोंका अवलम्बन लेता है और दूसरा शुक्लध्यान एक ही द्रव्यका अवलम्बन लेता है। तथा तीसरे और चतुर्थ शुक्लध्यानोंका विषय समस्त वस्तु है क्योंकि केवलज्ञानका विषय सब द्रव्य और सब पर्याय है। अतः दूसरा शुक्लध्यान शेष तीनोंसे विलक्षण है। प्रथम शुक्लध्यानका स्वामी उपशान्तमोह होता है और दूसरेका क्षीणकषाय होता है तथा तीसरेका स्वामी सयोग केवली और चतुर्थका स्वामी अयोग केवली होता है। अतः स्वामीकी अपेक्षा भी दूसरा शुक्लध्यान शेष तीनोंसे भिन्न है। किन्तु प्रथम शुक्लध्यानकी तरह दूसरा भी सवितर्क है। और पूर्व कथित वीचारका अभाव होनेसे अवीचार है ॥१८७८-७९॥

अब तीसरे शुक्लध्यानका स्वरूप कहते हैं—

गा०-टी०—तीसरे शुक्लध्यानका आलम्बन श्रुत नहीं है अथवा वह स्वयं श्रुतज्ञानरूप होता है इसलिये वितर्कसे रहित होता है। पूर्वमें आलम्बन किये हुए अर्थको छोड़कर अर्थान्तरके आलम्बन करनेको वीचार कहते हैं। वह भी इसमें नहीं होता। अतः यह अवीचार है। इसमें श्वासोच्छ्वासादिक्रिया सूक्ष्म हो जाती है। तथा यह सूक्ष्मकाययोगके होनेपर होता है इसलिये इसे सूक्ष्मक्रिय कहते हैं। यह तीसरा शुक्लध्यान त्रिकालवर्ती अनन्त सामान्यविशेषात्मक धर्मोंसे युक्त छह द्रव्योंको एक साथ प्रकाशन करता है अतः सर्वगत है। एक साथ समस्त छह द्रव्योंके समस्त स्वरूपको प्रकाशन करना ही इसका एकमात्र मुख होनेसे ध्यानका लक्षण 'एकाग्रचिन्तानिरोध' इसमें रहता है। एकाग्रचिन्तानिरोधमें चिन्ता शब्द ज्ञान सामान्यका वाचक है। अतः कहीं श्रुतज्ञानको ध्यान कहते हैं, कहीं केवलज्ञानको ध्यान कहते हैं, कहीं श्रुतअज्ञानको ध्यान कहते हैं कहीं मतिज्ञान या मतिअज्ञानको ध्यान कहते हैं। क्योंकि निश्चलताका ही नाम ध्यान है। अतः ज्ञानकी निश्चलता सब ज्ञानोपयोगोंमें साधारण है। आशय यह है कि ज्ञानकी निश्चलताका ही नाम ध्यान है। अतः ध्यानका यह लक्षण सब निश्चल ज्ञानोपयोगोंमें घटित होता है। केवलीका ध्यान केवल ज्ञान मूलक होता है। अतः वह तो सर्वथा निश्चल ही होता है। इससे सूक्ष्मक्रिय नामक ध्यानमें भी ध्यानका लक्षण घटित होता है ॥१८८०॥

सुहुमम्मि कायजोगे वट्टंतो केवली तदियसुक्कं ।
झायदि णिरुंभिदुं जे सुहुमत्तं कायजोगंपि ॥१८८१॥

'सुहुमम्मि कायजोगे' सूक्ष्मे काययोगे प्रवर्तमानः केवली तृतीयं शुक्लं ध्याति निरोद्धुं तमपि सूक्ष्मं वा काययोग ॥१८८१॥

अवियक्कमवीचारं अणियट्टिमकिरियं च सीलेसिं ।
ज्झाणं णिरुद्धयोगं अपच्छिमं उत्तमं सुक्कं ॥१८८२॥

'अवियक्कमवीचार' पूर्वोक्तवितर्कवीचाररहितत्वात् अवितर्कमवीचारं, 'अणियट्टि' सकलकर्मनाशनम-कृत्वा न निवर्तत इत्यनिवर्ति। 'अकिरियं' समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगपरिस्पन्दनक्रियाव्यापा-रत्वात् अक्रियं । 'सीलेसिं' शीलानामीशः शीलेशः यथाख्यातचारित्रं । शीलेशस्य भावः शैलेश्यं, तत्सहचारि ध्यानमपि शैलेश्यं । 'णिरुद्धयोगं'। अपश्चिमं न विद्यते पश्चादन्यद्ध्यानमस्मादित्यपश्चिमं । 'उत्तमं सुक्कं' परमं शुक्लं ॥१८८२॥

तं पुण णिरुद्धजोगो सरीरतियणासणं करेमाणो ।
सव्वण्हु अपडिवादी ज्झायदि ज्झाणं चरिमसुक्कं ॥१८८३॥

'तं पुण' तच्चतुर्थं शुक्लध्यानं । निरुद्धयोगः सर्वज्ञः अप्रतिपातिध्यानं ध्याति 'शरीरत्रिकनाशं कुर्वन्,

---

गा०—अतः सूक्ष्मकाययोगमें स्थित केवली उस सूक्ष्म भी काययोगको रोकनेके लिये तीसरा शुक्लध्यान ध्याता है ॥१८८१॥

गा०-टी०—यह तीसरा शुक्लध्यान पूर्वोक्त वितर्क और वीचारसे रहित होनेसे अवितर्क और अवीचार होता है। समस्त कर्मोंको नष्ट किये बिना समाप्त नहीं होता इसलिये अनिवर्ति है। इसमें प्राण अपान श्वास उच्छ्वासका प्रचार, समस्त काययोग मनोयोग वचन योगरूप हलन-चलन क्रियाका व्यापार नष्ट हो जाता है। इसलिये यह अक्रिय है। शीलोंके स्वामीको शीलेश कहते हैं। उसके भावको शैलेशीभाव कहते हैं वह है यथाख्यात चारित्र। उसके साथ होनेवाले ध्यानको भी शैलेशी कहा है। उससे सब कर्मोंका आस्रव रुक जाता है अतः उसे निरुद्धयोग कहा है। इसके अनन्तर कोई ध्यान नहीं होता इससे इसे अपश्चिम कहा है। तथा यह परम शुक्लध्यान है ॥१८८२॥

विशेषार्थ—शैलेशीभावसे यथाख्यात चारित्र लिया है किन्तु यथाख्यात चारित्र तो ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमें भी होता है किन्तु उसे शैलेशी नहीं कहा। क्योंकि शैलेशीपना तीसरे शुक्लध्यानकी अवस्थासे पहले नहीं होता, इसका कारण है कर्मोंका आस्रव होना। तथा तीसरेके पश्चात् भी चतुर्थ शुक्लध्यान होता है फिर भी तीसरेको विवक्षा भेदसे अपश्चिम कहा है ॥१८८२॥

गा०—काययोगका निरोध करके अयोग केवली औदारिक तैजस और कार्मण शरीरों

---

१ रक्रियता –आ० ।

अयोगात्मपरिणाम केवलज्ञान चतुर्थशुक्ल, तृतीय तु सूक्ष्मकाययोगात्मपरिणाम केवलमिति भेदस्तृतीय-चतुर्थयो ॥१८८३॥

इय सो खवओ ज्झाण एयग्गमणो स'मस्सिदो सम्म ।
विउलाए णिज्जराए वट्टदि गुणसेढिमारूढो ॥१८८४॥

'इय सो खवगो' एवमसौ क्षपक , एकाग्रचित्त सम्यग्ध्यान समाश्रित्य विपुलाया कर्मनिर्जराया वर्तते 'गुणसेढिमारूढो' गुणश्रेणीमारूढ उपशान्तकषायादिका ॥१८८४॥

ध्यानमाहात्म्यस्तवनार्थ उत्तरप्रबन्ध —

सुचिर वि सकिलिट्ठ विहरत झाणसवरविहूण ।
ज्झाणेण सवुडप्पा जिणदि अतोमुहुत्तेण ॥१८८५॥

'सुचिरमवि सक्लिष्ट विहरत' पूर्वकोटिकाल दशोन क्लेशसहितचारित्रोद्यत 'ज्झाणसवरविहूण' ध्यानाख्येन सवरेण विहीन । 'जिणदि' जयति । क ? ''आहोरत्तमेत्तेण झाणेण सवुडप्पा' अहोरात्रमात्रेण ध्यानेन सवृतात्मा ॥१८८५॥

एव कसायजुद्धमि हवदि खवयस्स आउधं झाण ।
ज्झाणविहूणो खवओ 'रगेव अणाउहो मल्लो ॥१८८६॥

का नाश करता हुआ अन्तिम शुक्ल ध्यानको ध्याता है। सूक्ष्मकाय योग रूप आत्म परिणाम वाला सयोगकेवली तीसरे शुक्ल ध्यानको ध्याता है और अयोगरूप आत्मपरिणाम वाला अयोगकेवली चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है। यह तीसरे और चतुर्थ शुक्ल ध्यान में भेद है ॥१८८३॥

विशेषार्थ—महापुराणमे कहा है—तीसरेके पश्चात् योगका निरोध करके आस्रव से रहित अयोगकेवली समुच्छिन्न क्रिय अनिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है। एक अन्तर्मुहूर्त काल तक अतिनिर्मल उस ध्यानको करके शेष चार अघातिकर्मोका विनाशकर मोक्षको प्राप्त होता है। अयोगकेवलीके उपान्त्य समय मे बासठ और अन्तिम समय मे तेरह प्रकृतियाँ नष्ट हो जाती है। उसके पश्चात् वह शुद्धात्मा ऊर्ध्वगमन स्वभावके कारण एक ही समयमे लोकके अन्त पर्यन्त जाकर सिद्धालयमे विराजमान हो जाता है ॥१८८३॥

गा०—इस प्रकार वह क्षपक एकाग्रमन से सम्यक् ध्यान को ध्याकर उपशान्त कषाय आदि गुण स्थानो की श्रेणि पर आरूढ होकर विपुल कर्म निर्जरा करता है ॥१८८४॥

आगे ध्यानके माहात्म्यको कहते हैं—

गा०—एक अन्तर्मुहूर्त मात्र या एक दिन रात मात्र ध्यान रूप सवरसे युक्त मुनि, कुछ कम एक पूर्व कोटि काल तक ध्यानरूप सवरसे रहित तथा सक्लेशसहित चारित्र का पालन करने वाले साधुसे श्रेष्ठ है ॥१८८५॥

---

१ समण्णिदो —अ० । २ अहोरत्तमित्तेण अन्तोमुहूर्तेन कर्म जयति । अहोरात्रमात्रेण झाणेण सपुडप्पा ध्यानेन सवृतात्मा कर्मकाण्डकोऽपि न जयति —आ० । ३ रणगावव —आ० । जुद्धेव णिराउधा होदि —मु० ।

'एव कसायजुद्धहिं' कषायसंप्रहारे ध्यानमायुधं क्षपकस्य भवति। ध्यानहीनः क्षपकः युद्धे निरायुध इव न प्रतिपक्षं प्रहन्तुमलं। कषायविनाशकारित्वं ध्यानस्यानया कथितं ॥१८८६॥

रणभूमीए कवचं व कसायरणे तय हवे कवचं।
जुद्धे व णिरावरणो झाणेण विणा हवे खवओ ॥१८८७॥

'रणभूमीए' युद्धभूमौ कवचवत्कषाययुद्धे ध्यानं कवचो भवति। एतेन कषायपीडारक्षां करोति ध्यानमित्याख्यातं। ध्यानाभावे दोषमाचष्टे। 'जुद्धे व णिरावरणो' युद्धे निरावरण इव भवति ध्यानेन विना क्षपकः ॥१८८७॥

ज्झाणं करेइ खवयस्सोवट्ठंभं खु हीणचेट्ठस्स।
थेरस्स जहा जंतस्स कुणदि जट्ठी उवट्ठंभं ॥१८८८॥

'झाणं करेदि' ध्यानं करोति क्षपकस्योपष्टम्भं हीनचेष्टस्य स्थविरस्य गच्छतो यथा करोति यष्टिरुपष्टम्भं ॥१८८८॥

मल्लस्स णेहपाणं व कुणइ खवयस्स दढबलं झाणं।
झाणविहीणो खवओ रंगे व अपोसिओ मल्लो ॥१८८९॥

'मल्लस्स णेहपाणं व' मल्लस्य स्नेहपानमिव क्षपकस्य ध्यानं करोति। ध्यानहीनः क्षपको रङ्गे अपोषितो मल्ल इव न प्रतिपक्षं जयति ॥१८८९॥

वइरं रदणेसु जहा गोसीसं चंदणं व गन्धेसु।
वेरुलियं व मणीणं तह ज्झाणं होइ खवयस्स ॥१८९०॥

गा०-टी०—इस प्रकार कषायोंके साथ युद्ध करनेमें अर्थात् कषायोंका संहार करनेमें ध्यान क्षपकके लिये आयुध होता है। अर्थात् ध्यानके द्वारा कषायोंका विनाश किया जाता है। जैसे विना अस्त्रके युद्धमें शत्रुका घात करना संभव नहीं है, उसी प्रकार ध्यान हीन क्षपक कषायों को नहीं जीत सकता। इससे ध्यानको कषायोंका विनाश करने वाला कहा है ॥१८८६॥

गा०-टी०—जैसे युद्ध भूमिमें कवच होता है वैसे ही कषायोंसे युद्ध करनेमें ध्यान कवचके समान है। इससे कहा है कि ध्यान कषायसे रक्षा करता है। ध्यानके अभावमें दोष कहते हैं। जैसे युद्ध में कवचके विना योद्धा होता है वैसे ही ध्यान के विना क्षपक होता है। अर्थात् युद्धमें विना कवचके योद्धाकी जो स्थिति है वही स्थिति ध्यानके विना क्षपक की होती है। वह भी उसी की तरह मारा जाता है ॥१८८७॥

गा०—जैसे चलनेमें असमर्थ वृद्ध पुरुषको गमन करते समय लाठी सहायक होती है वैसे ही असमर्थ क्षपकका सहायक ध्यान होता है ॥१८८८॥

गा०—जैसे दुग्धपान मल्ल पुरुषके बलको दृढ करता है वैसे ही ध्यान क्षपककी शक्ति को दृढ करता है। जैसे अपुष्ट मल्ल अखाडेमें हार जाता है वैसे ही ध्यानसे रहित क्षपक कषायोंसे हार जाता है ॥१८८९॥

---

१. कवचं होदि झाणं कसायजुद्धम्मि —मु०।

'वैर रदणेसु जधा' यथा रत्नेषु वज्र गन्धद्रव्येषु गोशीर्ष चन्दन । मणिषु वैडूर्यमिव क्षपकस्य ध्यान सर्वेषु दर्शनचरित्रतपस्सु सारभूत ॥१८९०॥

झाणं किलेससावदरक्खा रक्खाव सावदभयम्मि ।
झाण किलेसवसणे मित्त मित्तेव वसणम्मि ॥१८९१॥

'झाणं किलेससावदरक्खा' ध्यान दु खश्वापदाना रक्षा, श्वापदभये रक्षेव ध्यान क्लेशव्यसने मित्र, व्यसने मित्रमिव ॥१८९१॥

ज्झाण कसायवादे गब्भघरं मारुदेव गब्भघरं ।
झाण कसायउण्हे छाही छाहीव उण्हम्मि ॥१८९२॥
झाण कसायडाहे होदि वरदहो दहोव डाहम्मि ।
झाण कसायसीदे अग्गी अग्गीव सीदम्मि ॥१८९३॥
झाण कसायपरचक्कभए बलवाहणड्ढओ राया ।
परचक्कभए बलवाहणड्ढओ होइ जह राया ॥१८९४॥
झाण कसायरोगेसु होदि वेज्जो तिगिंछदे कुसलो ।
रोगेसु जहा वेज्जो पुरिसस्स तिगिंछओ कुसलो ॥१८९५॥
झाण विसयछुहाए होइ य छुहाए अण्णं वा ।
झाण विसयतिसाए उदय उदयं व तण्हाए ॥१८९६॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा ॥१८९२॥१८९३॥१८९४॥१८९५॥१८९६॥

गा०—जैसे रत्नोमे हीरा, सुगन्धित द्रव्योमे गोशीर्ष चन्दन और मणियोमे वैडूर्यमणि सारभूत है। वैसे ही क्षपकके दर्शन चारित्र और तपमे ध्यान सारभूत है ॥१८९०॥

गा०—जैसे हिंसक जन्तुओंसे भय होने पर उनसे रक्षा बचाव करती है वैसे ही ध्यान दु खरूपी हिंसक जन्तुओंसे रक्षा करता है। तथा जैसे सकट मे मित्र सहायक होता है वैसे ही दु खरूपी सकटमे ध्यान सहायक होता है ॥१८९१॥

गा०—जैसे गर्भगृह वायुसे रक्षा करता है वैसे ही ध्यान कषायरूपी वायुके लिये गर्भगृह है। जैसे घामसे बचनेके लिये छाया है वैसे ही कषायरूपी घामसे बचावके लिये ध्यान छायाके समान है ॥१८९२॥

गा०—जैसे दाहके लिये उत्तम सरोवर है वैसे ही कषायरूप दाहके लिये ध्यान उत्तम सरोवर है। जैसे शीतमे बचावके लिये आग है वैसे कषायरूपी शीतसे बचावके लिये ध्यान आग के समान है ॥१८८३॥

गा०—जैसे सेना और वाहनोंसे समृद्ध राजा शत्रु सेनाके आक्रमणके भयसे रक्षा करता है वैसे ही कषायरूपी शत्रु सेनाका भय दूर करनेके लिये ध्यान बल वाहनसे समृद्ध राजाके समान है ॥१८९४॥

इय झायतो खवओ जइया परिहीणवायिओ होइ ।
आराधणाए तइया इमाणि लिंगाणि दंसेई ॥१८९७॥

'इय झायतो खवओ' एवं ध्यानेन प्रवर्तमानः क्षपकः । यदा वक्तुमसमर्थो भवति तदा 'आराधणाए' रत्नत्रयपरिणतेरात्मनो लिङ्गानीमानि दर्शयति ॥१८९७॥

हुंकारजंलिभमुहंगुलीहिं अच्छीहिं वीरमुट्ठीहि ।
सिरचालणेण य तहा सण्णं दावेदि सो खवओ ॥१८९८॥

'हुंकारजलिभमुहंगुलीहिं अच्छीहिं' हुंकारेण वा अञ्जलिरचनया, भ्रूक्षेपेण, अङ्गुलिपञ्चकदर्शनेन उपदेष्टारं प्रति प्रसन्नतया(नया) दृष्ट्या किं समाहितचित्तोऽसीत्युक्ते शिरःकम्पनेन संज्ञां दर्शयति क्षपकः ॥१८९८॥

तो पडिचरया खवयस्स दिंति आराधणाए उवओगं ।
जाणंति सुदरहस्सा कदसण्णा कायरखवएण ॥१८९९॥

'सो पडिचरगा' ततः प्रतिचारकास्तस्य क्षपकस्याराधनायामुपयोगं जानन्ति [श्रु]तरहस्याः क्षपकेण कृतसंकेताः । जाणंति ॥१८९९॥

लेश्याया संबन्धं करोति—

इय समभावमुवगदो तह ज्झायंतो पसत्थझाणं च ।
लेस्साहिं विसुज्झंतो गुणसेढिं सो समारुहदि ॥१९००॥

गा०—जैसे वैद्य पुरुषके रोगों की चिकित्सामें कुशल होता है वैसे ही ध्यान कषायरूपी रोग की चिकित्सा करनेमें कुशलवैद्य है ॥१८९५॥

गा०—जैसे अन्न भूखको दूर करता है वैसे ही विषयोंकी भूख दूर करनेके लिये ध्यान अन्नके समान है। तथा जैसे प्यास लगने पर पानी उसे दूर करता है वैसे ही विषयरूपी प्यासके लिये ध्यान पानीके समान है ॥१८९६॥

गा०—इस प्रकार ध्यानमें संलग्न क्षपक जब बोलनेमें असमर्थ होता है तब मैं रत्नत्रयमें संलग्न हूँ यह बात आगे कहे चिन्होंसे प्रकट करता है ॥१८९७॥

गा०—निर्यापकाचार्यके पूछनेपर कि तुम्हारा चित्त सावधान है, वह क्षपक हुंकारसे, हाथों की अंजुलि द्वारा, या भौं के संचालनसे अथवा पाँचों अँगुलियोंकी मुट्ठी बनाकर या सिर हिलाकर प्रसन्न दृष्टिसे संकेत करता है ॥१८९८॥

गा०—तब क्षपकके द्वारा पहलेसे ही संकेत ग्रहण करने वाले और आगमके रहस्यको जानने वाले परिचारक मुनिगण यह जान लेते हैं कि क्षपकका उपयोग आराधनामें है ॥१८९९॥

विशेषार्थ—क्षपक पहले ही कह रखता है या परिचारक पहले ही क्षपकसे कह देते हैं कि बोलनेमें असमर्थ होनेपर मैं अपनी परिणतिको हुंकार आदि संकेतोंसे कहूँगा ॥१८९९॥

आगे क्षपककी लेश्याविशुद्धिका कथन करते हैं—

गा०—इस प्रकार समताभावको प्राप्त वह क्षपक प्रशस्त ध्यान ध्याता है और विशुद्ध

'इय सम्भावमुवगदो' एवं समचित्तता गतः प्रशस्तध्यानं प्रवर्तयेन्, लेश्याभिर्विशुद्धगुणश्रेणी-मारोहति ॥१९००॥

जह बाहिरलेस्साओ किण्हादीओ हवंति पुरिसस्स ।
अब्भंतरलेस्साओ तह किण्हादी य पुरिसस्स ॥१९०१॥

किण्हा णीला काओ लेस्साओ तिण्णि अप्पसत्थाओ ।
पजहइ विरायकरणो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥१९०२॥

'जह बाहिरलेस्साओ' कृष्णनीलकापोतास्त्रियो तिस्रः अप्रशस्ताः प्रजहाति वैराग्यभावनावान् संसार-भीरुता परामुपागतः ॥१९०१-१९०२॥

लेश्यापूर्वक अर्थात् क्रमसे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यारूप परिणमन करता हुआ गुणश्रेणिपर अर्थात् उपशम या क्षपक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥१९००॥

गा०—जैसे पुरुषके शरीरमें कृष्ण आदि द्रव्य लेश्या—शरीरका रंग काला गोरा होता है। वैसे ही अभ्यन्तरमें कृष्ण आदि भावलेश्या होती हैं ॥१९०१॥

विशेषार्थ—लेश्याके दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। मिथ्यात्व आदिके कारण जीवके जो तीव्रतम आदि भाव होते हैं वह भावलेश्या है। आगममें कहा है कि मिथ्यात्व, अवि-रति, कषाय और योगसे प्राणियोंके जो संस्कार होते हैं वह भावलेश्या है। लेश्या छह हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। इनमेंसे प्रारम्भकी तीन लेश्या अशुभ हैं और शेष तीन शुभ हैं। अशुभ लेश्याओंमें तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम रूपसे तथा शुभलेश्याओंमें मन्द, मन्दतर और मन्दतमरूपसे हानिवृद्धि होती रहती है। जैसे अशुभ लेश्याओंमें कापोत लेश्या तीव्र है, नीललेश्या तीव्रतर है और कृष्णलेश्या तीव्रतम है। इसी तरह शुभलेश्याओंमें पीतलेश्या मन्द, पद्म मन्दतर और शुक्ला मन्दतम है। उदाहरणके रूपमें जो व्यक्ति फलसे भरे वृक्षको जड़में काटकर फल खाना चाहता है उसके कृष्णलेश्या है। जो जड़को छोड़ केवल तना काटकर फल खाना चाहता है उसके नीललेश्या है। जो एक शाखा काटकर फल खाना चाहता है उसके कापोत लेश्या है। जो एक उपशाखा तोड़कर फल खाना चाहता है उसके पीतलेश्या है। जो केवल फल ही तोड़कर खाना चाहता है उसके पद्मलेश्या है। और जो जमीनपर गिरे हुए फलोंको ही उठाकर खाना चाहता है उसके शुक्ललेश्या होती है। जो रागी, द्वेषी, अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभसे युक्त है, निर्दय है, कलहप्रिय है, मद्य मांसके सेवनमें आसक्त है वह कृष्णलेश्या वाला होता है। जो घमण्डी, मायावी, विषयलम्पट, अनेक प्रकारकी परिग्रहमें आसक्त प्राणी है वह नीललेश्यावाला होता है। जो परकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करता है, अपनी प्रशंसासे प्रसन्न होता है, फिर हानि लाभको भी नहीं देखता, लड़ाई होनेपर मरने मारनेको तैयार रहता है वह कापोतलेश्या वाला है। जो सर्वत्र समदृष्टि है कृत्य अकृत्य, हित अहितको जानता है दयादानका प्रेमी है वह पीतलेश्यावाला होता है। जो त्यागशील, क्षमाशील, भद्र और साधुजनोंकी पूजामें तत्पर रहता है वह पद्मलेश्यावाला होता है। जो माया और निदान नहीं करता, रागद्वेष नहीं करता वह शुक्ल लेश्यावाला है ॥१९०१॥

तेओ पम्मा सुक्का लेस्साओ तिण्णि वि दु पसत्थाओ ।
पडिवज्जेइ य कमसो सवेगमणुत्तर पत्तो ॥१९०३॥

'तेओ पम्मा सुक्का' तेज पद्मशुक्ललेश्या प्रतिपद्यते परिपाटया ॥१९०३॥

एदेसिं लेस्साण विसोधण पडि उवक्कमो इणमो ।
सव्वेसिं सगाणं विवज्जणं सव्वहा होइ ॥१९०४॥

'एदेसिं लेस्साण' एतासा शुभलेश्याना शुद्धि प्रत्ययमुपक्रम बाह्याभ्यन्तरसर्वपरिग्रहत्याग ॥१९०४॥

लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जीवस्स ।
अज्झवसाणविसोधी मदकसायस्स णादव्वा ॥१९०५॥

'लेस्सासोधी' लेश्याना शुद्धि । 'अज्झवसाणविसोधीए होदि' परिणामविशुद्धया भवति । 'अज्झवसाणविसुद्धी' परिणामविशुद्धिश्च । 'मदकसायस्स' मन्दकषायस्य भवतीति ज्ञातव्या ॥१९०५॥

कषायाणा मन्दता कथमित्यत्राह—

मदा हुति कसाया बाहिरसगविजडस्स सव्वस्स ।
गिण्हइ कसायबहुलो चेव हु सव्वपि गथकलिं ॥१९०६॥

'मदा हु ति कसाया' कषाया मन्दा भवन्ति, कृतबाह्यसगपरित्यागस्य । कषायबहुल एवाय सर्वो जीव सर्वं ग्रन्थकलि गृह्णाति ॥१९०६॥

जह इधणेहिं अग्गी वड्ढइ विज्झाइ इधणेहिं विणा ।
गथेहिं तह कसाओ वड्ढइ विज्झाइ तेहिं विणा ॥१९०७॥

वही कहते हैं—

गा०—क्षपक कृष्ण, नील, कापोत, इन तीन अप्रशस्त लेश्याओको त्यागकर वैराग्य भावनासे युक्त होता है और ससारसे अत्यन्त भयभीत रहता है ॥१९०२॥

गा०—तथा पीत, पद्म, शुक्ल, इन तीन प्रशस्त लेश्याओंको क्रमसे स्वीकार करके उत्कृष्ट सवेगभावको धारण करता है ॥१९०३॥

गा०—इन लेश्याओंकी विशुद्धिका उपक्रम यह है कि समस्त परिग्रहोंका सर्वथा त्याग होता है अर्थात् परिग्रहके त्यागसे लेश्यामें विशुद्धि आती है ॥१९०४॥

गा०—परिणामोंकी विशुद्धि होनेसे लेश्याकी विशुद्धि होती है । और जिसकी कषाय मन्द है उसके परिणामोंमें विशुद्धि होती है ॥१९०५॥

गा०—कषायोंकी मन्दता कैसे होती है, यह बतलाते हैं—

जो बाह्य परिग्रहका त्याग करता है उसकी कषाय मन्द होती है । जिसकी कषाय तीव्र होती है वही सब परिग्रहरूप पापको स्वीकार करता है ॥१९०६॥

'जह इंधणेहिं अग्गी' इन्धनैर्यथाग्निर्वर्द्धते तैर्विना प्रशाम्यति । ग्रन्थैस्तथा कषायो वर्द्धते, तैर्विना मन्दो भवति ॥१९०७॥

जह पत्थरो पडंतो खोभेइ दहे पसण्णमवि पंक ।
खोभेइ पसण्णमवि कसाय जीवस्स तह गंथो ॥१९०८॥

'जह पत्थरो पडंतो' यथा पाषाण पतन् ह्रदे प्रशान्तमपि पङ्कं क्षोभयति, तथा जीवस्य कषाय ग्रन्था' क्षोभयन्ति ॥१९०८॥

अब्भतरसोधीए गंधे णियमेण बाहिरे चयदि ।
अब्भतरमइलो चेव बाहिरे गेण्हदि हु गंधे ॥१९०९॥

'अब्भतरसोधीए' अभ्यन्तरशुद्धया नियमेन बाह्यान्परिग्रहास्त्यजति, अभ्यन्तरमलिन एव बाह्यान् गृह्णाति परिग्रहान् ॥१९०९॥

अब्भतरसोधीए बाहिरसोधी वि होदि णियमेण ।
अब्भतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरे दोसे ॥१९१०॥

'अब्भतरसोधीए' अभ्यन्तरशुद्धया बाह्यशुद्धिर्नियमेन भवति । अभ्यन्तरदोषेणैव बाह्यान्कायगतान् दोषान् करोति ॥१९१०॥

जध तंडुलस्स कोण्डयसोधी सतुसस्स तीरदि ण कादु ।
तह जीवस्स ण सक्का लिस्सासोधी ससगंस्स ॥१९११॥

'जह तंडुलस्स' यथा तन्दुलस्य अभ्यन्तरमलशुद्धि कर्तुं न शक्यते बाह्यतुषसहितस्य । तथा जीवस्य न शक्या लेश्याशुद्धि कर्तुं सपरिग्रहस्य ॥१९११॥

इत उत्तर लेश्याश्रयेणाराधनाविकल्पो निरूप्यते—

सुक्काए लेस्साए उक्कस्स अंसय परिणमित्ता ।
जो मरदि सो हु णियमा उक्कस्साराधओ होई ॥१९१२॥

गा०—जैसे ईंधनसे आग बढती है और ईंधनके अभावमे बुझ जाती है वैसे ही परिग्रहसे कषाय बढती है और परिग्रहके अभावमे मन्द हो जाती है ॥१९०७॥

गा०—जैसे जलमे पत्थर फेंकनेसे नीचे बैठी हुई कीचड ऊपर आ जाती है। वैसे ही परिग्रहसे जीवकी दबी हुई कषाय उदयमे आ जाती है ॥१९०८॥

गा०—अन्तरगमे कषायकी मन्दता होनेपर नियमसे बाह्य परिग्रहका त्याग होता है। अभ्यन्तरमे मलिनता होनेपर ही जीव बाह्य परिग्रहोंको ग्रहण करता है ॥१९०९॥

गा०—अभ्यन्तरमे विशुद्धि होनेपर बाह्य विशुद्धि नियमसे होती है। अभ्यन्तरमे दोष होनेसे ही मनुष्य शारीरिक दोष करता है ॥१९१०॥

गा०—जैसे बाहरमे तुष (छिल्का) रहते हुए चावलकी अभ्यन्तर शुद्धि सभव नही है। वैसे ही परिग्रही जीवके लेश्याकी विशुद्धि सभव नही है ॥१९११॥

'सुक्काए लेस्साए' शुक्ललेश्याया उत्कृष्टांशे परिणतो यो मृतिमुपैति स नियमादुत्कृष्टाराधको भवति ॥१९१२॥

खाइयदसणचरणं खओवसमियं च णाणमिदि मग्गो ।
तं होइ खीणमोहो आराहित्ता य जो हु अरहंतो ॥१९१३॥
जे सेसा सुक्काए दु असया जे य पम्मलेस्साए ।
तल्लेस्सापरिणामो दु मज्झिमाराधणा मरणे ॥१९१४॥

'जे सेसा सुक्काए दु असया' उत्कृष्टांशादन्ये ये शुक्ललेश्याया अंशा ये चापि पद्मलेश्याया अंशा तत्र परिणामो मरणे मध्यमाराधना ॥१९१३॥१९१४॥

तेजाए लेस्साए ये असा तेसु जो परिणमित्ता ।
कालं करेइ तस्स हु जहण्णियाराधणा भणिदा ॥१९१५॥

'तेजाए लेस्साए' तेजोलेश्याया ये अंशास्तेषु परिणतो यदि कालं कुर्यात् तस्य जघन्याराधना भवति ॥१९१५॥

जो जाए परिणमित्ता लेस्साए संजुदो कुणइ कालं ।
तल्लेस्सो उववज्जइ तल्लेसे चेव सो सग्गे ॥१९१६॥

'जो जाए' यो यया लेश्यया परिणतः कालं करोति, स तल्लेश्य एवोपजायते, तल्लेश्यासमन्विते स्वर्गे ॥१९१६॥

अध तेउपउमसुक्कं अदिच्छिदो णाणदसणसमग्गो ।
आउक्खया दु सुद्धो गच्छदि सुद्धिं चुयकिलेसो ॥१९१७॥

आगे लेश्या के आश्रयसे आराधनाके भेद कहते हैं—

गा०—जो क्षपक शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंश रूपसे परिणत होकर मरण करता है वह नियमसे उत्कृष्ट आराधक होता है ॥१९१२॥

गा०—क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र और क्षायोपशमिक ज्ञानकी आराधना करके क्षीणमोह होता है और वह बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोह तदनन्तर अरहंत होता है ॥१९१३॥

गा०—शुक्ललेश्याके शेष मध्यम और जघन्य अंश तथा पद्मलेश्याके उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अंश रूपसे परिणत होकर मरण करने वाला क्षपक मध्यम आराधक होता है ॥१९१४॥

गा०—तेजोलेश्याके अंशरूपसे परिणत होकर यदि मरण करता है तो वह जघन्य आराधक होता है ॥१९१५॥

गा०—जो क्षपक जिस लेश्यारूपसे परिणत होकर मरण करता है वह उसी लेश्यावाले स्वर्गमें उसी लेश्यावाला ही देव होता है ॥१९१६॥

गा०—जो पीत पद्म और शुक्ललेश्याको भी छोडकर लेश्यारहित अयोग अवस्थाको प्राप्त होता है वह सम्पूर्ण केवलज्ञान और केवल दर्शनसे युक्त होकर आयुका क्षय होनेपर मोक्ष प्राप्त

'अथ तेउपउमसुक्क' अथ तेज पद्मशुक्ललेश्या अतिक्रान्त अलेश्यतामुपगत ज्ञानदर्शनसमग्र आयुष क्षयात् सिद्धि गच्छति कर्मलेपापगमाद्विशुद्धो निरस्ताशेषक्लेश । लेस्सेत्ति ॥१९१७॥

एवं सुभाविदप्पा ज्झाणोवगओ पसत्थलेस्साओ ।
आराधणापडाय हरइ अविग्घेण सो खवओ ॥१९१८॥

'एव सुभाविदप्पा' एव सुष्ठु भावितात्मा ध्यानमुपगत प्रशस्तलेश्यापरिणत आराधनापताका हरत्यविघ्नेन ॥१९१८॥

तेलोक्कसव्वसारं चउगइससारदुक्खणासयर ।
आराहण पवण्णो सो भयव मुक्खपडिमुल्ल ॥१९१९॥

'तेलोक्कसव्वसार' त्रैलोक्ये सर्वस्मिन्सारभूता चतुर्गतिससारदु खनाशकरीमाराधना प्रपन्नोऽसौ भगवान् मोक्षप्रतिमौल्य ॥१९१९॥

एवं जधाक्खादविधिं मपत्ता सुद्धदमणचरित्ता ।
केई खवंति खवया मोहावरणतरायाणि ॥१९२०॥

'एव जधाक्खादविधिं' एव यथाख्यातविधि सप्राप्ता शुद्धदर्शनचारित्रा केचित्क्षपका घातिकर्माणि क्षपयन्ति ॥१९२०॥

केवलकप्प लोगं सपुण्णं दव्वपज्जयविधीहिं ।
ज्झायता एयमणा जहति आराहया देह ॥१९२१॥

'केवलकप्प' केवलज्ञानस्य परिच्छेद्यत्वेन योग्य लोक सपूर्णं द्रव्यपर्यायविकल्पै परिच्छिन्दन्त जहति ते स्वदेह ॥१९२१॥

करता है। वह समस्त कर्मलेपके चले जानेसे विशुद्ध होता है तथा समस्त क्लेशोसे छूट जाता है ॥१९१७॥

गा०—इस प्रकार वह क्षपक अच्छी तरहसे आत्माकी भावना भाकर प्रशस्त लेश्यापूर्वक ध्यान करके, किसी विघ्न बाधाके बिना आराधना पताकाको धारण करता है ॥१९१८॥

गा०—वह भगवान् तीनो लोकोमे सारभूत तथा चार गतिरूप ससारके दु खोका नाश करनेवाली आराधनाको प्राप्त करता है जो उस मोक्षका प्रतिमूल्य है अर्थात् आराधनारूपी मूल्य प्रदान करके ही मोक्षको खरीदा जा सकता है ॥१९१९॥

गा०—इस प्रकार कोई-कोई चरमशरीरी क्षपक यथाख्यात चारित्रकी विधिके द्वारा शुद्ध सम्यग्दर्शन और चारित्रको प्राप्त करके मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोका क्षय करते हैं ॥१९२०॥

गा०—केवलज्ञानके द्वारा जाननेके योग्य सम्पूर्ण लोकको द्रव्य पर्यायोके भेदोके साथ एकाग्रमनसे जानते हुए आराधक अपना शरीर छोडते हैं ॥१९२१॥

सव्वुक्कस्स जोग जुत्ता दंसणे चरित्ते य ।
कम्मरयविप्पमुक्का हवंति आराधया सिद्धा ॥१९२२॥

'सव्वुक्कस्स' सर्वोत्कृष्टदर्शनचारित्रयोर्योगं प्रतिपद्यमाना कर्मरजोभ्यो विप्रमुक्ता आराधका सिद्धा भवन्ति ॥१९२२॥

इयमुक्कस्सियमाराधणमणुपालित्तु केवली भविया ।
लोगग्गसिहरवासी हवंति सिद्धा धुयकिलेसा ॥१९२३॥

'इय उक्कस्सिय' एवमुत्कृष्टामाराधनामनुपाल्य केवलिनो भूत्वा निरस्तक्लेशा लोकाग्रशिखरवासिन सिद्धा भवन्ति ॥१९२३॥

अह सावसेसकम्मा मलियकसाया पणट्ठमिच्छत्ता ।
हासरइअरइभयसोगदुगुंछावेयणिम्महणा ॥१९२४॥

'अह सावसेसकम्मा' अथ सावशेषकर्माणो मथितकषायाः प्रणष्टमिथ्यात्वा हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्सा-वेदविकमथना ॥१९२४॥

पंचसमिदा तिगुत्ता सुसंवुडा सव्वसंगउम्मुक्का ।
धीरा अदीणमणसा समसुहदुक्खा असंमूढा ॥१९२५॥

'पंचसमिदा' समितिपंचकोपेता गुप्तित्रयोपेता सुसंवृता अपाकृतसर्वसंगा धीरा अदीनमनसः समसुख-दुःखा असंमूढा ॥१९२५॥

सव्वसमाधाणेण य चरित्तजोगे अधिट्ठिदा सम्मं ।
धम्मे वा उवजुत्ता ज्झाणे तह पढमसुक्के वा ॥१९२६॥

'सव्वसमाधाणेण' सर्वेण समाधानेन चारित्रे सम्यगवस्थिता धर्मध्याने प्रथमशुक्ले वा उपयुक्ता ॥१९२६॥

गा०—सबसे उत्कृष्ट अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यक्चारित्रको प्राप्त करके वे आराधक कर्मरूपी रजसे अर्थात् शेष चार अघाति कर्मोंसे छूटकर सिद्ध हो जाते हैं ॥१९२२॥

गा०—इस प्रकार उत्कृष्ट आराधनाका पालन करके केवलज्ञानी होकर सम्पूर्ण क्लेशोंसे छूट जाते हैं और लोकके शिखर पर विराजमान होते हैं ॥१९२३॥

गा०—किन्तु जिनके कर्मबन्धन शेष रहता है वे मिथ्यात्वको नष्ट करके तथा कषायोंका और हास्य रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, तीनों वेदोंका मथन करके, पाँच समिति और तीन गुप्तियोंके द्वारा सम्यक् रूपसे संवर करके समस्त परिग्रहसे रहित होकर धीरतापूर्वक, मनमें दीनताका भाव नहीं लाते। मोहरहित होकर सुख और दुःखमें समभाव रखते हैं। मन, वचन, कायको समाहित करके चारित्रमें सम्यक्निष्ठ रहते हैं तथा धर्मध्यान या प्रथम शुक्लध्यानमें उपयोग लगाते हैं ॥१९२४–२६॥

इय मज्झिममाराघणमणुपालित्ता सरीरपजहित्ता ।
हुंति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्सा य ॥१९२७॥

'इय मज्झिम' एवं मध्यमाराधनामनुपाल्य शरीरं त्यक्त्वा विशुद्धलेश्याधरा अनुत्तरवासिनो देवा भवन्ति ॥१९२७॥

दसणणाणचरित्ते उक्किट्ठा उत्तमोपधाणा य ।
इरियावहपडिवण्णा हवंति लवसत्तमा देवा ॥१९२८॥

'दसणणाणचरित्ते' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु उत्कृष्टा उत्तमाभिग्रहा ईर्यापथं प्रपन्ना लवसत्तमा देवा भवन्ति ॥१९२८॥

कप्पोवगा सुरा जं अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ।
तत्तो अणंतगुणिदं सुहं दु लवसत्तमसुराणं ॥१९२९॥

'कप्पोवगा सुरा जं' कल्पोपपन्ना सुरा अप्सरोभिस्सहिता यत्सुखमनुभवन्ति ततोऽप्यनन्तगुणितं लवसत्तमदेवानां ॥१९२९॥

णाणम्मि दंसणम्मि य आउत्ता संजमे जहक्खादे ।
वड्ढिदतवोवधाणा अवहियलेस्सा सददमेव ॥१९३०॥

'णाणम्मि दंसणम्मि य' ज्ञानदर्शनयोर्यथाख्याते च संयमे आयुक्ता वर्द्धिततपोऽभिग्रहा सततं विशुद्धलेश्या क्षपका ॥१९३०॥

पजहिय सम्मं देहं सदद सव्वगुणवड्ढिदगुणड्ढा ।
देविंदचरमठाणं लहंति आराधया खवया ॥१९३१॥

'पजहिय देहं' विहाय देहं सम्यक्सदा सर्वगुणवर्धितगुणाढ्या देवेन्द्रचरमस्थानं लभन्ते ॥१९३१॥

गा०—इस प्रकार मध्यम आराधनाका पालन करके शरीर त्याग कर विशुद्ध लेश्याके धारक अनुत्तरवासी देव होते हैं ॥१९२७॥

गा०—वे मध्यम आराधनाके पालक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें उत्कृष्ट होते हैं। अर्थात् कल्पोपपन्न देवोंमें उत्पन्न कराने वाले रत्नत्रयके आराधकोंसे उत्कृष्ट होते हैं। उनकी तपश्चर्या उत्तम होती है, वे ईर्यापथ आस्रवके धारी होते हैं अर्थात् कषायरहित कायकी क्रियासे होनेवाला शुभास्रव ही उनके होता है। वे मरकर लवसत्तम अर्थात् ग्रैवेयक या अनुदिश विमानवासी देव होते हैं ॥१९२८॥

गा०—कल्पवासी देव अपनी देवांगनाओंके साथ जिस सुखको भोगते हैं उससे अनन्तगुणा सुख अहमिन्द्रदेव भोगते हैं ॥१९२९॥

गा०—जो क्षपक ज्ञान दर्शन और यथाख्यात चारित्रमें लीन रहते हैं, अपनी तपश्चर्याको निरन्तर बढ़ाते हैं, वे विशुद्ध लेश्यावाले होते हैं ॥१९३०॥

गा०—वे आराधक क्षपक सम्यक् भावना पूर्वक शरीर त्यागकर अनन्तगुणी अणिमा आदि ऋद्धियोंसे सम्पन्न उपरिम स्वर्गमें स्थान प्राप्त करते हैं ॥१९३१॥

सुयभत्तीए विसुद्धा उग्गतवणियमजोगससुद्धा ।
लोगंतिया सुरवरा हवंति आराधया धीरा ॥१९३२॥

जावदिया रिद्धिओ हवंति इंदियगदाणि य सुहाणि ।
ताइ लहंति ते आगमेसिं मद्दा सया खवया ॥१९३३॥

'जावदिया रिद्धोओ' यावन्त्य ऋद्धयो भवन्ति यावन्तोन्द्रियसुखानि च भवन्ति तानि सर्वाणि लभ्यन्ते भद्राशया क्षपका ॥१९३२-१९३३॥

जे वि हु जहण्णिय तेउलेस्समाराहणं उवणमंति ।
ते वि हु सोधम्माइसु हवंति देवा ण हेट्ठिल्ला ॥१९३४॥

'जे वि हु जहण्णिय' येऽपि जघन्यामाराधना तेजोलेश्याप्रवृत्तामुपनमन्ति तेऽपि सौधर्मादिषु देवा भवन्ति, नाधोभाविनो देवा ॥१९३४॥

किं जपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्स ।
तं अचिरेण लहंते फासित्ताराहणं णिहिलं ॥१९३५॥

'किं जपिएण बहुणा' किं बहुनोक्तेन यत्सर्वस्यास्य लोकस्य सारभूतं तदचिरेण लभन्ते आराधना प्रपन्ना ॥१९३५॥

भोगे अणुत्तरे भुंजिऊण तत्तो चुदा सुमाणुस्से ।
इड्ढीमतुलं चइत्ता चरंति जिणदेसियं धम्मं ॥१९३६॥

'भोगे अणुत्तरे' भोगानुत्कृष्टान् भुक्त्वा स्वर्गच्युता मनुष्यभवेऽपि प्राप्य सकलामृद्धिं तां च त्यक्त्वा जिनाभिहितं धर्मं चरन्ति ॥१९३६॥

गा०—श्रुतभक्तिसे विशुद्ध, उग्रतप, नियम और आतापन आदि योगसे शुद्ध धीर आराधक लौकान्तिक देव होते हैं ॥१९३२॥

गा०—जितनी ऋद्धियाँ हैं और जितने भी इन्द्रिय सुख हैं उन सबको भद्रपरिणामी क्षपक *आगामी कालमें प्राप्त करते हैं ॥१९३३॥*

गा०—तेजोलेश्यासे युक्त जो क्षपक जघन्य आराधना करते हैं वे भी सौधर्म आदि स्वर्गोंमें देव होते हैं, नीचेके देव नहीं होते। अर्थात् भवनत्रिकमें जन्म नहीं लेते ॥ १९३४॥

गा०—अधिक कहनेसे क्या ? जो समस्त लोकका सारभूत है उस सबको आराधना करने वाले शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं ॥१९३५॥

गा०—स्वर्गोंके उत्कृष्ट भोगोंको भोगकर स्वर्गसे च्युत होनेपर मनुष्य भवमें जन्म लेते हैं और वहाँ भी समस्त ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। फिर उसे त्यागकर जिन भगवान्‌के द्वारा कहे हुए धर्मका पालन करते हैं ॥१९३६॥

सदिमंतो धिदिमंतो सद्धासवेगवीरियोवगया ।
जेदा परीसहाणं उवसग्गाणं च अभिभविय ॥१९३७॥

'सदिमंतो' स्मृतिमन्त धृतिसमन्विता श्रद्धासवेगवीर्यसहिता परीषहाणा विजेतार उपसर्गाणामभिभवितार ॥१९३७॥

इय चरणमधक्खादं पडिवण्णा सुद्धदसणमुवेदा ।
सोधिंति ज्झाणजुत्ता लेस्साओ संकिलिट्ठाओ ॥१९३८॥

'इय चरणमधक्खादं' एव यथाख्यातचारित्र प्रतिपन्ना शुद्धदर्शनमुपगता ध्यानयुक्ता सक्लिष्टलेश्या विनाशयन्ति ॥१९३८॥

सुक्क लेस्समुवगदा सुक्कज्झाणेण खविदसंसारा ।
उम्मुक्ककम्मकवया उविंति सिद्धिं धुदकिलेसा ॥१९३९॥

'सुक्क लेस्समुवगदा' शुक्ललेश्यामुपगता शुक्लध्यानेन क्षपितससारा उन्मुक्तकर्मकवचा दूरीकृतक्लेशा सिद्धिमुपयान्ति ॥१९३९॥

एव सथारगदो विसोधइत्ता वि दसणचरित्त ।
परिवडदि पुणो कोई झायतो अट्टरुद्दाणि ॥१९४०॥

'एव सथारगदो' उक्तेन प्रकारेण सस्तरमुपगतोऽपि कृतदर्शनचारित्रशुद्धिरपि कश्चित्कर्मगौरवादार्तरौद्रपरिणत पतति । तत्र दोषमाचष्टे ॥१९४०॥

ज्झायतो अणगारो अट्टं रुद्दं च चरिमकालम्मि ।
जो जहइ सयं देहं सो ण लहइ सुग्गदिं खवओ ॥१९४१॥

गा०—वे शास्त्रोका अनुचिन्तन करते हैं, धैर्यशाली होते हैं, श्रद्धा, सवेग और शक्तिसे युक्त होते हैं। परीषहोको जीतते हैं और उपसर्गोको निरस्त करते हैं, उनसे अभिभूत नही होते ॥१९३७॥

गा०—इस प्रकार शुद्ध सम्यग्दर्शन पूर्वक यथाख्यात चारित्रको प्राप्त करके ध्यानमे मग्न होकर सक्लेशयुक्त अशुभ लेश्याओका विनाश करते हैं ॥१९३८॥

गा०—शुक्ललेश्यासे सम्पन्न होकर शुक्लध्यानके द्वारा ससारका क्षय करते हैं और कर्मोके कवचसे मुक्त हो, सब दु खोको दूर करके मुक्तिको प्राप्त होते हैं ॥१९३९॥

गा०—इस प्रकार सस्तरपर आरूढ होकर और सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्रको निर्मल करके भी कोई-कोई क्षपक कर्मोकी गुरुता होनेसे आर्तरौद्र ध्यानपूर्वक रत्नत्रय रूप आराधनासे गिर जाता है ॥१९४०॥

गा०—जो क्षपक साधु मरते समय आर्तरौद्र ध्यानपूर्वक अपने शरीरको छोडता है वह सुगति प्राप्त नही करता ॥१९४१॥

'ज्ञायतो अणगारो' मरणकाले आर्तरौद्रयो परिणतो भूत्वा य स्वदेहं जहाति नामौ क्षपक सुगति लभते ॥१९४१॥

जदि दा सुभाविदप्पा वि चरिमकालम्मि संकिलेसेण ।
परिवडदि वेदणट्टो खवओ संथारमारूढो ॥१९४२॥

'जदि दा सुभाविदप्पा वि' यदि तावत्सुभावितात्मापि सस्तरमारूढ वेदनार्त क्षपक सक्लेशेन हेतुना सन्मार्गात्परिपतति ॥१९४२॥

किं पुण जे ओसण्णा णिच्चं जे वा वि णिच्चपासत्था ।
जे वा सदा कुसीला संसत्ता वा जहाछंदा ॥१९४३॥

'किं पुण' किं पुनर्न परिपतन्ति ये नित्यमवसन्ना ये च नित्य पार्श्वस्था ये वा सदा कुशीला संसक्ता वा स्वच्छन्दा ॥१९४३॥

तत्र अवसन्ना निरूप्यन्ते—

[1]गच्छहि केइ पुरिसा पक्खी इव पंजरंतरणिरुद्धा ।
सारणपंजरचकिदा ओसण्णागा पावहरति ॥१९४४॥

यथा कर्दमे क्षुण्ण मार्गाद्धीनोऽवसन्न इत्युच्यते स द्रव्यतोऽवसन्न । भावावसन्न अशुद्धचरित्र सीदति उपकरणे, वसति संस्तरप्रतिलेखने, स्वाध्याये, विहारभूमिशोधने, गोचारशुद्धौ, ईर्यासमित्यादिषु, स्वाध्यायकालावलोकने, स्वाध्यायविसर्गे, गोचारे, च अनुद्यत, आवश्यकेष्वलस, जनातिरिक्तो वा जनाधिक करोति कुर्वंश्च यथोक्तमावश्यक वाक्कायाभ्या करोति न भावेन एवभूतश्चारित्रेऽवसीदतीत्यवसन्न । पन्थान पश्यन्नपि

गा०—यदि अपनी आत्माकी सम्यक् भावना करने वाले भी सस्तरपर आरूढ हो, सक्लेश-के कारण मरते समय सन्मार्गसे गिर जाते हैं ॥१९४२॥

गा०—तो जो नित्य अवसन्न, नित्य पार्श्वस्थ, सदा कुशील संसक्त और स्वच्छन्द साधु हैं उनका कहना ही क्या है ? ॥१९४३॥

गा०-टी०—अवसन्न आदिका स्वरूप कहते हैं—

जैसे कोई पुरुष कीचडमें फँस गया या मार्गमें थक गया तो उसको अवसन्न कहते हैं। वह द्रव्यरूपसे अवसन्न है। उसी प्रकार जिसका चारित्र अशुद्ध होता है वह भाव अवसन्न होता है। वह उपकरणमें, वसतिकामें, सस्तरके शोधनेमें, स्वाध्यायमें, विहार करनेकी भूमिके शोधनेमें, गोचरीकी शुद्धतामें, ईर्यासमिति आदिमें, स्वाध्यायके कालका ध्यान रखनेमें और स्वाध्यायकी समाप्तिमें तत्पर नहीं रहता। छह आवश्यकोंमें आलस्य करता है। या दूसरोंसे करता तो अधिक है किन्तु वचन और कायसे करता है, भावसे नहीं करता। इस प्रकार चारित्रका पालन करते हुए खेदखिन्न होता है इससे उसे अवसन्न कहते हैं।

---

1 इस गाथा पर किसी प्रति में क्रमाक नहीं दिया है। न इस पर किसी की टीका ही है। स०

तत्समीपेऽन्येन कश्चिद् गच्छति, यथासौ मार्गपार्श्वस्थ , एवं निरतिचारसंयममार्गं जानन्नपि न तत्र वर्तते, किंतु संयममार्गपार्श्वे तिष्ठति नैकान्तेनासंयत , न च निरतिचारसंयम ` सोऽभिधीयते पार्श्वस्थ इति। शय्याधरपिण्डम- भिहित नित्य च पिण्ड भुङ्क्ते, पूर्वापरकालयोर्दातुःस्तव करोति, उत्पादनैषणादोषदुष्ट वा भुङ्क्ते, नित्यमेकस्या वसतौ वसति, एकस्मिन्नेव सस्तरे शेते, एकस्मिन्नेव क्षेत्रे वसति। गृहिणा गृहाभ्यन्तरे निषद्या करोति, गृहस्थोप- करणैर्व्यवहरति, दु प्रतिलेखमप्रतिलेख्य वा गृह्णाति, सूचीकर्तरिनखच्छेदसदशनपट्टिकाक्षुरकर्णशोधनाजिनग्राही, सीवनप्रक्षालनावधूननरञ्जनादिबहुपरिकर्मव्यापृतश्च वा पार्श्वस्थ । क्षारचूर्ण सौवीरलवणसर्पिरित्यादिक अनागाढकारणेऽपि गृहीत्वा स्थापयन् पार्श्वस्थ । रात्रौ यथेष्ट शेते, सस्तर च यथाकाम बहुतर करोति। उपकरणबकुशो देहबकुश —दिवसे वा शेते च य पार्श्वस्थ । पदप्रक्षालन [2]म्रक्षण वा सत्कारण- मन्तरेण करोति, यश्च गणोपजीवी [3]तृणपञ्चकसेवापरश्च पार्श्वस्थ । अयमत्र संक्षेप —अयोग्य सुखशीलतया यो निषेवते कारणमन्तरेण स सर्वथा पार्श्वस्थ । कुत्सितशील कुशील । यद्येव अवसन्नादीना कुशीलत्व प्राप्नोति, नैव लोकप्रकटकुत्सितशील कुशील इति विवेकोऽत्र ग्राह्य । स च कुशीलोऽनेकप्रकार कश्चित्कौ- तुकशील औषधविलेपनविद्याप्रयोगेणैव, सौभाग्यकरण राजद्वारिककौतुकमादर्शयति य स कौतुककुशील ।

जैसे कोई मार्गको देखते हुए भी उस मार्गसे न जाकर अन्य उसके समीपवर्ती मार्गसे जाता है, उसे मार्ग पार्श्वस्थ कहते हैं। इसी प्रकार जो निरतिचार सयमका मार्ग जानते हुए भी उसमें प्रवृत्ति नही करता किन्तु सयमके पार्श्ववर्ती मार्गमे चलता है, वह न तो एकान्तसे असयमी है और न निरतिचार सयमी है। उसे पार्श्वस्थ कहते हैं। शय्याधरपिण्डका स्वरूप पहले कहा है उस भोजनको नित्य करता है। भोजन करनेसे पहले और भोजन करनेके पश्चात् दाताकी स्तुति करता है। अथवा उत्पादन और एषणा दोषसे दूषित भोजन करता है। नित्य एक ही वसतिकामे रहता है। एक ही सस्तरपर सोता है। एक ही क्षेत्रमे रहता है। गृहस्थोके घरके भीतर बैठता है। गृहस्थोके उपकरणोका उपयोग करता है। बिना प्रतिलेखनाके वस्तुको ग्रहण करता है या दुष्टता पूर्वक प्रतिलेखना करता है। सुई, कैंची, नख काटनेके लिये नहिनी, छुरा, कानका मैल निकालनेकी सीक, चम आदि पासमे रखता है। और सीना, धोना, रगना आदि कामोमे लगा रहता है, वह पार्श्वस्थ है। क्षारचूर्ण, सुर्मा, नमक, घी इत्यादि बिना कारण ग्रहण करके पासमे जो रखता है वह पार्श्वस्थ है। जो रातमे मनमाना सोता है, सस्तरा इच्छानुसार लम्बा चौडा बनाता है वह उपकरण बकुश है। जो दिनमे सोता है वह देहबकुश है। ये भी पार्श्वस्थ हैं। जो बिना कारण पैर धोता है और तेल लगाता है तथा जो गणोपजीवि है वह पार्श्वस्थ है। सारांश यह है कि सुखशील होनेके कारण जो बिना कारण अयोग्यका सेवन करता है वह सर्वथा पार्श्वस्थ है।

जिसका शील कुत्सित है वह कुशील मुनि है

शङ्का—यदि ऐसा है तो अवसन्न आदि भी कुशील कहलायेंगे।

समाधान—नही, क्योंकि लोकमे जिसका कुत्सित शील प्रकट है वह कुशील है, यह भेद ग्रहण करना चाहिये। वह कुशील अनेक प्रकारका होता है। कोई कौतुक कुशील होता है जो औषध लगानेकी विद्याके प्रयोग द्वारा सौभाग्यके कारण राजद्वारमे कौतुक दिखलाता है।

---

१ म सविषीयते –अ० । २ प्रतिक्षण आ० । ३ तिण अ० ।

कश्चित् भूतिकर्मकुशील भूतिग्रहणमुपलक्षणं भूत्या, धूल्या, सिद्धार्थकैः, पुष्पैः, फलैरुदकादिभिर्वा मन्त्रितं रक्षा वशीकरणं वा यः करोति स भूतिकुशील । उक्त च—

भूदीयव धूलीय वा सिद्धत्थग पुप्फफलुदकादीहि ।
रक्ख वसियरण वा करेदि जो भूदिगकुसीलो ॥

कश्चित्प्रसेनिकाकुशील, अगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनी, प्रदीपप्रसेनी, शशिप्रसेनी, सूर्यप्रसेनी स्वप्नप्रसेनीत्येवमादिभिर्जन रञ्जयति यः सोऽभिधीयते प्रसेनिकाकुशील इति । कश्चिन्निमित्तकुशील विद्याभिर्मन्त्रैरौषधप्रयोगैर्वा असयत चिकित्सां करोति सोऽप्रसेनिकाकुशील । कश्चिन्निमित्तकुशील अष्टाङ्गनिमित्त ज्ञात्वा यो लोकस्यादेश करोति स निमित्तकुशील । आत्मनो जाति कुल वा प्रकाश्य यो भिक्षादिकमुत्पादयति स आजीवकुशील । केनचिदुपद्रुत परं शरण प्रविशति, अनाथशाला वा प्रविश्य आत्मनश्चिकित्सा करोति स वा आजीवकुशील । विद्यायोगादिभि परद्रव्यापहरणदम्भप्रदर्शनपर कक्वकुशील । इन्द्रजालादिभिर्यो जन विस्मापयति सोऽभिधीयते कुहनकुशील इति । वृक्षगुल्मादीना पुष्पाणा, फलाना च सभवमुपदर्शयति गर्भस्थापनादिक च करोति य स सम्मूर्छनाकुशील । [1]त्रसजाना, कीटादीना, वृक्षादीना, पुष्पफलादीना, गर्भस्य परिशातन [2]आभिचारिक च य करोति शाप च प्रयच्छति स प्रपातनकुशील ॥ उक्त च—

काओतिकभूदिकम्मे पसिणा पसिणे णिमित्तमाजीवे ।
कक्वकुहन समुच्छण पपादणादीकुसीलो दु ॥ इति ॥

कोई भूतिकर्मकुशील होता है। यहाँ भूति शब्दसे भस्म, धूल, सरसो, पुष्प, फल, अथवा जल आदिसे मत्र पढकर रक्षा या वशीकरण जो करता है वह भूतिकर्म कुशील है। कहा है—

जो भस्म, धूल, सरसो, पुष्प, फल, जल आदिके द्वारा रक्षा या वशीकरण करता है वह भूतिकर्म कुशील है। कोई प्रसेनिकाकुशील होता है जो अगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनिका, शशिप्रसेनिका, सूर्यप्रसेनिका, स्वप्नप्रसेनिका आदि विद्याओंके द्वारा लोगोंका मनोरजन करता है। कोई अप्रसेनिका कुशील होता है जो विद्या, मत्र और औषध प्रयोगके द्वारा असयमी जनोंका इलाज करता है। कोई निमित्तकुशील होता है जो अष्टाग निमित्तोंको जानकर लोगोंको इष्ट अनिष्ट बतलाता है। जो अपनी जाति, अथवा कुल बतलाकर भिक्षा आदि प्राप्त करता है वह आजीवकुशील है। जो किसीके द्वारा सताये जानेपर दूसरेकी शरणमे जाता है अथवा अनाथशालामे जाकर अपना इलाज कराता है वह भी आजीव कुशील होता है। जो विद्या प्रयोग आदिके द्वारा दूसरोंका द्रव्य हरने और दम्भप्रदर्शनमे तत्पर रहता है वह कक्वकुशील होता है। जो इन्द्रजाल आदिके द्वारा लोगोंको आश्चर्य उत्पन्न करता है वह कुहनकुशील है। जो वृक्ष, झाडी, पुष्प और फलोंको उत्पन्न करके बताता है तथा गर्भस्थापना आदि करता है वह सम्मूर्च्छनाकुशील है। जो त्रसजातिके कीट आदिका, वृक्ष आदिका, पुष्प फल आदिका तथा गर्भका विनाश करता है, उनकी हिंसा करता है, शाप देता है वह प्रपातन कुशील है। कहा है—

कौतुक कुशील, भूतिकर्म कुशील, प्रसेनिका कुशील, अप्रसेनिका कुशील, निमित्तकुशील, आजीव कुशील, कक्वकुशील, कुहनकुशील, सम्मूर्च्छनकुशील, प्रपातन कुशील आदि कुशील होते

---

१ त्रसजातीना —आ० । २ अभिमारिक —मु० ।

आदिशब्दपरिगृहीता कुशीला उच्यन्ते—क्षेत्रं हिरण्यं [1]चतुष्पदं च परिग्रहं ये गृह्णन्ति हरितकन्दफल-भोजिनः कृतकारितानुमतपिण्डोपधिवसतिमेवापराः, स्त्रीकथारताः, मैथुनसेवापरायणाः, [2]विवेकास्रवादि [3]अधिकरणोद्यताश्च कुशीलाः। धृष्टः प्रमत्तः विकृतवेषश्च कुशीलः। ससक्तो निरूप्यते—प्रियचारित्रे प्रियचारित्रः अप्रियचारित्रे दृष्टे अप्रियचारित्रः, नटवदनेकरूपग्राही ससक्तः। पञ्चेन्द्रियेषु प्रमक्तः त्रिविधगौरवप्रतिबद्धः, स्त्रीविषये सक्लेशसहितः गृहस्थजनप्रियश्च ससक्तः। 'अवसण्णो' अवसन्नः। पार्श्वस्थससर्गात्स्वयमपि पार्श्वस्थः, कुशीलससर्गात्स्वयमपि कुशीलः, यः स्वच्छन्दसपर्कात्स्वयमपि स्वच्छन्दवृत्तिः। यथाछन्दो निरूप्यते—उत्सूत्रमनुपदिष्टं स्वेच्छाविकल्पितं यो निरूपयति सोऽभिधीयते यथाछन्द इति। तद्यथा वर्षे पतति जलधारणमसंयमः क्षुरकर्तरिकादिभिः केशापनयनप्रशसनं आत्मविराधनान्यथा भवतीति भूमिशय्या तृणपुञ्जे वसतः अवस्थितानामबाधेति, उद्देशिकादिके [4]अनेऽदोषः ग्रामं सकलं पर्यटतो महती जीवनिकायविराधनेति, [5]गृहामत्रेषु भोजनमदोष इति कथनं, पाणिपात्रिकस्य परिशातनदोषो भवतीति निरूपणा, सप्रति यथोक्तकारी न विद्यत इति च भाषणं एवमादिनिरूपणापराः स्वच्छन्दा इत्युच्यन्ते ॥१९४४॥

हैं। गाथामें आये आदि शब्दसे ग्रहण किये कुशीलोंको कहते हैं—जो क्षेत्र, सुवर्ण, चौपाये आदि परिग्रहको स्वीकार करते हैं, हरे कंद, फल खाते हैं, कृत कारित अनुमोदनासे युक्त भोजन, उपधि वसतिकाका सेवन करते हैं, स्त्रीकथामें लीन रहते हैं, मैथुन सेवन करते हैं, आस्रवके अधिकरणोंमें लगे रहते हैं वे सब कुशील हैं। जो धृष्ट, प्रमादी और विकारयुक्त वेष धारण करता है वह कुशील है।

अब ससक्तका स्वरूप कहते हैं। चारित्र प्रेमियोंमें चारित्रप्रेमी, और चारित्रसे प्रेम न करनेवालोंमें चारित्रके अप्रेमी, इस तरह जो नटकी तरह अनेक रूप धारण करते हैं वे ससक्त मुनि हैं। जो पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होते हैं ऋद्धिगारव, सातगारव और रसगारवमें लीन होते हैं, स्त्रियोंके विषयमें रागरूप परिणाम रखते हैं, और गृहस्थजनोंके प्रेमी होते हैं वे ससक्त मुनि हैं। वे पार्श्वस्थके ससर्गसे पार्श्वस्थ, कुशीलके ससर्गसे कुशील और स्वच्छन्दके सम्पर्कसे स्वय भी स्वच्छन्द होते हैं।

अब यथाच्छन्दका स्वरूप कहते हैं—जो बात आगममें नहीं कही है, उसे अपनी इच्छानुसार जो कहता है वह यथाच्छन्द है। जैसे वर्षामें जलधारण करना अर्थात् वृक्षके नीचे बैठकर *ध्यान लगाना असयम है।* छुरे कैंची आदिसे केश काटनेकी प्रशसा करना और कहना कि केशलोच करनेसे आत्माकी विराधना होती है। पृथ्वीपर सोनेमें तृणोंमें रहनेवाले जन्तुओंको बाधा होती है। उद्दिष्ट भोजनमें कोई दोष नहीं है क्योंकि भिक्षाके लिये पूरे ग्राममें भ्रमण करनेमें जीव निकायकी महती विराधना होती है। घरके पात्रोंमें भोजन करनेमें कोई दोष नहीं है ऐसा कहना। जो हाथमें भोजन करता है उसे परिशातन दोष लगता है ऐसा कहना। आजकल आगमानुसार आचरण करनेवाले नहीं हैं ऐसा कहना। इत्यादि कहने वाले मुनि स्वच्छन्द कहे जाते हैं ॥१९४४॥

---

१ च पुण्य च–अ०। २ विवेकादि–आ०। ३ अकरणा–अ०। ४ वे भोजने मु०। ५ गृहे मात्रासु भो–अ० आ०।

अविसुद्धभावदोसा कसायवसगा य मंदसवेगा ।
अच्चासादणसीला मायाबहुला णिदाणकदा ॥१९४५॥

'अविसुद्धभावदोसा' भावा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामाः, तेषां दोषाः शङ्कादयः ते अविशुद्धा अनिराकृता यैस्ते अविशुद्धभावदोषाः । 'कसायवसिगा' कषायवशवर्तिनः । मन्दसंवेगाः । 'अच्चासादणसीला' गुणानां गुणिनां चापमानकारिणः । प्रचुरमायानिदानं गताः ॥१९४५॥

सुहसादा किंमज्झा गुणसायी पावसुत्तपडिसेवी ।
विसयासापडिबद्धा गारवगरुया पमाइल्ला ॥१९४६॥

'सुहसादा' सुखास्वादनपराः । 'किंमज्झा' किं मह्यं केनचिदिति सर्वेषु सत्कार्येष्वनादृताः । 'गुणसायी' गुणेषु सम्यग्दर्शनादिषु शेरत इव निरुत्साहाः । 'पावसुत्तपडिसेवी' आत्मनः परेषां वा अशुभपरिणामस्य मिथ्यात्वासंयमकषायाणां प्रवर्तकं शास्त्रं पापसूत्रं निमित्तं, वैद्यकं, कौटिल्यं, स्त्रीपुरुषलक्षणं, धातुवादः, काव्यनाटकानि, चौरशास्त्रं, शस्त्रलक्षणं, प्रहरणविद्याचित्रकलागान्धर्वगन्धयुक्त्यादिकं एतस्मिन् पापसूत्रे कृतादरास्तथा 'विसयासापडिबद्धा' अभिमतविषयपरिप्राप्त्यर्था या आशा तस्यां प्रतिबद्धाः, 'तिगारवगुरुगा' गारवत्रयैर्गुरवः । 'पमाइल्ला' विकथादिपञ्चदशप्रमादसहिताः ॥१९४६॥

समिदीसु य गुत्तीसु य अभाविदा सीलसंजमगुणेसु ।
परतत्तीसु य तत्ता अणाहिदा भावसुद्धीए ॥१९४७॥

'समिदीसु य' समितिषु गुप्तिषु च संयमगुणेषु भावनारहिताः परव्यापारेषु प्रवृत्ता भावशुद्धावनादृताः ॥१९४७॥

उक्त प्रकारके क्षपक मरते समय सन्मार्गसे क्यों च्युत हो जाते हैं यह सात गाथाओंसे कहते हैं—

गा०-टी०—वे क्षपक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्ररूप परिणामोंके जो शंका आदि दोष हैं उन्हें दूर नहीं करते हैं। कषायोंके वशवर्ती होते हैं, उनका संवेगभाव मन्द होता है, गुणोंका और गुणीजनोंका वे अपमान करते हैं, तथा माया और निदानशल्यकी उनमें प्रचुरता होती है ॥१९४५॥

गा०-टी०—वे सुखशील होते हैं, मुझे किसीसे क्या, ऐसा मानकर वे सबके सब कार्योंमें अनादरभाव रखते हैं, सम्यग्दर्शन आदि गुणोंमें उनका उत्साह नहीं होता। अपने और दूसरोंके अशुभ परिणामको तथा मिथ्यात्व, असंयम और कषायको बढ़ानेवाला शास्त्र पापसूत्र है। निमित्त शास्त्र, वैद्यक, कौटिल्यशास्त्र (राजनीति), स्त्री पुरुषके लक्षण बतलानेवाला कामशास्त्र, धातुवाद (भौतिकी), काव्य नाटक, चोरशास्त्र, शस्त्रोंका लक्षण बतलानेवाला शास्त्र, प्रहार करनेकी विद्या, चित्रकला, गान्धर्व (नाच गाना), गन्धशास्त्र, युक्तिशास्त्र आदि पापशास्त्रोंमें उनका आदर होता है। उनीका वे अध्ययन करते हैं। इष्ट विषयोंकी आशामें लगे रहते हैं, तीन गारवमें आसक्त होते हैं। विकथा आदि पन्द्रह प्रमादोंमें युक्त होते हैं ॥१९४६॥

गा०—समिति, गुप्ति और शील तथा संयमके गुणोंमें भावनासे रहित होते हैं। लौकिक कार्योंमें संलग्न रहते हैं भावोंकी शुद्धिकी ओर ध्यान नहीं देते ॥१९४७॥

गंथअणियत्ततण्हा बहुमोहा सबलसेवणासेवी ।
सद्दरसरूवगंधे फासेसु य मुच्छिदा [1]घडिदा ॥१९४८॥

'गंथाणियत्ततण्हा' अतृप्तपरिग्रहतृष्णा, 'बहुमोहा' अज्ञानबहुला । शबलसेवनापरा, शब्दादिषु विषयेषु मूर्छिता [2]तत्परघटिता ॥१९४८॥

परलोगणिप्पिवासा इहलोगे चेव जे सुपडिबद्धा ।
सज्झायादीसु य जे अणुट्ठिदा संकिलिट्ठमदी ॥१९४९॥

'परलोगणिप्पिवासा' परलोकनिस्पृहा, ऐहिकेष्वेव कार्येषु प्रतिबद्धा, स्वाध्यायादिष्वनुद्यता, संक्लिष्टमनस ॥१९४९॥

सव्वेसु य मूलुत्तरगुणेसु तह ते सदा अइचरंता ।
ण लहंति खवोवसमं चरित्तमोहस्स कम्मस्स ॥१९५०॥

मूलोत्तरगुणेषु सदा सातिचारा न लभन्ते चारित्रमोहस्य क्षयोपशमं ॥१९५०॥

एवं मूढमदीया अवंतदोसा करेंति जे कालं ।
ते देवदुब्भगत्तं मायामोसेण पावंति ॥१९५१॥

'एवं मूढमदीया' एवं मूढबुद्धयो अनपास्तदोषा ये कालं कुर्वन्ति ते देवदुर्भगतां प्राप्नुवन्ति मायया ॥१९५१॥

किंमज्झ णिरुच्छाहा हवंति जे सव्वसंघकज्जेसु ।
ते देवसमिदिवज्झा कप्पंते हुंति सुरमिच्छा ॥१९५२॥

'किं मज्झणिरुच्छाहा' किं ममेति ये सर्वसंघकार्येष्वनादृतास्ते देवसमितिबाह्या कल्पानामन्ते सुरम्लेच्छा भवन्ति ॥१९५२॥

गा०—उनकी परिग्रहकी तृष्णा कभी तृप्त नहीं होती। अज्ञानमें डूबे रहते हैं। गृहस्थोंके आरम्भमें फँसे होते हैं, शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्शमें ममत्वभाव रखते हैं ॥१९४८॥

गा०—परलोककी चिन्ता नहीं करते। इसी लोक सम्बन्धी कार्योंमें लगे रहते हैं। स्वाध्याय आदिमें उद्यम नहीं करते। उनकी मति सक्लेशमय होती है ॥१९४९॥

गा०—सदा मूलगुणों और उत्तरगुणोंमें अतिचार लगाते हैं। इससे उनके चारित्रमोहका क्षयोपशम नहीं होता ॥१९५०॥

गा०—इस प्रकार दोषोंको दूर न करनेवाले वे मूढबुद्धि जब मरते हैं तो मायाचारके कारण अभागे देव होते हैं ॥१९५१॥

गा०—वे मुनि अवस्थामें 'मुझे इससे क्या' ऐसा मानकर संघके सब कार्योंमें अनादर

---

१. दा वट्टिया –आ० । २ तप पतिता आ० । आसवघटि मु० ।

कदप्पभावणाए देवा कदप्पिया मदा होंति ।
खिब्भिसयभावणाए कालगदा होंति खिब्भिसया ॥१९५३॥
अभिजोगभावणाए कालगदा आभिजोगिया हुंति ।
तह आसुरीए जुत्ता हवंति देवा असुरकाया ॥१९५४॥
सम्मोहणाए काल करित्तु दुदुगा सुरा हुंति ।
अण्णपि देवदुग्गइ उवयंति विराधया मरणे ॥१९५५॥

स्पष्टार्थमुत्तरगाथात्रय ॥१९५३॥१९५४॥१९५५॥

इय जे विराधयित्ता मरणे असमाधिणा मरेज्जण्ह ।
त तेसि बालमरण होइ फल तस्स पुव्वुत्त ॥१९५६॥

'इय जे विराधयित्ता' एव ये रत्नत्रय विनाश्य मरणकाले असमाधिना मृतिमुपयान्ति तत्तेषा बालमरण भवति । तस्य बालमरणस्य फल पूर्वमुक्तमेव ॥१९५६॥

जे सम्मत्त खवया विराधयित्ता पुणो मरेज्जण्हू ।
ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा होंति ॥१९५७॥

'जे सम्मत्त खवया' ये क्षपका सम्यक्त्व विनाश्य म्रियन्ते भवनवासिनो ज्योतिष्का व्यन्तरा वा भवन्ति ॥१९५७॥

दंसणणाणविहूणा तदो चुदा दुक्खवेदणुम्मीए ।
संसारमण्डलगदा भमंति भवसागरे मूढा ॥१९५८॥

भाव रखनेके कारण देवोंकी समितिसे बहिष्कृत सौधर्मादि कल्पोंके अन्तमें बसनेवाले चाण्डाल जातिके देव होते हैं ॥१९५२॥

गा०—कन्दर्प भावनासे मरकर कन्दर्प जातिके देव होते हैं। किल्विषभावनासे मरकर किल्विषक जातिके देव होते हैं ॥१९५३॥

गा०—आभियोग्य भावनासे मरकर आभियोग्य जातिके देव होते हैं। तथा आसुरी भावनासे मरकर असुर जातिके देव होते हैं ॥१९५४॥

गा०—सम्मोहन भावनासे मरकर दुदुग जातिके देव होते हैं। अन्य भी विराधना करके मरनेवाले मुनि देवगतिमें हीन देव होते हैं ॥१९५५॥

गा०—इस प्रकार जो क्षपक मरते समय रत्नत्रयको नष्ट करके असमाधिपूर्वक मरते हैं उनका वह मरण बालमरण होता है और उस बालमरणका फल पूर्वमें कहा है ॥१९५६॥

गा०—जो क्षपक सम्यक्त्वको नष्ट करके मरते हैं वे मरकर भवनवासी, व्यन्तर या ज्योतिषीदेव होते हैं ॥१९५७॥

गा०—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे रहित वे मूढदेव स्वर्गसे च्युत होकर दुःखकी वेदनारूपी लहरोंसे भरे संसारसमुद्रमें भ्रमण करते हैं ॥१९५८॥

'दसणणाणविहीणा' सम्यग्दर्शनज्ञानहीनास्तत स्वर्गाच्च्युता दुःखवेदनोर्मिके भवसागरे मूढा भ्रमन्ति, संसारमण्डल गत्वा ॥१९५८॥

जो मिच्छत्त गतूण किण्हलेस्सादिपरिणदो मरदि ।
तल्लेस्सो सो जायइ जल्लेस्सो कुणदि सो कालं ॥१९५९॥

'जो मिच्छत्त गतूण' य कृष्णलेश्यादिपरिणतो मिथ्यात्व गत्वा म्रियते तल्लेश्यो जायते। परत्र च यल्लेश्य काल कृतवान्। फलत्ति ॥१९९९॥

विजहणा निरूप्यते—

एवं कालगदस्स दु सरीरमतोव्व होज्ज बाहिं वा ।
विज्जावच्चकरा त सयं विकिंचति जदणाए ॥१९६०॥

'एव कालगदस्स' एव कालगतस्य शरीरमन्तर्बहिर्वावस्थित वैयावृत्यकरा स्वयमेवापनयन्ति यत्नेन ॥१९६०॥

समणाण ठिदिकप्पो वासावासे तहेव उडुबधे ।
पडिलिहिदव्वा णियमा णिसीहिया सव्वसाधूहिं ॥१९६१॥

'समणाण ठिदिकप्पो' श्रमणाना स्थितिकल्पो वर्षावासे ऋतुप्रारम्भे च नियमेन सर्वे साधुभिर्निषीधिका नियमेन प्रतिलेखनीया ॥१९६१॥

तस्या लक्षणमाचष्टे—

एगता सालोगा णादिविकिट्ठा ण चावि आसण्णा ।
वित्थिण्णा विद्धत्ता णिसीहिया दूरमागाढा ॥१९६२॥

गा०—जो क्षपक मिथ्यादृष्टि होकर कृष्ण आदि लेश्याके साथ मरता है वह जिस लेश्याके साथ मरता है उसी लेश्यावाला होकर जन्म लेता है ॥१५५९॥

गा०—इस प्रकार नगर आदिके मध्यमे या नगरसे बाहर मरणको प्राप्त उस क्षपकके शरीरको वैयावृत्य करनेवाले परिचारक मुनि स्वय ही सावधानतापूर्वक हटा देते हैं ॥१९६०॥

गा०—वर्षा ऋतुके चार मासोमे एक स्थानपर वास प्रारम्भ करते समय और ऋतुके प्रारम्भमे सब साधुओको नियमसे निषीधिकाकी प्रतिलेखना करना चाहिये, यह साधुओका स्थितिकल्प है ॥१९६१॥

विशेषार्थ—मुमुक्षु साधुगण तो अपने शरीरसे भी निरीह होते हैं वे मृत क्षपकके शरीरको हटानेका प्रयत्न क्यों करते हैं? ऐसी शका होनेपर आचार्य उत्तर देते हैं कि पूर्वमे साधुओके जो दस स्थितिकल्पोका कथन किया है, उसमे एक मास और पज्जोसवण कल्प भी हैं। उसके अनुसार जब साधु वर्षा योग धारण करते हैं या ऋतुका प्रारम्भ होता है तब उन्हें निषीधिका दर्शन करना आवश्यक होता है। जहाँ क्षपकके शरीरको स्थापित किया जाता है उस स्थानको निषीधिका कहते हैं। इसलिये निषद्याका दर्शन साधुओका आवश्यक कर्तव्य होनेसे मुमुक्षु साधु निषद्याके निर्माणके लिये स्वय प्रयत्न करते हैं ॥१९६१॥

'एगता सालोगा' एकाता परैः प्रायेणादृश्या नातिदूरा नात्यासन्ना विस्तीर्णा विध्वस्ता दूरमवगाढा ॥१९६२॥

[1]अविसुय असुसिर अघसा सा उज्जोवा बहुसमा असिणिद्धा ।
णिज्जंतुगा [2]अरहिदा [3]अविला य तहा अणाबाधा ॥१९६३॥
जा अवरदक्खिणाए व दक्खिणाए व अहव अवराए ।
वसधीदो [4]विज्जइ णिसीधिया सा पसत्थत्ति ॥१९६४॥

'जा अवरदक्खिणाए' अपरदक्षिणाशाया, दक्षिणस्या, अपरस्या वा दिशि वसतितः निषीधिका प्रशस्ता ॥१९६३॥१९६४॥

सव्वसमाधी पढमाए दक्खिणाए दु भत्तमो सुलभ ।
अवराए सुविहारो होदि य से उवधिलाभो य ॥१९६५॥

'सव्वसमाधी पढमाए' सर्वेषां समाधिर्भवति 'पढमाए' अपरदक्षिणदिगवस्थितायां निषीधिकायां, दक्षिणदिगवस्थितायामाहारः सुलभः । पश्चिमायां सुखविहारः उपकरणलाभश्च ॥१९६५॥

जदि तेसिं वाघादो दट्ठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ ।
अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचिपुव्वुत्तरा कमसो ॥१९६६॥

'जदि तासिं वाघादो' यदि ता निषीधिका न लभ्यन्ते, पूर्वदक्षिणनिषीधिका द्रष्टव्या, अपरोत्तरा वा पूर्वा वा उदीची वा पूर्वोत्तरा वा क्रमेण ॥१९६६॥

निषधाका लक्षण कहते हैं—

गा०—निषीधिका एकान्त स्थानमें होना चाहिये जहाँ दूसरे लोग उसे न देख सकते हों। नगर आदिसे न अति दूर और न अति निकट होनी चाहिये। विस्तीर्ण होनी चाहिये। प्रासुक होनी चाहिये तथा अतिदृढ होनी चाहिये ॥१९६२॥

गा०—वह चींटियोंसे रहित होनी चाहिये। अन्दर प्रवेश कराने वाले छिद्रोंसे रहित होनी चाहिये। प्रकाशवाली होनी चाहिये। समभूमि होनी चाहिये। गीली नहीं होनी चाहिये, जन्तु रहित होनी चाहिये। तिरछे छिद्रवाली नहीं होनी चाहिये तथा बाधारहित होनी चाहिये ॥१९६३॥

गा०—तथा वह निषीधिका क्षपकके स्थानसे पश्चिम-दक्षिण दिशामें या दक्षिण दिशामें या पश्चिम दिशामें हो तो उत्तम होती है ॥१९६४॥

गा०—यदि निषीधिका पश्चिम दक्षिण दिशामें हो तो सर्व संघको समाधिलाभ होता है। यदि दक्षिण दिशामें हो तो संघको आहार लाभ सुलभ होता है। यदि पश्चिम दिशामें हो तो संघका विहार सुखपूर्वक होता है तथा उपकरणोंका लाभ होता है ॥१९६५॥

गा०—यदि उक्त दिशाओंमें निषीधिका निर्माणमें बाधा हो तो क्रमसे पूर्व दक्षिणमें, पश्चिम-उत्तरमें, पूरबमें या उत्तरमें या पूर्वोत्तरमें होना चाहिये ॥१९६६॥

---

१ एतां टीकाकारो नेच्छति। अविसुद—आ०, अविसुआ—मु०। २ अहरिदा मु०। ३ अवला आ०। ४ उवज्जिदइ आ०, वण्णिदि —मु०।

एदासु फलं कमसो जाणेज्ज तुमतुमा य कलहो य ।
भेदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कड्ढदे अण्णं ॥१९६७॥

'एदासु' एतासु निषीधिकासु फलं क्रमशो विजानीयात्। 'तुमतुमा य' पूर्वदक्षिणस्यां स्पर्द्धा अपरोत्तरस्यां कलहः, पूर्वस्यां भेदः उदीच्यां व्याधिः, पूर्वोत्तरस्यां अन्योन्येनापकृष्यते ॥१९६७॥

जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं ।
जग्गणबंधणछेदणविधी अवेलाए कादव्वा ॥१९६८॥

'जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं' यस्यां वेलायां मृतो भिक्षुः तस्यां वेलायामेवापनयनं कर्तव्यं, अवेलायां मृतश्चेत् जागरणं बन्धनं छेदनं वा कर्तव्यं ॥१९६८॥

के जागरणं कुर्वन्तीत्याचष्टे—

बाले वुड्ढे सीसे तवस्सिभीरुगिलाणए दुहिदे ।
आयरिए य विकिंचय धीरा जग्गंति जिदणिद्दा ॥१९६९॥

'बाले वुड्ढे' बालवृद्धान्, शिक्षकान्, तपस्विनः, भीरून्, व्याधितान्, दुःखितानाचार्यांश्च अपाकृत्य धीरा जितनिद्रा जागरणं कुर्वन्ति ॥१९६९॥

के बध्नन्तीत्याचष्टे—

गीदत्था कदकरणा महाबलपरक्कमा महासत्ता ।
बंधंति य छिंदंति य करचरणंगुट्ठयपदेसे ॥१९७०॥

गा०—किन्तु पूर्व-दक्षिण दिशामें होनेसे 'मैं ऐसा हूँ, तुम ऐसे हो', इत्यादि रूप संघर्ष होता है। पश्चिमोत्तर दिशामें होनेसे कलह होता है। पूर्व दिशामें होनेसे संघमें भेद पड़ता है। उत्तर दिशामें होनेसे व्याधि होती है। पूर्वोत्तर दिशामें होनेसे परस्परमें खींचातानी होती है। यह क्रमसे उक्त दिशाओंमें निषद्या बनानेका फल है ॥१९६७॥

विशेषार्थ—पं० आशाधर जीने अपनी टीकामें लिखा है कि पूर्वोत्तर दिशामें निषद्या करनेसे दूसरे मुनिकी मृत्यु होती है ॥१९६७॥

गा०—जिस समय साधु मरे उसी समय उसे वहाँसे हटा देना चाहिये। यदि असमयमें मरा हो तो जागरण, बन्धन या छेदन करना चाहिये ॥१९६८॥

जागरण कौन करते हैं यह कहते हैं—

गा०—बालमुनि, वृद्ध मुनि, शिक्षक मुनि, तपस्वी मुनि, डरपोक मुनि, रोगी मुनि और दुखित हृदय आचार्योंके सिवाय निन्द्रा को जीतनेवाले धीर मुनि जागरण करते हैं ॥१९६९॥

बाँधते कौन हैं, यह कहते हैं—

गा०- जो मुनि गृहीतार्थ होते हैं, जिन्होंने अनेक बार क्षपकोंका कर्म किया है, महाबल-

'गोदत्या' गृहीतार्था, कृतकरणा महाबलपराक्रमा महासत्वा बध्नन्ति छिन्दन्ति च करचरण अङ्गुष्ठप्रदेश वा ॥१९७०॥

एवमकरणे को दोष इत्याशङ्कायां दोषमाचष्टे—

जदि वा एस ण कीरेज्ज विधि तो तत्थ देवदा कोई ।
आदाय त कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ॥१९७१॥

'जदि वा एस' यद्येष विधिर्न क्रियते कदाचिद्देवता क्रीडनशीला मृतकमादाय उत्तिष्ठेत् प्रधावेद्रमेत वा बाधयेद्वा तद्दर्शनात बालादीना चित्तक्षोभ पलायन मरण वा भवेत् ॥१९७१॥

[1]उयसयपडिदावण्ण उवण्णगहिद तु तत्थ उवकरण ।
सागारिय च दुविह परिहारियमपरिहारिय वा ॥१९७२॥
जदि विक्खादा भत्तपइण्णा अज्जा व होज्ज कालगदो ।
देउलसागारित्ति व सिवियाकरण पि तो होज्ज ॥१९७३॥

'जइ विक्खादा भत्तपडिण्णा' यदि सर्वजनप्रकटा सल्लेखना आर्यिका वा भवेत् कालगता स्थानरक्षका गृहस्था वा तत्र शिविका कर्तव्या ॥१९७२॥१९७३॥

तेण पर सठाविय सथारगद च तत्थ बधित्ता ।
उट्ठेतरक्खणट्ठं गाम तत्तो सिरं किच्चा ॥१९७४॥

तेन पर सस्थाप्य तेन मृतकेन सस्तरबन्धात्ततो मुक्तबन्धन कृत्वा ग्रामाभिमुख शिर कृत्वा उत्थानरक्षणार्थं ॥१९७४॥

शाली, महापराक्रमी, महासत्वशाली वे मुनि मृतकके हाथ, पैर या अगूठेको बाँधते या छेदते हैं ॥१९७०॥

ऐसा नही करनेमे दोष कहते हैं—

गा०—यदि यह विधि न की जाये तो कोई मनो-विनोदी देवता मृतकको उठाकर दौड सकता है, क्रीडा कर सकता है, बाधा पहुँचा सकता है और उसे देखकर बालक आदि का चित्त चचल हो सकता है, वे डरकर भाग सकते हैं और उनका मरण भी हो सकता है ॥१९७१॥

क्षपकके उपचारके लिये उपकरणोंके प्रकार बतलाते हैं—

गा०—कुछ उपकरण तो वसतिकामे सम्बद्ध होते हैं। कुछ उपकरण गृहस्थ सम्बन्धी होते हैं। उनमेंसे कुछ त्याज्य होते हैं और कुछ त्यागने योग्य नही हैं ॥१९७२॥

अब आर्यिकाओंकी सन्यास विधि कहते हैं—

गा०—यदि भक्त प्रतिज्ञा मरण करने वाली विख्यात आर्यिका हो या कोई गृहस्था हो या स्थान की रक्षिका हो तो उसके लिये शिविका बनाना चाहिये ॥१९७३॥

गा०—शिविका बनानेके पश्चात् उसके शवको शिविकामे रखकर सस्तरके साथ उसे

---

१ एता टीकाकारा नेच्छति ।

¹पुव्वाभोगिय मग्गेण आसु गच्छंति तं समादाय ।
अट्ठिदमणियत्ता य पिट्ठदो अणिभता ॥१९७५॥

²'पुव्वाभोगियमग्गेण' पूर्वालोकितेन मार्गेण आशु गच्छन्ति तत्समादाय अस्थित अनिवर्तमाना पृष्ठत आलोकन मुक्त्वा ॥१९७५॥

कुसमुट्ठिं घेत्तूण य पुरदो एगेण होइ गतव्वं ।
अट्ठिदअणियत्तेण पिट्ठदो लोयण मुच्चा ॥१९७६॥

'कुसमुट्ठि घेत्तूण' कुशमुष्टिं गृहीत्वा पुरस्तादेकेन गन्तव्य, अस्थित अनिवर्तमानेन अपृष्ठावलोकिना ॥१९७६॥

तेण कुसमुट्ठिधाराए अव्वोच्छिण्णाए समणिपादाए ।
सधारो कादव्वो सव्वत्थ समो सगिं तत्थ ॥१९७७॥

'तेण कुसमुट्ठिधाराए' तेन पुरस्ताद्गतेन पूर्वनिरूपितनिषीधिकास्थाने कुशमुष्टिधारया अव्युच्छिन्नया समनिपातया सवत्र सम सस्तर कार्य सकृत्तत्र ॥१९७७॥

जत्थ ण होज्ज तणाइ चुण्णेहिं वि तत्थ केसरेहिं वा ॥
सधरिदव्वा लेहा सव्वत्थ समा अवुच्छिण्णा ॥१९७८॥

'जत्थ ण होज्ज तणाइ' यत्र न लभ्यन्ते कुशतृणानि तत्र चूर्णैर्वा केसरैर्वा सस्तर कार्य सर्वत्र समोऽव्युच्छिन्न ॥१९७८॥

बाँध देना चाहिये जिससे वह उठ न सके। उसका सिर गाँवकी ओर रहना चाहिये ॥१९७४॥

गा०—उस शिविकाको लेकर पहले देखे हुए मार्गसे शीघ्र जाते हैं। न तो मार्गमें रुकते हैं और न पीछेकी ओर देखते हैं ॥१९७५॥

गा०—उसके आगे एक मुट्ठीमें कुश लेकर कोई मनुष्य जाना चाहिये। उसको भी न तो मार्ग में रुकना चाहिये और न पीछे देखना चाहिये ॥१९७६॥

गा०—उस आगे गये पुरुषको पहलेसे देखे गये निषीधिकाके स्थानमें जाकर लगातार मुट्ठीसे एक समान कुश डालते हुए एक सस्तर बनाना चाहिये जो सर्वत्र सम हो ॥१९७७॥

गा०—जहाँ कुश न मिलते हो वहाँ प्रासुक चावल आदिके चूर्णसे अथवा प्रासुक केसरसे सस्तर बनाना चाहिये जो सर्वत्र सम हो ॥१९७८॥

विशेषार्थ—गाथामें 'लेहा' पाठ है उसका अर्थ रेखा होता है। अत आशाधर जीने उसका यह अर्थ किया है कि चूर्ण या केसरसे मस्तकसे लेकर पैर तक समान रेखा बनाना चाहिये। हमारी समझके अनुसार यह वह क्रिया है जिसे चौक पूरना कहते हैं। जो सर्वत्र शुभ क्रियामें किया जाता है ॥१९७८॥

१–२ पुव्वालोगिय —आ०।

असमत्वे दोषमाचष्टे—

जदि विसमो संथारो उवरिं मज्झे व होज्ज हेट्ठा वा ।
मरणं गिलाणयं वा गणिवसभजदीण णायव्वा ॥१९७९॥

'जदि विसमो संथारो' यदि विषमः संस्तर उपरिष्टात् मध्ये अधस्ताद्वा । उपरिवैषम्ये गणिनो मरणं व्याधिर्वा, मध्ये विषमश्चेत् वृषभस्य मरणं व्याधिर्वा, अधस्ताद्विषमत्वे यतीनां मरणं व्याधिर्वा ॥१९७९॥

जत्तो दिसाए गामो तत्तो सीसं करित्तु सोवधियं ।
उट्ठंतरक्खणट्ठं वोसरिदव्वं सरीरं तं ॥१९८०॥

'जत्तो दिसाए गामो' यस्यां दिशि ग्रामः ततः शिरः कृत्वा सपिच्छकं शरीरं व्युत्स्रष्टव्यं, उत्थानरक्षणार्थं ग्रामाभिगमभिमुखतया शिरोरचना ॥१९८०॥

उपकरणस्थापनायां तत्र गुणमाचष्टे—

जो वि विराधिय दंसणमंते कालं करित्तु होज्ज सुरो ।
सो वि विबुज्झदि दट्ठूण सदेहं सोवधिं सज्जो ॥१९८१॥

'जो वि विराधिय' योऽपि दर्शनं विनाश्यान्ते कालगतस्सुरो भवेत् सोऽपि जानाति सोपकरणं स्वदेहं दृष्ट्वा प्राग्गृहं संयत इति ॥१९८१॥

णत्ता भाए रिक्खे जदि कालगदो सिवं तु [1]सव्वेंसि ।
[2]एक्को दु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते मरंति दुवे ॥१९८२॥

सस्तरेके विषम होनेपर दोष कहते हैं—

गा०—यदि संस्तर ऊपर मध्यमें या नीचे विषम होता है तो ऊपरमें विषम होनेपर आचार्यका मरण या उन्हें रोग होता है। मध्यमें विषम होनेपर एलाचार्यका मरण या उन्हें रोग होता है। और नीचे पैरके पास विषम होनेपर अन्य साधुओंका मरण या उन्हें रोग होता है ॥१९७९॥

विशेषार्थ—आशाधर जी ने लिखा है कि उक्त व्याख्यान टीकाकारोंका है। किन्तु टिप्पणकमें कहा है—ऊपरमें विषम होनेपर गणिका मरण होता है। मध्यमें विषम होनेपर एलाचार्यको रोग होता है और नीचेमें विषम होने पर साधुओंको रोग होता है ॥१९७९॥

गा०—जिस दिशामें ग्राम हो, उस ओर सिर करके पीछीके साथ उस शवको रख देना चाहिये। शवके उठनेके भयमें उसका सिर गाँवकी ओर किया जाता है ॥१९८०॥

उपकरण (पीछी) स्थापित करनेके गुण कहते हैं—

गा०—जो सम्यक्त्वकी विराधना करके मरकर देव होता है वह भी पीछीके साथ अपना शरीर (शव) देखकर ही यह जान लेता है कि मैं भी पूर्वभवमें संयमी था ॥१९८१॥

गा०—अल्पनक्षत्रमें यदि क्षपकका मरण होता है तो सबका कल्याण होता है। यदि

---

१. सव्वेंहि—अ० आ०। २. एक्को दु मो मरिज्ज वत्ते दिवड्ढु मित्ते मरिति दुवो—आ०।

[1]सदभिसभरणा अद्दा सादा असलेस्स जिट्ठ अवरवरा ।
रोहिणिविसाहपुणव्वसु तिउत्तर मज्झिमा सेसा ॥१९८३॥

'तत्ता भागे रिक्खे' अल्पनक्षत्रे यदि क्षपक कालं गत सर्वस्य शिवं भवति, मध्यमनक्षत्रे यदि मृत अन्येष्वेको मृतिमुपैति, महानक्षत्रे यदि मृतो द्वयोर्भवति मरण ॥१९८२–१९८३॥

गणरक्खणत्थ तम्हा तणमयपडिबिंबयं खु कादूण ।
एक्कं तु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते दुवे देज्ज ॥१९८४॥

'गणरक्खणत्थं' गणरक्षणार्थं तस्मात्तृणमय प्रतिबिम्बकं कृत्वा मध्यमनक्षत्रे एकं दद्यात् । उत्तमनक्षत्रे प्रतिबिम्बद्वय ॥१९८४॥

प्रतिबिम्बदानमाचष्टे—

तट्ठाणसावणं चिय तिक्खुत्तो ठविय मडयपासम्मि ।
विदियवियप्पिय भिक्खू कुज्जा तह विदियतदियाण ॥१९८५॥

'तट्ठाणसावण' मृतकपार्श्वे तत्प्रतिबिम्ब स्थाप्य त्रिरुच्चैर्घोषयेत्, तस्मिन्स्थाने द्वितीयोऽर्पित इति एकार्पणेऽयं क्रम । द्वयो प्रतिबिम्बयोरर्पणे द्वितीयतृतीयौ दत्ताविति त्रिः श्रावयेत् ॥१९८५॥

मध्यम नक्षत्रमें मरण होता है तो शेष साधुओंमेंसे एकका मरण होता है। यदि महानक्षत्रमें मरण होता है तो दो का मरण होता है ॥१९८२॥

गा०—शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा ये जघन्य नक्षत्र हैं। रोहिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तरा फाल्गुनी, उत्तरा भाद्रपद, उत्तराषाढा ये उत्कृष्ट नक्षत्र हैं। शेष नक्षत्र मध्यम हैं ॥१९८३॥

विशेषार्थ—प० आशाधर जी ने कहा है, अल्प नक्षत्रसे मतलब है जो पन्द्रह मुहूर्त तक रहते हैं। ऐसे शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा इन छहमेंसे एक नक्षत्र या उसके अंशमें मरण होनेपर सबका कल्याण होता है। जो नक्षत्र तीस मुहूर्त तक रहते हैं ऐसे अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपद, रेवती, इनमेंसे किसी एक नक्षत्र या उसके अंशमें मरण होनेपर एक अन्य मुनिकी भी मृत्यु होती है। जो नक्षत्र पैंतालीस मुहूर्त तक रहते हैं ऐसे उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरा भाद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी, विशाखामेंसे किसी एक नक्षत्र या उसके अंशमें मरण होनेपर दो अन्य मुनियोंकी भी मृत्यु होती है ॥१९८३॥

गा०—इस लिये संघकी रक्षाके अभिप्रायसे तृणोंका पुतला बनाकर यदि मध्यम नक्षत्रमें मरण हुआ है तो उसके साथ एक पुतला देवे। यदि उत्तम नक्षत्रमें मरण हुआ तो उसके साथ दो पुतले देवें ॥१९८४॥

गा०-टी०—मृतकके पासमें उस पुतलेको स्थापित करके तीन बार उच्च स्वरसे घोषणा करे कि मैंने उस दूसरेके स्थानमें यह दूसरा स्थापित किया है। जिसके स्थानमें यह पुतला स्थापित

---

१ एषा गाथा नास्ति 'आ०' प्रतौ ।

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरच्छारिट्टियादिचुण्णेहिं ।
कादव्वोथ ककारो उवरिं हिट्ठा [1]तकारो से ॥१९८६॥

'असदि तणे' प्रतिबिम्बकरणार्थमसति तृणे चूर्णे पुष्पकेसरैर्वा भस्मना इष्टकाचूर्णैर्वा उपरि ककारं लिखित्वा तस्याधस्तात् [2]तकारं कुर्यात् [3]क्त इति लिखेदित्यर्थः ॥१९८६॥

उवगहिदं उवकरणं हवेज्ज जं तत्थ पाडिहरियं तु ।
पडिबोधित्ता सम्मं अप्पेदव्वं तयं तेसिं ॥१९८७॥

'उवगहिद उवकरणं' मृतकशयने यद्गृहीतमुपकरणं वस्त्रकाष्ठादिकं गृहस्थयाञ्चां कृत्वा तत्रोपकरणे यत्प्रतिनिवर्तनीयं वस्त्रादिकं तत्पाडिहारिकमित्युच्यते । तदर्पयितव्यं तेषां गृहस्थानां सम्यक्प्रतिबोध्य ॥१९८७॥

आराधणपत्तीयं काउसग्गं करेदि तो संघो ।
अधिउत्ताए इच्छागारं खवयस्स वसधीए ॥१९८८॥

'आराधणपत्तीयं' आराधनास्माकमित्येवं यथा स्यादिति संघः कायोत्सर्गं करोति, क्षपकस्य वसतौ अधियुक्तदेवतां प्रति इच्छाकारं कायं युष्माकमिच्छया संघोऽत्रासितुमिच्छतीति ॥१९८८॥

सगणत्थे कालगदे खमणमसज्झाइयं च तद्दिवसं ।
[4]सज्झाइ परगणत्थे भयणिज्जं खमणकरणंपि ॥१९८९॥

'सगणत्थे कालगदे' आत्मीयगणस्थे यतौ कालं गते उपवासः कार्यः स्वाध्यायश्च न कर्तव्यस्तस्मिन्

किया है वह चिरकाल तक जीवित रहकर तपस्या करे। यह एक पुतला देनेका विधान है। दो पुतले स्थापित करने पर तीन बार घोषणा करे कि मैंने दूसरा और तीसरा पुतला स्थापित किया है। ये दोनो जिनके बदलेमें स्थापित किये हैं वे दोनो साधु चिरकाल तक जीवित रहकर तप करें ॥१९८५॥

गा०—यदि पुतला बनानेके लिये तृण न हो तो ईंट पत्थर आदिके चूर्णसे अथवा, केसर, क्षार वगैरहमें ऊपर ककार लिखकर उसके नीचे तकार लिखे। इस प्रकार 'क्त' अक्षर लिखे ॥१९८६॥

गा०-टी०—मृतककी शय्याके निर्माणके लिये गृहस्थोंमे जो वस्त्र काष्ठ आदि लिया गया हो, उनमेंसे जो लौटा देने योग्य हो उसे पाडिहारिक कहते हैं। उस पाडिहारिकको गृहस्थोंको सम्यक् रीतिसे समझा बुझाकर लौटा देना चाहिये ॥१९८७॥

गा०—हमें भी इसी प्रकार आराधनाकी प्राप्ति हो इस भावनासे संघ एक कायोत्सर्ग करे। तथा क्षपककी वसतिकाकी जो अधिष्ठात्री देवता हो उससे प्रति इच्छाकार करे कि आपकी इच्छासे संघ इस स्थानपर बैठना चाहता है ॥१९८८॥

गा०-टी०—अपने संघके साधुका स्वर्गवास होनेपर उस दिन उपवास करना चाहिये और

१-२ य कारो आ० मु० । ३ त काय इति –आ० मु० । ४ सज्झाइ –मु० ।

दिने । परगणस्थे काल गते पठन्ति उपवासकरणमपि भाज्य । अन्ये तु पठन्ति, 'ण ज्झाइ परगणत्थे' स्वाध्याय कर्तव्य परगणस्थे मृते उपवासकरणीय भाज्यमिति तेषा व्याख्या ॥१९८९॥

एव पडिट्ठविचा पुणो वि तदियदिवसे उवेक्खंति ।
सघस्स सुहविहार तस्स गदी चेव णादु जे ॥१९९०॥

'एव पडिट्ठवित्ता' उक्तेन क्रमेण क्षपकशरीर प्रतिष्ठाप्य पुनस्तृतीये दिवसे गत्वा पश्यन्ति, सघस्य सुखविहार तस्य च गति ज्ञातु ॥१९९०॥

जदि दिवसे सचिट्ठदि तमणालद्ध च अक्खद मडय ।
तदिवासाणि सुभिक्खं खेमसिव तम्हि रज्जम्मि ॥१९९१॥

'जदि दिवसे' यावन्तो दिवसा न वृकादिभिरस्पृष्टमक्षत च तन्मृतक तदिवासाणि तावन्ति वर्षाणि सुभिक्ष क्षेम शिव च तस्मिन् राज्ये ॥१९९१॥

ज वा दिससुवणीद सरीरयं खगचदुप्पदगणेहिं ।
खेमं सिव सुभिक्ख विहरिज्जो तद्दिस सघो ॥१९९२॥

'ज वा दिससुवणीद' या वा दिशमुपनीत शरीर पक्षिभिश्चतुष्पदैर्वा ता दिश सघो विहरेत् क्षेमादिक तत्र ज्ञात्वा ॥१९९२॥

जदि तस्स उत्तमंगं दिस्सदि दंता च उवरिगिरिसिहरे ।
कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धिं पत्तोत्ति णादव्वो ॥१९९३॥

'जदि तस्स उत्तमग' यदि तस्य शिरो दृश्यते दन्ता वा गिरिशिखरस्योपरि कर्ममलविप्रमुक्त सिद्धिमसौ प्राप्त इति ज्ञातव्य ॥१९९३॥

स्वाध्याय नही करना चाहिये। दूसरे सघके साधुका मरण होनेपर स्वाध्याय तो नही ही करना चाहिये। उपवास कर भी सकते हैं, नही भी करते। अन्य ऐसा पढते हैं कि दूसरे सघके साधुका मरण होनेपर स्वाध्याय करना चाहिये। उपवास कर भी सकते हैं नही भी करते ॥१९८९॥

गा०—उक्त प्रकारसे क्षपकका शरीर स्थापित करके तीसरे दिन जाकर देखते हैं कि सघका विहार सुखपूर्वक होगा या नही। तथा मृतककी गति अच्छी हुई या बुरी ॥१९९०॥

गा०—जितने दिनो तक वह शव गीदड आदिसे सुरक्षित रहता है उतने वर्षो तक उस राज्यमें सुभिक्ष और शान्ति रहती है ॥१९९१॥

गा०—अथवा पक्षी और पशुओंके द्वारा वह शरीर जिस दिशामें ले जाया गया हो क्षेम-सुभिक्ष आदि जानकर उसी दिशामें सघको विहार करना चाहिये ॥१९९२॥

गा०—यदि उसका सिर और दात पर्वतके शिखरके ऊपर दिखाई दे तो वह मुक्तिको प्राप्त हुआ है, ऐसा जानना चाहिये ॥१९९३॥

१ न स्वा –आ० मु० ।

वेमाणिओ थलगदो समम्मि जो दिसि य वाणविंतरओ ।
गड्डाए भवणवासी एस गदी से समासेण ॥१९९४॥

'वेमाणिओ थलगदो' वैमानिको देवो जात उत्तमभूमिस्थे उत्तमाङ्गे, समभूमिदेशे यदि दृश्यते ज्योतिष्को व्यन्तरो जात , गर्त्ते यदि दृश्यते भवनवासी देवो जात , एषा गतिस्तस्य सक्षेपेण निरूपिता । विजहणत्ति सूत्र-पद गत । विजहणा ॥१९९४॥

आराधकस्तवनमुत्तर ते सूरा भगवतो—

ते सूरा भयवंतो आइच्चइदूण सघमज्झम्मि ।
आराधणापडाया चउप्पयारा धिदा जेहिं ॥१९९५॥

'ते सूरा भगवत आइच्चइदूण' प्रतिज्ञा कृत्वा सघमध्ये चतुष्प्रकाराधना पताका यैरागृहीता ॥१९९५॥

ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहिं सव्वेहिं ।
आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहिं सपुण्णा ॥१९९६॥

'ते धण्णा' पुण्यवन्त । ते ज्ञानिन , ते लब्धलाभा , सर्वेभ्यो यैराराधना भगवती सपूर्णा प्रतिपन्ना ॥१९९६॥

किं णाम तेहिं लोगे महाणुभावेहिं हुज्ज ण य पत्त ।
आराधणा भगवदी सयला आराधिदा जेहिं ॥१९९७॥

'किं णाम तेहिं लोगे' किंनाम तैर्लोके महानुभागैरप्राप्त यैराराधिता सकला आराधना भगवती ॥१९९७॥

विशेषार्थ—आशाधरजी ने 'कर्ममल विप्रमुक्त' का अर्थ मिथ्यात्व आदि स्तोक कर्मो से मुक्त किया है। तथा लिखा है कि जयनन्दिके टिप्पणमे 'सिद्धि' का अर्थ सर्वार्थसिद्धि किया है। किन्तु प्राकृतटीकामे सिद्धिका अर्थ निर्वाण किया है ॥१९९३॥

गा०-टी०—यदि मृतकका मस्तक उन्नत भूमिभागमे दिखाई दे तो वह मरकर वैमानिक देव हुआ जानना। यदि सम भूमिभागमे दिखाई दे तो वह ज्योतिष्क देव या व्यन्तर हुआ जानना। यदि गढ्ढेमे दिखाई दे तो वह भवनवासी देव हुआ जानना। इस प्रकार यह उसकी गति सक्षेपमे कही है ॥१९९४॥

आगे आराधक क्षपकका स्तवन करते हैं—

गा०—जिन्होने सघके मध्यमे प्रतिज्ञा करके चार प्रकारकी आराधना रूप पताकाको ग्रहण किया वे शूरवीर और पूज्य हैं ॥१९९५॥

गा०—जिन्होने भगवती आराधनाको सम्पूर्ण किया वे पुण्यशाली और ज्ञानी हैं और उन्होने जो प्राप्त करने योग्य था उसे प्राप्त कर लिया ॥१९९६॥

गा०—जिन्होने सम्पूर्ण भगवती आराधनाका आराधन किया उन महानुभावोने लोकमे क्या प्राप्त नही किया ॥१९९७॥

निर्यापकस्तवनमुत्तरं—

ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स ।
सव्वादरसत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥१९९८॥

'ते वि य महाणुभावा' तेऽपि च महाभागा धन्या यैस्तथा तस्य क्षपकस्य सर्वादरेण शक्त्या च सर्वाराधना उपविहिता ॥१९९८॥

निर्यापकानां फलमाचष्टे—

जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स ।
संपज्जदि णिविग्घा सयला आराधणा तस्स ॥१९९९॥

'जो उवविधेदि' यो ढौकयति सर्वादरेण अन्यस्याराधनां तस्य आराधना सकला निर्विघ्ना संपद्यते ॥१९९९॥

ये क्षपकप्रेक्षणाय यान्ति तानपि स्तौति—

ते वि कदत्था धण्णा य हुंति जे पावकम्ममलहरणे ।
ण्हायंति खवयतित्थे सव्वादरभत्तिसंजुत्ता ॥२०००॥

'ते वि कदत्था' तेऽपि कृतार्था धन्याश्च भवन्ति ये क्षपकतीर्थे पापकर्ममलापहरणे सर्वादराभियुक्ता स्नान्ति ॥२०००॥

क्षपकस्य तीर्थता व्याचष्टे—

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवोधणेहिं जदि उसिदा ।
तित्थं कध ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवउ ॥२००१॥

आगे निर्यापककी प्रशंसा करते हैं—

गा०—वे महानुभाव भी धन्य हैं जिन्होंने सम्पूर्ण आदर और शक्तिसे उस क्षपककी आराधना सम्पन्न की ॥१९९८॥

निर्यापकोंको प्राप्त होनेवाले फलको कहते हैं—

गा०—जो निर्यापक सम्पूर्ण आदरके साथ अन्यकी आराधना कराता है—उसकी समस्त आराधना निर्विघ्न पूर्ण होती है ॥१९९९॥

जो क्षपकको देखने जाते हैं उनकी भी प्रशंसा करते हैं—

गा०-टी०—क्षपक एक तीर्थ है क्योंकि संसारसे पार उतारनेमें निमित्त है। उसमें स्नान करनेमें पापकर्म रूपी मल दूर होता है। अतः जो दर्शक समस्त आदर भक्तिके साथ उस महातीर्थमें स्नान करते हैं वे भी कृतकृत्य होते हैं तथा वे भी सौभाग्यशाली हैं ॥२०००॥

क्षपकके तीर्थ होनेका समर्थन करते हैं—

गा०—यदि तपस्वियोंके द्वारा सेवित पहाड नदी आदि प्रदेश तीर्थ होते हैं तो तपस्यारूप गुणोंकी राशि क्षपक स्वयं तीर्थ क्यों नहीं है ॥२००१॥

'गिरिणदियादिपदेसा' गिरिनद्यादिप्रदेशा यदि तपोधनैरध्युषिताः तीर्थानि तीर्थं स्वयं कथं न भवेत् क्षपकस्तपोगुणराशिः ॥२००१॥

पुव्वरिसीण पडिमाओ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं ।
खवयस्स वंदओ किह पुण्णं विउलं ण पाविज्ज ॥२००२॥

'पुव्वरिसीण पडिमाउ' पूर्वेषां ऋषीणां प्रतिमां वंदमानस्य यदि पुण्यं भवति क्षपके वन्दनोद्यतः कथं विपुलं पुण्यं न प्राप्नुयात् ॥२००२॥

जो ओलग्गदि आराधयं सदा तिव्वभत्तिसंजुत्तो ।
संपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराहणा सयला ॥२००३॥

'जो ओलग्गदि आराधयं' यस्सेवते आराधकं सदा तीव्रभक्तिसंयुक्तः, संपद्यते निर्विघ्ना तस्याप्याराधना सकला ॥२००३॥

सविचारभत्तवोसरणमेवमुववण्णिदं सवित्थारं ।
अविचारभत्तपच्चक्खाणं एत्तो परं वुच्छं ॥२००४॥

'सविचारभत्तवोसरणं' सविचारभक्तप्रत्याख्यानमेवमुपवर्णितं सविस्तरं अविचारभक्तप्रत्याख्यानं अतः परं प्रवक्ष्यामि ॥२००४॥

तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढो ।
अपरक्कम्मस्स मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥२००५॥

'तत्थ अविचारभत्तपदिण्णा' अविचारभक्तप्रत्याख्यानं सहसोपस्थिते मरणे भवति । अपराक्रमस्य यतेः सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य काले असति ॥२००५॥

तत्थ पढमं णिरुद्धं णिरुद्धतरयं तहा हवे विदियं ।
तदियं परमणिरुद्धं एवं तिविधं अवीचारं ॥२००६॥

'तत्थ पढमं णिरुद्धं' तत्र अवीचारभक्तप्रत्याख्याने प्रथमं निरुद्धं, द्वितीयं निरुद्धतरं, तृतीयं परमनिरुद्धं एवं त्रिविधमवीचारभक्तप्रत्याख्यानं ॥२००६॥

गा०—यदि प्राचीन ऋषियोंकी प्रतिमाओंकी वन्दना करनेवालेको पुण्य होता है तो क्षपककी वन्दना करने वालोंको विपुल पुण्य क्यों नहीं प्राप्त होगा ॥२००२॥

गा०—जो तीव्र भक्तिपूर्वक क्षपककी सेवा करता है उसकी भी सम्पूर्ण आराधना सफल होती है ॥२००३॥

गा०—इस प्रकार विस्तारसे विचारपूर्वक किये गये भक्तप्रत्याख्यानका कथन किया। आगे अविचार भक्तप्रत्याख्यानका कथन करते हैं ॥२००४॥

गा०—जब विचार पूर्वक भक्तप्रत्याख्यान करनेका समय न रहे, और सहसा मरण उपस्थित हो जाये तो कुछ करनेमें असमर्थ मुनि अविचार भक्त प्रत्याख्यान स्वीकार करता है ॥२००५॥

गा०—अविचार भक्तप्रत्याख्यानके तीन भेद हैं—प्रथम निरुद्ध, दूसरा निरुद्धतर और तीसरा परमनिरुद्ध ॥२००६॥

निरुद्धमेवभूतस्य भवतीत्याचष्टे—

तस्स णिरुद्धं भणिदं रोगादंकेहिं जो समभिभूदो ।
जघाबलपरिहीणो परगणगमणम्मि ण समत्थो ॥२००७॥

तस्स णिरुद्ध भणिद' तस्य निरुद्धमुक्त रोगेण आतङ्केन वा यस्समभिभूत जङ्घाबलपरिहीना वा परगणगमनासमर्थो य ॥२००७॥

जावय बलविरिय से सो विहरदि ताव णिप्पडीयारो ।
पच्छा विहरदि पडिजग्गिज्जतो तेण सगणेण ॥२००८॥

जावय बलविरिय' यावद्बलवीर्य चास्ति । 'से' तस्य । सो विहरति' स तावद्गणे प्रवर्तते निष्प्रतीकार यदा शक्तिस्तीव्रन्यूना तदा पश्चाद्विहरति तेन स्वगणेन क्रियमाणोपकार ॥२००८॥

इय सण्णिरुद्धमरण भणिय अणिहारिम अवीचार ।
सो चेव जधाजोग्ग पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स ॥२००९॥

'इय सण्णिरुद्धमरण भणिद' एव सन्निरुद्धमरण भणित, जङ्घाबलपरिहीनतया व्याध्यभिभवेन वा स्वस्मिन्गणे निरुद्धो यस्तस्य मरण निरुद्धमरण । अणिहारिम' सविचारभक्तप्रत्याख्यानोक्तपरित्यागाभावात्, परित्यागहीन अनियतविहारादिविधिविचारणाभावादवीचार । आत्मीय एव गणे आचार्यस्य समीपे प्रव्रज्यातीचार उक्त्वा निन्दागर्हापर कृतप्रतिक्रम कृतप्रायश्चित्तो यावद्वीर्यमस्ति तावन्निष्प्रतीकारो विहरति, यदा हीनसर्वचेष्टस्तदा परैरनुगृह्यमाणो विहरति ॥२००९॥

निरुद्ध किसके होता है, यह कहते हैं—

गा०—जो रोगमे ग्रस्त है, पैरोंमे चलनेकी शक्ति न होनेसे दूसरे सघमे जानेमे असमर्थ है उसके निरुद्ध नामक अविचार प्रत्याख्यान होता है ॥२००७॥

गा०—जबतक उसमे शक्ति रहती है तबतक वह अपने सघमे रहते हुए किसीसे परिचर्या नही कराता । पीछे शक्तिहीन होनेपर अपने सघके द्वारा परिचर्या कराता हुआ विहरता है ॥२००८॥

गा०-टी०—पैरोमे चलनेकी शक्ति न होनेसे तथा रोगसे ग्रस्त होनेके कारण जो अपने ही सघमे निरुद्ध है—रुका है उसके मरणको निरुद्धमरण कहते हैं । इस प्रकार निरुद्धमरणका स्वरूप कहा है । सविचार भक्तप्रत्याख्यानमे जिस प्रकार सघ आदिका त्याग किया जाता है वह इसमे सभव न होनेसे यह मरण परित्यागसे रहित है । और इसमे अनियत विहार आदि विधिका विचार न होनेसे यह अवीचार है । अर्थात् अपने ही सघमे आचार्यके समीपमे दीक्षा लेकर उनसे अपने दोष कहकर अपनी निन्दा और गर्हा करता है, प्रतिक्रमण करता है, प्रायश्चित्त लेता है । और जब तक शक्ति रहती है तब तक दूसरेकी सहायताके बिना अपनी आराधना करता है । जब शक्ति अत्यन्त हीन हो जाती है तब दूसरोंसे सहायता लेकर अपनी आराधनाओका पालन करता है ॥२००९॥

दुविधं तं पि अणीहारिमं पगासं च अप्पगासं च ।
जणणादं च पगासं इदरं च जणेण अण्णादं ॥२०१०॥

'दुविधं तं पि अणीहारिम' द्विविधं तदपि अणीहारसंज्ञितं भक्तप्रत्याख्यानं प्रकाशरूपमप्रकाशरूपमिति। ज्ञातं प्रकाशरूपमितरदप्रकाशात्मकं ॥२०१०॥

खवयस्स चित्तसारं खित्तं कालं पडुच्च सजणं वा ।
अण्णम्मि य तारिसयम्मि कारणे अप्पगासं तु ॥२०११॥

'खवयस्स चित्तसारं' क्षपकस्य बुद्धि, बलं, क्षेत्रं, कालं, स्वजनं वा प्रतिपद्य अन्यस्मिन्वा तादृशे कारणे जाते अप्रकाशभक्तप्रत्याख्यानं, यदि क्षपकः क्षुदादिपरीषहासहः, वसतिर्वा अविविक्ता, कालो वा अतिरूक्षो, बधवो वा यदि परित्यागविघ्नं कुर्वन्ति न प्रकाशं कार्यं । निरुद्धं गदं ॥२०११॥

निरुद्धतरं व्याचष्टे—

वालग्गिवग्घमहिसगयरिछपडिणीय तेण मिच्छेहिं ।
मुच्छाविसूचियादीहिं होज्ज सज्जो हु वावत्ती ॥२०१२॥

'वालग्गिवग्घमहिस' व्यालेनाग्निना, व्याघ्रेण, महिषेण, गजेन, ऋक्षेण, शत्रुणा, स्तेनेन, म्लेच्छेन, मूर्च्छया, विसूचिकादिभिर्वा सद्यो व्यापत्तिर्भवेत् ॥२०१२॥

जाव ण वाया खियदि बलं च विरियं च जाव कायम्मि ।
तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खित्तं ॥२०१३॥

'जाव ण वाया खियदि' यावद्वाग्न विनश्यति बलं वीर्यं च यावदस्ति काये तीव्रया वेदनया यावच्चित्तं न व्याक्षिप्तं भवति तावत् ॥२०१३॥

गा०-टी०—वह अनिहार नामक भक्तप्रत्याख्यान, जिसमें अपना संघ नहीं छोड़ा जाता है, और इसीलिये जिसे स्वगणस्थ भी कहा जाता है, दो प्रकार है—एक प्रकाशरूप और दूसरा अप्रकाशरूप। जो लोगोंके द्वारा ज्ञात होता है वह प्रकाशरूप है और जिसकी लोगोंको खबर नहीं होती, वह अप्रकाशरूप है ॥२०१०॥

गा०-टी०—क्षपकके मनोबल, क्षेत्र, काल अथवा स्वजन तथा इस प्रकारके अन्य कारणके होनेपर उसे दृष्टिमें रखकर अप्रकट भक्तप्रत्याख्यान होता है। अर्थात् यदि क्षपक भूख प्यास आदिकी परीषह सहनेमें असमर्थ होता है, या, वसति एकान्तमें नहीं होती, या ग्रीष्म आदि ऋतु होती है या परिवारके लोग विघ्न कर सकते हैं तो समाधिको प्रकट नहीं किया जाता ॥२०११॥

अब निरुद्ध समाधिकी विधि कहते हैं—

गा०—सर्प, आग, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूर्छा या विसूचिका आदि रोगसे तत्काल यदि मरण उपस्थित हो ॥२०१२॥

गा०—तो जब तक बोली बन्द न हो, जब तक शरीरमें बल और शक्ति रहे, और जब तक तीव्र वेदनाके कारण चित्त व्याकुल न हो ॥२०१३॥

णच्चा संवट्टिज्जंतमाउग सिग्घमेव तो भिक्खू ।
गणियादीण सण्णिहिदाण आलोचए सम्म ॥२०१४॥

णच्चा सवट्टिज्जत आउग' ज्ञात्वा सह्रियमाणमायु शीघ्रमेव ततो भिक्षुराचार्यादीना सन्निहितानामालोचना सम्यक् कुर्यात् रत्नत्रयाराधनाया परिणत । व्युत्सृजेत् वसति, सस्तरमाहारमुपधि शरीर परिचारकान्, बलवीर्य हाने परगणगमनासमर्था [1]निरुद्धा प्रदता प्रकर्षेण निरुद्धतरक इत्युच्यते ॥२०१४॥

एव णिरुद्धदरय विदिय अणिहारिम अवीचार ।
सो चेव जधाजोग पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स ॥२०१५॥

स्पष्टार्थगाथा । निरुद्धर ॥२०१५॥

वालादिएहिं जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ।
तइया परमणिरुद्ध भणिद मरण अवीचार ॥२०१६॥

'वालादिएहिं' व्यालादिभि पूर्वोक्तै यदोपहृतस्य वाग्विनष्टा तदा परमनिरुद्धमरण । वाग्निरोधोऽत्र परमशब्देनोच्यते ॥२०१६॥

णच्चा सवट्टिज्जतमाउग सिग्घमेव तो भिक्खू ।
अरहतसिद्धसाहूण अतिग सिग्घमालोचे ॥२०१७॥

'णच्चा सविट्टिज्जत आउग' ज्ञात्वोपसन्ह्रियमाणमायु अर्हता सिद्धाना साधूना चान्तिके शीघ्रमालोचना कुर्यात ॥२०१७॥

गा०—साधु, अपनी आयुको शीघ्र ही समाप्त होती हुई जानकर जो निकटवर्ती आचार्य आदि हों, उनके सन्मुख अपने दोषोकी सम्यक्रूपसे आलोचना करे। तथा रत्नत्रयकी आराधनामे तत्पर होता हुआ वसति, सस्तर, आहार, उपधि, शरीर और परिचारकोंसे ममत्वका त्याग कर दे। वल और वीर्यके क्षीण होनेसे जिनके प्रदेश अन्य सघमे जानेमे अत्यन्त असमर्थ होते हैं उन्हे निरुद्धतरक कहते हैं ॥२०१४॥

गा०—इस प्रकार विहार रहित अत्यन्त निरोध रूप अविचार भक्तप्रत्याख्यानके दूसरे भेद निरुद्धतरका कथन किया। पूर्वमे भक्त प्रत्याख्यानको जो विधि कही है वही विधि यथायोग्य यहाँ भी जानना ॥२०१५॥

गा०—जब पूर्वोक्त सर्प आदिसे डसे जानेके कारण क्षपककी वाणी नष्ट हो जाती है, वह बोल नही सकता तब उसके परम निरुद्ध नामक अविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है। यहाँ परम शब्दसे वाणीका रुकना कहा है ॥२०१६॥

गा०—तब वह साधु शीघ्र ही अपनी आयुको समाप्त होती हुई जान अर्हन्तो, सिद्धो और साधुजनोंके पासमे तत्काल आलोचना करे ॥२०१७॥

---

१ द्धा प्रदेशा प्रकर्षेण निरुद्ध इति निरुद्धतरक इत्युच्यते –अ० ।

आराधणाविधी जो पुव्वं उववण्णिदो सवित्थारो ।
सो चेव जुज्जमाणो एत्थ विद्दी होदि णादव्वो ॥२०१८॥

'आराधणाविधी' आराधनाया विधिर्यः पूर्वं विस्तारो व्यावर्णितः स एवात्रापि युज्यमानो ज्ञातव्यः ॥२०१८॥

एव आसुक्कारमरणे वि सिज्झंति केइ धुदकम्मा ।
आराधयित्तु केई देवा वेमाणिया होंति ॥२०१९॥

'एव आसुक्कारमरणे वि' एव सहसा मरणेऽपि सिध्यन्ति विधुतकर्मसहतयः । केचिदाराध्य वैमानिका देवा भवन्ति ॥२०१९॥

आराधणाए तत्थ दु कालस्स बहुत्तण ण हु पमाण ।
बहवो मुहुत्तमत्ता ससारमहण्णव तिण्णा ॥२०२०॥

कथमल्पेन कालेन निर्वृ तिर्निर्वाह्येत्याशङ्का न कार्येति वदति—'आराधणाए तत्थ दु', तस्यामाराधनाया कालस्य बहुत्व न प्रमाण । बहवो मुहूर्तमात्रेणाराध्य ससारमहार्णव तीर्णाः ॥२०२०॥

खणमेत्तेण अणादियमिच्छादिट्ठी वि वद्धणो राया ।
उसहस्स पादमूले सबुज्झित्ता गदो सिद्धिं ॥२०२१॥

'खणमेत्तेण' क्षणमात्रेणानादिमिथ्यादृष्टिरपि वर्द्धननामधेयो राजा ऋषभस्य पादमूले सबुद्धो गत सिद्धिं ॥२०२१॥

[1]सोलसतित्थयराण तित्थुप्पण्णस्स पढमदिवसम्मि ।
सामण्णणाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण सपण्णा ॥२०२२॥

परमनिबद्ध ॥२०२२॥

गा०—पूर्वमें जो आराधनाकी विधि विस्तार पूर्वक कही है वही यहाँ भी यथायोग्य जानना ॥२०१८॥

गा०—इस प्रकार सहसा मरण होनेपर भी कोई-कोई मुनि कर्मोको नाश करके मुक्त होते हैं और कोई आराधना करके वैमानिक देव होते हैं ॥२०१९॥

गा०—थोडे ही समयमे मोक्ष कैसे हो सकता है ऐसी आशका नही करनी चाहिये, क्योंकि आराधनामे कालका बहुतपना प्रमाण नही है । बहुतसे मुनि एक मुहूर्त मात्रमे आराधना करके ससारसमुद्रको पार कर गये हैं ॥२०२०॥

गा०—अनादि मिथ्यादृष्टि भी वर्द्धन नामका राजा भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमे बोध को प्राप्त होकर मोक्षको गया ॥२०२१॥

गा०—भगवान् ऋषभदेवसे शान्तिनाथ तीर्थंकर पर्यन्त सोलह तीर्थंकरोंके तीर्थकी उत्पत्ति होनेके प्रथम दिन ही बहुतसे साधु दीक्षा लेकर एक अन्तर्मुहूर्तमे केवलज्ञानको प्राप्तकर मुक्त हुए ॥२०२२॥

---

१ एता टीकाकारो नेच्छति ।

एसा भत्तपइण्णा वाससमासेण वण्णिदा विधिणा ।
इत्तो इंगिणिमरणं वाससमासेण वण्णेसिं ॥२०२३॥

'एसा भत्तपदिण्णा' एतद्भक्तप्रत्याख्यानं व्यासेन संक्षेपेण च वर्णितं । अत ऊर्ध्वं सान्यासिकमिंगिणीमरणं व्याससमासाभ्यां वर्णयिष्यामि ॥२०२३॥

जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो वण्णिदो सवित्थारो ।
सो चेव जधाजोग्गं उवक्कमो इंगिणीए वि ॥२०२४॥

'जो भत्तपदिण्णाए' यो भक्तप्रत्याख्यानस्य उपक्रमो व्यावर्णितः सविस्तारः स एव यथासंभवमुपक्रमो इंगिणीमरणेऽपि ॥२०२४॥

पव्वज्जाए सुद्धो उवसंपज्जित्तु लिंगकप्पं च ।
पवयणमोगाहित्ता विणयसमाधीए विहरित्ता ॥२०२५॥

'पव्वज्जाए सुद्धो' प्रव्रज्याया शुद्धो दीक्षाग्रहणयोग्य इत्यर्थः । एतेन अर्हत्ता निरूपिता । 'उवसंपज्जित्तु' प्रतिपद्य । 'लिंगकप्पं च' योग्यं लिङ्गं 'लिंग' इत्यनेन सूचितम् । 'पवयणमोगाहित्ता' श्रुतमवगाह्य एतेन शिक्षा उपन्यस्ता । 'विणयसमाधीए विहरित्ता' विनयसमाधौ विहृत्य ॥२०२५॥

णिप्पादित्ता सगणं इंगिणिविधिसाधणाए परिणमिया ।
सिदिमारुहित्तु भाविय अप्पाणं सल्लिहित्ताण ॥२०२६॥

'णिप्पादित्ता सगणं' योग्यं कृत्वा स्वगणं । इंगिणीविधिसाधनाय परिणतो भूत्वा, 'सिदिमारुहित्तु' परिणामश्रेणिमारुह्य । 'भाविय' भावना प्रतिपद्य । 'अप्पाणं सल्लिहित्ताण' आत्मानं सल्लेख्य ॥२०२६॥

गा०—इस भक्तप्रत्याख्यानका विस्तार और संक्षेपसे विधिपूर्वक कथन किया। आगे इंगिनीमरण का विस्तार और संक्षेपसे वर्णन करेंगे ॥२०२३॥

गा०—जो भक्त प्रत्याख्यानकी विधि विस्तारसे कही है वही विधि इंगिनीमरणकी यथायोग्य जाननी चाहिये ॥२०२४॥

वही विधि कहते हैं—

गा०—जो दीक्षा ग्रहणके योग्य है वह निर्ग्रन्थ लिंग धारण करके श्रुतका अभ्यास करे तथा विनय और समाधिमें विहार करे ॥२०२५॥

विशेषार्थ—दीक्षा ग्रहण योग्यसे अर्हताका कथन किया है, लिंगसे लिंगकी सूचना की है। और श्रुताभ्याससे शिक्षाका ग्रहण किया है। इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यानमें जो कहा था उसीको यहाँ कहा है ॥२०२५॥

गा०—अपने संघको इंगिणीमरणकी विधिकी साधनामें योग्य करके अपने चित्तमें यह निश्चय करे कि मैं इंगिणीमरणकी साधना करूँगा। फिर शुभ परिणामोंकी श्रेणि पर आरोहण करके तप आदिकी भावना करे और अपने शरीर और कषायोंको कृश करे ॥२०२६॥

परियाइगमालोचिय अणुजाणित्ता दिस महज्जणस्स ।
तिविधेण खमावित्ता सबालवुड्ढाउलं गच्छं ॥२०२७॥

'परियाइगमालोचिय' क्रमेण रत्नत्रयाचारमालोच्य । 'अणुजाणित्ता' अनुज्ञाय । 'दिस' गणधरं । 'महज्जणस्स' महाजनस्य चतुर्विधसंघस्येत्यर्थः । तिविधेण खमावित्ता' त्रिविधेन क्षमां ग्राहयित्वा । सबाल-वृद्धाकुलं गच्छं ॥२०२७॥

अणुसट्ठिं दादूण य जावज्जीवाय विप्पओगच्छी ।
अब्भुदिगजादहासो णीदि गणादो गुणसमग्गो ॥२०२८॥

'अणुसट्ठिं दादूण य' शिक्षां दत्वा गणपतेर्गणस्य च । 'जावज्जीवाय विप्पओगच्छी' यावज्जीवं विप्र-योगार्थी । 'अब्भुदिगजादहासो' कृतार्थोऽस्मीति आवहष । णीदि गणादो' निर्याति यतिगणात् । 'गुणसमग्गो' संपूर्णगुणः ॥२०२८॥

एवं च णिक्कमित्ता अंतो बाहिं च थंडिले जोगे ।
पुढवीसिलामए वा अप्पाणं णिज्जवे एक्को ॥२०२९॥

'एवं च णिक्कमित्ता' एवं विनिष्क्रम्य । 'थंडिले जोगे' समे समुन्नते कठिने जीवरहिततया योग्ये । 'अंतो बाहिं च' अंतर्बहिर्वा । 'पुढवीसिलामए वा' पृथ्वीसंस्तरे शिलामये वा । 'अप्पाणं णिज्जवे एक्को' आत्मानं निर्जयेद् देहसहाय[1] ॥२०२९॥

पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थंडिलम्मि पुव्वुत्ते ।
जदणाए संथरित्ता उत्तरसिरमधव पुव्वसिरं ॥२०३०॥

'पुव्वुत्ताणि तणाणि य' पूर्वोक्तानि तृणानि निःसंधि निःछिद्रजंतुरहितानि शरीरस्थितिसाधनमा-त्राणि मृदूनि प्रतिलेखनायोग्यानि ग्रामं नगरं वा प्रविश्य याञ्चया गृहीतानि पूर्वोक्ते स्थण्डिले कोऽसौ साक्षात्

गा०—रत्नत्रयमें लगे दोषोंकी क्रमसे आलोचना करे और अपने स्थान पर अन्य आचार्य-की स्थापना करके उन्हें सब बतला दे। तथा चतुर्विध वृद्ध मुनियोंसे भरे अपने गच्छको शिक्षा देकर जीवनपर्यन्तके लिये संघसे अलग होनेकी इच्छा करता हुआ प्रसन्न होता है कि मैं कृतार्थ हुआ और इस प्रकार वह सम्पूर्ण गुणोंसे विशिष्ट होकर मुनिसंघसे चला जाता है ॥२०२७-२८॥

गा०—इस प्रकार संघसे निकलकर गुफा आदिके अन्दर या बाहर जीवरहित तथा समान रूपसे ऊँचे कठिन भूमिप्रदेशमें पृथ्वीरूप सस्तर पर या शिलामय सस्तर पर एकाकी आश्रय लेता है। अपने शरीरके सिवाय उसका अन्य कोई सहायक नहीं होता ॥२०२९॥

गा०-टी०—वह गाँव या नगरमें जाकर तृणोंकी याचना करता है जो तृण छिद्ररहित, जन्तुरहित, कोमल तथा शरीरकी स्थितिके लिये साधन मात्र और प्रतिलेखनाके योग्य होने चाहियें उन तृणोंको वह उक्त भूमि प्रदेश पर प्रतिलेखनापूर्वक सावधानतासे पृथक्-पृथक् करके

१ देहसहाय आ० मु० ।

विस्तीर्णो विध्वस्त अमुपिरोऽविल निर्जन्तुवस्त्रस्मिन्स्थण्डिले । 'जदणाए सर्थरित्ता' यत्नेन सस्तर कृत्वा यत्न ? तृणाना पृथक्करण मस्तरभूमिप्रतिलेखन, 'उत्तरसिरमधव पुव्वसिर सथार सर्थरित्ता य' पूर्वात्तमाङ्गमुतरोत्तमाङ्ग वा स्स्तर मस्तीर्य सिर प्रभृति काय पादौ च यत्नेन प्रमार्ज्य ॥२०३०॥

पाचीणाभिमुहो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा ।
सीसे कदञ्जलिपुडो भावेण विसुद्धलेस्सेण ॥२०३१॥

'पाचीणाभिमुहो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा' प्राङ्मुखो उदङ्मुखो वा भूत्वा तत्र मस्तरे सस्थित्वा । 'सीसे कदञ्जलिपुडो' मस्तके न्यस्तहस्ताञ्जलि । 'भावेण विसुद्धलेस्सेण' विशुद्धलेश्यासमन्वितेन भावेन ॥२०३१॥

अरहादिअतिग तो किच्चा आलोचण सुपरिसुद्ध ।
दसणणाणचरित्त परिसारेदूण णिस्सेस ॥२०३२॥

'अरहादिअतिय' अ 'दायन्तिर । 'सो' पश्चात् आलोचना कृत्वा सुपरिसुद्ध दसणणाणचरित्त पडिसारेदूण' दर्शनज्ञानचारित्राणि मस्कृत्य निरवशेष ॥२०३२॥

सव्व आहारविधिं जावज्जीवाय वोसरित्ताण ।
वोसरिदूण असेस अब्भतरबाहिरे गंथे ॥२०३३॥

सर्व आहारविधि सव आहारविकल्प । यावज्जीव परित्यज्य बाह्याभ्यन्तरानशेषान् परिग्रहाश्च त्यक्त्वा ॥२०३३॥

सव्वे विणिज्जिणतो परीपहे धिदिबलेण सजुत्तो ।
लेस्साए विसुज्झतो धम्म ज्झाण उवणमित्ता ॥२०३४॥

सव्वे विणिज्जिणतो' सर्वाश्च जयन् परिपहान् धृतिबलसमन्वित लेश्याभिर्विशुद्ध सन् धर्मध्यान प्रतिपद्य ॥२०३४॥

फैला देता है। वह भूमिप्रदेश भी प्रकाश सहित, विस्तीर्ण, छिद्ररहित तथा जन्तुरहित होना चाहिये। उसपर सस्तर ऐसा होना चाहिये जिसमे सिर पूर्वदिशा या उत्तर दिशाकी ओर रहे। सब सिरसे लेकर पैर तक शरीरको सावधानीसे परिमार्जन करके पूरब या उत्तरको ओर मुख करके उस सस्तर पर बैठता है और हाथोकी अजली बनाकर मस्तकसे लगाता है तथा विशुद्ध लेश्या पूर्वक अर्हन्त आदिके सामने अपने दोषोकी आलोचना करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को पूर्ण रूपसे निर्मल करता है ॥२०३०-२०३२॥

गा०—समस्त प्रकारके आहारके विकल्पको जीवनपर्यन्तके लिये त्याग देता है तथा समस्त अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रहको त्याग देता है ॥२०३३॥

गा०—धैर्यके बलसे युक्त वह क्षपक सब परीषहोको जीतता है और लेश्या विशुद्धिसे सम्पन्न हो, धर्मध्यान करता है ॥२०३४॥

ठिच्चा णिसिदिचा वा तुवट्टिदूण व सकायपडिचरणं ।
सयमेव णिरुवसग्गे कुणदि विहारम्मि सो भयवं ॥२०३५॥
सयमेव अप्पणो सो करेदि आउंटणादि किरियाओ ।
उच्चारादीणि तधा सयमेव विकिंचिदे विधिणा ॥२०३६॥
जाधे पुण उवसग्गा देवा माणुस्सिया व तेरिच्छा ।
ताधे णिप्पडियम्मो ते अधियासेदि विगदभओ ॥२०३७॥
आदितियसुसघडणो सुभसंठाणो अभिज्जधिदिकवचो ।
जिदकरणो जिदणिद्दो ओघबलो ओघसूरो य ॥२०३८॥

'ठिच्चा' स्थित्वा आसित्वा शयनं वा कृत्वा स्वकायपरिकरं स्वयमेव निरुपसर्गे विहारे करोति । स्वमेवात्मनः करोत्याकुञ्चनादिकाः क्रिया उच्चारादिकं च निराकरोति प्रतिष्ठापनासमितिसमन्वितः । यदि पुण उवसग्गा' यदा पुनरुपसर्गा देवमनुष्यतिर्यक्कृता भवन्ति तदा निष्प्रतीकारस्तान् सहते विगतभयः । 'आदितिगसुसघडणो' आद्येषु त्रिषु संहननेषु अन्यतमसंहननः शुभसंस्थानोऽभेद्यधृतिकवचो जितकरणो जितनिद्रो महाबलो नितरां शूरः ॥२०३५-२०३८॥

बीभत्थभीमदरिसणविगुव्विदा भूदरक्खसपिसाया ।
खोभिज्जो जाद वि तयं तधवि ण सो संभमं कुणइ ॥२०३९॥

'बीभत्थभीमदसणविगुव्विदा' बीभत्सभीमदर्शनविक्रिया भूतराक्षसपिशाचा यद्यपि क्षोभं कुर्वन्ति तथाप्यसौ न संभ्रमं करोति ॥२०३९॥

इड्ढिमतुलं विउव्विय किण्णरकिंपुरिसदेवकण्णाओ ।
[1]लोलंति जदिवि तगं तधवि ण सो विम्मयं जाई ॥२४०॥

गा०—वह कायोत्सर्गसे स्थित होकर अथवा पर्यङ्कासन आदिसे बैठकर अथवा एक पार्श्वसे शयन करते हुए धर्मध्यान करता है। तथा उपसर्गरहित दशामें स्वयं ही अपने शरीरकी परिचर्या—हाथ-पैरोंका सकोचन, फैलाना आदि करता है। स्वयं ही प्रतिष्ठापना समितिपूर्वक शौच आदि करता है॥ यदि देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यञ्चकृत उपसर्ग होता है तो उसका प्रतिकार नहीं करता है और निर्भय होकर उसे सहन करता है॥ क्योंकि उसके आदिके वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच नामक तीन शुभ सहननोंमेंसे कोई एक सहनन होता है, समचतुरस्र संस्थान होता है। न भेदने योग्य धैर्यरूपी कवच होता है। वह इन्द्रियों और निद्रा पर विजय प्राप्त करता है। महाबली और शूरवीर होता है ॥२०३५-३८॥

गा०—यदि अत्यन्त भयंकर विक्रियाके द्वारा भूत, राक्षस और पिशाच जातिके व्यन्तरदेव उसे डरावें तो भी वह विचलित नहीं होता ॥२०३९॥

१ लालेंति—मूलारा०।

'इड्ढिमतुल विगुव्विय' ऋद्धिमतुलां विकृत्य किन्नरकिंपुरुषादिदेवकन्या यद्यप्युपलालनं कुर्वन्ति तदाप्यसौ न विस्मयं याति ॥२०४०॥

सव्वो पोग्गलकाओ दुक्खत्ताए जदिवि तमुवणमेज्ज ।
तधवि य तस्स ण जायदि ज्झाणस्स विसोत्तिया को वि ॥२०४१॥

'सव्वो पोग्गलकाओ' सर्वं पुद्गलद्रव्यं दुःखतया यदि तमभिहन्ति तथापि तस्य न जायते ध्यानस्यान्यथावृत्तिः ॥२०४१॥

सव्वो पोग्गलकाओ सोक्खत्ताए जदि वि तमुवणमेज्ज ।
तध वि हु तस्स ण जायदि ज्झाणस्स विसोत्तिया को वि ॥२०४२॥

स्पष्टोत्तरगाथा ॥२०४२॥

सच्चित्ते साहरिदो तत्थ उवेक्खदि वियत्तसव्वंगो ।
उवसग्गे य पसंते जदणाए थंडिलमुवेदि ॥२०४३॥

'सच्चित्ते साहरिदो' व्याघ्रादिभिः सचित्ते निक्षिप्तः स तत्रैवोपेक्षते त्यक्तसर्वाङ्गः । उपसर्गे प्रशान्ते यत्नेन स्थण्डिलमुपैति ॥२०४३॥

एवं उवसग्गविधि परीसहविधि च सोधिया संतो ।
मणवयणकायगुत्तो सुणिच्छिदो णिज्जिदकसाओ ॥२०४४॥

'एवं उवसग्गविधि' एवमुपसर्गान् परिषहांश्च सहमानस्त्रिगुप्तः सुनिश्चितो निर्जितकषायः ॥२०४४॥

इहलोए परलोए जीविदमरणे सुहे य दुक्खे य ।
णिप्पडिबद्धो विरहदि जिददुक्खपरिस्समो धिदिम ॥२०४५॥

गा०—किन्नर किंपुरुष जातिके व्यन्तर देवोंकी देवांगनाएँ अतुल ऋद्धिरूप विक्रियाके द्वारा यदि उसे लुभाती हैं तो भी वह उनके लोभमें नहीं आता ॥२०४०॥

गा०—यदि तीन लोकवर्ती समस्त पुद्गल द्रव्य दुःखरूप परिणत होकर उसे दुःखी करें तब भी वह ध्यानसे विचलित नहीं होता ॥२०४१॥

गा०—तथा तीन लोकवर्ती समस्त पुद्गलद्रव्य सुखरूप परिणत होकर उसे सुखी करें तब भी वह ध्यानसे विचलित नहीं होता ॥२०४२॥

गा०—यदि व्याघ्र आदिके द्वारा वह हरित तृणोंसे भरे हुए प्रदेशमें डाल दिया जाता है तो अपने शरीरका मोहत्याग शान्तभावसे वहीं स्थिर रहता है और उपसर्ग दूर होनेपर सावधानता पूर्वक तृणरहित भूमिप्रदेशमें चला जाता है ॥२०४३॥

गा०—इस प्रकार उपसर्गों और परीषहोंको सहन करते हुए वह मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्तिका पालन करता है । तथा स्थिरतापूर्वक कषायोंको जीतता है ॥२०४४॥

गा०—दुःख और परिश्रमपर विजय प्राप्त करने वाला वह धीर वीर क्षपक इस लोक,

'इहलोगे परलोगे' इह परत्र च जीविते मरणे सुखे दुःखे च अप्रतिबन्धो विहरति जितदु सपरिश्रम धृतिमान् ॥२०४५॥

वायणपरियट्टणपुच्छणाओ मोत्तूण तधय धम्मथुदिं ।
सुत्तत्थपोरिसीसु वि सरेदि सुत्तत्थमेयमणो ॥२०४६॥

'वायणपरियट्टणपुच्छणाओ' वाचना, परिवर्तन, प्रश्न च मुक्त्वा च तथा धर्मोपदेश सूत्रस्यार्थस्य वा स्मरत्येकचित्त ॥२०४६॥

एव अट्ठवि जामे अनुवट्टो तच्च ज्झादि एयमणो ।
जदि आघच्चा णिद्दा हविज्ज सो तत्थ अपदिण्णो ॥२०४७॥

'एव अट्ठवि जामे' एवमेवाष्टसु यामेषु निरन्तरशयनक्रियो ध्यायेकचित्त, यद्याहत्य निद्रा भवेत तत्र अप्रतिज्ञोऽसौ ॥२०४७॥

सज्झायकालपडिलेहणादिकाओ ण मति किरियाओ ।
जम्हा ममाणमज्झे तस्स य झाण अपडिसिद्ध ॥२०४८॥

'सज्झायका पडिलेहणादिकाओ' स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिका क्रिया न सन्ति यस्मात् श्मशानमध्येऽपि तस्य ध्यान न प्रतिषिद्ध ॥२०४८॥

आवासग च कुणदे उवधोकालम्मि जं जहिं कमदि ।
उवकरणपि पडिलिहइ उवघोकालम्मि जदणाए ॥२०४९॥

'आवासग च कुणदे' आवश्यक च करोति कालद्वयेऽपि यस्मिन्काले प्रवर्तते, उपकरणप्रतिलेखनमपि यत्नेन कालद्वये करोति ॥२०४९॥

परलोक, जीवन, मरण, सुख और दुःखमे रागद्वेष रहित होकर विहरता है अर्थात् न जीवन आदिसे राग करता है और मरण आदिसे द्वेष करता है ॥२०४५॥

गा०—स्वाध्यायके पाँच भेदोमेसे वाचना, आम्नाय, पृच्छना और धर्मोपदेशको त्यागकर वह अस्वाध्यायकालमे भी एकाग्रमनसे सूत्रके अर्थका ही अनुचिन्तन करता है। अर्थात् सतत अनुप्रेक्षारूप स्वाध्यायमे ही लीन रहता है ॥२०४६॥

गा०—इस प्रकार वह दिन रातके आठो पहरोमे निद्राको त्यागकर एकाग्र मनसे ध्यान करता है। यदि कभी बलात् निद्रा आ जाती है तो सो लेता है ॥२०४७॥

गा०—अन्य मुनियोकी तरह न तो उनका स्वाध्यायकाल ही नियत होता है और न उन्हे प्रतिलेखना आदि क्रिया करना ही आवश्यक होता है। उनके लिये श्मशानमे भी ध्यान करना निषिद्ध नही है ॥२०४८॥

गा०—किन्तु दिन रातमे जब जो आवश्यक करनेका विधान है वह अवश्य करते हैं और सावधानता पूर्वक दोनो कालोमे अपने उपकरणोकी प्रतिलेखना भी करते हैं ॥२०४९॥

महसा चुक्करकलिदे णिसीधियादीसु मिच्छकारे सो ।
आसिअणिसीधियाओ णिग्गमणपवेसणे कुणइ ॥२०५०॥

'सहसा चुक्करकलिदे' सहसा स्खलने जाते मिथ्या मया कृतमिति ब्रवीति, निष्क्रमणप्रवेशयो आसिकानिषीधिकाशब्दप्रयोग करोति ॥२०५०॥

पादे कटयमादि अच्छिम्मि रजादिय जदाविज्ज ।
गच्छदि अधाविधिं सो परणीहरणे य तुण्हिक्को[1] ॥२०५१॥

'पादे कटयमादि' पादयो कटकप्रवेशे नेत्रयो रज प्रभृतिप्रवेशेऽपि तूष्णीमास्ते, परनिराकरणेऽपि स तूष्णीमास्ते ॥२०५१॥

वेउव्वणमाहारयचारणखीरासवादिलद्धीसु ।
तवमा उप्पण्णासु वि विरागभावेण सेवदि सो ॥२०५२॥

'वेउव्वणमाहारय' विक्रियाऋद्धौ आहारकऋद्धौ चारणऋद्धौ क्षीरास्रवादिलब्धिषु वा तपसोत्पन्नास्वपि विरागतया न किंचित्सेवते स ॥२०५२॥

मोणाभिग्गहणिरदो रोगादंकादिवेदणाहेदु ।
ण कुणदि पडिकार सो तहेव तण्हाछुहादीण ॥२०५३॥

'मोणाभिग्गहणिरदो' मौनव्रतोपपन्न रोगातङ्कादिवेदनानिमित्त प्रतीकार न करोति तथैव तृडादीनामपि ॥२०५३॥

उवएसो पुण आइरियाण इगिणिगदो वि छिण्णकधो ।
देवेहि माणुसेहिं व पुट्ठो धम्म कधेदित्ति ॥२०५४॥

गा०—यदि उसमे क्वचित् चूक जाते हैं तो 'मेरा दोष मिथ्या हो' 'मैंने गलत किया' ऐसा बोलते हैं। तथा बाहर जाने और भीतर प्रवेश करनेपर 'आसही, निसही' शब्दोका उच्चारण भी करते हैं ॥२०५०॥

गा०—यदि पैरमें कांटा घुस जाता है या आंखमें धूल आदि चली जाती है तो चुप रहते हैं स्वय उसे दूर नही करते। यदि दूसरा दूर करता है तब भी चुप ही रहते हैं ॥२०५१॥

गा०—यदि तपके प्रभावसे उन्हे विक्रिया ऋद्धि, आहारक ऋद्धि या चारण ऋद्धि अथवा क्षीरास्रव आदि ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं तो विरागी होनेसे उनका किञ्चित् भी सेवन नही करते ॥२०५२॥

गा०—वह मौनका पालन करनेमे लीन रहते है, रोग आदिमे होनेवाले कष्टको दूर करनेका प्रयत्न नही करते। इसी प्रकार भूख प्यास आदिका भी प्रतीकार नही करते ॥२०५३॥

---

१ तुण्हिणीओ —मु०।

'उवएसो पुण आइरियाण' उपदेश पुन आचार्याणा इङ्गिणीगतोऽपि धर्म कथयति देवैर्मनुष्यैर्वा पृष्ट । कथ कथयति छिन्नत्रथ प्रवर्तनेन महता ॥२०५४॥

एवमधक्खादविधि साधित्ता इंगिणीं धुदकिलेसा ।
सिज्झंति केइ केई हवंति देवा विमाणेसु ॥२०५५॥

'एवमधक्खादविधि' एव यथाख्यातक्रमेण इङ्गिणी प्रसाध्य निरस्तक्लेशा केचित्सिध्यन्ति, केचिद्वैमानिक-देवा भवन्ति ॥२०५५॥

एद इंगिणिमरण वासममासेण वण्णिद विधिणा ।
पाओगमरणमित्तो समासदो चेव वण्णेमि ॥२०५६॥

स्पष्टार्था गाथा । इङ्गिणी ॥२०५६॥

पाओवगमणमरणस्स होदि सो चेव उवक्कमो सव्वो ।
वुत्तो इंगिणिमरणस्सुक्कमो जो सवित्थारो ॥२०५७॥

स्पष्टार्थं ॥२०५७॥

णवरिं तणसथारो पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो ।
आदपरपओगेण य पडिसिद्ध सव्वपरियम्म ॥२०५८॥

'णवरिं तणसथारो' णवर तृणसस्तर प्रायोपगमनगतस्य प्रतिषिद्ध, आत्मपरप्रयोगेण यस्मात्प्रतिषिद्ध सर्व प्रतीकार । स्वपरसपाद्यप्रतीकारापेक्ष भक्तप्रत्याख्यानविधि, परनिरपेक्षमात्मसपाद्यप्रतीकारमिंगिणी-मरण, सर्वप्रतीकाररहित प्रायोपगमनमित्यमीषा भेद ॥२०५८॥

गा०—अन्य आचार्यो का मत है कि इगिणीमरण करते हुए भी क्षपक देवो या मनुष्योंके द्वारा पूछे जानेपर थोडासा धर्मोपदेश भी करता है किन्तु अधिक नही करता ॥२०५४॥

गा०—इस तरह ऊपर कहे अनुसार इगिणीमरणकी साधना करके कोई तो समस्त क्लेशोसे छूटकर मुक्त हो जाते है और कोई मरकर वैमानिकदेव होते हैं ॥२०५५॥

गा०—इस इगिणीमरणका विस्तार और सक्षेपसे विधिपूर्वक कथन किया । आगे प्रायोप-गमनका सक्षेपसे कथन करेंगे ॥२०५६॥

गा०—ऊपर इगिणीमरणकी जो विस्तारसे विधि कही है वही सब विधि प्रायोपगमन मरणकी होती है ॥२०५७॥

गा०—किन्तु इतना विशेष है कि प्रायोपगमनमें तृणोंके सथरेका-तृणशय्याका निषेध है । क्योंकि उसमे स्वय अपनेसे और दूसरोंसे भी सब प्रकारका प्रतीकार करना कराना निषिद्ध है ॥२०५८॥

टी० - भक्तप्रत्याख्यानमें तो अपनी सेवा स्वय भी कर सकता है और दूसरोंसे भी करा सकता है । इगिणीमें अपनी सेवा स्वय कर सकता है, दूसरोंसे नही करा सकता । किन्तु

---

१ छिन्नत्रय प्रवर्तिनेन —आ० ।

सो सल्लेहिददेहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि ।
उच्चारादिविकिंचणमवि णत्थि पओगदो तम्हा ॥२०५९॥

'सो सल्लेहिददेहो' स सम्यक्तनूकृतशरीरो यस्मात्प्रायोपगमनमुपयाति तस्मादुच्चारादिनिराकरणमपि नास्ति प्रयोगत ॥२०५९॥

पुढवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो ।
वोसट्ठ चत्तदेहो अधाउग पालए तत्थ ॥२०६०॥

'पुढवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो' पृथिव्यादिषु जीवनिकायेषु यद्यपि केनचिदाकृष्ट-स्तथापि व्युत्सृष्टशरीरसंस्कारस्त्यक्तदेह स्वमायु पालयेत् ॥२०६०॥

मज्जणयगंधपुप्फोवयारपडिचारणे वि कीरंते ।
वोसट्ठचत्तदेहो अधाउगं पालए तधवि ॥२०६१॥

'मज्जणयगंधपुप्फोवयारपडिचारणे वि कीरंते' यद्यपि कश्चिदभिषेचयेत् गन्धपुष्पादिभिर्वा सम्पूजयेत् तथापि व्युत्सृष्टत्यक्तशरीरो न रुष्यति न तुष्यति न निवारयति ॥२०६१॥

वोसट्ठचत्तदेहो दु णिक्खिवेज्जो जहिं जधा अंगं ।
जावज्जीवं तु सयं तहिं तमंगं ण चालेदि ॥२०६२॥

'वोसट्ठचत्तदेहो' व्युत्सृष्टत्यक्तशरीरो निक्षिपेत कश्चिदन्यस्मिन्नयथाङ्ग यावज्जीवं स्वयं तस्मिंस्तदङ्ग न चालयति ॥२०६२॥

एवं णिप्पडियम्मं भणंति पाओवगमणमरहंता ।
णियमा अणिहारं तं सिया य णीहारमुवसग्गे ॥२०६३॥

प्रायोपगमनमे अपनी सेवा न स्वयं करता है और न दूसरोंसे कराता है। यही इन तीनोंमें भेद है ॥२०५८॥

गा०—यत जो अपने शरीरको सम्यक्रूपसे कृश करता है अर्थात् अस्थि चर्ममात्र शेष रहता है वही प्रायोपगमन मरण करता है। अत मल मूत्रके स्वयं या दूसरेके द्वारा त्याग करानेका प्रश्न ही नहीं रहता ॥२०५९॥

गा०—यदि कोई उन्हें पृथ्वी, जल, तेज, वनस्पति और त्रस आदि जीवनिकायोंमें फेंक देता है तो शरीरसे ममत्व त्यागकर अपनी आयुके समाप्त होने तक वहीं पड़े रहते हैं ॥२०६०॥

गा०—यदि कोई उनका अभिषेक करे या गन्ध पुष्प आदिसे पूजा करे तब भी शरीरसे ममत्व त्यागकर न रोष करते हैं, न प्रसन्न होते हैं और न उसे ऐसा करनेसे रोकते हैं ॥२०६१॥

गा०—शरीरसे ममत्वका त्याग करने वाला वह प्रायोपगमनका धारी क्षपक जिस क्षेत्रमें जिस प्रकारसे शरीरका कोई अंग रखा गया हो, उसको वैसा ही पड़ा रहने देता है, स्वयं अपने अंगको हिलाता डुलाता नहीं है ॥२०६२॥

गा०—इस प्रकार अर्हन्तदेव प्रायोपगमनको स्व और परकृत प्रतीकारसे रहित कहते हैं।

'एव णिप्पडिधार' एव स्वपरकृतप्रतीकाररहित प्रायोपगमन जिना वदन्ति, निश्चयेन तत्प्रायोपगमन-मनोहारमचल स्याच्चलमपि उपसर्गे परकृत चलनमपेक्ष्य ॥२०६३॥

एतदेवोत्तरगाथया स्पष्टयति—

उवसग्गेण वि साहरिदो सो अण्णत्थ कुणदि ज काल ।
तम्हा वुत्त णीहारमदो अण्ण अणीहार ॥२०६४॥

एतदेव स्पष्टयति ॥२०६४॥

पडिमापडिवण्णा वि हु कर्गति पाओवगमणमप्पेगे ।
दीहद्ध विहरता इगिणिमरणं च अप्पेगे ॥२०६५॥

'पडिमापडिवण्णा वि हु' प्रतिमाप्रतिपन्ना अपि एके प्रायोपगमन कुर्वन्ति, एके इङ्गिणिमरण । पाठश ॥२०६५॥

आगाढे उवसग्गे दुब्भिक्खे मव्वदो वि दुत्तारे ॥
कदजोगि ममधियासिय कारणजादेहिं वि मरति ॥२०६६॥

'आगाढे उवसग्गे' उपसर्गे महति दुर्भिक्षे वा दुस्तरे जाते कृतयोगिन परीषहसहा कारणजातमाश्रित्य मरणे कृतोत्साहा भवन्ति । तस्यैव वस्तुन उदाहरणानि उत्त रगाथाभिस्सूच्यन्ते ॥२०६६॥

निश्चयसे प्रायोपगमन अचल होता है । किन्तु उपसर्ग अवस्थामे मनुष्यादिके द्वारा चलायमान किये जानेपर चल भी होता है अर्थात् स्वय शरीरको न हिलानेमे तो अचल ही है किन्तु दूसरेके द्वारा हिलाने पर चल होता है ॥२०६३॥

आगेकी गाथासे इसीको स्पष्ट करते हैं—

गा०—उपसर्ग अवस्थामे एक स्थानमे उठाकर दूसरे स्थानमे डाल दिये जाने पर यदि वह वही मरण करता है तो उसे नीहार कहते हैं, और ऐसा नही होनेपर पूर्व स्थानमे ही मरण हो तो वह अनीहार कहलाता है ॥२०६४॥

गा०—जिनकी आयुका काल अल्पशेष रहता है वे प्रतिमा योग धारण करके प्रायोपगमन करते है । और कुछ दीर्घकाल तक विहार करते हुए इगिनीमरण करते है ॥२०६५॥

विशेषार्थ—आशाधर जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—कुछ तो सल्लेखना न करके ही कायोत्सर्ग पूर्वक प्रायोपगमन करते हैं और कोई चिरकाल तक उपवास करके प्रायोपगमन करते हैं । इसी प्रकार इगिणी भी जानना । अर्थात् उन्होंने दोनो मरणोंके दो-दो प्रकार कहे हैं । ऊपरके अर्थके अनुसार अल्प आयु वाले प्रायोपगमम करते हैं इसीमे वे अपने शरीरकी सेवा न स्वय करते हैं न दूसरेसे कराते हैं । दीर्घ आयु शेष रहने वाले इंगिनीमरण करते हैं अत वे अपने शरीरकी सेवा स्वय तो करते हैं दूसरेसे नहीं कराते । उन्हें स्वय मलमूत्रादि का त्याग तो करना होता ही है ॥२०६५॥

गा०—महान् उपसर्ग अथवा भयानक दुर्भिक्ष होनेपर परीषहोंको सहन करनेमे समर्थ मुनि अल्प भी मरणके कारण उपस्थित होनेपर उत्साहपूर्वक मृत्युका आलिंगन करते हैं ॥२०६६॥

कोसलय धम्मसीहो अट्ठं साधेदि गिद्धपुट्ठेण ।
णयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिरिं विप्पजहिदूण ॥२०६७॥
पाडलिपुत्ते धूदाहेदुं मामयकदम्मि उवसग्गे ।
साधेदि उसभसेणो अट्ठं विक्खाणम किच्चा ॥२०६८॥
अहिमारएण णिवदिम्मि मारिदे गहिदसमणलिंगेण ।
उड्डाहपसमणत्थं सत्थग्गहणं अकासि गणी ॥२०६९॥
सगडालएण वि तधा सत्थग्गहणेण साधिदो अत्थो ।
वररुइपओगहेदुं रुट्ठे णंदे महापउमे ॥२०७०॥
एवं पंडिदमरणं सवियप्पं वण्णिदं सवित्थारं ।
वुच्छामि बालपंडियमरणं एत्तो समासेण ॥२०७१॥

आगेकी गाथाओंमे इसीके समर्थक उदाहरण देते हैं—

गा०—अयोध्या नगरीमें धर्मसिंह नामक राजाने अपनी चन्द्रश्री नामक पत्नीको त्यागकर दीक्षा धारण की। और अपने श्वसुरके भयसे कोल्लगिरि नगरमें हाथीके कलेवरमें प्रवेश करके आराधनाकी साधना की ॥२०६७॥

विशेषार्थ—वृ० क० कोशमें इसकी कथाका नम्बर १५४ है।

गा०—पाटलीपुत्र नगरमें ऋषभसेन नामक श्रेष्ठीने अपनी पत्नीको त्यागकर दीक्षा ली। अपनी पुत्रीके स्नेहवश श्वसुरके द्वारा उपसर्ग किये जानेपर ऋषभसेनने श्वास रोककर साधना की ॥२०६८॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका क्रमांक १५५ है।

गा०—श्रावस्ती नगरीके राजा जयसेनने बौद्धधर्म त्यागकर जैनधर्म धारण किया था। इससे कुपित होकर अहिमारक नामक बौद्धने उसे उस समय मार डाला जब वह आचार्य यतिवृषभको नमस्कार कर रहा था। तब मुनिने अपना अपवाद दूर करनेके लिये शस्त्रसे अपना घात करते हुए साधना की ॥२०६९॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका क्रमांक १५६ है।

गा०—पाटलीपुत्रमें नन्दराजाका मंत्री शकटाल था। उसने महापद्म सूरिसे जिन दीक्षा ग्रहण की। उसके विरोधी वररुचिने राजा महापद्मको रुष्ट करके शकटालको मारनेका प्रयत्न किया तो शकटाल मुनिने पञ्च नमस्कार मंत्रका ध्यान करते हुए छुरीसे अपना पेट फाड डाला और इस प्रकार आराधनाकी साधना की ॥२०७०॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका नम्बर १५७ है।

गा०—इस प्रकार भेद सहित पण्डितमरणका विस्तारसे कथन किया। आगे संक्षेपमें बाल-

१. वेधाणं। अ०। पञ्चाणम आ०।

पंडितमरणं। एवं पण्डितमरणं सविकल्पं सविस्तरं व्याख्यातं, वक्ष्यामि बालपण्डितमरणमित ऊर्ध्वं संक्षेपेण ॥२०६७-२०७१॥

देसेक्कदेसविरदो सम्मादिट्ठी मरिज्ज जो जीवो ।
तं होदि बालपंडिदमरणं जिणसासणे दिट्ठं ॥२०७२॥

'देसिक्कदेसविरदो' सर्वासंयमप्रत्याख्यानासामर्थ्यं हिंसादेकदेशाद्विरतः स्थूलभतप्राणातिपातादि-पञ्चकाद्देशविरत इत्युच्यते। एकदेशविरतो नाम देशविरमणेऽपि एकदेशाद्व्यावृत्तः सम्यग्दृष्टिर्यो म्रियते तस्य तद्बालपण्डितमरणं ॥२०७२॥

एतदेव स्पष्टयति—

पंच य अणुव्वदाइं सत्तयसिक्खाउ देसजदिधम्मो ।
सव्वेण य देसेण य तेण जुदो होदि देसजदी ॥२०७३॥

'पंच य अणुव्वयाइं' पञ्चाणुव्रतानि शिक्षाव्रतानि वा सप्त प्रकाराणि देशयतेर्धर्मः। तेन समस्तेन धर्मेण युतः स्वशक्त्या वा तदेकदेशेन युतोऽपि देशयतिरेव। द्वादशविधगृहिधर्मप्रत्यायनपराणि सूत्राण्युत्तराणि प्रसिद्धार्थानि ॥२०७३॥

पाणवधमुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहिं ।
अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइं विरमणाइं ॥२०७४॥
जं च दिसाविरमणं अणत्थदंडेहिं जं च वेरमणं ।
देसावगासियं पि य गुणव्वयाइं भवे ताइं ॥२०७५॥

पण्डितमरणका कथन करेंगे ॥२०७१॥

गा०-टी०—जो समस्त असंयमका त्याग करनेमें असमर्थ है स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रह आदि पाँच पापोंका त्याग करता है उसे देशविरत कहते हैं। और जो देशविरतिके भी एक देशमें विरत होता है अर्थात् अपनी शक्तिके अनुसार हिंसादिका त्याग करता है ऐसा सम्यग्दृष्टि एक देशविरत कहा जाता है। इस प्रकार जो समस्त या एकदेश गृहस्थ धर्मका पालक श्रावक होता है उसके मरणको जिनागममें बालपंडितमरण कहा है ॥२०७२॥

उसीको स्पष्ट करते हैं—

गा०—पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत ये देशसंयमी श्रावकका धर्म है। जो उस सम्पूर्ण श्रावक धर्मका पालक है अथवा अपनी शक्तिके अनुसार उसके एक देशका पालक है वह भी देशसंयमी ही है ॥२०७३॥

आगे बारह प्रकारके गृहीधर्मको कहते हैं जो प्रसिद्ध हैं—

गा०—हिंसा असत्य, बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण, पर स्त्री गमन और इच्छाका अपरिमाण इनसे विरतिरूप पाँच अणुव्रत हैं ॥२०७४॥

गा०—दिग्विरति, अनर्थदण्डविरति, देशावकाशिक ये तीन गुणव्रत हैं ॥२०७५॥

भोगाण परिसखा सामाइयमतिहिसंविभागो य ।
पोसहविधि य सव्वो चदुरो सिक्खाउ वुत्ताओ ॥२०७६॥
आसुक्कारे मरणे अव्वोच्छिण्णाए जीविदासाए ।
णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसल्लेहणमकासी ॥२०७७॥

'आसुक्कारे मरणे' सहसा मरणे अच्छिन्नायां जीविताशायां बन्धुभिर्वा न मुक्तः पश्चिमसल्लेखनाम् कृत्वा कृतालोचनो निःशल्यः स्वगृह एव संस्तरमारुह्य देशविरतस्य मृतिर्बालपण्डितमित्युच्यते ॥२०७६-७७॥

आलोचिदणिस्सल्लो सघरे चेवारुहित्तु संथारं ।
जदि मरदि देसविरदो तं वुत्तं बालपंडिदयं ॥२०७८॥
जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो वित्थरेण णिद्दिट्ठो ।
सो चेव बालपंडिदमरणे णेओ जहाजोग्गो ॥२०७९॥
वेमाणिएसु कप्पोवगेसु णियमेण तस्स उववादो ।
णियमा सिज्झदि उक्कस्सएण वा सत्तमम्मि भवे ॥२०८०॥
इय बालपंडियं होदि मरणमरहंतसासणे दिट्ठं ।
एत्तो पंडिदपंडिदमरणं वोच्छं समासेण ॥२०८१॥

स्पष्टार्था गाथा । बालपंडिद ॥२०७८-२०८१॥

गा०—भोगपरिमाण, सामायिक, अतिथिसंविभाग और प्रोषधोपवास ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं ॥२०७६॥

गा०—सहसा मरण उपस्थित होनेपर, जीवनकी आशा रहनेपर, अथवा परिजनोंके द्वारा मुक्त न किये जानेपर अन्तिम सल्लेखना धारण न करके, अपने दोषोंकी आलोचना पूर्वक शल्य रहित होकर अपने घरमें ही संस्तरपर स्थित होकर देशविरत श्रावकके मरणको बालपण्डित मरण कहते हैं ॥२०७७॥

गा०—विधिपूर्वक आलोचना करके, माया मिथ्यात्व और निदान शल्यसे मुक्त होकर अपने घरमें संस्तरपर आरूढ होकर यदि श्रावक देशविरत मरता है तो उसे बालपण्डित मरण कहा है ॥२०७८॥

गा०—भक्तप्रत्याख्यानमें जो विधि विस्तारसे कही है वही सब विधि बालपण्डितमरणमें यथायोग्य जानना ॥२०७९॥

गा०—वह श्रावक मरकर नियमसे सौधर्मादि कल्पोपपन्न वैमानिक देवोंमें उत्पन्न होता है और नियमसे अधिक से अधिक सात भवोंमें मुक्त होता है ॥२०८०॥

गा०—इस प्रकारके मरणको अरहन्त भगवान्के धर्ममें बालपण्डित कहा है । आगे संक्षेपसे पण्डित पण्डितमरणको कहते हैं ॥२०८१॥

साहू जहुत्तचारी वट्टंतो अप्पमत्तकालम्मि ।
ज्झाण उवेदि धम्म पविट्ठुकामो खवगसेढि ॥२०८२॥

'साहू जहुत्तचारी' शास्त्रोक्तेन मार्गेण प्रवर्तमानस्साधुरप्रमत्तगुणस्थानकाले धर्म्यं ध्यानमुपैति क्षपकश्रेणि प्रवेष्टुकाम ॥२०८२॥

ध्यानपरिकर बाह्य प्रतिपादयति—

सुचिए समे विचित्ते देसे णिज्जतुए अणुण्णाए ।
उज्जुअआयददेहो अचल बधेत्तु पलिअक ॥२०८३॥

'सुचिए समे' शुचौ समे एकान्तदेशे निर्जन्तुके अनुज्ञाते तत्स्वामिभि ऋज्वायतदेह पल्यङ्कमचल बद्ध्वा ॥२०८३॥

वीरासणमादीयं आसणमसपादमादियं ठाण ।
सम्म अधिट्ठिदो वा सिज्जमुत्ताणसयणादि ॥२०८४॥

'वीरासणादिग' वीरासनादिकमासन बद्ध्वा समपादादिना स्थितो वा अथवा उत्तानशयनादिना वा वृत्त ॥२०८४॥

पुव्वभणिदेण विधिणा ज्झादि ज्झाण विसुद्धलेस्साओ ।
पवयणसभिण्णमदी मोहस्स खयं करेमाणो ॥२०८५॥

'पुव्वभणिदेण विधिणा' पूर्वोक्तेन क्रमेण ध्याने प्रवर्तते विशुद्धलेश्य । प्रवचनार्थमनुप्रविष्टमति मोहनीय क्षय नेतुमुद्यत ॥२०८५॥

सजोयणाकसाए खवेदि झाणेण तेण सो पढम ।
मिच्छत्त सम्मिस्स कमेण सम्मत्तमवि य तदो ॥२०८६॥

'सजोयणाकसाए' अनन्तानुबन्धिन क्रोधमानमायालोभान् क्षपयति ध्यानेन, तेनासौ प्रथम मिथ्यात्व,

---

गा०—शास्त्रोक्त मार्गसे प्रवृत्ति करता हुआ साधु क्षपक श्रेणिपर आरूढ होनेकी इच्छासे अप्रमत्त गुणस्थानमे धर्मध्यान करता है ॥२०८२॥

ध्यानकी बाह्य सामग्री कहते हैं—

गा०—पवित्र और जन्तुरहित एकान्त प्रदेशमे, उस स्थानके स्वामीकी आज्ञा प्राप्त करके, समभूमिभागमे शरीरको सीधा रखते हुए पल्यकासन बाधकर अथवा वीरासन आदि लगाकर, अथवा दोनो पैरोको समरूपमे रखते हुए खडे होकर अथवा ऊपरको मुखकर शयन करते हुए या एक करवटमे लेटकर पूर्वमे कही विधिके अनुसार विशुद्ध लेश्यापूर्वक मोहनीय कर्मका क्षय करनेमे तत्पर होता हुआ ध्यान करता है तथा चतुर्दश पूर्वोका अर्थ श्रवण करनेसे उसकी बुद्धि निर्मल होती है अर्थात् उसके श्रुतज्ञानावरणका प्रबल क्षयोपशम होता है ॥२०८३-२०८५॥

गा०—प्रथम ही वह उस ध्यानके द्वारा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभका क्षय

सम्यङ्मिथ्यात्वं, सम्यक्त्वं च क्रमेण एव प्रकृतिसप्तकं विनाश्य क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा क्षपकश्रेण्यधिरोहणाभिमुखोऽध प्रवृत्तकरणं अप्रमत्तस्थाने प्रतिपद्य ॥२०८६॥

अध खवयसेढिमधिगम्म कुणइ साधू अपुव्वकरणं सो ।
होइ तमपुव्वकरणं कयाइ अप्पत्तपुव्वंति ॥२०८७॥

'अध खवगसेढिमधिगम्म' अथ क्षपकश्रेणीमधिगम्य करोति साधुरपूर्वकरणमसौ। किं तदपूर्वंकरणमित्याशङ्कायामुच्यते। 'होदि तमपुव्वकरणं' भवति तदपूर्वकरणं 'कदाइ अप्पत्तपुव्वंति' कदाचिदप्राप्तपूर्वमिति ॥२०८७॥

अणिवित्तिकरणणामं णवमं गुणठाणयं च अधिगम्म ।
णिद्दाणिद्दा पयलापयला तध थीणगिद्धिं च ॥२०८८॥

'अणियट्टिकरणणामं णवमं गुणठाणमधिगम्म' अनिवृत्तिगुणस्थानमुपगम्य णिद्दाणिद्दा पयलापयला निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धि च ॥२०८८॥

णिरयगदियाणुपुव्विं णिरयगदिं थावरं च सुहुमं च ।
साधारणादवुज्जोवतिरयगदिं आणुपुव्वीए ॥२०८९॥

'णिरयगदियाणुपुव्वि' नरकगत्यानुपूर्वि, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म साधारण, आतप, उद्योत तिर्यग्गत्यानुपूर्वि ॥२०८९॥

करता है फिर मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतियोंका क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणिके अभिमुख होनेके लिये अप्रमत्त गुणस्थानमें अध प्रवृत्तकरण करता है ॥२०८६॥

टी०—अनन्त संसारका कारण होनेसे मिथ्यात्वको अनन्त कहते हैं। उसके साथ बन्धनेसे अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि चार यहाँ संयोजना शब्दसे लिये गये हैं। मिथ्या पदार्थो के अभिनिवेशमें जो निमित्त होता है वह मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय है। जिस मिथ्यात्वका स्वरस अर्धशुद्ध हो जाता है उसे सम्यक् मिथ्यात्व कहते हैं। और जिस मिथ्यात्वका शुभ परिणामके द्वारा स्वरस क्षीण हो जाता है उसे सम्यक्त्व दर्शन मोहनीय कहते हैं। इसके उदय रहते हुए भी तत्त्वार्थका श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन होता है। किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन इन सातोंके अभावमें ही होता है। और क्षायिक सम्यग्दृष्टी ही क्षपक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥२०८६॥

गा०—क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर वह क्षपक श्रेणिपर आरोहण करके प्रथम अपूर्वकरण करता है। उसे अपूर्वकरण इसलिये कहते हैं कि उसने इस प्रकारके परिणाम कभी भी नीचेके गुणस्थानोंमें प्राप्त नहीं किये थे ॥२०८७॥

गा०—उसके पश्चात् वह साधु अनिवृत्ति करण नामक नवम गुणस्थानको प्राप्त करके निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण,

इगविगतिगचदुरिंदियणामाइं तध तिरिक्खगदिणाम ।
खवयित्ता मज्झिल्ले खवेदि सो अट्ठवि कमाए ॥२०९०॥

'इगविग' एकद्वित्रिचतुरिंद्रियजाती, तिर्यग्गति, अप्रत्याख्यानचतुष्क, प्रत्याख्यानचतुष्कं च क्षपयति ॥२०९०॥

तत्तो णपुंसगित्थीवेदं हासादिछक्कपुवेदं ।
कोध माण माय लोभ च खवेदि सो कममो ॥२०९१॥

'तत्त णपुस' ततो नपुसक वेद, स्त्रीवेद, हास्यादिषट्क, पुवेद, सज्वलनक्रोधमानमाया क्षपयति । पश्चाल्लोभसज्वलन ॥२०९१॥

अध लोभसुहुमकिट्टिं वेदंतो सुहुमसंपरायत्त ।
पावदि पावदि य तधा तण्णाम संजम सुद्ध ॥२०९२॥

'अध लोभसुहुमकिट्टि' अथ पश्चाद्बादरकृष्टेरनन्तरकाल लोभसूक्ष्मकृष्टि वेदयमान । 'सुहुमसंपरायत्त पावदि' सूक्ष्मसापरायता प्राप्नोति । 'पावदि य तधा' प्राप्नोति च तथा तन्नामक सयम शुद्ध सूक्ष्मसापरायता अधिगच्छति ॥२०९२॥

तो सो खीणकसाओ जायदि खीणासु लोभकिट्टीसु ।
एय[1]त्तवितक्कावीचार तो ज्झादि सो ज्झाणं ॥२०९३॥

आतप, उद्योत, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, दो इन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, तिर्यग्गति, इन सोलह कर्मप्रकृतियोका क्षय करके मध्यकी आठ कषाय अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका क्षय करता है ॥२०८८-२०९०॥

गा०—फिर क्रमसे उसी नवम गुणस्थानमे नपुसक वेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, पुरुषवेद और सज्वलन, क्रोध मान मायाका क्षय करता है । अन्तमे सज्वलन लोभका क्षय करता है ॥२०९१॥

विशेषार्थ—क्षयका क्रम इस प्रकार है—हास्यादि छह नोकषायोको पुरुषवेदमे क्षेपण करके नष्ट करता है । पुरुषवेदको क्रोध सज्वलनमे क्षेपण करके क्षय करता है । इसी प्रकार क्रोध सज्वलनको मान सज्वलनमे मानसज्वलनको माया सज्वलनमे और माया सज्वलनको लोभसज्वलनमे क्षेपण करके क्षय करता है । अन्तमे बादर कृष्टिके द्वारा लोभसज्वलन को कृश करके सूक्ष्म लोभ सज्वलन कषाय शेष रहती है ॥२०९१॥

गा०—बादर कृष्टिके पश्चात् सूक्ष्मकृष्टिरूप लोभका वेदन करता हुआ दसवे सूक्ष्म साम्पराय नामक गुणस्थानको प्राप्त करता है और वहाँ उसी सूक्ष्मसाम्पराय नामक सयमको प्राप्त करता है ॥२०९२॥

---

1. एयत्त सवियक्क अविचार सो तहि झादि-अ० आ० ।

'तो सो खीणकसाओ जायदि' तत सूक्ष्मसांपरायत्वादनंतरं 'खीणकसाओ जायदि' क्षीणकषायो जायते। 'खीणासु लोभकिट्टीसु' संज्वलनलोभसूक्ष्मकृष्टिषु क्षीणासु। 'तो' ततः 'एयत्तवितक्कावीचारझाणं तो झादि' एकत्ववितर्कावीचारं ध्यानं ध्यायति ॥२०९३॥

झाणेण य तेण अधक्खादेण य संजमेण घादेदि।
सेसा घादिकम्माणि 'सम अवरजणाणि तदो ॥२०९४॥

'झाणेण य तेण' तेन ध्यानेन। 'तो' तेनैकत्ववितर्काविचारेण यथाख्यातेन चारित्रेण शेषघातिकर्माणि समकालमेव क्षपयति। 'अवरजणाणि' जीवस्यान्यथाभावकारणानि ॥२०९४॥

मत्थयसूचीए जधा हदाए कसिणो हदो भवदि तालो।
कम्माणि तधा गच्छंति खयं मोहे हदे कसिणे ॥२०९५॥

'मत्थयसूचीए जधा हदाए' मस्तकसूच्यां यथा हतायां। 'कसिणो तालो हदो भवति' कृत्स्नस्तालद्रुमो हतो भवति। 'कम्माणि तधा' कर्माण्यपि तथैव 'खयं गच्छंति' क्षयमुपयाति। 'मोहे हदे कसिणे' मोहे हते कृत्स्ने ॥२०९५॥

णिद्दापचलाय दुवे दुचरिमसमयम्मि तस्स खीयंत।
सेसाणि घादिकम्माणि चरिमसमयम्मि खीयंति ॥२०९६॥

'णिद्दा पचला य दुवे' निद्राप्रचला च द्वे तस्य क्षीणकषायस्य उपान्त्यसमये नश्यत। 'सेसाणि घादिकम्माणि' अवशिष्टानि घातिकर्माणि त्रीणि तस्य चरमसमये नश्यंति, पंच ज्ञानावरणानि, चत्वारि दर्शनावरणानि, पंचांतरायाश्च ॥२०९६॥

तत्तो णंतरसमए उप्पज्जदि सव्वपज्जयणिबंधं।
केवलणाणं सुद्धं तध केवलदंसणं चेव ॥२०९७॥

गा०—सूक्ष्म लोभकृष्टिका क्षय होनेपर सूक्ष्म साम्परायके पश्चात् क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती होता है। वहाँ वह एकत्व वितर्क विचार नामक ध्यानको ध्याता है ॥२०९३॥

गा०—उस ध्यान तथा यथाख्यात चारित्रके द्वारा वह जीवके अन्यथाभावमें कारण शेष घातिकर्मोंका एक साथ क्षय करता है ॥२०९४॥

गा०—जैसे ताडके वृक्षकी मस्तक सूची, ऊपरका शाखाभार टूट जानेपर समस्त ताडवृक्ष ही नष्ट हो जाता है वैसे ही समस्त मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥२०९५॥

गा०—उस क्षीणकषाय गुणस्थानके उपान्त्य समयमें निद्रा प्रचला नष्ट होती है। और शेष घातिकर्म-पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय अन्तिम समयमें नष्ट होते [illegible] ९६॥

निद्रानिद्रा, मसमर-मु०, मूलारा० ।

ततो ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात् अनन्तरसमये उत्पद्यते केवलज्ञानं सर्वपर्यायनिबद्धं, सर्वेषां द्रव्याणां त्रिकालगोचरा ये पर्याया विशेषरूपाणि तत्र प्रतिबद्धं परिच्छेदकत्वेन ज्ञानस्यातिशयो वस्तुगतविशेषरूप परिच्छेदो नाम सामान्यरूपस्य सुगमत्वादियास्यात भवति। केवलं इन्द्रियसहायानपेक्षत्वात् केवलमसहाय ज्ञानं रागादिमलाभावात् शुद्धं तथा केवलदर्शनं च ॥२०९७॥

अव्वाघादमसंदिद्धमुत्तमं सव्वदो असंकुडिदं।
एयं सयलमणंतं अणियत्तं केवलं णाणं ॥२०९८॥

'अव्वाघादं' न विद्यते अत्यघातेन व्याघाता बाधास्येत्यव्याघातं। निश्चयात्मकत्वादसंदिग्धं। सर्वेभ्यो ज्ञानेभ्य उत्तमं प्रधानं श्रुतादिभिरिदं केवलं साध्यते इति। 'असंकुडिदं' न मत्यादिवदल्पविषयमिति। 'एकं' एकस्मिन्नात्मनि स्वयमेव प्रवर्तत इति। 'सकलं सम्पूर्णमात्मनः स्वरूपमिति। मत्यादीनि यथाऽसम्पूर्णानि न तथेदं। 'अणंतं अनन्तप्रमाणावच्छेद्यं। 'अणियत्तं' न विद्यते निवृत्तिर्विनाशोऽस्येत्यनिवृत्तं केवलज्ञानं ॥२०९८॥

चित्तपडं व विचित्तं तिकालसहिदं तदो जगमिणं सो।
सव्वं जुगवं पस्सदि सव्वमलोगं च सव्वत्तो ॥२०९९॥

'चित्तपडं व विचित्तं' चित्रपटवद्विचित्रं विचित्रद्रव्यपर्यायरूपेण प्रत्यवभासनात्। 'तिकाल सहिदं' कालत्रयसहितं 'जगदिदं', ततः तेन केवलज्ञानेन सर्वं युगपत्पश्यत्यलोकं कृत्स्नं 'सर्वतः' समंतात् ॥२०९९॥

वीरियमणंतराय होइ अणंतं तधेव तस्स तदा।
कप्पातीदस्स महामुणिस्स विग्घम्मि खीणम्मि ॥२१००॥

गा०-टी०—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय होनेके अनन्तर समयमें शुद्ध केवलज्ञान और शुद्ध केवल दर्शन उत्पन्न होता है। वह केवल ज्ञान सब द्रव्योंकी त्रिकालगोचर सब पर्यायोंको जानता है। वस्तुगत विशेषरूपको जानना ही ज्ञानका अतिशय है सामान्यरूपको जानना तो सुगम है। इसीसे केवल ज्ञानको सर्वपर्यायनिबद्ध कहा है। केवलका अर्थ है असहाय। केवल ज्ञान इन्द्रियोंकी सहायतासे रहित है इसीसे उसका नाम केवल है। तथा रागादिमलसे रहित होनेसे शुद्ध है। व्याघातसे रहित है क्योंकि कोई अन्य ज्ञान उसमें बाधा नहीं डाल सकता। निश्चयात्मक होनेसे सन्देह रहित है। श्रुत आदि अन्य सब ज्ञानोंमें प्रधान होनेसे उत्तम है। सब द्रव्य और पर्यायोंमें प्रवर्तमान होनेसे मतिज्ञान आदिकी तरह उसका विषय अल्प नहीं है। तथा एक आत्मामें स्वयं ही होनेसे एक है। सम्पूर्ण आत्मस्वरूप होनेसे सकल है। जैसे मति आदि ज्ञान असम्पूर्ण है उस तरह वह सम्पूर्ण नहीं है। अनन्त प्रमाण वाला होनेसे अनन्त है। अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता। विचित्र द्रव्य पर्यायरूपसे प्रतिभासमान होनेसे चित्रपटकी तरह विचित्र-नानारूप है। उस केवलज्ञानसे वह तीन काल सहित इस समस्त जगतको और सर्व अलोकको एक साथ जानता है ॥२०९७-२०९९॥

गा०—छद्मस्थ अवस्थासे रहित उस महामुनिके अन्तराय कर्मका विनाश होनेपर अन्तराय

---

१ सव्वण्हू –आ०।

'व.रियमणतराय होदि' निर्विघ्न वीर्य भवति। क्षायोपशमिकस्य हि वीर्यस्य पुन वीर्यातरायोदये सति विघ्नो भवति, न तथा तस्य निरवशेषक्षये। 'अनत'। 'कप्पातीदस्स' छद्मस्थकल्पना अतीतस्य महामुनेर्विघ्ने विनष्टे ॥२१००॥

तो सो वेदयमाणो विहरइ सेसाणि ताव कम्माणि।
जावसमत्ती वेदिज्जमाणस्साउगस्स भवे ॥२१०१॥

'तो सो वेदयमाणो' केवलज्ञानादिपरिप्राप्त्यनतरकाल वेदयमानो विहरति, 'सेसाणि ताव कम्माणि अवशिष्टानि तावत्कर्माणि। 'जावसमत्ती' यावत्परिसमाप्ति। 'वेदिज्जमाणस्स आउगस्स भवे' अनुभूयमानस्य मनुष्यायुषो भवेत ॥२१०१॥

दसणणाणसमग्गो विरहदि उच्चावय तु परियाय।
जोगणिरोध पारभदि कम्मणिल्लेवणट्ठाए ॥२१०२॥

'दसणणाणसमग्गो' क्षायिकेन ज्ञानेन दर्शनेन च समग्रो, विहृत्य 'उच्चावय परीयाय' उच्चावच पर्याय, चारित्रमभिवर्द्धयन् योगनिरोध प्रारभते, कर्मणामघातिनामपहरणार्थं ॥२१०२॥

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा।
वच्चति समुग्घाद सेसा भज्जा समुग्घादे ॥२१०३॥

उक्कस्सएण' उत्कर्षेण षण्मासावशेषे आयुषि जाते केवलिनो जातास्ते समुद्घातमुपयाति। शेषा समुद्घाते भाज्या ॥२१०३॥

रहित अनन्तवीर्य होता है। अर्थात् क्षयोपशमिक वीर्यमे तो वीर्यान्तरायका उदय होनेपर विघ्न आ जाता है। किन्तु समस्त वीर्यान्तरायका क्षय होनेपर प्रकट हुए अनन्त वीर्यमे कोई विघ्न नही आता ॥२१००॥

गा०—केवल ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर जबतक शेष कर्मो की तथा अनुभूयमान मनुष्यायु-की समाप्ति नही होती तब तक वह केवल ज्ञानी विहार करता है ॥२१०१॥

गा०—क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शनसे परिपूर्ण वह केवल ज्ञानी चारित्रको बढाता हुआ उत्कृष्ट कुछ कम एक पूर्वकोटि तक और जघन्य अन्तमूर्हूर्त मात्र काल तक विहार करता है। फिर अघातिकर्मो को नष्ट करनेके लिये सत्यवचन योग, अनुभयवचन योग, सत्यमनोयोग अनुभय मनोयोग, औदारिक काययोग, औदारिक मिश्र काययोग तथा कार्मण काययोगका निग्रह प्रारम्भ करता है ॥२१०२॥

गा०—उत्कर्षसे छह माम आयु शेष रहनेपर जो केवल ज्ञानी होते है वे अवश्य समुद्घात-जीवके प्रदेशोका शरीरसे बाहर दण्ड आदिके आकार रूपमे निकलना-करते हैं। शेष समुद्घात करते भी हैं और नही भी करते, उनके लिये कोई नियम नही है ॥२१०३॥

---

१ माण आउस्स कम्मस्स, -अ० आ०।

जेसिं आउसमाइं णामगोदाइं वेदणीयं च ।
ते अकदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥२१०४॥

'जेसिं आउसमाइं' येषामपि आयुःसमानि शेषाण्यघातिकर्माणि तेऽकृतसमुद्घाता एव शैलेश्यं प्रतिपद्यते ॥२१०४॥

[1]जेसिं हवंति विसमाणि णामगोदाउवेदणीयाणि ।
ते दु कदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥२१०५॥
ठिदिसंतकम्मसमकरणत्थं सव्वेसिं तेसिं कम्माणं ।
अंतोमुहुत्त सेसे जंति समुग्घादमाउम्मि ॥२१०६॥

'ठिदिसंतकम्म' सत्कर्मणां स्थितिं समीकर्तुं चतुर्णां अंतर्मुहूर्तविशेषे आयुषि समुद्घातं याति ॥२१०५-२१०६॥

ओल्लं संतं वत्थं विरल्लिदं जह लहुं विणिव्वादि ।
सवेढियं तु ण तधा तधेव कम्मं पि णादव्वं ॥२१०७॥

'ओल्लं सत्तं' आर्द्रं सद्यथा वस्त्रं विप्रकीर्णं लघु शुष्यति न तथा संवेष्टितं एवमेव कर्मापि ज्ञातव्यम् ॥२१०७॥

ठिदिबंधस्स सिणेहो हेदू खीयदि य सो समुहदस्स ।
सडदि य खीणसिणेहं सेसं अप्पट्ठिदी होदि ॥२१०८॥

'ठिदिबंधस्स' स्थितिबन्धस्य स्नेहो हेतुर्विनश्यति । समुद्घात गते 'सटति' च क्षीणस्नेहं शेषं कर्माल्पस्थितिकं भवति ॥२१०८॥

गा०—जिनके नामकर्म, गोत्रकर्म, वेदनीयकर्मकी स्थिति आयुकर्मके समान होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्घात किये बिना शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं ॥२१०४॥

गा०—किन्तु जिनकी आयुकी स्थिति कम होती है और नामगोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति अधिक होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्घात करके ही शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं अर्थात् अयोगकेवली होते हैं ॥२१०५॥

गा०—अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहनेपर चारो कर्मों की स्थिति समान करनेके लिये समुद्घात करते हैं ॥२१०६॥

गा०—जैसे गीला वस्त्र फैला देनेपर वह शीघ्र सूख जाता है उतनी शीघ्र इकट्ठा रखा हुआ नहीं सूखता । कर्मों की भी वैसी ही दशा जानना । आत्म प्रदेशोंके फैलावसे सम्बद्ध कर्मरज-की स्थिति बिना भोगे घट जाती है ॥२१०७॥

गा०—समुद्घात करनेपर स्थितिबन्धका कारण जो स्नेहगुण है वह नष्ट हो जाता है । और स्नेहगुणके क्षीण होनेपर शेष कर्मों की स्थिति घट जाती है ॥२१०८॥

---

१ एतां टीकाकारो नेच्छति ।

चदुहिं समएहिं दंड-कवाड-पदरजगपूरणाणि तदा ।
कमसो करेदि तह चेव णियत्तेदि चदुहिं समएहिं ॥२१०९॥

'चदुहिं' चतुर्भिस्समयैर्दण्डादिकं कृत्वा क्रमशो निवर्तते चतुर्भिरेव समयैः ॥२१०९॥

काऊणाउसमाइं णामागोदाणि वेदणीयं च ।
सेलेसिमब्भुवेंतो जोगणिरोधं तदो कुणदि ॥२११०॥

'काऊण' नामगोत्रवेदनीयानां आयुषा साम्यं कृत्वा मुक्तिमभ्युपगच्छन् योगनिरोधं करोति ॥२११०॥

योगनिरोधक्रममाचष्टे—

बादरवचिजोगं बादरकायेण बादरमणं च ।
बादरकायंपि तधा रुंभदि सुहुमेण काएण ॥२१११॥

बादरौ वाङ्मनोयोगौ बादरकायेन रुणद्धि । बादरकाययोगं सूक्ष्मेण काययोगेन ॥२१११॥

तध चेव सुहुममणवचिजोगं सुहुमेण कायजोगेण ।
रुंभित्तु जिणो चिट्ठदि[1] सो सुहुमकायजोगेण ॥२११२॥

'तध चेव' तथैव सूक्ष्मवाङ्मनोयोगौ सूक्ष्मकाययोगेन रुणद्धि ॥२११२॥

सुहुमाए लेस्साए सुहुमकिरियबंधगो तगो ताधे ।
काइयजोगे सुहुमम्मि सुहुमकिरियं जिणो झादि ॥२११३॥

गा०-टी०—सयोगकेवली जिन चार समयोंमें दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करके क्रमसे चार ही समयोंमें उसका संकोच करता है अर्थात् प्रथम समयमें दण्डाकार, दूसरे समयमें कपाटके आकार, तीसरे समयमें प्रतर रूप और चतुर्थ समयमें समस्त लोकमें व्याप्त हो जाते हैं। पांचवे समयमें पुन प्रतररूप, छठे समयमें कपाटरूप, सातवें समयमें दण्डाकार आठवें समयमें मूल शरीराकार आत्म प्रदेश हो जाते हैं ॥२१०९॥

गा०—इस प्रकार नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति आयुके समान करके मुक्तिकी ओर बढ़नेवाले सयोगकेवली जिन योगोंका निरोध करते हैं ॥२११०॥

योगनिरोधका क्रम कहते हैं—

गा०—स्थूल काययोगमें स्थित होकर बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको रोकते है और सूक्ष्म काययोगमें स्थित होकर स्थूल काययोगको रोकते हैं ॥२१११॥

गा०—उसी प्रकार सूक्ष्मकाययोगके द्वारा सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोगको रोककर सयोगकेवली जिन सूक्ष्म काययोगमें स्थित होते हैं ॥२११२॥

---

१ दि सुहुमेण कायजोगेण –आ० । दि सो सुहुमे काइए जोगे –मु० ।

सूक्ष्मया लेश्यया सूक्ष्मक्रियया बन्धकस्तदासौ सूक्ष्मक्रियं ध्यानं ध्याति ॥२११३॥

सुहुमकिरिएण झाणेण णिरुद्धे सुहुमकायजोगे वि ।
सेलेसी होदि तदो अबंधगो णिच्चलपदेसो ॥२११४॥

'सुहुमकिरियेण' तेन ध्यानेन निरुद्धे सूक्ष्मकाययोगे निश्चलप्रदेशोऽबन्धको भवति । बंधनिमित्तानामभावात् ॥२११४॥

मणुसगदिपंचिंदियजादिं पज्जत्तादिज्जसुभगजसकित्तिं ।
अण्णदरवेदणीयं तसबादरमुच्चगोदं च ॥२११५॥

'मणुसगदिं' मनुष्यगति पञ्चेन्द्रियजातिं, पर्याप्तिमादेयसुभगं, यशस्कीर्तिमन्यतरवेदनीयं, त्रसबादरं, उच्चैर्गोत्रं च वेदयते ॥२११५॥

मणुसाउगं च वेदेदि अजोगी होदूण चेव तक्कालं ।
तित्थयरणामसहिदो[1] ताओ वेदेदि तित्थयरो ॥२११६॥

मनुष्यायुश्च वेदयते अयोगी भूत्वा तीर्थकरनामसहितास्तीर्थकरो वेदयते ॥२११६॥

देहतियबंधपरिमोक्खत्थं तो केवली अजोगी सो ।
उवयादि समुच्छिण्णकिरियं तु झाणं अपडिवादी ॥२११७॥

देहतिय देहत्रिबन्धपरिमोक्षार्थं समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिध्यानं ध्याति ॥२११७॥

सो तेण पंचमत्ताकालेण खवेदि चरिमज्झाणेण ।
अणुदिण्णाओ दुचरिमसमये सव्वाओ पयडीओ ॥२११८॥

गा०—सूक्ष्म लेश्याके द्वारा सूक्ष्मकाययोगमें वह सातावेदनीय कर्मका बन्ध करता है तथा सूक्ष्मक्रिय नामक तीसरे शुक्लध्यानको ध्याता है ॥२११३॥

गा०—उस सूक्ष्मक्रिय नामक शुक्लध्यानके द्वारा सूक्ष्म काययोगका निरोध करके वह शीलोंका स्वामी होता है तथा आत्माके प्रदेशोंके निश्चल हो जानेसे उन्हें कर्मबन्धन नहीं होता, क्योंकि कर्मबन्धके निमित्तोंका अभाव है ॥२११४॥

गा०—उस समय अयोगकेवली होकर वह मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, पर्याप्ति, आदेय, सुभग, यश कीर्ति, साता या असातावेदनीय, त्रस, बादर, उच्चगोत्र और मनुष्यायु इन ग्यारह कर्म प्रकृतियोंके उदयका भोग करते हैं। और यदि तीर्थंकर होते हैं तो तीर्थंकर सहित बारह प्रकृतियोंका अनुभवन करते हैं ॥२११५-१६॥

गा०—उसके पश्चात् अयोगकेवली परम औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोंके बन्धनसे छूटनेके लिये समुच्छिन्नक्रिय अप्रतिपाती नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको ध्याते हैं इसका दूसरा नाम व्युपरतक्रिया निवर्ती है ॥२११७॥

---

१. —दो जाओ आ वेदि तित्थयरा —आ०, अ०।

'सो तेण' स तेन पञ्चमात्राकालेनानेन ध्यानेन क्षपयति द्विचरमसमये अनुदीर्णा सर्वा प्रकृती ॥२११८॥

चरिमसमयम्मि तो सो खवेदि वेदिज्जमाणपयडीओ ।
बारस तित्थयरजिणो एक्कारम सेस सव्वण्हू ॥२११९॥

'चरिमसमयम्मि' अन्ये समये क्षपयति वेद्यमाना प्रकृतीर्द्वादश तीर्थङ्करजिन । शेषसर्वज्ञ एकादश । 'नामक्खएण' नाम्नो विनाशेन तैजसशरीरबन्धो नश्यति । आयुष क्षयेण औदारिकबन्धनाश ॥२११९॥

णामक्खएण तेजोसरीरबंधो वि 'हीयदे तस्स ।
आउक्खएण ओरालियस्स बंधो वि 'हीयदि से ॥२१२०॥
त सो बंधणमुक्को उड्ढ जीवो पओगदो जादि ।
जह एरण्डयबीय बंधणमुक्क समुप्पददि ॥२१२१॥

स्पष्टोत्तरगाथाद्वय ॥२१२०-२१२१॥

सग विजहणेण य लहुदयाए उड्ढ पयादि सो जीवो ।
जध आलाउ अलेओ उप्पददि जले णिवुड्डो वि ॥२१२२॥

'सगजहणेण' सगत्यागाल्लघुतयोर्ध्व प्रयाति जलनिमग्ननिर्लेपालाबुवत ॥२१२२॥

झाणेण य तह अप्पा पओगदो जेण जादि सो उड्ढ ।
वेगेण पूरिदो जह ठाइदुकामो वि य ण ठादि ॥२१२३॥

'झाणेण य' ध्यानेनात्मा प्रयुक्तो यात्यूर्ध्व वेगेन पूरितो यथा न तिष्ठति स्थातुकामोपि ॥२१२३॥

गा०-टी०—इस ध्यानका काल 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाच मात्राओंके उच्चारणमे जितना काल लगता है उतना है । इतने कालवाले उस अन्तिम ध्यानके द्वारा अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समयमें विना उदीरणाके सब ७२ कर्म प्रकृतियोको खपाते हैं, उनका क्षयकर देते हैं, और अन्तिम समयमे तीर्थंकर केवली बारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं तथा सामान्य केवली ग्यारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं ॥२११८-१९॥

गा०—उनके नामकर्मका क्षय होनेसे तैजस शरीर बन्धका भी क्षय हो जाता है। और आयुकर्मका क्षय होनेसे औदारिक शरीर बन्धका क्षय हो जाता है ॥२१२०॥

गा०—इस प्रकार बन्धनसे मुक्त हुआ वह जीव वेगसे ऊपरको जाता है जैसे बन्धनसे मुक्त हुआ एरण्डका बीज ऊपरको जाता है ॥२१२१॥

गा०—समस्त कर्म नोकर्मरूप भारसे मुक्त होनेके कारण हल्का हो जानसे वह जीव ऊपर को जाता है। जैसे मिट्टीके लेपसे रहित तुम्बी जलमें डूबनेपर भी ऊपर ही आती है ॥२१२२॥

गा०—जैसे वेगसे पूर्ण व्यक्ति ठहरना चाहते हुए भी नही ठहर पाता है वैसे ही ध्यानके

---

१. खीयदे मु० । २ भीयदि –मु० । ३ सगस्स विजहणेण –आ० ।

जह वा अग्गिस्स सिहा सहावदो चेव होहि उड्ढगदी ।
जीवस्स तह सभावो उड्ढगमणमप्पवसियस्स ॥२१२४॥

स्पष्टोत्तरगाथा ॥२१२४॥

तो सो अविग्गहाए गदीए समए अणंतरे चेव ।
पावदि जयस्स सिहरं खित्तं कालेण य फुसतो ॥२१२५॥

'तो सो अविग्गहाए' ततोऽसावविग्रहया गत्या अनंतरसमय एव जगतशिखरं प्राप्नोति ॥२१२५॥

एवं इहइं पजहिय देहतिगं सिद्धखेत्तमुवगम्म ।
सव्वपरियायमुक्को सिज्झदि जीवो सभावत्थो ॥२१२६॥

'एवं इहइं' एवमिह देहत्रिकं विहाय सिद्धक्षेत्रमुपगम्य सर्वप्रचारविमुक्तः सिध्यति जीवः स्वभावस्थः ॥२१२६॥

तस्याथ स्थानमाचष्टे—

ईसिप्पब्भाराए उवरिं अत्थदि सो जोयणम्मि सीदाए ।
धुवमचलमजरठाणं लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥॥२१२७॥

'ईसिप्पब्भाराए' ईषत्प्राग्भाराया उपरि न्यूनयोजने ध्रुवमचलं स्थानं लोकशिखरमास्थितः सिद्धः ॥२१२७॥

प्रयोगसे आत्मा ऊपरको जाता है ॥२१२३॥

गा०—अथवा जैसे आगकी लपट स्वभावसे ही ऊपरको जाती है वैसे ही कर्मरहित स्वाधीन आत्माका स्वभाव ऊर्ध्वगमन है ॥२१२४॥

गा०—कर्मों का क्षय होते ही वह मुक्त जीव एक समयवाली मोडे रहित गतिसे सात राजुप्रमाण आकाशके प्रदेशोका स्पर्श न करते हुए अर्थात् अत्यन्त तीव्रवेगसे लोकके शिखरपर विराजमान हो जाता है ॥२१२५॥

गा०—इस प्रकार इसी लोकमे तैजस, कार्मण और औदारिक शरीरोंको त्यागकर सब प्रकारके प्रचारसे मुक्त हुआ जीव, सिद्धिक्षेत्रमे जाकर अपने टंकोत्कीर्ण ज्ञायक भाव स्वभावमे स्थित होकर मुक्त हो जाता है ॥२१२६॥

गा०—उस सिद्धिक्षेत्रके नीचे स्थित आठवी पृथिवीको कहते है—ईषत्प्राग्भार नामकी आठवी पृथ्वीके कुछ ऊपर एक योजन पर लोकका शिखर स्थित है जो ध्रुव, अचल और अजर है। उसपर सिद्ध जीव तिष्ठता है ॥२१२७॥

विशेषार्थ—आठवी पृथिवीका नाम ईषत्प्राग्भार है। मध्यमे उसका बाहुल्य आठ योजन है। दोनो ओर क्रमसे हीन होता गया है। अन्तमे अगुलके असख्यातवे भाग प्रमाण अत्यन्त सूक्ष्म बाहुल्य रह जाता है। इस तरह ऊपरको उठे हुए विशाल गोल श्वेत छत्रके समान उसका आकार है। उसका विस्तार पैंतालीस लाख योजन है। उसके ऊपर तीन वातवलय हैं। उनमेंसे तीन

धम्माभावेण दु लोगग्गे पडिहम्मदे अलोगेण ।
गदिमुवकुणदि हु धम्मो जीवाण पोग्गलाण च॥ २१२८॥

'धम्माभावेण दु' धर्मास्तिकायस्याभावे लोकाग्रे प्रतिहन्यते अलोकेन, यतो जीवपुद्गलाना गतेरुप-कारको धर्म स चोपरि नास्ति ॥२१२८॥

जं जस्स दु सठाणं चरिमसरीरस्स जोगजहणम्मि ।
त सठाण तस्स दु जीवघणो होइ सिद्धस्स ॥२१२९॥
दसविधपाणाभावो कम्माभावेण होइ अच्चतं ।
अच्चतिगो य सुहदुक्खाभावो विगददेहस्स ॥२१३०॥

दशविधाना प्राणानामत्यन्ताभावेन भवति आत्यंतिकश्च सुखदु खाभाव ॥२१२९-२१३०॥

ज णत्थि बधहेदु देहग्गहणं ण तस्स[2] तेण पुणो ।
कम्मकलुसो हु जीवो कम्मकदं देहमादियदि ॥२१३१॥

'ज णत्थि बधहेदु' यन्नास्ति बधकारण तेन न मुक्तस्य देहग्रहण, कर्मकलुषीकृतो हि जीव कर्म-कृतदेहमादत्ते ॥२१३१॥

कज्जाभावेण पुणो अच्चत्त णत्थि फदण तस्स ।
ण पओगदो वि फदणमदेहिणो अत्थि सिद्धस्स ॥२१३२॥

कोस विस्तार वाले दो वातवलयोंके ऊपर एक हजार पाच सौ पिचहत्तर धनुष विस्तार वाला तीसरा तनुवातवलय है। उसके पाच सौ पच्चीस धनुष मोटे अन्तिम भाग मे सिद्ध भगवान विराजते हैं ॥२१२७॥

गा०—धर्मद्रव्य लोकके अग्रभाग तक ही है। अत मुक्तजीव लोकाग्रसे आगे अलोकमे नही जाता, क्योंकि धर्मद्रव्य गति करते हुए जीवो और पुद्गलोकी गतिमे उपकार करता है ॥२१२८॥

गा०—मन वचन काययोगोका त्याग करते समय अयोगी गुणस्थानमे जैसा अन्तिम शरीरका आकार रहता है, उस आकाररूप जीवके प्रदेशोका, घनरूप सिद्धोका आकार होता है ॥२१२९॥

गा०—सिद्ध भगवानके कर्मोंका अभाव होनेसे दस प्रकारके प्राणोका सर्वथा अभाव है। तथा शरीरका अभाव होनेसे इन्द्रिय जनित सुखदु खका अभाव है ॥२१३०॥

गा०—मुक्तजीवके कर्मबन्धका कारण नही है। अत वह पुन शरीर धारण नही करता। क्योंकि कर्मों से बद्ध जीव ही कर्मकृत शरीरको धारण करता है ॥२१३१॥

गा०—सिद्ध जीवोको कुछ करना शेष न होनेसे उनमें हलन चलनका अत्यन्त अभाव है।

---

१ एता टीकाकारो नेच्छति । २ स होदि पुणो -अ०, आ० ।

'कज्जाभावेण पुणो' कार्याभावेन तत्स्पदनं नास्ति तस्य न च परप्रयोगगतमपि स्पंदनमस्त्यदेहस्य सिद्धस्य ॥२१३२॥

कालमणंतमधम्मोपग्गहिदो ठादि गयणमोगाढो ।
सो[1] उवकारो इट्ठो ठिदिसभावो ण जीवाणं ॥२१३३॥

'कालमणंतं' अनन्तकालं अधर्मास्तिकायोपगृहीतं गगनमनुप्रविष्टः तिष्ठति । 'उवकारो इट्ठो' अधर्मास्तिकायेन सपाद्यउपकार अवस्थानलक्षणः इष्टो यस्मान्न जीवस्य स्थितिस्वभावश्चैतन्यादिवत् ॥२१३३॥

तेलोक्कमत्थयत्थो तो सो सिद्धो जगं णिरवसेसं ।
सव्वेहिं पज्जएहिं य संपुण्णं सव्वदव्वेहिं ॥२१३४॥

'तेलोक्कमत्थयत्थो' त्रैलोक्यमस्तकस्थः सनोऽसौ जगन्निरवशेषं सर्वं पर्यायैस्सर्वैर्द्रव्यैस्संपूर्णं ॥२१३४॥

पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे ।
तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो ॥२१३५॥

'पस्सदि जाणदि' पश्यति जानाति च कालत्रये पर्यायसहितानशेषांस्तथा चालोकमशेषं पश्यति भगवान् विगतमोहः ॥२१३५॥

भावे सगविसयत्थे सूरो जुगवं जहा पयासेइ ।
सव्वं वि तधा जुगवं केवलणाणं पयासेदि ॥२१३६॥

'भावे सगविसयत्थे' आत्मगोचरस्थान् भावान् सूर्यो युगपद्यथा प्रकाशयति तथा सर्वमपि ज्ञेयं युगपत्केवलज्ञानं प्रकाशयति ॥२१३६॥

गदरागदोसमोहो विभओ विमओ णिरुस्सओ विरओ ।
बुधजणपरिगीदगुणो णमंसणिज्जो तिलोगस्स ॥२१३७॥

और वे शरीर रहित हैं । अतः वायु आदिके प्रयोगसे भी उनमें हलन चलन नहीं होता ॥२१३२॥

गा०—सिद्ध जीव जो अनन्तकाल तक आकाशके प्रदेशोंको अवगाहित करके ठहरा रहता है सो यह अवस्थान रूप उपकार अधर्मास्तिकायका माना गया है, क्योंकि जैसे जीवका स्वभाव चैतन्य आदि है उस प्रकार जीवका स्वभाव स्थिति नहीं है ॥२१३३॥

गा०—तीनों लोकोंके मस्तकपर विराजमान वह सिद्ध परमेष्ठी समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायोंसे सम्पूर्ण जगतको जानते देखते हैं । तथा वे मोहरहित भगवान् पर्यायोंसे सहित तीनों कालोंको और समस्त अलोकको जानते हैं ॥२१३४-३५॥

जैसे सूर्य अपने विषयगोचर सब पदार्थोंको एक साथ प्रकाशित करता है वैसे ही केवलज्ञान सब पदार्थोंको एक साथ प्रकाशित करता है ॥२१३६॥

१. उवकारो इट्ठो ज ठि –अ० आ० ।

'गदरागदोसमोहो' दूरीकृतरागद्वेषमोहः, 'विभओ' विगतभय 'विमओ' विगतमद , क्वचिदप्यनुत्सुका निरस्तकर्मरज पटल , बुधजनपरिगीतगुण विष्टपत्रयेण नमस्करणीय ॥२१३७॥

णिव्वावइत्तु ससारमहग्गि परमणिव्वुदिजलेण ।
णिव्वादि सभावत्थो गदजाइजरामरणरोगो ॥२१३८॥

'णिव्वावइत्तु' क्षयमुपनीय ससारमहाग्नि परमनिर्वृतिजलेन तृप्यति स्वरूपस्थो विनष्टजाति-जरामरणरोग ॥२१३८॥

जावं तु किंचि लोए सारीर माणस च सुहदुक्खं ।
त सव्व णिज्जिण्णं असेमदो तस्स सिद्धस्स ॥२१३९॥

'जावं तु किंचि लोए' यावत् किंचिल्लोके शारीर मानस वा यत्सुख दु ख च तत्सर्वं निर्जीर्णं निरव-शेष । प्रकारवाचस्त्यनिराशायमशेषग्रहण ॥२१३९॥

ज णत्थि सव्ववाधाओ तस्स सव्व च जाणइ जदो से ।
ज च गदज्झवसाणो परमसुही तेण सो सिद्धो ॥२१४०॥

'ज णत्थि सव्ववाधाओ' यन्न सन्ति सर्वबाधा , सर्व च यतो जानाति, यच्चापगताध्यवसान , तेनासौ सिद्ध परमसुखी भवति ॥२१४०॥

परमिड्ढिपत्ताणं मणुगाण णत्थि त सुह लोए ।
अव्वाबाधमणोवमपरमसुह तस्स सिद्धस्स ॥२१४१॥

'परमिड्ढिपत्ताणं' परमामृद्धि चक्रलाञ्छनतादिका प्राप्तानामपि मनुजाना नास्ति तत्सुख लोके यदनु-पम तस्य सिद्धस्य सुखमव्याबाधम् ॥२१४१॥

गा०—जिन्होंने रागद्वेष मोहको दूरकर दिया है, जो भय रहित, मदरहित, उत्कण्ठा रहित और कर्मरूप धूलिपटलसे रहित है तथा ज्ञानीजन जिनका गुणगान करते हैं वे सिद्ध भगवान तीनों लोकोंके द्वारा वन्दनीय हैं ॥२१३७॥

गा०—परम निर्वृतिरूप जलसे ससाररूपी महान् अग्निको बुझाकर तथा जन्म-जरा-मरण रोगोंको नष्ट करके अपने स्वरूपमें स्थित मुक्तात्मा निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥२१३८॥

गा०—ससारमें जितना भी शारीरिक और मानसिक सुखदु ख है वह सब पूर्णरूपसे उस सिद्ध परमेष्ठीके नष्ट हो चुका है ॥२१३९॥

गा०—क्योंकि सिद्ध परमेष्ठीके समस्त बाधाएँ नहीं हैं, और वह समस्त वस्तुओंको जानते हैं तथा अध्यवसान-विकल्पवासनासे रहित हैं। अत वे परमसुखी हैं ॥२१४०॥

गा०—उन सिद्धोंके जो बाधा रहित अनुपम परम सुख है वह सुख इस लोकमें परमऋद्धि चक्रवर्तित्व आदिको प्राप्त मनुष्योंके भी नहीं है ॥२१४१॥

देविंदचक्कवट्टी इंदियसोक्खं च जं अणुहवंति ।
सद्दरसरूवगंधप्फासिप्पयमुत्तमं लोए ॥२१४२॥

'देविंदचक्कवट्टी' देवेंद्राश्चक्रवर्तिनश्च यदिंद्रियसुखमनुभवन्ति शब्दरसरूपगंधस्पर्शात्मकं लोके प्रधानं ॥२१४२॥

अव्वाबाधं च सुहं सिद्धा जं अणुहवंति लोगग्गे ।
तस्स हु अणंतभागो इंदियसोक्खं तयं होज्ज ॥२१४३॥

'अव्वाबाधं सुहं' अव्याबाधात्मकं सुखं यत्सिद्धा लोकाग्रेऽनुभवंति तस्यानंतभागो भवति तदिंद्रियसुखं पूर्वव्यावर्णितम् ॥२१४३॥

जं सव्वे देवगणा अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ।
तत्तो वि अणंतगुणं अव्वाबाहं सुहं तस्स ॥२१४४॥

'जं सव्वे देवगणा' यत्सुखमनुभवंति साप्सरोगणाः सर्वे देवास्ततोऽप्यनंतगुणं तस्य सिद्धस्याव्याबाधसुखम् ॥२१४४॥

तीसु वि कालेसु सुहाणि जाणि माणुसतिरिक्खदेवाणं ।
सव्वाणि ताणि ण समाणि तस्स खणमित्तसोक्खेण ॥२१४५॥

'तीसु वि कालेसु' त्रिष्वपि कालेषु यानि मानवानां, तिरश्चां, देवानां च सुखानि सर्वाणि तानि न समानि सिद्धस्य क्षणमात्रेण सुखेन ॥२१४५॥

ताणि हु रागविवागाणि दुक्खपुव्वाणि चेव मोक्खाणि ।
ण हु अत्थि रागमब्भहत्थिदूण किं चि वि सुहं णाम ॥२१४६॥

'ताणि रागविपाकाणि' तानि रागविपाकानि रागस्य दुःखहेतोजनकानि, एतेन दुःखानुबंधित्व

गा०—इस लोकमे देवेन्द्र और चक्रवर्ती शब्द रस रूप गन्ध और स्पर्श जन्य जिस उत्तम इन्द्रिय सुखको भोगते हैं, तथा लोकके अग्रभागमे स्थित सिद्ध जिस बाधा रहित सुखको भोगते हैं उसके सामने वह इन्द्रिय सुख उसका अनन्तवां भाग भी नही है ॥२१४२-४३॥

गा०—अप्सराओंके साथ सब देवगण जिस सुखको भोगते हैं उससे भी अनन्तगुण बाधा रहित सुख सिद्धोको होता है ॥२१४४॥

गा०—सब मनुष्यो तिर्यञ्चो और देवोको तीनो कालोमे जितना सुख होता है वह सब सुख सिद्धोके एक क्षणमात्रमे होनेवाले सुखके भी बराबर नही है ॥२१४५॥

गा०—मनुष्यादिके होनेवाला सुख रागका जनक है और राग दुःखका कारण है अतः

१ मवबुज्झिऊण –अ० आ० । अवहत्थिदूण –मूलारा० ।

नार्मेद्रियसुखाना दायोऽभिहित । दु खपूर्वाणि न हि क्षुधादिदु खमतरेण अशनादिक प्रीति जनयति । न चास्ति रागमनपाकृत्य सुख नाम किंचित् ॥२१४६॥

इन्द्रियसुखस्वरूपमभिधाय अनिन्द्रियसुख व्यावर्णयति—

अणुवममयेयमक्खयममलमजरमरुजमभयमभव च ।
एयंतियमच्चंतियमव्वाबाध सुहमजेय ॥२१४७॥

'अणुवममयेय' तत्समानस्य तदधिकस्याभावात् सुखस्य तदनुपम, छद्मस्थज्ञानैर्मातुमशक्यत्वादमेय, प्रतिपक्षभूतस्य दु खस्याभावादक्षय, रागादिमलाभावादमल, जरारहितत्वादजर, रोगाभावादरज, भयाभावादभय, भवाभावादभव, ऐकातिक दु खस्य सहायस्याभावादैकातिकमसहाय अव्याबाधरूप तत्सुख ॥२१४७॥

विसएहि से ण कज्ज ज णत्थि छुदादियाओ बाधाओ ।
रागादिया य उवभोगहेदुगा णत्थि ज तस्स ॥२१४८॥

'विसएहि से ण कज्ज' शब्दादिभिविषयैं न कार्यं यत सिद्धस्य न सति क्षुधादिका बाधा, रागादयश्च विषयोपभोगहेतवो न सति यस्मात्तस्य ॥२१४८॥

एदेण चेव भणिदो भासणचकमणचिंतणादीण ।
चेट्ठाण सिद्धम्मि अभावो हदसव्वकरणम्मि ॥२१४९॥

'एदेण चेव भणिदो' एतेनैवोक्त भाषण-चक्रमण-चिंतनादीना चेष्टानामभाव सिद्धे हतसर्वक्रिये ॥२१४९॥

इन्द्रियसुख दु खको लानेवाला है तथा दु खपूर्वक होता है। अर्थात् पहले दु ख होता है तब वह सुख होता है क्योंकि भूख प्यास आदिका दु ख हुए बिना भोजनादि प्रिय नहीं लगते। रागभावके बिना ससारमें किञ्चित् भी सुख नही है ॥२१४६॥

इन्द्रिय सुखका स्वरूप कहकर अतीन्द्रिय सुखको कहते हैं—

गा०-टी०—उसके समान या उससे अधिक सुखका अभाव होनेसे अतीन्द्रिय सुख अनुपम है। छद्मस्थ जीवोंके ज्ञानके द्वारा उसका माप करना अशक्य होनेसे अमेय है। उसके विरोधी दु खका अभाव होनेसे वह अक्षय है—उसका कभी नाश नही होता। उसमें रागादिमलका अभाव होनेसे वह अमल है। उसमें जरा रोगका भय न होनेसे वह अजर है। रोगका अभाव होनेसे अरुज है। भयका अभाव होनेसे अभय है। पुनर्भव न होनेसे अभव है। उसके साथमें दु ख न होनेसे ऐकान्तिक है। अनन्तकाल तक रहनेसे आत्यन्तिक है—ऐसा वह अव्याबाधरूप सुख होता है ॥२१४७॥

गा०—सिद्धोंमें शब्दादि विषयोंसे कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि सिद्धोंको भूख प्यास आदि की बाधा नहीं होती तथा विषयोंके उपभोगके कारण राग आदि भी नही है ॥२१४८॥

गा०—इसीसे सब प्रकारकी क्रियाओंसे रहित सिद्धोंमें बोलना, चलना-फिरना तथा विचारना आदि भी नही है ॥२१४९॥

इय सो खाइयसम्मत्तसिद्धदाविरियदिट्ठिणाणेहिं ।
अच्चंतिगेहि जुत्तो अव्वाबाहेण य सुहेण ॥२१५०॥

'इय सो खाइय' एवमसौ क्षायिकेण सम्यक्त्वेन सिद्धतया वीर्येण अनन्तज्ञानाद्यनन्तदर्शनेन चात्यन्तिकेन युक्तोऽव्याबाधेन सुखेन ॥२१५०॥

अकसायत्तमवेदत्तमकारकदा विदेहदा चेव ।
अचलत्तमलेवत्तं च हुंति अच्चंतियाइं से ॥२१५१॥

'अकसायत्त' अकषायत्व, अवेदत्वमकारकता विदेहता अचलत्वमलेपत्वं च आत्यंतिकं तस्य भवति । क्रोधादिनिमित्तानां कर्मणां प्राक्तनानां विनाशादभिनवानां चाऽभावादकषायत्वमात्यन्तिकं एवमेवावेदत्वं । साध्यस्यापरस्याभावादकारकत्वं । प्राक्तनस्य शरीरस्य विलीनत्वाद्देहान्तरकारिणः कर्मणोऽभावाद्विदेहता । अवस्थान्तरप्राप्तिनिमित्ताभावादचलत्वं । कर्मनिमित्तपरिणामाभावात् प्राक्तनानां च कर्मणां विनाशादलेपत्वमप्यात्यन्तिकम् ॥२१५१॥

जम्मणमरणजलोघं दुक्खपरकिलेससोगवीचीयं ।
इय संसारसमुद्दं तरंति चदुरंगणावाए ॥२१५२॥

'जम्मणमरणजलोघं' जन्ममरणजलौघं दुःखसंक्लेशशोकवीचिकं संसारसमुद्रं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपःसंज्ञितचतुरङ्गनावा तरन्ति ॥२१५२॥

एवं पण्डिदपण्डिदमरणेण करंति सव्वदुक्खाणं ।
अंतं णिरंतराया णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥२१५३॥

गा०—इस प्रकार वह सिद्ध परमेष्ठी क्षायिक सम्यक्त्व, सिद्धत्व, अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अव्याबाध सुखसे युक्त होते हैं। ये सब आत्यन्तिक होते हैं, इनका कभी विनाश नहीं होता ॥२१५०॥

गा०-टी०—क्रोध आदिमें निमित्त पूर्व कर्मोंका विनाश होनेसे और नवीन कर्मोंका अभाव होनेसे सिद्धोंमें आत्यन्तिक अकषायत्व है। इसी प्रकार आत्यन्तिक अवेदत्व है। उनके लिये कोई करने योग्य कार्य शेष न रहनेसे अकारकत्व भी सदा रहता है। पूर्व शरीरका विनाश होनेसे और नवीन शरीरको उत्पन्न करनेवाले कर्मका अभाव होनेसे सिद्धोंमें सदा विदेहता है। अन्य अवस्थाको प्राप्त होनेमें निमित्तका अभाव होनेसे सदा अचल हैं। उनके कर्मके निमित्तसे होनेवाले परिणामोंका अभाव होनेसे तथा पूर्वके कर्मोंका विनाश होनेसे वे सदा लेपरहित होते हैं ॥२१५१॥

गा०—जिसमें जन्म मरणरूपी जलका समूह भरा है, दुःख संक्लेश और शोकरूपी लहरें उठा करती हैं, उस संसाररूपी समुद्रको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपरूपी नावसे पार करते हैं ॥२१५२॥

'एव पण्डितपण्डितमरणेण' एवमुक्तेन क्रमेण पण्डितपण्डितमरणेण सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति । निरन्तराया निर्विघ्ना निर्वाणमनुत्तरं प्राप्ताश्च । एतेन पण्डित-पण्डितमरणं व्याख्यातं । 'पंडितपंडितमरणं गदं' ॥२१५३॥

एवं आराधित्ता उक्कस्साराहणं चदुक्खंधं ।
कम्मरयविप्पमुक्का तेणेव भवेण सिज्झंति ॥२१५४॥

'एव आराधित्ता' एवमाराध्य । 'उक्कस्साराधण' उत्कृष्टाराधना । 'चदुक्खंधं' समीचीनदर्शनज्ञानचरणतपोभिधानं चतुष्कत्वं । 'कम्मरजविप्पमुक्का' कर्मरजोविप्रमुक्तास्तेनैव भवेन सिध्यन्ति ॥२१५४॥

आराधयित्तु धीरा मज्झिममाराहणं चदुक्खधं ।
कम्मरयविप्पमुक्का तदिएण भवेण सिज्झंति ॥२१५५॥
आराधयित्तु धीरा जहण्णमाराहणं चदुक्खधं ।
कम्मरयविप्पमुक्का सत्तमजम्मेण सिज्झंति ॥२१५६॥

'आराधयित्तु धीरा' आराध्य धीरा जघन्यामाराधनां चतुष्कधा कर्मरजोविप्रमुक्ताः सप्तमेन जन्मना सिध्यन्ति ॥२१५५–२१५६॥

एवं एसा आराधणा समेदा समासदो वुत्ता ।
आराधणाणिबद्धं सव्वंपि हु होदि सुदणाणं ॥२१५७॥

'एव एसा' एवमेषा आराधना सप्रभेदा समासतो निरूपिता । आराधनायामस्यां निबद्धं सर्वमपि श्रुतज्ञानं भवति ॥२१५७॥

आराधणं असेसं वण्णेदुं होज्ज को पुण समत्थो ।
सुदकेवली वि आराधणं असेसं ण वण्णिज्ज ॥२१५८॥

गा०—इस प्रकार वे क्षपक पण्डितपण्डितमरणसे सब दुःखोंका अन्त करते हैं और बिना बाधाके उत्कृष्ट निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥२१५३॥

गा०—इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र और सम्यक् तपरूप चार प्रकारकी उत्कृष्ट आराधनाकी आराधना करके कर्मरूपी धूलिसे छूटकर उसी भवसे मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५४॥

गा०—उक्त चार भेदरूप मध्यम आराधनाकी आराधना करके धीर पुरुष कर्मरूपी धूलिसे छूटकर तीसरे भवमें मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५५॥

गा०—उक्त चार भेदरूप जघन्य आराधनाकी आराधना करके धीर पुरुष कर्मरूपी धूलिसे छूटकर सातवें भवमें मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५६॥

गा०—इस प्रकार इस भेदसहित आराधनाका संक्षेपसे कथन किया । इस आराधनामें जो कुछ कहा गया है वह सब श्रुतज्ञान है ॥२१५७॥

आराधण असेस निरवशेषामाराधना वर्णयितु कस्समर्थो भवेत्, श्रुतकेवल्यपि निरवशेष न वर्णयेत् ॥२१५८॥

अज्जजिणणंदिगणि-सव्वगुत्तगणि-अज्जमित्तणंदीणं ।
अवगमिय पादमूले सम्म सुत्त च अत्थ च ॥२१५९॥

'अज्जजिणणंदि' आचार्यजिननन्दिगणिन, सर्वगुप्तगणिन, आचार्यमित्रनन्दिनश्च पादमूले सम्यगथ श्रुत चावगम्य ॥२१५९॥

पुव्वायरियणिवद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए ।
आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥२१६०॥

'पुव्वायरिय' पूर्वाचार्यकृतामिव उपजीव्य इय आराधना स्वशक्त्या शिवाचार्येण रचिता पाणितलभोजिना ॥२१६०॥

छदुमत्थदाए एत्थ दु ज वद्धं होज्ज पवयणविरुद्ध ।
सोधेंतु सुगीदत्था पवयणवच्छलदाए दु ॥२१६१॥

'छदुमत्थदाए' छद्मस्थतया यदत्र प्रवचनविरुद्धंनवद्ध (विरुद्ध) भवेत् तत्सुगृहीतार्थाः शोधयतु प्रवचनवत्सलतया ॥२१६१॥

आराधणा भगवदी एव भत्तीए वण्णिदा सती ।
संघस्स सिवज्जस्स य समाधिवरमुत्तम देउ ॥२१६२॥

'आराधणा भगवदी' आराधना भगवती एव भक्त्या कीर्तिता सर्वगुप्तगणिन सघस्य शिवाचार्यस्य च विपुला सकलजनप्रार्थनीया अव्याबाधसुखा सिद्धि प्रयच्छतु ॥२१६२॥

गा०—मेरे समान कौन अल्पश्रुतज्ञानी सम्पूर्ण आराधनाका वर्णन करनेमें समर्थ हो सकता है। श्रुतकेवली भी सम्पूर्ण आराधनाको नहीं कह सकते। अर्थात् भगवान सर्वज्ञ ही आराधनाका सर्वस्व वर्णन कर सकते हैं ॥२१५८॥

गा०—आर्य जिननन्दिगणि, सर्वगुप्त गणि, और आर्य मित्रनन्दीके पादमूलमें सम्यक्रूपसे श्रुत और उसके अर्थको जानकर पूर्वाचार्यके द्वारा रची गई आराधनाको आधार बनाकर हस्तपुटमें आहार करनेवाले मुझ शिवाचार्यने अपनी शक्तिसे इस आराधना ग्रन्थको रचा ॥२१५९-६०॥

गा०—छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानी होनेसे इसमें जो कुछ आगमके विरुद्ध लिखा गया हो, उसे आगमके अर्थको सम्यक्रूपसे ग्रहण किये हुए ज्ञानीजन सुधारनेकी कृपा करें ॥२१६१॥

गा०—इस प्रकार भक्तिपूर्वक वर्णनकी हुई भगवती आराधना सर्वगुप्त गणीके संघको तथा रचयिता शिवार्यको समस्त जनोंसे प्रार्थनीय अव्याबाध सुखरूप सिद्धिको प्रदान करे अर्थात् उसके प्रसादसे हम सबको शुक्लध्यानकी प्राप्ति हो ॥२१६२॥

असुरसुरमणुयकिण्णररविससिकिंपुरिसमहियवरचरणो ।
दिसउ मम बोहिलाह जिणवरवीरो तिहुवणिंदो ॥२१६३॥
खमदमणियमधराण धुदरयसुहदुक्खविप्पजुत्ताणं ।
णाणुज्जोदियसल्लेहणम्मि सुणमो जिणवराणं ॥२१६४॥

गा०—जिनके पूजनीय चरणोंको असुर, सुर, मनुष्य, किन्नर, सूर्य, चन्द्र, और किम्पुरुष जातिके व्यन्तर पूजते हैं वे तीनो लोकोंके स्वामी वीर जिनेन्द्र मुझे बोधिलाभ प्रदान करें ॥२१६३॥

गा०—जिन्होने स्वय क्षमा, इन्द्रियदमन और नियमोंको धारण करके कर्ममलको नष्ट किया, तथा सासारिक सुख दु खसे रहित हुए और अपने ज्ञानके द्वारा सल्लेखनाको प्रकाशित किया उन जिन देवोंको नमस्कार हो ॥२१६४॥

भगवती आराधना समाप्त हुई ।

श्रीमदपराजितसूरेष्टीकाकृतः प्रशस्तिः

नमः सकलतत्वार्थप्रकाशनमहौजसे ।
भव्यचक्रमहाचूडारत्नाय सुखदायिने ॥१॥
श्रुतायाज्ञानतमसः प्रोद्यद्धर्माशवे तथा ।
केवलज्ञानसाम्राज्यभाजे भव्यैकबन्धवे ॥२॥

चन्द्रनन्दिमहाकर्मप्रकृत्याचार्यप्रशिष्येण आरातीयसूरिचूलामणिना नागनन्दिगणिपादपमोपसेवाजातमतिलवेन बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधीरेण लब्धयशःप्रसरेण अपराजितसूरिणा [1]श्रीनन्दिगणिनावचोदितेन रचिता आराधनाटीका श्रीविजयोदयानाम्ना समाप्ता ।

टीकाकार अपराजित सूरिकी प्रशस्ति

जो समस्त तत्त्वार्थको प्रकाशित करनेके लिये महान् प्रकाशरूप है, भव्य समुदायके लिये महान् शिरोमणि है, जिसे वे सिरपर धारण करते हैं, सुखको देनेवाला है, अज्ञानरूपी अन्धकारके लिये उगती हुई प्रकाश किरण है, जिसके द्वारा केवल ज्ञानरूपी साम्राज्य प्राप्त होता है तथा जो भव्य जीवोंका एकमात्र बन्धु है उस श्रुतको नमस्कार हो ।

जो चन्द्रनन्दि नामक महाकर्म प्रकृति आचार्यके प्रशिष्य हैं, आरातीय आचार्यों के चूडामणि हैं, नागनन्दि गणिके चरण कमलोंकी सेवासे प्रसादसे जिन्हें ज्ञानका लेश प्राप्त हुआ, जो बलदेव सूरिके शिष्य हैं और जिन शासनका उद्धार करनेमें धीरवीर हैं, जिनका यश सर्वत्र फैला है, उन अपराजित सूरिने श्रीनन्दिगणिकी प्रेरणासे श्री विजयोदया नामक आराधना टीका रची ।

१ श्री नागनन्दि –मु० ।

गाथानुक्रमणिका

आ

स

विजयोदया में आगत पद्यों और वाक्यो की अनुक्रमणी

पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी



अशुद्धि-शुद्धि पत्रक

पृ०	प०	अशुद्धि	शुद्धि	पृ०	प०	अशुद्धि	शुद्धि
२	१०	रस प्रकय	रस प्रकर्ष	४४९	८	जत्म	जन्म
७	४	चचितमि	चचितमिति	४५०	१०	तेल्लकायादमोहि	तेल्लकमायादोहि
१०	२	चरितमि	चरित्तमि	४६८	२	शील	मील
१४	१३	ज्ञानभे	ज्ञानभेदे	४९६	१४	तस्मान्दि	तन्मादि
४७	१०	वस्तुस्वरूपाव-	वस्तुस्वरूपानव	५०२	१	कक्वस्न	कक्वन
५९	११	गिद्धतुद्ध	गिद्धपुद्ध	५३७	११	दिट्ठपि	दिट्ठपि ण
७२	६	आवरा	आकाश	५६५	१	इदियकसय	इदियकसाय
१६७	४	इच्चेवमानि	इच्चेवमादि	६०६	७	पडते	पडँते
१६७	८	पूयावयण	पूयावयण	६२८	१२	स्वनन्निवि	स्वनन्निव
१७१	४	लायारजीव	आयारजोद	६३३	९	अज्ज्ञपरदी	वज्ज्ञम्परदी
२५५	१४	लाघव	लाघव	६४७	७	मरु	तुरु
२९८	३	वासत्य	पासत्य	६७१	१३	लाइद्ध	लावद्ध
३००	१०	सतो	सता	६९९	१	कडुब	कडुगं
३०४	१	वरस्स	परस्स	७१६	९	पातयाप्येन	पातयाम्येन
३१३	१७	सल्ल उद्धारदु	सल्ल उद्धरिदु	७२३	१५	जंते	ज ते
३२६	८	उपस गंस	उपसर्गं स	७३८	११	पुणरिव	पुणरवि
३६०	२	किलामिदगो	गिलामिदगो	७४१	१	णिम्मिसेप	णिमेसुण
३७३	११	मइसपण्णो	मइसपण्णो	७८३	१२	कोहु	कोइ
३९२	८	वापेण	लोघेण	८६९	७	भयवतो	भयवत्ता
४०२	१०	किरियम्म	किरियम्म				